जीवराज जैन ग्रंथमाला हिन्दी विभाग-पुष्प ३१

आचार्यश्री अमितगति विरचित

सुभाषितरत्नसंदोह

पूर्व ग्रंथमाला सम्पादक
स्व० डॉ० हीरालाल जैन
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विद्यमान ग्रंथमाला सम्पादक
श्री पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

सम्पादक एव अनुवादक
श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापूर

वीर सवत् २५०३] मूल्य २०·०० [ई० सन् १९७७

प्रकाशक
श्रीमान् सेठ लालचंद हीराचंद
अध्यक्ष–जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापूर

प्रथमावृत्ति
प्रति १०००

मुद्रक
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

JIVĀRĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ, NO. 31

AMITAGATI'S

SUBHĀSHIT RATNA SNDOHA

Ex General Editors
Late Dr A N. Upadhye
Late Dr H L Jain

General Editor
Kailaschandra Shastri

Edited along with the Hindi Translation

By

Pandit Balchandra Sidhant shastri

published by
Lalchand Hirachrnd
jain Samskriti Samrakshaka Sangha
Sholapur
1977

Price Rs. 20-00

First Edition : 1000 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samraksal Saṅgha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price *Rs 20–00* per copy, exclusive of postage

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कार्यमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होने अनेक जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संगृहीत की, कि कौनसे कार्यमे सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमे स्फुट मत सचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ मे ग्रीष्म कालमे सिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमन्त्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सम्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन सस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका सरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन सस्कृति सरक्षक संघ' इस नामकी सस्था स्थापना की। तथा उसके लिये रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढती गई। सन् १९४४ मे उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति सघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी सस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन सस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमे ३० ग्रन्थ तथा मराठी विभागमे ४५ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३१वां पुष्प प्रकाशित हो रहा है।

स्व ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

स्व गं ता १६–१–५७ (पौष शु १५)

प्रधान सम्पादकीय

'अमितगति द्वारा विरचित माने जाने वाली रचनाओंमेंसे अधिकांश मुद्रित हो चुकी हैं और उनमेंसे कुछका आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। सुभाषित रत्न सन्दोहका काव्यमाला क्र० ८२ (बम्बई १९०३) मे प्रकाशन हुआ था। और उसकी प्रस्तावना मे भवदत्त शास्त्रीका ग्रन्थकार एवं उनके रचना कालके सम्बन्ध-मे एक लेख भी था। इसका अध्ययन करके जे० हर्टेल नामक जर्मन विद्वानने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेखमे यह बात प्रकट की कि इस ग्रन्थका (जो सवत् १०५० मे रचा गया था) संवत् १२१६ में हेमचन्द्र द्वारा रचित योगशास्त्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसके पश्चात् जर्मन विद्वान स्मिट् और हर्टेल द्वारा आलोचनात्मक रीतिसे सम्पादित एव जर्मन भाषामे अनुवाद सहित इस ग्रन्थका प्रकाशन भी कराया गया था। इस सस्करणकी प्रस्तावनामे ग्रन्थकार अमितगति, ग्रन्थके शब्द चयन एव व्याकरण सम्बन्धी विशेषता तथा उपयोगमे लाये गये प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोका विवरण पाया जाता है (लीपजिग १९०५-१९०७)। ल्यूमनने इस सस्करणके सम्बन्धमे कुछ महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। इस समस्त सामग्रीके आधा॰परसे इस ग्रन्थका संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशनार्थ तैयार हो रहा है।'

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैनग्रन्थमाला संस्कृत ग्रन्थांक ३३ रूपसे प्रकाशित (सन् १९६८) योगसार प्राभृतके प्रधान सम्पादकीयमे डॉ० ए एन. उपाध्येने उक्त घोषणा की थी। उसीके अनुसार डॉ० उपाध्येके स्वर्गवासके १॥ वर्ष पश्चात् यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। वह यदि जीवित रहते तो उक्त जर्मन संस्करणके आधारपर वह इसकी प्रस्तावनामे सु० र० स० की विशेषताओपर विशेष प्रकाश डालते और इस तरह हिन्दी-भाषी भी उससे लाभान्वित होते। किन्तु खेद है कि उनके स्वर्गत हो जानेसे उनके अनेक सकल्पोंके साथ यह संकल्प भी चरितार्थ न हो सका।

प्रस्तुत संस्करणकी पाण्डुलिपि उक्त जर्मन पुस्तकके आधारपर कोल्हापुरके श्री वि० गो० देसाईने की है। उससे मूल श्लोक लिये है। 'स' इस अक्षरसे जो पाठ भेद दिये गये है वे भी उसी प्रतिसे लिये है। 'स' का मतलब है SCHMIDT = स्मिट्, वे जर्मन संस्करणके सम्पादक हैं। स्मिटने छ प्रतियोंसे पाठभेद लिये हैं—

१ B बर्लिन प्रति। २. L इण्डिया आफिस। ३. S. Strab burger. ४-५. P भण्डारकर रि० इ० पूना। ६ K. काव्यमालामे मुद्रित।

उक्त सूचना हमे श्रीदेसाईसे प्राप्त हो सकी है। हमे वह प्रति देखनेको नही मिल सकी। श्रीदेसाईने ही सस्कृत पद्योंका अन्वय किया है और भाषान्तर प० बालचन्दजी शास्त्रीने किया है। मै उक्त दोनों सहयोगियोंका आभारी हूँ।

इसका मुद्रणकार्य निर्णयसागर प्रेस बम्बईमे प्रारम्भ हुआ था। डा० उपाध्येके स्वर्गवासके समय तक केवल प्रारम्भके ६४ पृष्ठ छपे थे और काम रुका हुआ था। ग्रन्थमालाके सम्पादनका भार वहन करनेपर हमने इसके मुद्रणकी व्यवस्था बनारसमे की। और श्रीबाबूलालजी फागुल्लके सहयोगसे उन्हीके मुद्रणालयमें इसका मुद्रण प्रारम्भ हुआ और उन्होने तीन मासमे ही पूरा ग्रन्थ छाप दिया। इसके लिये हम उनके विशेष आभारी हैं।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
भदैनी, वाराणसी
वी० नि० सं० २५०३

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

आचार्य अमितगति

आचार्य अमितगति एक समर्थ ग्रन्थकार थे। उनका संस्कृत भाषापर असाधारण अधिकार था। उनकी कवित्वशक्ति अपूर्व थी। उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध है उनसे उनकी प्रांजल रचनाशैली प्रस्पष्ट अनुभवमे आती है। प्रसाद गुणयुक्त मनोहारी सरल सरस काव्यकौमुदीका पान करके हृदय आनन्दसे गद्गद हो जाता है। वे माथुर सघके जैनाचार्य थे। अत. उनकी सब रचनाएँ उद्बोधन प्रधान है। उन्होंने अपनी रचनाओके द्वारा मनुष्यको असत्प्रवृत्तियोकी ओरसे सावधान कर सत्प्रवृत्तियोंको अपनानेकी ही प्रेरणा की है।

आचार या सदाचारको मनुष्यका प्रथम धर्म कहा है। उस सदाचारके दो रूप है आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक सदाचारमे काम क्रोध-लोभ आदिका त्याग आता है और बाह्य सदाचारमे मांस, मदिरा, परस्त्री-गमन, वेश्या सेवन आदिका परित्याग आता है। कविने अपनी रसमयी कविताके द्वारा इन सबकी बुराईका चित्रण किया है। और श्रावकाचार रचकर श्रावकके आचारका विस्तारसे निरूपण किया है।

जैनसिद्धान्तमे कर्मसिद्धान्त अपना विशेष स्थान रखता है। जीव कर्मसे कैसे बद्ध होता है, कर्म क्या वस्तु है? उसके कितने भेद-प्रभेद है, वे क्या-क्या काम करके जीवकी शक्तिको कुण्ठित करते है। जीव कैसे उन कर्मोपर विजय प्राप्त करता है, ये सब विषय कर्मसिद्धान्तसे सम्बद्ध है। आचार्य अमितगति जैनकर्म-सिद्धान्तके भी विद्वान थे।

उनकी उपलब्ध सभी रचनाएँ प्रकाशमे आ चुकी है। इस शताब्दीके प्रारम्भमे ही यूरोपके विद्वानोका ध्यान उनकी रचनाओकी ओर आकृष्ट हो गया था। स्व० डा० ए० एन० उपाध्येके लेखके अनुसार बेवर, पिटरसन, भण्डारकर, ल्यूमन, आफ्रेट जसे विद्वानोके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ सूचियोमे सन् १८८६ से लेकर १९०३ तक अमितगतिकृत रचनाओ का निर्देश हो गया था।

अमितगतिने अपना सुभाषितरत्नसन्दोह सम्वत् १०५० मे, धर्मपरीक्षा सम्वत् १०७० मे और पच-संग्रह सम्वत् १०७३ मे रचकर समाप्त किया था। धर्मपरीक्षाकी अपनी प्रशस्तिमे उन्होंने अपनी पूरी गुर्वावली इस प्रकार दी है—वीरसेन, देवसेन, अमितगति (प्रथम), नेमिषेण और माधवसेन। किन्तु सुभाषितरत्न-सन्दोह और श्रावकाचारकी प्रशस्तिमे वीरसेनका नाम नही है। तथा पंचसग्रहकी प्रशस्तिमें केवल माधव-सेनका ही नाम है। वही उनके गुरु थे। उसमे उन्होने स्पष्टरूपसे अपनेको माधवसेनका शिष्य उसी प्रकार बतलाया है जैसे गौतम गणधर महावीर भगवानके शिष्य थे। इसकी रचना मसूतिकापुरमे हुई थी। अन्य रचनाओंके अन्तमे उनके रचना स्थानका निर्देश नही है। केवल सु० र० स० की प्रशस्तिमें इतना है कि उस समय राजा मुज पृथिवीका शासन करते थे।

धारा नगरीसे सात कोसपर बगड़ीके पास मसीद बिलौदा नामक गाँव मसूतिकापुर था ऐसा किन्ही विद्वानोका मत[1] है। निर्णय सागरसे प्रकाशित (१९३२) सु० र० स० की भूमिकामे पं० भवदत्त शास्त्रीने वाक्पतिराज और मुजकी एकता सिद्ध करके उज्जैनीको राजधानी बतलाया है और लिखा है कि धारामे राजधानी भोजने स्थापित की थी। इससे आचार्य अमितगतिका आवास क्षेत्र उक्त प्रदेश तथा रचनाकाल विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीका तृतीय चरण सुनिश्चित है।

---

१. देखो-जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २८० का फुटनोट।

अमरकीर्तिने वि० सं० १२४७ में अपना छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) नामक ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचा था। उसकी प्रशस्तिमे उन्होने अपनी गुरु परम्परा मुनिचूडामणि महामुनि अमितगतिसे प्रारम्भ की है और उन्हे बहुत शास्त्रोंका रचयिता कहा है। यथा—

अमियगइ महामुणि मुणिचूडामणि आसितित्थु समसीलधणु।
विरइअ बहुसत्थड कित्तिसमुत्थउ सगुणाणंदिय णिवइमणु॥

अमितगतिके शिष्य शान्तिषेण, उनके अमरसेन, उनके श्रीषेण, श्रीषेणके चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति थे। यह आचार्य अमितगतिकी शिष्यपरम्परा थी।

काष्ठा-संघ और माथुर संघ

अमितगतिने सु० र० सं० और श्रावकाचारकी अपनी प्रशस्तियो मे अपने प्रगुरु नेमिषेणको माथुर संघका तिलक कहा है। और पञ्च सग्रहकी प्रशस्ति श्री माथुराणा सघ' की प्रशंमासे ही आरम्भ की है। उनकी शिष्य परम्पराका निर्देश करनेवाले अमरकीर्तिने भी अपने प्रगुरुको माथुरसघाधिप लिखा है। अत अमितगति माथुर सघके थे। किन्तु उन्होंने माथुर सघके साथ अन्य किसी भी गण गच्छका निर्देश नही किया है।

भट्टारक सम्प्रदाय (पृ० २१०) मे भी लिखा है—'बारहवी शताब्दी तक माथुर, बागड तथा लाडबागडके जो उल्लेख मिलते है उनमे इन्हे संघकी सज्ञा दी गई है तथा काष्ठा सघके साथ उनका कोई सम्बन्ध नही कहा है।'

माथुर सघके सम्बन्धमे आचार्य अमितगतिका उल्लेख हमारे सामने है। आचार्य जय सेनने सं० १०५५ मे धर्म रत्नाकर रचा था। प्राय इसी समयके लगभग आचार्य महासेनने प्रद्युम्नचरित रचा। इन दोनोने अपनी प्रशस्तियोमें लाट बागण (लाट वर्गट) गणकी प्रशसा की है किन्तु काष्ठा संघका कोई उल्लेख नही किया।

किन्तु भट्टारक सुरेन्द्र कीर्तिने, जिनका समय सवत् १७४७ है अपनी पट्टावलीमे कहा[1] है कि काष्ठा सघमे नन्दितट, माथुर, बागड और लाडबागड ये चार गच्छ हुए। उनके ऐसा लिखनेमे तो हमें कोई भ्रम प्रतीत नही होता, क्योकि उनके समय तक ये चारो गण काष्ठा सघसे सम्बद्ध हो गये थे। ग्वालियरमे लिखी गई कई प्रशस्तियोंमें जो विक्रमकी १५वी शतीकी है काष्ठा सघ, माथुर गच्छ पुष्करगण का उल्लेख[2] है।

परन्तु देवसेनने वि० स० ९९० मे रचे गये दर्शनसारमे जो वि० स० ७५३ मे नन्दितट ग्राममे काष्ठासंघकी उत्पत्ति बतलाई है और उसके दो सौ वर्ष पश्चात् मथुरामे माथुरोके गुरु रामसेनको माथुर सघका प्रस्थापक बतलाया है वही चिन्त्य है। अमितगतिके प्रशस्ति लेख तथा दर्शनसारकी रचनामे ६० वर्षका अन्तराल है। सु० र० स० से ६० वर्ष पूर्व दर्शनसारकी रचना हुई है और दर्शनसारके रचयिता काष्ठा सघ तथा माथुर सघसे परिचित अवश्य होने चाहिए, तभी तो उन्होने उनका उल्लेख किया है। उनके लेखानुसार सम्वत् ९५३ मे मथुरामे माथुरोंके गुरु रामसेनने पीछी न रखनेका निर्देश किया था। यह समय सु० र० स० की रचनासे लगभग सौ वर्ष पूर्व पडता है। अमित गतिकी गुरु परम्परासे इस कालकी सगति भी बैठ जाती है। किन्तु रामसेनके द्वारा माथुर सघकी स्थापना और निष्पिच्छके वर्णनका समर्थन अन्यत्रसे नही होता। इसके सिवाय अमित गतिके साहित्यमे ऐसी कोई आगम विरुद्ध बात हमारे देखनेमे नहीं आई जिसके कारण उन्हे जैनाभास कहा जा सके। उनकी सभी रचनाएँ आगमिक परम्पराके ही अनुकूल हैं। आगे उनका परिचय दिया जाता है।

---

१ जै० सा० इ०, पृ० २७६। २. भट्टा० सं० पृ० २१७।

१. **सुभाषितरत्न सन्दोह**—इसका प्रकाशन निर्णय सागर प्रेससे हुआ था। सन् १९३२ में प्रकाशित संस्करण हमारे सामने है। हिन्दी अनुवादके साथ इसका प्रकाशन हरि भाई देवकरण ग्रन्थमाला कलकत्तासे हुआ था। ग्रन्थकारने तो अपनी प्रशस्तिमे इसे सुभाषित संदोह नाम ही दिया है। किन्तु इसका प्रकाशन इसी नामसे हुआ है और वह यथार्थ भी है। किसी कविने कहा है—'पृथिवि पर तीन ही रत्न हैं—जल, अन्न और सुभाषित। किन्तु मूढ लोग पत्थरके टुकडोको रत्न कहते हैं।' जो मनुष्य धर्म, यश, नीति, दक्षता, मनोहारि सुभाषित आदि गुण रत्नोंका संग्रह करता है वह कभी कष्ट नही उठाता। अतः सुभाषितके साथ रत्न शब्दका प्रयोग उचित ही है। संस्कृत साहित्यमे सुभाषितोंकी प्रचुरता है। सुभाषितोंको लेकर भी ग्रन्थ रचना हुई है। भर्तृहरिका नीति शतक, शृङ्गार शतक और वैराग्य शतक सुभाषित त्रिशती के नामसे सुप्रसिद्ध है। जैन परम्परामे भी गुणभद्राचार्यका आत्मानुशासन, जो जीवराज ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ है, वस्तुतः सुभाषित सदोह ही है। आचार्य अमितगतिने भी इस ग्रन्थ रत्नकी रचना करके सुभाषित रत्न भाण्डागारकी श्री वृद्धि ही की है। संभवतया यह उनकी प्रथम रचना हो। इसमे बत्तीस प्रकरण हैं जिनमे सांसारिक विषय, क्रोध, माया और लोभकी निन्दा करनेके साथ ज्ञान, चारित्र, जाति, जरा, मृत्यु, नित्यता, दैव, जठर, दुर्जन, सज्जन, दान, मद्यनिषेध, मांसनिषेध, मधुनिषेध, कामनिषेध, वेश्या सगनिषेध, द्यूतनिषेध, आप्तस्वरूप, गुरु स्वरूप, धर्म स्वरूप, शोक, शौच, श्रावक धर्म, तप आदिका निरूपण सुललित प्रासाद गुण युक्त पद्योंमे विविध छन्दोंमे किया है। इसके अध्ययनसे इसके रचयिताकी वर्णन शैली, कल्पना शक्ति और कवित्व शक्तिके प्रति पाठकको श्रद्धा होना स्वाभाविक है। सस्कृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है और ललित पदोंका चयन उनकी विशेषता है। जिस विषय पर भी वह पद्य रचना करते हैं उस विषयका चित्र पाठकके सामने उपस्थित कर देते है। वह एक निर्मल सम्यक्त्व और चारित्रके धारक महामुनि होनेके कारण जनताको सदुपदेशामृतका ही पान कराते हैं। तदनुसार सुभाषितरत्नसदोहके सुभाषित सचमुचमे सुभाषित ही हैं। उनके द्वारा उन्होंने मनुष्यकी असत्प्रवृत्तियोकी बुराइयाँ दिखाकर उनकी ओरसे उसे निवृत्त करनेका ही प्रयत्न किया है। काम, क्रोध, लोभ, मदिरापान, मासभक्षण, जुआ आदि ऐसी ही असत्प्रवृत्तियाँ है। तथा ज्ञानार्जन, चारित्रपालन आदि सत्प्रवृत्तियाँ है।

ज्ञानकी प्रशसामे वह कहते हैं—

> परोपदेश स्वहितोपकार ज्ञानेन देही वितनोति लोके।
> जहाति दोष श्रयते गुण च ज्ञान जनैस्तेन समर्चनीयम् ॥२०८॥

ज्ञानके द्वारा प्राणी दूसरोको उपदेश देता है, अपना हित करता है। दोषोको त्यागता है, गुणोंको ग्रहण करता है अत मनुष्योको ज्ञानका सम्यक् रूपसे आदर करना चाहिए।

पूरा ग्रन्थ इसी प्रकारके विविध सुभाषितोसे भरा हुआ है।

२. **श्रावकाचार**—श्रावकको उपासक भी कहते है अत उसका आचार उपासकाचार भी कहाता है। अमितगतिने अपनी इस कृतिको उपासकाचार नाम दिया है। किन्तु अमितगति श्रावकाचारके नामसे प्रसिद्ध है और इसी नामसे इसका प्रथम प्रकाशन मुनि श्री अनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे १९२२ मे हुआ था। तथा उसका एक अन्य सस्करण स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी स्मारक ग्रन्थमाला सूरतसे वि० सं० २०१५ मे हुआ था। इन दोनों सस्करणोमे संस्कृत पाठके साथ प० भागचन्द्रजी कृत बचनिका भी है, और उसमे इसे अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचार लिखा है। तदनुसार ही इसे यह नाम दिया गया और इस तरह यह इसी नामसे प्रसिद्ध हो गया। इसमें पन्द्रह परिच्छेद हैं और उनमे श्रावकके आचारसे सम्बद्ध विभिन्न विषयोंका वर्णन विभिन्न छन्दोंमे सरल सरस साहित्यिक भाषामे किया गया है। इस उपासकाचारसे पूर्व समन्तभद्रकृत

रत्नकरण्ड श्रावकाचार और अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थ सिद्धयुपाय रचा जा चुका था। तथा आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें और सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक चम्पू काव्यके अन्तिम अध्यायोंमें उपासकाध्ययन नामसे श्रावकके आचारका प्रतिपादन किया था। किन्तु अमितगतिका श्रावकाचार उक्त सब श्रावकाचारोंसे वैशिष्ट्य रखता है। तथा उक्त सब श्रावकाचारोंसे बृहत्काय भी है।

प्रथम परिच्छेदमें मनुष्य भवकी दुर्लभता और धर्मकी महत्ताका साधारण कथन करनेके पश्चात् दूसरे परिच्छेदमे मिथ्यात्वको त्यागनेका उपदेश करते हुए उसके आधार भूत कुदेव आदि छह् अनायतनोंका कथन करके सम्यक्त्वकी उत्पत्ति और उसके महत्त्वका वर्णन है। इसके पूर्वके श्रावकाचारोंमें सम्यक्त्वका इतना विस्तारसे विवेचन नही है। इस विवेचनमें करणानुयोगका भी अनुसरण किया गया है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका क्रम, उसके छूटनेके बादकी अवस्था, उसके भेद, स्थिति, आदि सभी आवश्यक जानकारी दी गई है।

जीव अजीव आदि तत्त्वोके श्रद्धान पूर्वक सम्यक्त्व होता है अत: तीसरे अध्यायके प्रारम्भमे जीवके भेदोंका विवेचन करते हुए दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय आदि जीवोंके नाम अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारकी तरह् दिये गये है। तथा चौदह मार्गणा और गुण स्थानोंके नाम भी दिये हैं। आगे आस्रव तत्त्वके वर्णनमें तत्त्वार्थ सूत्रके छठे अध्यायके अनुसार प्रत्येक कर्मके आस्रवके कारण कार्योका विवेचन किया है। इसी तरह् आगे भी प्रत्येक तत्त्वके सम्बन्धमे तत्त्वार्थ सूत्रके अनुसार सक्षिप्त जानकारी दी है। चतुर्थ अध्यायमे चार्वाक, विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, साख्य, न्यायवैशेषिक, बौद्ध दर्शनकी जीव सम्बन्धी मान्यताओंका निरसन करके सर्वज्ञाभाववादियोकी समीक्षा-पूर्वक सर्वज्ञकी सिद्धि की है। तथा अन्तमे गोपूजाकी समीक्षा करते हुए कहा है—

मुशलं देहली चुल्ली पिप्पलश्चपको जलम्।
देवा यैरभिधीयन्ते वर्ज्यन्ते तैः परेऽत्र के ॥९६॥

जो मूसल, देहली, चूल्हा, पीपल, जल आदिको देव मानकर उनकी पूजा करते हैं उनसे क्या बच सकता है। इस तरह् दार्शनिक और लोकाचारकी समीक्षाकी दृष्टिसे यह् परिच्छेद महत्त्वपूर्ण है। सोमदेवने अपने उपासकाध्ययन मे लोकमूढताकी समीक्षा की है किन्तु सब दर्शनोकी नही की। पाँचवे परिच्छेदमे श्रावकके अष्टमूल गुणोका वर्णन है। यहाँ भी मद्य, मांस, मधु आदिको निन्द्य बतलाते हुए अनेक विशेष बाते बतलाई हैं। रात्रि भोजनका निषेध जोरसे किया है। छठे अध्यायमे अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोका कथन है। इसमें हिंसाके त्यागको सरल बनानेके लिये जो उसके भेद किये गये हैं वे इससे पूर्वके श्रावकाचारोंमे नही देखे जाते। कहा है—

हिंसाके दो भेद हैं—आरम्भी और अनारम्भी। जो गृहवाससे निवृत्त है वह दोनों प्रकारकी हिंसासे बचता है किन्तु जो घरमें रहता है वह आरम्भी हिंसाको त्यागनेमें असमर्थ है। हिंसा आदिका विवेचन अमृत-चन्द्रके पुरुषार्थ सिद्धयुपायसे प्रभावित है। सातवे अध्यायमे व्रतोंके अतीचारोका कथन करनेके पश्चात् तीन शल्योका वर्णन सुन्दर है।

निदान शल्यका वर्णन करते हुए कहा है जो जिनधर्मकी सिद्धिके लिये यह् प्रार्थना करता है कि मुझे अच्छी जाति, अच्छा कुल, आदि प्राप्त हो उसका यह् निदान भी ससारका ही कारण है। इसी अध्यायके अन्तमें ग्यारह् प्रतिमाओका स्वरूपमात्र कहा है।

आठवे अध्यायमें छह् आवश्यकोंका कथन है, वे हैं—सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। ये ही छह् आवश्यक मुनियोंके मूलगुणोंमे हैं। प्राचीन समयमे ये ही छह् आवश्यक श्रावकोंके भी थे। इनके स्थानमे देवपूजा आदि छह् आवश्यक निर्धारित होनेपर इन्हे भुला ही दिया गया। अन्य किसी भी श्रावकाचारमें इनका कथन हमारे देखनेमे नहीं आया। इन्हीके प्रसंगसे इस परिच्छेदमें आवश्यकोंके योग्य और अयोग्य स्थानका, आसनोंका, कालका, तथा मुद्राका कथन है। आशाधरजीने अपने अनगार

धर्मामृतमें षडावश्यकोंका कथन करते हुए इन सबका कथन किया है। अन्तमें कायोत्सर्गका कथन करते हुए उसके बत्तीस दोष मूलाचारके अनुसार कहे हैं। यह सब कथन मुनियोके आचारसे भी सम्बद्ध है।

नवम अध्यायमें दान, पूजा, शील और उपवासका कथन है। ये सब श्रावकोका मुख्य कर्तव्य है। इसमें दाताके सात गुणोके साथ उसके विशेष गुणोंका कथन विस्तारसे किया है। तथा भूमिदान, लोहदान, तिलदान, गृहदान, गौदान, कन्यादान, सक्रान्तिमें दान, पिण्डदान, मांसदान, स्वर्णदान आदि लोक प्रचलित दानोंका निषेध किया है। तथा अभयदान, अन्नदान, औषधज्ञान और ज्ञानदान देनेका विधान किया है।

दसवें अध्यायमे पात्र, कुपात्र और अपात्रका विचार है। पात्र तीन प्रकारका होता है। तपस्वी उत्तमपात्र है, श्रावक मध्यपात्र है और सम्यग्दृष्टी जघन्यपात्र है। इन तीनो प्रकारके पात्रोका स्वरूप विस्तारसे कहा है जो अन्य श्रावकाचारोंमे नही है। जो व्यसनी है, परिग्रही है, मद्य-मास परस्त्रीका सेवी है वह अपात्र है उसे दान नही देना चाहिये।

आगे उत्तमपात्र मुनिको दान देनेकी विधि कही है। ग्यारहवे परिच्छेदमे चारों दानोंका वर्णन करते हुए उनके फलका कथन है। बारहवें परिच्छेदमे अर्हन्तकी पूजाका विधान है। पूजाके दो प्रकार हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। शरीर और वचनको जिनेन्द्रकी ओर लगाना तथा गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप अक्षत आदिसे पूजा करना द्रव्यपूजा है और मनको जिनेन्द्रमे लगाना तथा उनके गुणोका चिन्तन भावपूजा है। पूजाके पश्चात् शीलका वर्णन करते हुए जुआ, वेश्या, परस्त्री, शिकार, आदि व्यसनोकी बुराइयाँ कही है। आगे भोजन आदि करते हुए मौन धारण करनेकी प्रशसा की है। मौनके पश्चात् उपवासका वर्णन है जिसमें सब इन्द्रियाँ अपना-अपना विषय सेवनरूप कार्य त्यागकर आत्माके निकट वास करे वह उपवास है। आगे उपवासके अनेक प्रकारोंका वर्णन है। तेरहवें परिच्छेदमे श्रावकको गुरुजनोकी विनय, वैयावृत्य तथा स्वाध्याय आदिके द्वारा ज्ञानार्जन करते रहनेका सदुपदेश है।

चौदहवें परिच्छेदमे बारह भावनाओंका चिन्तनका विधान है। पन्द्रहवे परिच्छेदमे ध्यानका वर्णन मौलिक है। इससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें ध्यानका ऐसा वर्णन देखनेमे नही आता। ध्यान, ध्याता ध्येयका स्वरूप बतलाते हुए पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोका विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इस तरह अमितगतिका श्रावकाचार श्रावकाचारोमे अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

३. धर्म परीक्षा—यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवादके साथ भारतीय सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था कलकत्तासे प्रकाशित हुआ था। जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बईसे भी इसका दूसरा सस्करण निकला था। स्व० डा० ए० एन० उपाध्येने भारतीय विद्या भवन बम्बईसे प्रकाशित हरिभद्रके धूर्ताख्यानकी अपनी प्रस्तावनामे धर्मपरीक्षा नामक कृतियोंका विश्लेषणात्मक परिचय दिया है। अमिगतिसे पूर्व हरिषेणने अपभ्रंश भाषामे धर्मपरीक्षा रची थी जो जयरामकी कृतिकी ऋणी है। और हरिषेणकी कृतिके आधारपर अमितगतिने अपनी धर्मपरीक्षा मात्र दो मासमे रचकर पूर्ण की थी। इसका नवीन संस्करण जीवराज ग्रन्थमालासे शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इसकी रचना अनुष्टुप छन्दमे हुई है। इसमे बीस परिच्छेद है। यह एक पुराणोमे वर्णित अतिशयोक्तिपूर्ण असगत कथाओं और दृष्टान्तोंकी असगति दिखलाकर उनकी ओरसे पाठकोकी रुचिको परिमार्जित करनेवाली कथा प्रधान रचना है। उसके दो मुख्य पात्र हैं मनोवेग और पवनवेग। दोनो विद्याधर कुमार हैं। मनोवेग जैनधर्मका श्रद्धानी है वह पवनवेगको भी श्रद्धानी बनानेके लिये पाटलीपुत्र ले जाता है। उस समय वहाँ ब्राह्मणधर्मका बहुत प्रचार था और ब्राह्मण विद्वान शास्त्रार्थके लिये तैयार रहते थे। दोनों बहुमूल्य आभूषणोसे वेष्ठित अवस्थामे ही घसियारोंका रूप धारण करके नगरमे जाते है और ब्रह्मशालामे रखी हुई भेरीको बजाकर सिंहासनपर बैठ जाते हैं। ब्राह्मण विद्वान किसी शास्त्रार्थीको आया जान एकत्र होते हैं और उनका विचित्ररूप देख आश्चर्यचकित रह जाते हैं। यह देखकर मनोवेग कहता है हम तो केवल

घास बेचनेवाले लड़के हैं हमारा मूलरूप महाभारतकी कथाओंमें है। इसीपरसे परस्परमें कथावार्त्ता चल पड़ती है। मनोवेग अपने अनुभवकी असम्भव घटनाएँ सुनाता है और जैसे ही ब्राह्मण विद्वान उसका विरोध करते हैं वह तत्काल उनके पुराणोंसे उसी प्रकारकी कथा सुनाकर उन्हे चुप कर देता है। इस प्रकार मनोवेग ब्राह्मणोंके शास्त्रो और धर्मकी बहुत सी असंगत बातें पवनवेगको समझाता है और पवनवेग जैनधर्म-का श्रद्धानी बन जाता है और वे दोनों श्रावकका सुखी जीवन बिताते है।

४. **पञ्चसंग्रह**—पञ्चसग्रह मूलका प्रकाशन प्रथम बार १९२७ मे माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला बम्बईसे हुआ था। उसके पश्चात् १९३१ मे वशीधर शास्त्री सोलापुरके हिन्दी अनुवादके साथ बालचन्द कस्तूरचन्द गाधी धाराशिवकी ओरसे प्रकाशित हुआ था। बन्धक जीव, बध्यमान कर्मप्रकृति, बन्धके स्वामी, बन्धके कारण और बन्धके भेद इन पाचका कथन होनेसे इसका नाम पचसग्रह है। यह स्वतंत्र रचना नहीं है। किन्तु प्राकृत गाथाओंमे निबद्ध पचसंग्रहका संस्कृत श्लोकोमें रूपान्तर है। जब तक प्राकृत पञ्चसग्रह प्रकाशमे नही आया था तब तक इसे स्वतन्त्र कृतिके रूपमे माना जाता था। किन्तु प्राकृत पञ्चसग्रह और उसीके अन्तर्गत लक्ष्मण सुत लड्ढाके सस्कृत पञ्चसग्रहके भारतीयज्ञानपीठसे प्रकाशित होनेके पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि अमितगतिका यह पञ्चसंग्रह लड्ढाके पञ्चसंग्रहका भी ऋणी है। अमितगतिने उसका बहुत अनुकरण किया है। कुछ विशेष कथन भी है। जैसे इसमे तीन सौ त्रेसठ मतोंकी उत्पत्ति विस्तारसे दी है। किन्तु अनुकरण विशेष है।

५. **आराधना भगवती**—प्राकृत गाथाओमे निबद्ध आचार्य शिवार्यकी भगवती आराधना अति प्रसिद्ध है। इसमे इक्कीस सौके लगभग गाथाएं है। इसपर अनेक टीकाकारोने टीका टिप्पण[1] लिखे है। इसमे समाधि मरणकी विधिका वर्णन है। आचार्य अमितगतिने उसे संस्कृतके छन्दोमे रूपान्तरित किया है। इसका प्रकाशन शोलापुरसे मूल भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीकाके साथ हुआ था। अमितगतिकी रचनामे जो सौष्ठव और लालित्य पाया जाता है उसका दर्शन इस कृतिमें भी होता है। सभी पद्य बहुत सरल सरस और पाठ करनेके योग्य है। मूलका भाव उनमे सुस्पष्ट प्रतीत होता है।

६. **भावना द्वात्रिंशतिका**—यह एक सस्कृतके उपजाति छन्दमे रचित बत्तीस पद्योंकी भावना प्रधान रचना है। इसे सामायिकपाठ भी कहते हैं। इसमे मनुष्य यह भावना भाता है कि सब प्राणियोमे मेरा मैत्री भाव रहे। गुणी जनोंके प्रति प्रमोद भाव रहे, दुःखी जीवोके प्रति करुणा भाव रहे और विपरीत वृत्ति वालोमे मेरा माध्यस्थ्य भाव रहे। मैने प्रमादवश या इन्द्रियासक्त होकर यदि सदाचारकी शुद्धिमे दोष लगाया हो तो वह मेरा दोष मिथ्या हो। एक मेरा आत्मा ही सदा काल रहने वाला है जो निर्मल ज्ञान स्वभाव है। शेष सब पदार्थ बाह्य है। वे सदा स्थायी नही है कर्म सयोगजन्य है। इत्यादि। रचना जितनी मधुर है भाव भी उतने ही हृदयग्राही है। पढकर चित्तवृत्ति प्रशान्त हो जाती है। अन्तिम श्लोकमे कहा है जो इन बत्तीस पद्यों-के द्वारा एकाग्र होकर परमात्माका दर्शन करता है वह अविनाशी पद मोक्ष प्राप्त करता है। इसका प्रकाशन अनेक स्थानोसे हुआ है। स्व० कुमार देवेन्द्रप्रसाद आराने इसे अंग्रेजी अनुवादके साथ भी प्रकाशित किया था।

७. **सामायिक पाठ**—यह भी संस्कृतके विविध छन्दोमे एक सौ बीस पद्योंमे रचित एक भावनात्मक रचना है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्त सारादिसग्रह (क्र० २१) के अन्तर्गत इसका प्रकाशन हुआ है। इसकी रचनापर गुण भद्रके आत्मानुशासनका स्पष्ट प्रभाव है। इसमें भी वही भाव विस्तारसे वर्णित है जो संक्षेपमें भावना द्वात्रिंशतिकामे वर्णित है। कविता भी वैसी ही सरस और सरल तथा हृदय-ग्राही है।

ये सात ही रचनाएँ उपलब्ध हैं।

---

१. देखो 'आराधना और उसकी टीकाएँ,' जैन सा० और इति० पृ० ७४ आदि।

आदान-प्रदान

विभिन्न आचार्योंकी विभिन्न रचनाओमे आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। जहाँ रचनाएं पूर्व ग्रन्थकारोंसे प्रभावित होती हैं वहाँ उत्तरकालीन साहित्यको प्रभावित भी करती हैं। जो कृति ऐसी क्षमता नहीं रखतो वह अपने समयकी प्रतिनिधि रचना होनेका दावा नहीं कर सकती। आचार्य अमितगतिका श्रावकाचार एक ऐसी कृति हैं कि वह जहाँ पूर्व कृतियोंसे प्रभावित हैं वहाँ उसने उत्तरकालीन कृतियोको प्रभावित भी किया है।

१. **अमितगति और अमृतचन्द्र**—प्रभावित करनेकी दृष्टिसे विशेष उल्लेखनीय है आचार्य अमृतचन्द्रका पुरुषार्थसिद्धयुपाय। उसने अमितगतिके श्रावकाचारको शब्दश. भी प्रभावित किया है।

अमृतचन्द्रने मद्यको बहुतसे जीवोंकी योनि बतलाया है और लिखा है कि मद्यपानसे उनकी हिंसा होती है। यही अमितगतिने भी कहा है। यथा—

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्य भजतां तेषां हिंसा सजायतेऽवश्यम् ॥३३॥ —पु० सि०

× × ×

ये भवन्ति विविधा· शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसङ्गिका:।
तेऽखिला झटिति यान्ति पञ्चता निन्दितस्य सरकस्य पानत· ॥६॥ श्रा०

शराबके लिये अमृतचन्द्रने भी सरक शब्दका प्रयोग (श्लोक ६४) किया है। अन्य श्रावकाचारोमें इसका प्रयोग हमारे दृष्टिगोचर नही हुआ।

२. अमृतचन्द्रने कहा है (पु० सि० ७४) कि पाँच उदुम्बर तीन मकारका त्याग करनेपर हो मनुष्य जिनधर्म देशनाका अधिकारी होता है। अमितगतिने भी (५–७३) ऐसा ही कहा है।

३ अमृतचन्द्रने हिंसक, दु:खी और सुखीको मारनेका निषेध जिन शब्दोमे किया है अमितगतिने भी वैसा ही किया है।

देखें—पु०सि० ८३ श्लोक तथा श्रावकाचार ६।३३ श्लोक। पु०सि० ८५ श्लोक तथा अमि० श्रावकाचार ६।३९। पु० सि० ८६ श्लोक, श्रा० ६।४० श्लोक।

४. अमृतचन्द्रने अनृत वचन और उसके भेदोंका जैसा कथन किया है अमितगतिने भी वैसा ही किया है। देखें—पु० सि० ९२–९८ श्लोक तथा श्रा० ६।४९–५२।

५. व्रतोंके अतीचार सम्बन्धी कई श्लोकोंमे शाब्दिक परिवर्तनमात्र है।

२. **अमितगति और सोमदेव**—अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्धयुपायके पश्चात् ही सोमदेवने अपने यशस्तिलकचम्पूके अन्तमे उपासकाध्ययनके नामसे श्रावकाचारकी रचना की थी। अमितगतिके श्रावकाचारपर उसका भी प्रभाव परिलक्षित होता है।

उपासकाध्ययनके प्रारम्भमे अन्यदर्शनोकी आलोचना है। अमि० के श्रावकाचारके तृतीय परिच्छेदमें भी सब दर्शनोकी विस्तारसे आलोचना है। उपासकाध्ययनके ४३वे कल्पमे भी दाता दान आदिका विस्तारसे वर्णन है, श्रावकाचारके नवम आदि परिच्छेदोंमें भी दानका वर्णन विस्तारसे किन्तु प्राय: उसी रूपमे है। उपासकाध्ययनके चतुर्थकल्पमें सक्रान्तिमे दान, गोपूजा आदिका निषेध किया है, श्रावकाचारमें भी दानके प्रकरणमे इस प्रकारके दानोंका निषेध किया है। उपासकाध्ययनमे पूजा विधि और ध्यानका वर्णन है

अमितगतिने भी १२ वें परिच्छेदमे पूजा विधिका और १५ वें ध्यानका वर्णन विस्तारसे किया है। कहीं-कहीं तो विषयके साथ शब्द साम्य भी है यथा—

देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधिभयाय वा।
न हिंस्यात् प्राणिन· सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३२०॥ —उपा०
देवतातिथि मन्त्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना।
हिंसा धत्ते नरके कि पुनरिह् नान्यथा विहिता॥ —श्रा० ६–२९

अतः अमितगतिके सन्मुख उपासकाध्ययन अवश्य रहा है ऐसा प्रतीत होता है।

३. अमितगति और आशाधर—अमितगतिके श्रावकाचार आदिने आशाधरके धर्मामृत ग्रन्थके अनगार और सागार दोनों भागोको अत्यधिक प्रभावित किया है। दोनोमे श्रावकाचार और पंचसंग्रहके उद्धरणोंकी बहुतायत है तथा आशाधरने स्वय उनका नामोल्लेख भी किया है यथा—अनगारधर्मामृतकी टीका (पृ० ६०५) मे लिखा है—

एतदेव चामितगतिरप्यन्वाख्यात्-
कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचन चेतसाम्।
स्तव सामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः॥—श्रा० ८।६५

४. अमितगति और पद्मनन्दि—आचार्य पद्मनन्दीकी पञ्चविंशतिकाके अनेक पद्य अमितगतिसे प्रभावित है, पञ्चविंशतिकाका एक पद्य इस प्रकार है—

मनोवचोऽङ्गै· कृतमङ्गिपीडन प्रमोदित कारित यत्र तन्मया।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रय तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृत मम॥

अमितगतिकी भावना द्वात्रिंशतिकाके निम्न पद्यांश इस प्रकार है—

'एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः प्रमादतः संचरता इतस्ततः'

× × ×

मनो वच·कायकषायनिर्मितम्।

× × ×

तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो।

अन्य भी अनेक समानताएँ हैं।

५. अमितगति और प्रभाचन्द्र—आचार्य प्रभाचन्द्रने अपना प्रमेय कमल मार्तण्ड मुजके उत्तराधिकारी राजा भोजके राज्यकालमे बनाया है। उन्होंने पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्तिके विषम पदोंपर भी एक टिप्पण लिखा है जो भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित सर्वार्थसिद्धिके द्वितीय सस्करणके साथ प्रकाशित हो चुका है। उसके प्रारम्भमे अमितगतिके पंचसग्रहका निम्न पद्य उद्धृत है—

वर्ग· शक्तिसमूहोऽणोरणूना वर्गणोदिता।
वर्गणाना समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः॥

६. अमितगति और हेमचन्द्र—आचार्य हेमचन्द्रका स्वर्गवास सम्वत् १२२९ में हुआ था। उन्होंने कुमारपालके अनुरोधसे योगशास्त्र रचा था। इसमे जिस प्रकार शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका अत्यधिक अनुकरण है उस प्रकार अमितगतिका अनुकरण तो नहीं है। फिर भी उनके सु० र० सं० तथा श्रावकाचारका प्रभाव

सुस्पष्ट है। श्रावकाचारके अन्तिम परिच्छेदमें अमितगतिने ध्यानोंका वर्णन विस्तारसे किया है। योगशास्त्रमे भी श्रावकाचारके साथ ध्यानका वर्णन है। उदाहरणके लिये एक श्लोक देना पर्याप्त होगा।

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधिः फलम्।
विधेयानि प्रसिद्ध्यन्ति सामग्रीतो विना नहि॥ (श्रा० १५।२३)

श्रावकाचारका यह श्लोक योगशास्त्रमे इस रूपमे पाया जाता है—

ध्यान विधित्सता ज्ञेय ध्याता ध्येय तथा फलम्।
सिद्ध्यन्ति न हि सामग्री विना कार्याणि कर्हिचित्॥ (७-१)

इस तरह आचार्य अमितगतिकी कृतियोंसे उत्तरकालीन कृतियाँ प्रभावित है। अतः आचार्य अमितगति अपने समयके एक विशिष्ट ग्रन्थकार थे। और उन्होंने अपने वंदुष्यसे जिनशासनका तथा संस्कृत वाङ्मयका मान बढाया था तथा सुरभारतीके साहित्य भण्डारको समृद्ध किया था।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय सूची

१ विषय विचार	१
२. कोप निषेध	८
३. मान माया निषेध	१४
४. लोभ निवारण	१९
५. इन्द्रियराग निषेध	२३
६. स्त्री गुणदोष विचार	२८
७. मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व निरूपण	३७
८. ज्ञान निरूपण	४८
९ चारित्र निरूपण	५५
१०. जाति (जन्म) निरूपण	६३
११. जरानिरूपण	७२
१२. मरण निरूपण	८१
१३ अनित्यता निरूपण	८९
१४. दैव निरूपण	९६
१५. जठर निरूपण	१०२
१६ जीवसम्बोधन	१०७
१७ दुर्जन निरूपण	११६
१८. सुजन निरूपण	१२७
१९. दान निरूपण	१३६
२०. मद्य निषेध	१४४
२१. मांस निषेध	१४९
२२. मधु निषेध	१५५
२३. काम निषेध	१५९
२४. वेश्यासग निषेध	१६४
२५. द्यूत निषेध	१६९
२६. आप्तविचार	१७३
२७. गुरु स्वरूप निरूपण	१८३
२८. धर्म निरूपण	१८८
२९. शोक निरूपण	१९५
३०. शौच निरूपण	२०१
३१. श्रावकधर्म कथन	२०८
३२ तपश्चरण निरूपण	२२८
ग्रन्थकार प्रशस्ति	२३७
श्लोकानुक्रमणिका	२३९

●

अमितगति-विरचितः

सुभाषितसंदोहः

[१. विषयविचारैकविंशतिः]

1) जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीव[1]।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना[2] भारतीद्धा वितरतु धुतदोषा सार्हतीं भारतीं[3] वः ॥ १ ॥

2) न तदरिरिभराजः केसरी केतुरुग्रो नरपतिरतिरुष्टः कालकूटो ऽतिरौद्रः।
अतिकुपितकृतान्तः पावकः पन्नगेन्द्रो यदिह विषयशत्रुर्दुःखमुग्रं करोति ॥ २ ॥

अन्वयः—धुतदोषा (धुताः विनाशिता दोषाः रागादयो यया सा, —पक्षे धुता विनाशिता दोषा रात्रिः यया सा, तथोक्ता) कृतनिखिलपदार्थद्योतना भानवी (भानोः सूर्यस्य इयं भानवी) प्रभेव या भव्यपाथोरुहाणाम् अन्तः मुदं जनयति, या तिमिरराशिं हरति, सा इद्धा (दीप्ता) भारती वः आर्हती भारतीं वितरतु ॥ १ ॥ इह विषय-शत्रुः यत् उग्रं दुःखं करोति तत् अरिः इभराजः केसरी उग्रः केतुः अतिरुष्टः नरपतिः अतिरौद्रः कालकूटः अतिकुपितकृतान्तः पावकः पन्नगेन्द्रः न करोति ॥ २ ॥

[हिन्दी अनुवाद]

सरस्वती सूर्यकी प्रभाके समान है। जिस प्रकार सूर्यकी प्रभा धुतदोषा है—दोषा (रात्रि) के संसर्गसे रहित है—उसी प्रकार सरस्वती भी धुतदोषा—अज्ञानादि दोषोंको नष्ट करनेवाली— है, जिस प्रकार सूर्यकी प्रभा समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करती है उसी प्रकार सरस्वती भी समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करती है, सूर्यकी प्रभा यदि कमलोंके भीतर मोद (विकास) को उत्पन्न करती है तो सरस्वती भव्य जीवोंके अन्तःकरणमें मोद (हर्ष) को उत्पन्न करती है, तथा सूर्यप्रभा यदि तिमिरराशिको—अन्धकारसमूहको—नष्ट करती है तो सरस्वती भी तिमिरराशिको—प्राणियोंके अज्ञानसमूहको—नष्ट करती है। इस प्रकार प्रदीप्त सूर्यकी प्रभाके समान वह समृद्ध सरस्वती आपके लिये जैन वाणीको प्रदान करे। अभिप्राय यह है कि सरस्वतीकी उपासनासे वह अरहन्त अवस्था प्राप्त हो जिसमें अपनी दिव्य वाणीके द्वारा समस्त संसारका कल्याण किया जा सकता है ॥ १ ॥ संसारमें विषयरूप शत्रु जिस तीव्र दुःखको उत्पन्न करता है उसे शत्रु, गजराज, सिंह, क्रुद्ध केतु, अतिशय क्रोधको प्राप्त हुआ राजा, अत्यन्त भयानक कालकूट विष, प्रचण्ड यमराज, अग्नि और अतिशय विषैला सर्प भी नहीं उत्पन्न कर सकता है ॥ विशेषार्थ——संसारमें शत्रु आदि दुःख देनेवाले प्रसिद्ध हैं। परन्तु वे शत्रु आदि जितना दुःख देते हैं उससे अधिक दुःख विषयरूप शत्रु देता है। कारण कि शत्रु आदि तो केवल एक ही

---

१ स भानवीं च। २ स °पदार्थौ°। ३ स साहृती।

3) न नरदिविजनाथा[1] येषु तृप्यन्ति[2] तेषु कथमपरनराणामिन्द्रियार्थेषु तृप्तिः ।
वहति सरिति[3] यस्यां दन्तिनाथो ऽतिमात्रो[5] भवति हि शशकानां केन तत्र व्यवस्था ॥ ३ ॥
4) ददति विषयदोषा ये तु दुःखं सुराणां कथमितरमनुष्यास्तेषु सौख्यं लभन्ते ।
मदमलिनकपोलः क्लिश्यते येन हस्ती क्रमपतितमृगं स त्यक्ष्यतीभारिरत्र[6] ॥ ४ ॥

येषु इन्द्रियार्थेषु नर-दिविजनाथाः न तृप्यन्ति तेषु अपरनराणा कथं तृप्तिः [स्यात्]। हि यस्या सरिति अतिमात्रो दन्तिनाथः वहाते तत्र शशकानां केन व्यवस्था भवति ॥ ३ ॥ ये तु विषयदोषाः सुराणा दुःखं ददति, इतरमनुष्याः तेषु कथं सौख्यं लभन्ते । येन मदमलिनकपोलः हस्ती क्लिश्यते स इभारिः अत्र क्रमपतितं मृगं (पादाक्रान्तहरिणं) त्यक्ष्यति [कथमपि न त्यक्ष्यति ।] ॥ ४ ॥ यदि समुद्रः सिन्धुतोयेन कथमपि तृप्तो भवति च यदि वह्निः काष्ठसघाततः कथमपि तृप्तः भवति तद

जन्ममें दुःख दे सकते हैं और वह भी अधिक से अधिक मरण तकका, परन्तु वह विषयरूप शत्रु (विषयतृष्णा) पापको संचित कराके अनेक जन्म-जन्मान्तरोंमें दुःख दिया करता है । अत एव उन लौकिक शत्रु आदिकोंकी अपेक्षा प्राणीको इस विषय-शत्रुसे अधिक भयभीत रहना चाहिये, ऐसा यहां अभिप्राय सूचित किया गया है ॥२॥ जिन इन्द्रियविषयोंके भोगनेसे नरनाथ (चक्रवर्ती) और इन्द्र भी तृप्तिको नहीं प्राप्त होते हैं उनसे भला साधारण मनुष्य कैसे तृप्त हो सकते हैं ? नहीं हो सकते । ठीक है—जिस नदीके प्रवाहमें अतिशय बलवान् हाथी बह जाता है उसमें क्षुद्र खरगोशोंकी व्यवस्था किससे हो सकती है ? किसीसे भी नहीं हो सकती है ॥ विशेषार्थ— विषयतृष्णा तीव्र नदीके प्रवाहके समान प्रबल है । जिस प्रकार वेगसे बहनेवाली नदीके प्रवाहमें जहां बड़े बड़े हाथी जैसे प्राणी बहे चले जाते हैं वहां खरगोश आदि नगण्य पशुओंकी कुछ गिनती नहीं की जा सकती है उसी प्रकार जिन इन्द्रियविषयोंसे अपरिमित विभूतिवाले चक्रवर्ती और देवेन्द्र भी कभी तृप्त नहीं हो सके हैं उनसे परिमित विभूतिको धारण करनेवाले दूसरे सामान्य मनुष्य कभी सन्तोषको प्राप्त होंगे, यह तो आशा नहीं की जा सकती है । कारण कि विषयोंका उपभोग तो उस विषयतृष्णाको उत्तरोत्तर और अधिक बढ़ाता है— जैसे कि अग्निकी ज्वालाको उत्तरोत्तर इन्धन बढ़ाता है । यही अभिप्राय स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी प्रकट किया है— तृष्णार्चिपः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव । स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥ अर्थात् तृष्णारूप अग्निकी जो ज्वालायें प्राणीके हृदयमें जला करती हैं उनकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रियविषयोंकी प्राप्तिसे नहीं हो सकती है, उससे तो वे और अधिक बढ़ती ही हैं । कारण कि उनका ऐसा स्वभाव ही है । अभीष्ट इन्द्रियविषयोंकी प्राप्ति केवल थोड़ी देरके लिये शरीरके सन्तापको दूर करनेका साधन बन सकती है, किन्तु वह उस विषयतृष्णाको शान्त नहीं कर सकती है । यही कारण है जो हे कुन्थु जिनेन्द्र ! आप इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके चक्रवर्तीकी भी विभूतिका परित्याग करते हुए उस विषयजन्य सुखसे विमुख हुए हैं [बृ. स्व. ८२] ॥ ३ ॥ जो विषयजन्य दोष देवोंको दुख देते हैं उनके रहनेपर भला साधारण मनुष्य कैसे सुख प्राप्त कर सकते हैं ? नहीं प्राप्त कर सकते । ठीक है— जिस सिंहके द्वारा करते हुए मदसे मलिन गण्डस्थलवाला अर्थात् मदोन्मत्त हाथी भी कष्टको प्राप्त होता है वह पैरोंके नीचे पड़े हुए मृगको छोड़ेगा क्या ? अर्थात् नहीं छोड़ेगा ॥ विशेषार्थ—विषयसामग्री मनुष्योंकी अपेक्षा देवोंके पास

---

१ स °नाथो । २ स तृप्यन्ति । ३ स सरति । ४ स यस्यांदंतनाथोन्नमंतो । ५ स ° त्र मत्तो °तिमत्तो । ६ स °मृगं सत्यक्षतीभारिरत्र, °त्तीभारिरत्र, °मृगं किं त्यक्षतीभोरिरत्र ।

5) यदि भवति समुद्रः सिन्धुतोयेन तृप्तो यदि कथमपि वह्निः काष्ठसंघाततश्च ।
अयमपि विषयेषु प्राणिवर्गस्तदा स्यादिति मनसि विदन्तो मा विधुस्तेषु यत्नम् ॥ ५ ॥
6) असुरसुरनरेशां यो न भोगेषु तृप्तः कथमिह मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः ।
जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्णस्तृणशिखरगताम्भःपानतः किं स तृप्येत् ॥ ६ ॥
7) सततविविधजीवध्वंसनाढ्यैरुपायैः स्वजनतनुनिमित्तं कुर्वते पापमुग्रम् ।
व्यथिततनुमनस्का जन्तवो ऽमी सहन्ते[7] नरकगतिमुपेता दुःखमेकाकिनस्ते[8] ॥ ७ ॥

अयं प्राणिवर्गोऽपि विषयेषु तृप्तः स्यात् इति मनसि विदन्तः तेषु यत्नं मा विधुः ॥ ५ ॥ यः असुर-सुर-नरेशां भोगेषु न तृप्त तस्य इह मनुजानां भोगेषु कथं तृप्तिः । यः जलनिधिजलपाने वितृष्णः न जातः सः तृणशिखरगताम्भःपानतः तृप्येत् किम् । [नैव तृप्येत् ।] ॥ ६ ॥ अमी जन्तवः व्यथिततनुमनस्काः सन्तः स्वजन-तनुनिमित्तं सततविविधजीवध्वंसनाढ्यैः उपायैः उग्रं पापं कुर्वते । ते नरकगतिमुपेताः एकाकिनः [एव] दुःखं सहन्ते ॥ ७ ॥ यदि अर्थ्यं (अभीष्टं) विचित्रं द्रव्यं संचितं

अधिक रहती है। परन्तु उनको भी उससे सन्तोष नहीं होता। वे भी ऊपर ऊपरके देवोंकी अधिक ऋद्धिको देखकर ईर्ष्यालु होते हुए दुखी होते हैं। इसके अतिरिक्त मरणके छह मास पूर्वमें जब कुछ चिह्नविशेषोंसे—मालाके मुरझाने आदिसे— उन्हें अपने मरणका परिज्ञान होता है तब वे प्राप्त भोगसामग्रीके वियोगकी सम्भावनासे अतिशय दुखी होते हैं। अब विचार कीजिये कि अभीष्ट विषयसामग्रीको पाकर उससे उक्त देव भी सुखी नहीं हो सकते हैं तब इच्छानुसार विषयसामग्रीको न प्राप्त कर सकनेवाले साधारण मनुष्य कैसे सुखी हो सकते हैं ? नहीं हो सकते। जैसे— जो सिंह मदोन्मत्त हाथियोंको भी पादाक्रान्त करके दुखी करता है वह बेचारे दीन-हीन हिरणोंको छोड़ दे, यह कभी सम्भव नहीं है ॥ ४ ॥ यदि नदियोंके जलसे समुद्र किसी प्रकार तृप्त हो सकता है और यदि किसी प्रकार काष्ठसमूहसे अग्नि तृप्त हो सकती है तो यह प्राणिसमूह भी विषयोंमें तृप्त हो सकता है। [अभिप्राय यह कि जिस प्रकार समुद्र कभी नदियोंके जलसे सन्तुष्ट नहीं हो सकता है तथा अग्नि कभी इन्धनसे सन्तुष्ट नहीं हो सकती है उसी प्रकार यह प्राणिसमूह भी कभी उन विषयभोगोंसे तृप्त नहीं हो सकता है।] इसीलिये ऐसा मनमें विचार करनेवाले विद्वान् उक्त विषयोंके सम्बन्धमें प्रयत्न न करें ॥ ५ ॥ जो प्राणी असुरेन्द्र, देवेंद्र और नरेन्द्र (चक्रवर्ती) के भोगोंमें सन्तोषको नहीं प्राप्त हुआ है वह यहां मनुष्योंके भोगोंमें भला कैसे सन्तोषको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। ठीक है--जिसकी प्यास समुद्रप्रमाण जलके पी लेने पर भी नहीं बुझी है वह क्या तृणके अग्रभागपर स्थित बिन्दुमात्र जलके पीनेसे तृप्त हो सकता है ? कभी नहीं ॥ ६ ॥ शारीरिक एवं मानसिक कष्टको भोगते हुए ये जो प्राणी अपने कुटुम्बी जनोंके निमित्तसे और अपने शरीरके भी निमित्तसे निरन्तर जीवहिंसायुक्त अनेक प्रकारके उपायोंके द्वारा (जीवहिंसनादिके द्वारा) तीव्र पाप करते हैं वे नरकगतिको प्राप्त होकर अकेले ही दुखको सहते हैं ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जीवहिंसा आदि दुष्कार्योंको करके जीव जो भी पाप करता है उसे वह दूसरोंके निमित्तसे करता है— शरीर एवं आत्मीय जनोंके भरण-पोषणादिके निमित्तसे करता है। परन्तु इससे जो उसके पापका संचय होता है उसका फल अकेले उस प्राणीको ही भोगना पड़ता है— उसमें कोई भी दूसरा हाथ नहीं बँटाता है ॥ ७ ॥ यदि अनेक प्रकारका अभीष्ट द्रव्य संचित हो जाता है तो उसका उपभोग निकटवर्ती सेवक जन, पुत्र एवं स्त्री

---

१ स° व्यधु°। २ स° नराणा। ३ स तृप्तो। ४ स कथमपि। ५ म ध्वंसनौघै°, °नाद्यै°। ६ स° मनस्काः। ७ स सहंतो। ८ स किमस्तु, °किमस्तु।

8) यदि भवति विचित्रं संचितं द्रव्यमर्थ्यं परिजनसुतदारा भुञ्जते तन्मिलित्वा ।
न पुनरिह समर्था ध्वंसितुं दुःखमेते तदपि बत विधत्ते पापमङ्गी तदर्थम् ॥ ८ ॥

9) धनपरिजनभार्याभ्रातृमित्रादिमध्ये व्रजति भवभृता यो नैष एकोऽपि कश्चित् ।
तदपि गतविमर्षाः कुर्वते तेषु रागं न तु विदधति धर्मं यः समं याति यात्रा ॥ ९ ॥

10) यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणाम् ।
इति मनसि नितान्तं प्रीतिमाधाय धर्मं भजत जहितैतान् कामशत्रून् दुरन्तान् ॥ १० ॥

11) यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्वं पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात् ।
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं यदि भवमृतिमुक्ते मुक्तिसौख्ये ऽस्ति वाञ्छा ॥ ११ ॥

भवति [तदा] परिजन-सुत-दाराः मिलित्वा तत् भुञ्जते। इह पुनः एते दुःखं ध्वंसितुं समर्थाः न [भवन्ति]। तदपि अङ्गी तदर्थं पापं विधत्ते। बत (खेदे) ॥ ८ ॥ धनपरिजनभार्याभ्रातृमित्रादिमध्ये यः भवभृता [सह] व्रजति एषः एक अपि कश्चित् न [विद्यते]। तदपि गतविमर्षाः तेषु रागं कुर्वते। न तु यः यात्रा समं याति [तं] धर्मं न विदधति ॥ ९ ॥ इह वीतकामस्पृहाणां यत् सौख्यं भवति तत् अमरविभूनाम् अपि न, चक्रेश्वराणाम् अपि न, इति मनसि नितान्तं प्रीतिम् आधाय धर्मं भजत च एतान् दुरन्तान् काम-शत्रून जहित ॥ १० ॥ यदि देहिना भोगलेशेन नृत्वं कथमपि नश्येत, पुनरपि तदवाप्तिः दुःखतः स्यात्। यदि भव-मृतिमुक्ते (जन्म-मरणरहिते) मुक्तिसौख्ये वाञ्छा अस्ति [तदा] हतविषयाशाः इति धर्मकृत्ये यतध्वम् ॥ ११ ॥

आदि सब कुटुम्बी जन मिल करके किया करते हैं। परन्तु उससे जो यहाँ प्राणीको दुख उत्पन्न होनेवाला है उसको नष्ट करनेके लिये ये कोई भी समर्थ नहीं होते हैं। फिर भी यह खेदकी बात है कि प्राणी उनके निमित्त पापको करता ही है ॥ ८ ॥ धन, परिजन (दास-दासी), स्त्री, भाई और मित्र आदिके मध्यमेंसे जो इस प्राणीके साथ जाता है ऐसा यह एक भी कोई नहीं है। फिर भी प्राणी विवेकसे रहित होकर उन सबके विषयमें तो अनुराग करते हैं, किन्तु उस धर्मको नहीं करते हैं जो कि जानेवालेके साथ जाता है ॥ विशेषार्थ- धन, दासी-दास, स्त्री और पुत्र आदि ये सब बाह्य पर पदार्थ हैं। इनका सम्बन्ध जिस शरीरके साथ है वह भी पर (आत्मासे भिन्न) ही है। इसीलिये प्राणीका जब मरण होता है तब उसके साथ न तो वह शरीर ही जाता है और न उससे सम्बद्ध वे धन एवं स्त्री-पुत्रादि भी जाते हैं। फिर भी आश्चर्यकी बात है कि जो ये सब बाह्य पदार्थ प्राणीके साथ परलोकमें नहीं जाते हैं उन्हींके साथ यह प्राणी सदा अनुराग करता है और जो धर्म उसके साथ परलोकमें जानेवाला है उससे यह अनुराग नहीं करता है। यही कारण है जो वह इस लोकमें तो उक्त कुटुम्बी जन आदिके भरण-पोषण आदिकी चिन्तासे व्याकुल रहता है और परलोकमें इससे उत्पन्न पापके वश होकर वह दुर्गति आदिके दुखको सहता है। यह उसकी अज्ञानताका परिणाम है ॥ ९ ॥ जिनकी विषयभोगोंकी इच्छा नष्ट हो चुकी है उनको जो यहाँ सुख प्राप्त होता है वह न तो इन्द्रोंको प्राप्त हो सकता है और न चक्रवर्तियोंको भी। इसीलिये मनमें अतिशय प्रीति धारण करके ये जो विषयरूप शत्रु परिणाममें अहितकारक हैं उनको छोड़ो और धर्मका आराधन करो ॥ १० ॥ प्राणी जितने भोगोंकी अभिलाषा किया करते हैं उनका लेशमात्र भी वे नहीं भोग पाते हैं। फिर यदि उन भोगोंमें अनुरक्त रहते हुए उनकी यह मनुष्यपर्याय किसी प्रकारसे नष्ट हो जाती है तो उसकी पुनः प्राप्ति उन्हें बहुत कष्टसे हो सकेगी। इसलिये यदि जन्म और मरणके दुखसे रहित मोक्षसुखकी प्राप्तिके विषयमें अभिलाषा है तो विषयतृष्णाको नष्ट करके धर्माचरणमें प्रयत्न करो ॥ ११ ॥

---

१ स दुःखमेतत्। २ स °भृतां यो। ३ स नैय, नैव। ४ स शर्मं। ५ स °स्पृहानां। ६ स °चक्रेश°। ७ स जहीहि। ८ स °लोभेन।

12) विषमविषसमानान् नाशिनः कामभोगांस्त्यजति यदि मनुष्यो दीर्घसंसारहेतून् ।
व्रजति कथमनन्तं दुःखमत्यन्तघोरं त्रिविधमुपहतात्मा श्वभ्रभूम्यादिभूतम् ॥ १२ ॥
13) विगलितरसमस्थि स्वादयन् दारितास्यः स्वकवदनजरक्ते मन्यते श्वा सुखित्वम् ।
स्वतनुजनितखेदाज्जायमानं जनानां तदुपममिह सौख्यं कामिनां कामिनीभ्यः ॥ १३ ॥
14) किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत् किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत् ।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥ १४ ॥
15) उपधिवसतिपिण्डान् गृह्णते नो विरुद्धांस्तनुवचनमनोभिः सर्वथा ये मुनीन्द्राः ।
व्रतसमितिसमेता ध्वस्तमोहप्रपञ्चा ददतु मम विमुक्तिं ते हतक्रोधयोधाः ॥ १५ ॥

यदि मनुष्यः दीर्घसंसारहेतून् विषमविषसमानान् नाशिनः कामभोगान् त्यजति [तर्हि] उपहतात्मा सन् श्वभ्रभूम्यादिभूतम् अत्यन्तघोरम् अनन्तं त्रिविधं दुःखं कथं व्रजति ॥ १२ ॥ विगलितरसम् अस्थि स्वादयन् दारितास्यः श्वा स्वकवदनजरक्ते सुखित्वं मन्यते । इह कामिनां जनानां स्वतनुजनितखेदात् कामिनीभ्यः जायमानं सौख्यं तदुपमम् [अस्ति] ॥ १३ ॥ इह परमसौख्यं किम्, यत् एतत् निःस्पृहत्वम् । अथ परमदुःखं किम्, यत् एतत् सस्पृहत्वम् । इति मनसि विधाय ये त्यक्तसंगाः सन्तः सदा जिनधर्मं विदधति ते नराः पुण्यवन्तः [सन्ति] ॥ १४ ॥ ये विरुद्धान् उपधि-वसति-पिण्डान् तनुवचनमनोभिः सर्वथा नो गृह्णते व्रतसमितिसमेताः ध्वस्तमोहप्रपञ्चाः हतक्रोधयोधाः ते मुनीन्द्राः मम विमुक्तिं ददतु ॥ १५ ॥ जगति स्त्री परिभूतिं जनयति, धनं

जो कामभोग भयानक विषके समान अहितकारक, विनश्वर और दीर्घ संसारके कारण हैं उनको यदि मनुष्य छोड़ देता है तो फिर वह अपनी आत्माको नष्ट करके नरकभूमि आदिके निमित्तसे होनेवाले अतिशय भयानक उस तीन प्रकारके (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अथवा मानसिक, वाचनिक और कायिक) दुखको कैसे प्राप्त हो सकता है जिसका कि कुछ अन्त भी न हो ? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकता है। अभिप्राय यह है कि जो विवेकी जीव दुखके कारणभूत उन इन्द्रियविषयोंमें विरक्त हो जाता है वह सब प्रकारके दुःखोंसे छूटकर निर्बाध मुक्तिसुखको प्राप्त कर लेता है। और इसके विपरीत जो उन विषयोंमें आसक्त रहता है वह अनन्त संसारमें परिभ्रमण करता हुआ नरकादिके अनन्त दुखको भोगता है ॥ १२ ॥ जिस प्रकार कुत्ता नीरस हड्डीका स्वाद लेता हुआ– उसे चबाता हुआ– मुखके फट जानेसे उसी मुखसे उत्पन्न हुए रक्तमें अपनेको सुखी मानता है उसी प्रकार कामी जन भी स्त्रियोंके संभोगवश होनेवाली वीर्यकी हानिसे जो अपने शरीरमें खेद होता है उससे उत्पन्न होनेवाले सुखका अनुभव करते हैं। अत एव उनका यह विषयसुख उस कुत्तेके ही सुखके समान है जो कि कठोर हड्डीको चबाकर अपने ही मुँहसे निकलनेवाले रक्तका आस्वादन करता हुआ अपनेको सुखी समझता है ॥ १३ ॥ संसारमें उत्कृष्ट सुख क्या है ? यह जो निःस्पृहता– विषयभोगोंकी अनिच्छा– है वही उत्कृष्ट सुख है। उत्कृष्ट दुख क्या है ? यह जो सस्पृहता–विषयभोगाकांक्षा– है वही उत्कृष्ट दुख है। इस प्रकार मनमें विचार करके जो भव्य जीव परिग्रहका परित्याग करते हुए निरन्तर जैन धर्मकी आराधना करते हैं वे पुण्यशाली हैं ॥ १४ ॥ जो मुनिराज मन, वचन और कायके द्वारा कभी मुनिधर्मके विरुद्ध उपधि (परिग्रह), स्थान और आहारको सर्वथा नहीं ग्रहण करते हैं; जो पाँच महाव्रतों और पाँच समितियोंसे सहित हैं; मोहके विस्तारसे रहित हैं, तथा जिन्होंने क्रोधरूप सुभटको नष्ट कर दिया है वे मुनिराज मुझे मुक्ति प्रदान करें ॥ १५ ॥ संसारमें स्त्री अनादरको उत्पन्न कराती है, धन नष्ट होनेपर दुखको देता है, विषयतृष्णा सन्तप्त किया करती है, तथा

---

१ स विषय°। २ स °भोगान्। ३ स °मास्थि, °मंति °मस्थि। ४ स °स्वेदात्। ५ स निस्पृहत्वं।

16) जनयति परिभूतिं स्त्रीधनं नाशदुःखं दहति विषयवाञ्छा बन्धनं बन्धुवर्गः ।
इति रिपुषु विमूढास्तन्वते सौख्यबुद्धिं जगति धिगिति कष्टं मोहनीयं जनानाम् ॥ १६ ॥

17) मदमदनकषायारातयो नोपशान्ता न च विषयविमुक्तिर्जन्मदुःखाच्च भीतिः ।
न तनुसुखविरागो विद्यते यस्य जन्तोर्भवति जगति दीक्षा तस्य भुक्त्यै न मुक्त्यै ॥ १७ ॥

18) श्रुतिमतिबलवीर्यप्रेमरूपायुरङ्गस्वजनतनयकान्ताभ्रातृपित्रादि सर्वम् ।
तितउगतजलं वा न स्थिरं वीक्षते ऽङ्गी तदपि बत विमूढो नात्मकृत्यं करोति ॥ १८ ॥

19) त्यजत युवतिसौख्यं क्षान्तिसौख्यं श्रयध्वं विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम् ।
जहित विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्वममितगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वम् ॥ १९ ॥

नाशदुःखं [जनयति], विषयवाञ्छा दहति, बन्धुवर्गः बन्धनम् [अस्ति], इति रिपुषु विमूढा सौख्यबुद्धिं तन्वते । कष्टं जनानां मोहनीयं धिक् इति ॥ १६ ॥ जगति यस्य जन्तोः मदमदनकषायारातयः न उपशान्ताः, च विषयविमुक्तिः न, जन्मदुःखात् भीतिः न विद्यते, तनुसुखविरागः न । तस्य जन्तोः दीक्षा भुक्त्यै भवति, मुक्त्यै न भवति ॥ १७ ॥ अङ्गी श्रुतिमतिबलवीर्यप्रेम-रूपायुरङ्गस्वजनतनयकान्ताभ्रातृपित्रादि सर्वं तितउ (चालनी) गतजलं वा स्थिरं न वीक्षते, तदपि विमूढः सन् आत्मकृत्यं न करोति बत ॥ १८ ॥ [भो भव्याः] युवतिसौख्यं त्यजत । क्षान्तिसौख्यं श्रयध्वम् । भवमार्गात् विरमत । मुक्तिमार्गे रमध्वम् । विषयसंगं जहित । ज्ञानसंगं कुरुध्वम् । येन नित्यम् अमितगतिनिवासं लभध्वम् ॥ १९ ॥ अत्र यस्य पुंसः सर्वदा अत्यन्तदीप्ता-

---

बन्धुजनोंका समुदाय बन्धनके समान पराधीनताजनक है । इस प्रकार यद्यपि ये सब अहितकारक होनेसे शत्रुके समान हैं, फिर भी अज्ञानी जन उनके विषयमें अतिशय मोहको प्राप्त होकर सुखकी बुद्धिको विस्तृत करते हैं– उन सबको सुखदायक समझते हैं । प्राणियोंके उस कष्टदायक मोहनीय कर्मको धिक्कार है ॥ १६ ॥ संसारमें जिस जीवके काम, मद और क्रोधादि कषायरूप शत्रु शान्त नहीं हुए हैं; जिसका चित्त विषयोंकी ओरसे हटा नहीं है, जिसे जन्म (संसार) के दुखसे भय नहीं है, तथा जिसे शरीरके सुखसे विरक्ति नहीं हुई है; उसके लिये दी गई दीक्षा विषयोपभोगका कारण होती है, न कि मुक्तिका ॥ विशेषार्थ– जिनदीक्षा ग्रहण करके जो तपश्चरण किया जाता है वह मुक्तिका साधक होता है । परन्तु जिसने जिनदीक्षाको ग्रहण करके भी अपने कामादि विकारोंको शान्त नहीं किया है, जिसके हृदयमें जन्म-मरणके दुःखोंसे भय नहीं उत्पन्न हुआ है, तथा जो शरीरादिमें अनुराग रखता है; वह उस जिनदीक्षाको लेकर भी कभी मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता है । किन्तु इसके विपरीत वह विषयभोगोंमें अनुरक्त रहकर संसारमें ही परिभ्रमण करता है ॥ १७ ॥ श्रुति (आगमज्ञान), बुद्धि, बल, वीर्य, प्रेम, सुन्दरता, आयु, शरीर, कुटुम्बीजन, पुत्र, स्त्री, भाई और पिता आदि सब ही चालनीमें स्थित पानीके समान स्थिर नहीं हैं– देखते देखते ही नष्ट होनेवाले हैं । इस बातको प्राणी देखता है, तो भी खेदकी बात है कि वह मोहवश आत्मकल्याणको नहीं करता है ॥ १८ ॥ हे भव्य जीवो ! आप लोग स्त्रीके संयोगसे प्राप्त होनेवाले सुखको छोडकर शान्तिसुखका आश्रय ले लें, संसारके मार्गसे (मिथ्यादर्शनादिसे) दूर रहकर मुक्तिके मार्गस्वरूप रत्नत्रयमें अनुराग करें, तथा विषयोंकी संगतिको छोडकर सम्यग्ज्ञानकी संगति करें; जिससे कि सदा अपरिमित ज्ञानवाले मोक्षमें निवासको प्राप्त कर सकें ॥ १९ ॥ संसारमें जिस मनुष्यके पासमें अज्ञानरूप अन्धकारके नष्ट करनेमें समर्थ, सर्वदा अतिशय प्रकाशमान और न्यायमार्गको दिखलानेवाले ऐसे आगम, स्वाभाविक विवेकज्ञान एवं सत्संगति-

---

१ स परभूतिं । २ स स्त्रीधनं । ३ स ददति । ४ स °वर्गाः । ५ स °शांतो । ६ स °मुक्ताजन्म° । ७ स °विरोगो । ८ स मुक्त्यौ, मुक्त्यौ । ९ स श्रुत° । १० स °रूप° । ११ स वीक्ष्यते । १२ स त्यजतिं । १३ स मुक्तिमार्गौ । १४ स om. ज्ञानसङ्गं ।

20) श्रुतिसहजविवेकज्ञानसंसर्गदीपास्तिमिरदलनदक्षाः सर्वदात्यन्तदीप्ताः ।
प्रकटितनयमार्गा यस्य पुंसो ऽत्र सन्ति स्खलति यदि स मार्गे तत्र दैवापराधः ॥ २० ॥
21) जिनपतिपदभक्तिर्भावना जैनतत्त्वे विषयसुखविरक्तिर्मित्रता सत्त्ववर्गे ।
श्रुतिशमयमसक्तिर्मूकतान्यस्य दोषे मम भवतु च बोधिर्यावदाप्नोमि मुक्तिम् ॥ २१ ॥
॥ इति[11] विषयविचारैकविंशतिः ॥ १ ॥[12]

तिमिरदलनदक्षाः प्रकटितनयमार्गाः श्रुतिसहजविवेकज्ञानसंसर्गदीपाः सन्ति स यदि मार्गे स्खलति तत्र दैवापराधः [एव ज्ञेयः] ॥ २० ॥ [अहम्] यावत् मुक्तिम् आप्नोमि [तावत्] मम जिनपतिपदभक्तिः जैनतत्त्वे भावना विषयसुखविरक्तिः सत्त्ववर्गे मित्रता श्रुति-शम-यमसक्तिः अन्यस्य दोषे मूकता बोधिश्च भवतु ॥ २१ ॥

॥ इति विषयविचारैकविंशतिः ॥ १ ॥

रूप दीपक विद्यमान है वह यदि मार्गमें भ्रष्ट होता है तो इसमें दैवका अपराध समझना चाहिये ॥ विशेषार्थ—दीपकका काम मार्गको दिखलाना है। परन्तु यदि कोई दीपकको ले करके भी गड्ढे आदिमें गिरता है तो इसमें उस दीपकका दोष नहीं है, बल्कि उसके भाग्यका ही दोष है। इसी प्रकार जिस मनुष्यके पास उस दीपकके समान न्यायमार्गको दिखलानेवाले— हेयाहेयको प्रगट करनेवाले—आगमज्ञान एवं स्वाभाविक विवेकज्ञान आदि विद्यमान हैं; फिर भी यदि वह कल्याणके मार्ग से भ्रष्ट होता है तो इसमें उसके भाग्यका ही दोष समझना चाहिये, न कि उन आगमज्ञानादिका। कारण कि उनका काम केवल योग्य और अयोग्यके स्वरूपको बतलाना है सो वे बतलाते ही हैं। फिर यदि वह योग्यायोग्यका विचार करता हुआ भी कल्याणके मार्गसे विमुख होता है तो इसका कारण उसके दुर्भाग्यको ही समझना चाहिये ॥ २० ॥ जब तक मैं मुक्तिको प्राप्त नहीं होता हूँ तब तक मुझे जिनेन्द्र देवके चरणोंमें अनुराग, सर्वज्ञोक्त वस्तुस्वरूपका विचार, विषयजन्य सुखसे विमुखता, समस्त प्राणिसमूहके विषयमें मित्रता; आगम, कषायोंकी शान्ति एवं व्रत-नियममें आसक्ति; अन्यका दोष प्रगट करनेमें गूँगापन (चुप्पी) और बोधि (रत्नत्रय) प्राप्त हो। [अभिप्राय] यह है कि जो भव्य जीव आत्मकल्याणका इच्छुक है वह निरन्तर यह विचार करता है कि हे भगवन्! जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता हूं तब तक ऐसी मुझे बुद्धि प्राप्त हो कि जिसके प्रभावसे मैं निरन्तर जिनेन्द्रकी भक्ति आदि उपर्युक्त हितकारक कार्योंमें ही प्रवृत्त रहूँ ॥ २१ ॥

इस प्रकार इक्कीस श्लोकोंमें विषयसुखके स्वरूपका विचार समाप्त हुआ ॥ १ ॥

---

१ स श्रुत°। २ स विवेकं। ३ स °ज्ञानि°। ४ स पुंसे। ५ म °भुक्ति। ६ स श्रुत°। ७ स om. शमयम, °समभ्रम°। ८ स °शक्ति° ९ स मम भूवतु। १० स मुक्त्यं। ११ स om. इति। १२ स इति सांसारिकविषयनिराकरणम्।

[२. कोपनिषेधैकविंशतिः]

22) कोपोऽस्ति यस्य मनुजस्य निमित्तमुक्तो नो तस्य कोऽपि कुरुते गुणिनोऽपि भक्तिम्[1] ।
आशीविषं भजति को ननु दंदशूकं नानोग्र[2]रोगशमिना मणिनापि युक्तम् ॥ १ ॥

23) पुण्यं चितं व्रततपोनियमोपवासैः क्रोधः क्षणेन दहतीन्धनवद्धुताशः ।
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा तस्याभिवृद्धिमुपयाति नरस्य पुण्यम् ॥ २ ॥

24) दोषं न तं नृपतयो रिपवोऽपि रुष्टाः कुर्वन्ति केसरिकरीन्द्रमहोरगा वा ।
धर्मं निहत्य[3] भवकाननदाववह्निं यं दोषमत्र विदधाति नरस्य रोषः ॥ ३ ॥

यस्य मनुजस्य निमित्तमुक्तः कोपः अस्ति तस्य गुणिनः अपि मतः कोऽपि भक्तिं नो कुरुते। ननु कः नानोग्ररोगशमिना मणिना युक्तम् अपि दंदशूकम् आशीविषं भजति ॥ १ ॥ हुताशः इन्धनवत् क्रोधः व्रततपोनियमोपवासैः चितं पुण्यं क्षणेन दहति इति मत्वा यो महात्मा तस्य वशं न एति तस्य नरस्य पुण्यम् अभिवृद्धिम् उपयाति ॥ २ ॥ अत्र नरस्य रोषः भवकाननदाववह्निं धर्मं निहत्य यं दोषं विदधाति तं दोषं रुष्टाः नृपतयः रिपवः केसरिकरीन्द्रमहोरगाः वा न कुर्वन्ति ॥ ३ ॥

जिस मनुष्यके विना किसी कारणके ही क्रोध उत्पन्न हुआ करता है वह गुणवान् भी क्यों न हो, किन्तु उसकी कोई भी भक्ति नहीं करता है। ठीक है– ऐसा कौन-सा बुद्धिमान् मनुष्य है जो कि अनेक तीव्र रोगोंको नष्ट करनेवाले मणिसे भी युक्त होनेपर बार बार काटनेके अभिमुख हुए आशीविष सर्पसे प्रेम करता हो? अर्थात् कोई नहीं करता ॥ विशेषार्थ– क्रोध एक प्रकारका वह विषैला सर्प है कि जिसके केवल देखने मात्रसे ही प्राणी विषसे सन्तप्त हो उठता है। इसीलिये जिस प्रकार कोई भी विचारशील प्राणी अनेक रोगोंको शान्त करनेवाले मणिसे संयुक्त होनेपर भी सर्पसे अनुराग नहीं करता, किन्तु उससे सदा भयभीत ही रहता है: उसी प्रकार अकारण ही क्रोधको प्राप्त होनेवाले गुणवान् भी मनुष्यसे विवेकी जन अनुराग नहीं करते हैं। कारण कि जैसे उस आशीविष सर्पकी संगतिसे प्राणीको अपने प्राण जानेका भय रहता है वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्योंको उस क्रोधी मनुष्यकी संगतिसे भी ऐहिक और पारलौकिक अनिष्ट होनेका भय रहता है ॥ १ ॥ क्रोध, व्रत, तप, नियम और उपवासके द्वारा संचित किये हुए पुण्यको इस प्रकारसे क्षणभरमें नष्ट कर देता है जिस प्रकारसे कि अग्नि क्षणभरमें इन्धनको भस्म कर देती है। ऐसा विचार करके जो महात्मा पुरुष उस क्रोधके अधीन नहीं होता है उसका पुण्य वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ २ ॥ मनुष्यका क्रोध संसाररूप वनको भस्म करनेमें दावानलकी समानताको धारण करनेवाले धर्मको नष्ट करके यहां जिस दोषको करता है उस दोषको क्रोधके वशीभूत हुए राजा, शत्रु, सिंह, गजराज और महासर्प भी नहीं करते हैं। अभिप्राय यह है कि क्रोध प्राणीका सबसे अधिक अहित करनेवाला शत्रु है। कारण कि क्रोधको प्राप्त हुए शत्रु या राजा आदि केवल प्राणों तकका अपहरण कर सकते हैं, किन्तु वे धर्मको नष्ट नहीं कर सकते हैं। परन्तु यह क्रोधरूप शत्रु तो जीवके प्राणहरणके साथ धर्मको भी नष्ट कर देता है, जिससे कि उसे उभय लोकोंमें ही दुख

---

१ स om. ऽपि॰ । २ स नानोग्र॰ । ३ स विहत्य ।

25) यः कारणेन वितनोति रुषं मनुष्यः कोपः[1] प्रयाति शमनं तदभावतो ऽस्य ।
यस्त्वत्र[2] कुप्यति विनापि निमित्तमङ्गी नो तस्य को ऽपि शमनं प्रविधातुमीशः ॥ ४ ॥
26) धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं[4] क्षणेन रागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरम् ।
धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं कोपग्रहो[5] रतिपतिर्मदिरामदश्च ॥ ५ ॥
27) रागं दृशोर्वपुषि कम्पमनेकरूपं चित्तं[6] विवेकरहितानि च चिन्तितानि[7] ।
पुंसाममार्गगमनं समदुःखजातं कोपः करोति सहसा मदिरामदश्च ॥ ६ ॥
28) मैत्रीतपोव्रतयशोनियमानुकम्पासौभाग्यभाग्यपठनेन्द्रियनिर्जयाद्याः ।
नश्यन्ति कोपपुरुवैरिहताः समस्तास्तीव्राग्नितप्तरसवत्क्षणतो नरस्य ॥ ७ ॥
29) मासोपवासनिरतो ऽस्तु तनोतु सत्यं[11] ध्यानं करोतु विदधातु बहिर्निवासम् ।
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्षरतो ऽस्तु नित्यं रोषं करोति यदि सर्वमनर्थकं तत् ॥ ८ ॥

यः मनुष्यः कारणेन रुषं वितनोति अस्य कोपः तदभावतः शमनं प्रयाति, तु अत्र यः अङ्गी निमित्तं विना अपि कुप्यति तस्य शमनं प्रविधातुं कः अपि नो ईशः (भवति) ॥ ४ ॥ कोपग्रहः रतिपतिः च मदिरामदः धैर्यं धुनाति मतिं विधुनोति रागं करोति शरीरं शिथिलीकुरुते धर्मं हिनस्ति (च) अवाच्यं वचनं विदधाति ॥ ५ ॥ कोपः च मदिरामदः पुंसां दृशोः रागं वपुषि कम्पम् अनेकरूपं चित्तं विवेकरहितानि चिन्तितानि अमार्गगमनं च समदुःखजातं सहसा करोति ॥ ६ ॥ नरस्य समस्ताः मैत्रीतपोव्रतयशोनियमानुकम्पासौभाग्यभाग्यपठनेन्द्रियनिर्जयाद्याः कोपपुरुवैरिहताः सन्तः तीव्राग्नितप्तरसवत् क्षणतः नश्यन्ति ॥ ७ ॥ नरः यदि नित्यं रोषं करोति (तदा सः) मासोपवासनिरतः अस्तु सत्यं तनोतु ध्यानं करोतु बहि-

---

भोगना पडता है ॥ ३ ॥ जो मनुष्य किसी कारणसे क्रोध करता है उसका वह क्रोध उक्त कारणके हट जानेपर शान्तिको प्राप्त हो जाता है । किन्तु जो मनुष्य विना ही कारणके क्रोध करता है उसके क्रोधको शान्त करनेके लिये यहां कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ४ ॥ क्रोधरूप ग्रह, कामदेव और मदिराका मद; ये क्षणभरमें धैर्यको नष्ट कर देते हैं, बुद्धिका विघात करते हैं, मत्सरताको उत्पन्न करते हैं, शरीरको शिथिल करते हैं, धर्मको नष्ट करते हैं, तथा निन्द्य वचन बोलनेको प्रेरित करते हैं ॥ ५ ॥ जिस प्रकार क्रोध सहसा मनुष्योंकी आँखोंमें लालिमाको, शरीरमें कम्पको, अनेक प्रकारके चित्तको, विवेकरहित विचारोंको तथा दुखसमूहके साथ कुमार्गप्रवृत्तिको करता है उसी प्रकार मदिराका मद (नशा) भी करता है ॥ विशेषार्थ–क्रोध और मद्य ये दोनों समान हैं, क्योंकि, जिस प्रकार मद्यके पीनेसे मनुष्यकी आंखें लाल हो जातीं हैं उसी प्रकार क्रोधसे भी उसकी आंखें लाल हो जातीं हैं, जैसे शरीरका कम्पन मद्यके पीनेसे होता है वैसे ही वह क्रोधके कारणसे भी होता है, जिस प्रकार मद्यके पीनेसे चित्त चंचल हो जाता है उसी प्रकार क्रोधके वश होनेपर भी वह चंचल हो जाता है, जिस प्रकार मद्य पीनेसे मनुष्यके विचार विवेकसे रहित हो जाते हैं, उसी प्रकार क्रोधके वशीभूत होनेपर भी उसके विचार कर्तव्य-अकर्तव्यके विवेकसे रहित हो जाते हैं, तथा जिस प्रकार मद्यको पीकर मनुष्य खोटे मार्गमें गमन करता हुआ दुख सहता है उसी प्रकार क्रोधके वश हुआ मनुष्य भी खोटे मार्गमें (जीवघातादिमें) प्रवृत्त होता हुआ अनेक प्रकारके दुखको सहता है ॥ ६ ॥ मित्रता, तप, व्रत, कीर्ति, नियम, दया, सौभाग्य, भाग्य, शास्त्राभ्यास और इन्द्रियदमन आदि ये सब मनुष्यके गुण क्रोधरूप महान् वैरीसे पीडित होकर क्षणभरमें इस प्रकारसे नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार कि तीव्र अग्निसे सन्तप्त होकर जल नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥ मनुष्य भले ही महिने महिने तकका उपवास करनेमें तत्पर रहे, सत्य बोले, ध्यान करे, बाहिर वनमें

---

१ स कोपं । २ स यस्तत्र । ३ विदधातु° । ४ स om. मतिं । ५ स कोपोग्रहो । ६ स चित्ते, चिते । ७ स चिन्तनानि । ८ स °यशोव्रततपो° । ९ स °निर्जराद्याः । १० स °परवैरि°, °पुरुषवैरि° । ११ स नित्यं । १२ स भैक्ष्यरतो ।

30) आत्मानमन्यमथ हन्ति जहाति धर्मं पापं समाचरति युक्तमपाकरोति।
पूज्यं न पूजयति वक्ति विनिन्द्यवाक्यं[1] किं किं करोति न नरः खलु कोपयुक्तः ॥ ९ ॥
31) दोषेषु सत्सु यदि को ऽपि ददाति शापं सत्यं ब्रवीत्ययमिति प्रविचिन्त्य सह्यम्।
दोषेष्वसत्सु यदि को ऽपि ददाति शापं मिथ्या[3] ब्रवीत्ययमिति प्रविचिन्त्य सह्यम् ॥ १० ॥
32) कोपेन को ऽपि यदि ताडयते ऽथ हन्ति पूर्वं मयास्य कृतमेतदनर्थबुद्ध्या।
दोषो ममैव पुनरस्य न को ऽपि दोषो ध्यात्वेति तत्र मनसा सहनीयमस्य ॥ ११ ॥
33) व्याध्यादिदोषपरिपूर्णमनिष्टसंगं पूतीदमङ्गमपनीय विवर्ध्य धर्मम्।
शुद्धं ददाति गतबाधमनल्पसौख्यं लाभो ममायमिति घातकृतो विषह्यम् ॥ १२ ॥

निवासं विदधातु ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यरत. अस्तु तत् सर्वम् अनर्थक (भवति) ॥ ८ ॥ (स) आत्मानम् अथ अन्य हन्ति धर्मं जहाति पाप समाचरति युक्तम् अपाकरोति पूज्यं न पूजयति विनिन्द्यवाक्य वक्ति। कोपयुक्त नर खलु किं किं न करोति (अपि तु सर्वम् अनुचितं करोति) ॥ ९ ॥ यदि को ऽपि (नर.) दोषेषु सत्सु शाप ददाति अय सत्य ब्रवीति इति प्रविचिन्त्य सह्यम्। यदि को ऽपि दोषेषु असत्सु शाप ददाति अय मिथ्या ब्रवीति इति प्रविचिन्त्य सह्यम् ॥ १० ॥ यदि को ऽपि कोपेन ताडयते अथ हन्ति (तदा) मया अनर्थबुद्ध्या अस्य पूर्वम् एतत् कृतम्। मम एव दोष. अस्य पुन. क अपि दोष न इति ध्यात्वा तत्र मनसा अस्य सहनीयम् ॥ ११ ॥ व्याध्यादिदोषपरिपूर्णम् अनिष्टसग पूति इदम् अङ्गम् अपनीय शुद्ध धर्म विवर्ध्य

निवास करे, ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करे, तथा निरन्तर भिक्षाभोजनमें भी लीन रहे; किन्तु यदि वह क्रोधको करता है तो उसका वह सब उपर्युक्त आचरण व्यर्थ हो जाता है ॥ ८ ॥ क्रोधयुक्त मनुष्य निश्चयसे क्या क्या अनर्थ नहीं करता है? अर्थात् वह सभी प्रकारके अनर्थको करता है–वह अपने स्वाभाविक क्षमादि गुणोंको नष्ट करके अपना भी घात करता है और अन्य प्राणीके प्राणोंका वियोग कर उसका भी घात करता है, वह धर्मका परित्याग करता है, पापका आचरण करता है, सदाचारको नष्ट करता है, पूज्य जनकी पूजा-स्तुति नहीं करता है, और अत्यन्त निन्द्य वचनको बोलता है ॥ ९ ॥ दोषोंके होनेपर यदि कोई शाप देता है–अपशब्द बोलता है या निन्दा आदि करता है—तो वह सत्य बोलता है, ऐसा विचार कर विवेकी जीवको उसे सहन करना चाहिये। और यदि दोषोंके न होनेपर भी कोई शाप देता है तो वह असत्य बोलता है, ऐसा विचार करके उसको सहन करना चाहिये। इस प्रकार यहाँ यह क्रोधके जीतनेका उपाय निर्दिष्ट किया गया है ॥ १० ॥ यदि कोई क्रोधसे ताडना करता है–शारीरिक कष्ट देता है–अथवा प्राणवियोग करता है तो 'मैंने पूर्वमें अहितकी बुद्धिसे इसका यह–ताडन-मारण– किया है, इसलिये यह मेरा ही अपराध है, इसका कुछ भी अपराध नहीं है' ऐसा मनमें विचार करके इस आये हुए दुखको सहना चाहिये ॥ ११ ॥ जो यह मेरा शरीर रोग आदिसे परिपूर्ण, अनिष्ट पदार्थोंकी संगति करनेवाला एवं दुर्गन्धयुक्त है उसको नष्ट करके और धर्मको बडा करके यह घातक मनुष्य शुद्ध, निर्बाध एवं अनन्त आत्मिक सुखको देता है। यह मुझे लाभ ही है ऐसा सोचकर उस घातकके द्वारा किये जानेवाले मरणदुखको सहन करना चाहिये ॥ विशेषार्थ–यदि कोई दुष्ट मनुष्य गाली देकर या शरीरको पीडित करके भी शान्त नहीं होता है और प्राणोंका घात ही करना चाहता है तो भी विवेकी साधु ऐसे समयमें यह विचार करता है कि यह जो मेरा शरीर शारीरिक एवं मानसिक दुःखोंसे परिपूर्ण व संसारपरिभ्रमणका कारण है उसे यह पृथक् करके मेरे धर्मका रक्षण करता है। इससे मुझे वह निर्बाध अनन्त सुख प्राप्त होनेवाला है जो इस शरीरके रहते हुए कभी सम्भव नही है। इस प्रकारसे तो यह मेरा महान् उपकारी

---

१ स युक्ति°। २ स विनिंद्यवाच्यं। ३ स मिथ्या। ४ स °निष्ठ°। ५ स पूतीह°।

34) धर्मे स्थितस्य यदि को ऽपि करोति कष्टं पापं चिनोति गतबुद्धिरयं वराकः ।
एवं विचिन्त्य परिकल्पेकृतं[1] त्वमुष्य[2] ज्ञानान्वितेन भवति क्षमितव्यमत्र ॥ १३ ॥

35) शप्तो ऽस्त्वनेन न हतो ऽस्मि नरेण रोषा[3]न्नो मारितो ऽस्मि मरणे ऽपि न धर्मनाशः ।
कोपस्तु धर्ममपहन्ति चिनोति पापं संचिन्त्य[4] चारुमतिनेति तितिक्षणीयम् ॥ १४ ॥

36) दुःखार्जितं खलगतं वल्भीकृतं[5] च धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः ।
नानाविधव्रतदयानियमोपवासै रोषो ऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिम् ॥ १५ ॥

37) कोपेन यः परमभीप्सति हन्तुमज्ञो नाशं स एव लभते शरभो ध्वनन्तम् ।
मेघं लिलङ्घिषुरिवान्यजनो[6] न किंचिच्छक्नोति कर्तुमिति कोपवता न भाव्यम् ॥ १६ ॥

38) कोपः करोति पितृमातृसुहृज्जनानामप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारम् ।
देहक्षयं प्रकृत[7]कार्यविनाशनं च मत्वेति कोपवशिनो न भवन्ति भव्याः ॥ १७ ॥

गतबाधम् अनल्पसौख्यं ददाति अयं मम लाभ इति घातकृत. विषह्यम् ॥ १२ ॥ यदि को ऽपि धर्मे स्थितस्य कष्टं करोति अयं गतबुद्धि. वराक. पाप चिनोति एव विचिन्त्य ज्ञानान्वितेन अत्र अमुष्य परिकल्पकृत क्षमितव्य भवति ॥ १३ ॥ अनेन नरेण रोषात् शप्तो ऽस्मि न हतो ऽस्मि नो मारित अस्मि मरणे ऽपि न धर्मनाश: । कोप तु धर्मं हन्ति पाप चिनोति इति चारुमतिना सचिन्त्य तितिक्षणीयम् ॥ १४ ॥ यथा प्रविष्ट वह्निकण दु खार्जित खलगत च वल्भीकृतं धान्य दहति तथा रोष· नानाविधव्रतदयानियमोपवासै अर्जितं भवभृता पुरुपुण्यराशि दहति ॥ १५ ॥ य अज्ञ अन्यजन· कोपेन पर हन्तुम् अभीप्सति स: कोपेन ध्वनन्त मेघ लिलङ्घिषु शरभ इव किंचित् कर्तु न शक्नोति इति कोपवता न भाव्यम् ॥ १६ ॥ कोप:

है, इसलिये इसके ऊपर क्रोध करना उचित नहीं है। ऐसा विचार करता हुआ वह कभी क्रोध नहीं करता है ॥ १२ ॥ यदि कोई धर्ममें स्थित साधुको कष्ट पहुँचाता है तो वह सोचता है कि मैं तो धर्ममें स्थित हूँ, किन्तु यह बेचारा अज्ञानी प्राणी मुझे कष्ट देकर स्वयं ही पापका संचय कर रहा है; ऐसा विचार करके विवेकी साधु उस अज्ञानीके द्वारा किये जानेवाले अपराधको यहाँ क्षमा ही करता है ॥ १३ ॥ यदि कोई अपशब्दोंका प्रयोग करता है तो विवेकी साधु यह विचार करता है कि इस मनुष्यने मुझे क्रोधसे गाली ही तो दी है, मारा तो नहीं है। यदि वह मारने भी लग जावे तो फिर वह यह विचार करता है कि इसने मुझे मारा ही तो है, प्राणोंका नाश तो नहीं किया। परन्तु यदि वह प्राणोंका नाश करनेमें भी उद्यत हो जाय तो वह ऐसा विचार करता है कि इसने क्रोधके वशीभूत होकर मेरे प्राणोंका ही नाश किया है, मेरे प्रिय धर्मका तो नाश नहीं किया; इसलिये मुझे इस बेचारे अज्ञानी प्राणीके ऊपर क्रोध करना उचित नहीं है। कारण कि यह क्रोध धर्मको नष्ट करता है और पापको संचित करता है। ऐसा सोचकर बुद्धिमान् साधु उसको क्षमा ही करता है ॥ १४ ॥ दुखसे उत्पन्न किया गया जो धान्य (अनाज) खलिहानमें राशिके रूपमें स्थित है उसमें यदि अग्निका कण प्रविष्ट हो जाता है तो जैसे वह उस राशीकृत धान्यको जला देता है वैसे ही क्रोधरूप अग्निका कण भी अनेक प्रकारके व्रत, दया, नियम एवं उपवासोंके द्वारा उपार्जित जीवोंकी महती पुण्यराशिको जला देता है ॥ १५ ॥ जो अज्ञानी मनुष्य क्रोधसे किसी दूसरे प्राणीका घात करना चाहता है वह स्वयं ही नाशको प्राप्त होता है। जैसे गरजते हुए मेघको लांघनेकी इच्छा करनेवाला अष्टापद पशु मेघका कुछ भी अनिष्ट न करके स्वयं ही नाशको प्राप्त होता है। वास्तवमें दूसरा मनुष्य किसीका कुछ भी अनिष्ट करनेको समर्थ नहीं है। यही विचार कर बुद्धिमान् मनुष्यको क्रोधयुक्त नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥ क्रोध पिता, माता और मित्रजनोंका भी

---

१ स °कल्प्य° । २ स त्वमुख्यः, स्वमुष्य । ३ स दोषा° । ४ स संचित्य । ५ स बहुलीकृतं । ६ स °जने न्य । ७ स प्रकृति° ।

39) तीर्थाभिषेकजपहोमदयोपवासा ध्यानव्रताध्ययनसंयमदानपूजाः[1] ।
नेदृक्फलं जगति देहवतां ददन्ते यादृग्दमो[2] निखिलकालहितो ददाति ॥ १८ ॥

40) भ्रूभङ्गभङ्गुरमुखो विकरालरूपो रक्तेक्षणो दशनपीडितदन्तवासाः ।
त्रासं गतो ऽति[3] मनुजो जननिन्द्यवेषः क्रोधेन कम्पिततनुर्भुवि राक्षसो[4] वा ॥ १९ ॥

41) को ऽपीह लोह[5]मतितप्तमुपाददानो दंदह्यते निजकरे[6] परदाह[7]मिच्छुः ।
यद्वत्तथा प्रकुपितः परमाजिघांसुर्दुःखं स्वयं व्रजति वैरिवधे[8] विकल्पः ॥ २० ॥

पितृमातृसुहृज्जनानाम् अपि अप्रियत्वम् उपकारिजनापकार देहक्षयं च प्रकृतकार्यविनाशनं करोति इति मत्वा भव्या कोपवशिनो न भवन्ति ॥ १७ ॥ जगति निखिलकालहित दम देहवता यादृक्फल ददाति तीर्थाभिषेकजपहोमदयोपवासा ध्यानव्रताध्ययनसंयमदानपूजा ईदृक् फलं न ददन्ते ॥ १८ ॥ क्रोधेन भ्रूभङ्गभङ्गुरमुख: विकरालरूप रक्तेक्षण: दशनपीडितदन्तवासा: जननिन्द्यवेष: अतित्रासं गत कम्पिततनु, मनुज भुवि राक्षसो वा (प्रतिभाति) ॥ १९ ॥ परदाहमिच्छु, अतितप्तं लोहं निजकरे उपाददान, को ऽपि इह यद्वत् दंदह्यते तथा प्रकुपित परम् आजिघांसु, स्वयं दु:खं व्रजति वैरिवधे

अनिष्ट करता है। क्रोधके वशीभूत होकर मनुष्य अपने उपकारी जनोंका भी अपकार करता है। यहां तक कि क्रोधी मनुष्य अपने शरीरको भी नष्ट करता है। और प्रकृत कार्यको भी नष्ट करता है। ऐसा विचार करके विवेकी भव्य जीव उस क्रोधके वशीभूत नहीं होते हैं॥ १७ ॥ संसारमें गंगा आदि तीर्थोंमें स्नान, जप, हवन, दया, उपवास, ध्यान, व्रत, अध्ययन, संयम, दान और पूजा; ये सब प्राणियोंके लिये ऐसे फलको नहीं दे सकते हैं जैसे कि फलको सब (तीनों) कालोंमें हित करनेवाला क्रोधका दमन (क्षमा) देता है। [अभिप्राय यह कि यदि क्रोधको वशमें नहीं किया गया है तो फिर उसके साथ किये जाने वाले तीर्थस्नान आदि सब व्यर्थ होते हैं] ॥ १८ ॥ क्रोधके वशमें होनेपर मनुष्यका मुख भ्रुकुटियोंकी कुटिलतासे विकृत हो जाता है, आकृति भयानक हो जाती है, नेत्र लाल हो जाते हैं, वह दांतोंसे अपने अधरोष्ठको चबाने लगता है, उसका वेष जनोंसे निन्दनीय होता है, तथा उसका सारा ही शरीर कांपने लगता है। इस प्रकार अतिशय पीडाको प्राप्त हुआ वह क्रोधी मनुष्य साक्षात् राक्षस जैसा प्रतीत होता है ॥ १९ ॥ यहां कोई दूसरेको जलानेकी इच्छासे यदि अपने हाथमें अत्यन्त तपे हुए लोहेको लेता है तो दूसरा जले अथवा न भी जले, किन्तु जिस प्रकार वह स्वयं जलता है उसी प्रकार शत्रुको मार डालनेका विचार करके क्रोधको प्राप्त हुआ मनुष्य दूसरेका घात करनेकी इच्छासे स्वयं दुखको अवश्य प्राप्त होता है। उससे शत्रुका घात हो अथवा न भी हो, यह अनिश्चित ही रहता है। विशेषार्थ–जिस प्रकार कोई मनुष्य क्रोधके वश होकर दूसरेको जलानेकी इच्छासे यदि हाथमें अंगारको लेता है और उसके ऊपर फेंकता है तो सर्वप्रथम वह स्वयं ही जलता है, तत्पश्चात् यदि वह दूसरेको लग गया तो वह जल सकता है, अन्यथा वह बच भी जाता है। ठीक इसी प्रकार जो क्रोधके वश होकर दूसरे को नष्ट करनेका प्रयत्न करता है वह उस प्रकारके रौद्र परिणामोंसे पापका संचय करके दुर्गतिको प्राप्त होता हुआ प्रथम तो स्वयं दुखको प्राप्त होता है, तत्पश्चात् यदि उस समय दूसरेके वैसे पापका उदय संभव हुआ तो वह नष्ट हो सकता है, अन्यथा उसका वह प्रयत्न निष्फल हो जाता है और वह सुरक्षित ही रहता है। इस प्रकार क्रोध जितना स्वयंका अहित करता है उतना वह दुसरेका नहीं कर सकता है ॥ २० ॥

---

१ स °पूजा । २ स यादृग्क्षमो । ३ स गतोपि, गतोसि । ४ स राक्ष्यसो । ५ स लोहाम°, लोहमिति° । ६ स °करो । ७ स °दोहा° । ८ स वैरिविधेर्विकल्प ।

42) वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति[1] रूपं[2] विरूपयति निन्द्यमतिं[3] तनोति[4] ।
दौर्भाग्यमानयति शातयते च कीर्तिं रोषो ऽत्र रोषसदृशो न हि शत्रुरस्ति ॥ २१ ॥

॥ इति कोपनिषेधैकविंशतिः[5] ॥ २ ॥

विकल्पः ॥ २० ॥ अत्र रोषः वैरं विवर्धयति सख्यम् अपाकरोति रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति दौर्भाग्यम् आनयति च कीर्ति शातयते । हि अत्र रोषसदृश. शत्रु न अस्ति ॥ २१ ॥

॥ इति कोपनिषेधैकविंशतिः ॥ २ ॥

संसारमें क्रोध वैरभावको बढ़ाता है, मित्रताको नष्ट करता है, शरीरकी आकृतिको विकृत करता है, बुद्धिको मलिन करता है, पापको लाता है, और कीर्तिको नष्ट करता है। ठीक है – यहां क्रोधके समान अहित करनेवाला और दूसरा कोई शत्रु नहीं है – क्रोध ही सबसे भयानक शत्रु है। विशेषार्थ – लोकमें जो जिसका कुछ अनिष्ट करता है उसे वह शत्रु मान लेता है और तदनुसारही वह उसके नष्ट करनेके उपायोंकी योजना भी करने लगता है। परन्तु यह कितनी अज्ञानताकी बात है कि जो क्रोध उसका सबसे अधिक नष्ट कर रहा है उसे वह शत्रु नहीं मानता और न इसीलिये वह उसके नष्ट करनेका भी प्रयत्न करता है। इसी अभिप्रायको कवि वादित्रसिंहने इस प्रकार प्रगट किया है –– "अपकुर्वति कोपश्चेत् किं न कोपाय कुप्यसि । त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥" अर्थात् हे भव्य ! यदि तुझे अपना अपकार करनेवालेके ऊपर क्रोध आता है तो तू उस क्रोधके ऊपर ही क्रोध क्यों नहीं करता ? कारण कि वह तो तेरा सबसे अधिक अपकार करनेवाला है। वह तेरे धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गको; मोक्ष पुरुषार्थको और यहां तक कि तेरे जीवितको भी नष्ट करनेवाला है। फिर भला इससे अधिक अपकारी और दूसरा कौन हो सकता है ? कोई नहीं [क्ष. चू. २-४२.] ॥ २१ ॥

इस प्रकार इक्कीस श्लोकोंमें क्रोधके निषेधका कथन समाप्त हुआ ॥ २ ॥

---

१ म °करेति । २ स om, रूपं वि । ३ स निंद्यमतां । ४ स तिनोतिः । ५ स om, इति, इति कोपनिराकरणोपदेशः ।

[३. मानमायानिषेधविंशतिः]

43) रूपेश्वरत्वकुलजातितपोबलाज्ञाज्ञानाष्टदुःसहमदाकुलबुद्धिरज्ञः।
यो मन्यते ऽहमिति नास्ति परो ऽधिको मेन्मानात्स नीचकुलमेति भवाननेकान् ॥ १ ॥

44) नीतिं निरस्यति विनीतिमपाकरोति कीर्तिं शशाङ्कधवलां मलिनीकरोति।
मान्यांश्च मानयति मानवशेन हीनः प्राणीति मानमपहन्ति महानुभावः ॥ २ ॥

45) हीनाधिकेषु विदधात्यविवेकभावं धर्मं विनाशयति संचिनुते च पापम्।
दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति किं किं न दोषमथवा कुरुते ऽभिमानः ॥ ३ ॥

46) माने कृते यदि भवेदिह को ऽपि लाभो यद्यर्थहानिरथ काचन मार्दवे स्यात्।
ब्रूयाच्च को ऽपि यदि मानकृतं विशिष्टं मानो भवेद्भवभृतां सफलस्तदानीम् ॥ ४ ॥

रूपेश्वरत्वकुलजातितपोबलाज्ञाज्ञानाष्टदुःसहमदाकुलबुद्धि यः अज्ञः मानात् अहम् अधिकः मत्परः अधिकः नास्ति इति मन्यते स अनेकान् भवान् नीचकुलम् एति ॥ १ ॥ हीनः प्राणी मानवशेन नीतिं निरस्यति विनीतिम् अपाकरोति शशाङ्कधवलां कीर्तिं मलिनीकरोति मान्यान् न मानयति इति महानुभावः मानम् अपहन्ति ॥ २ ॥ अभिमानः हीनाधिकेषु अविवेकभावं विदधाति धर्मं विनाशयति पापं संचिनुते दौर्भाग्यम् आनयति च कार्यम् अपाकरोति। अथवा अभिमानः किं किं दोषं न करोति ॥ ३ ॥ यदि इह माने कृते भवभृतां कः अपि लाभः भवेत् अथ यदि मार्दवे (कृते) काचन अर्थहानिः स्यात् यदि च कः अपि मानकृतं विशिष्टं ब्रूयात् तदानीं भवभृतां मानः सफलः स्यात् ॥ ४ ॥

जो अज्ञानी मनुष्य सुन्दरता, प्रभुता, कुल (पितृपक्ष), जाति, मातृपक्ष, तप, शारीरिक शक्ति, आज्ञा (ऋद्धि) और ज्ञान; इस आठ प्रकारके मद (अभिमान) में बुद्धिको लगाकर यह समझता है कि 'मैं ही सबकुछ हूं, मुझसे अधिक दूसरा कोई नहीं है' वह इस प्रकारके अभिमानसे अनेक भवोंमें नीच कुलको प्राप्त होता है ॥ १ ॥ निकृष्ट प्राणी अभिमानके वश न्यायमार्गको नष्ट करता है, नम्रताको दूर करता है, चन्द्रके समान निर्मल कीर्तिको मलिन करता है तथा माननीय जनोंका सन्मान नहीं करता है। इसीलिये महापुरुष उस अभिमानको नष्ट करता है ॥ २ ॥ अभिमान हीन और अधिक जनोंमें अविवेकिता-को उत्पन्न करता है— गुणाधिक मनुष्योंका हीन जनके समान तिरस्कार करता है, धर्मको नष्ट करता है, पापको संचित करता है, दुर्दैवको लाता है, और कार्यको नष्ट करता है। अथवा अभिमान किस किस दोषको नहीं करता है– वह सब ही दोषोंको करता है ॥ ३ ॥ यदि यहां मानके करनेपर कोई लाभ होता है और इसके विपरीत यदि सरलताके होनेपर कुछ धनहानि होती है तथा यदि कोई अभिमान करनेवाले व्यक्तिको विशिष्ट (महान्) कहता है तब प्राणियोंका वह अभिमान सफल हो सकता है। [अभिप्राय यह है कि न तो मानसे कोई लाभ होता है और न उसके बिना मार्दवसे कुछ धन आदिकी हानि ही होती है। इसके अतिरिक्त अभिमानी जनकी सब निन्दा भी करते हैं– प्रशंसा कोई भी नहीं करता है। अत एव प्राणियोंका अभिमान करना निरर्थक एवं हानि-कारक है] ॥ ४ ॥

---

१ स °याति°। २ स °महा°। ३ स ऽपि for मन्। ४ स °मुपाकरोति। ५ स मलिनीं°।

47) मानो विनीतिमपहन्त्यविनीतिरङ्गी[1] सर्वं[2] निहन्ति गुणमस्तगुणानुरागः ।
सर्वापदां[3] जगति धाम विरागतः स्यादित्याकलय्य सुधियो[4] न धरन्ति मानम् ॥ ५ ॥

48) हीनो ऽयमन्यजनतो[5] ऽपहृताभिमानाज्जातो ऽहमुत्तमगुणस्तदकारकत्वात् ।
अन्यं निहीनमवलोकयतो ऽपि पुंसो मानो विनश्यति सदेति वितर्कभाजः[6] ॥ ६ ॥

49) गर्वेण मातृपितृबान्धवमित्रवर्गाः सर्वे भवन्ति विमुखा विहितेन[7] पुंसः ।
अन्यो ऽपि तस्य तनुते न जनो ऽनुरागं मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धिः ॥ ७ ॥

50) आयासशोक[8]भयदुःखमुपैति मर्त्यो मानेन सर्वजननिन्दितवेषरूपः ।
विद्यादयादमयमादिगुणांश्च हन्ति ज्ञात्वेति गर्ववशमेति न शुद्धबुद्धिः ॥ ८ ॥

51) स्तब्धो विनाशमुपयाति नतो ऽभिवृद्धिं[10] मर्त्यो नदीतटगतो धरणीरुहो[11] वा ।
गर्वस्य दोषमिति चेतसि संनिधाय नाहंकरोति गुणदोषविचारदक्षः[12] ॥ ९ ॥

मानी विनीतिम् अपहन्ति अविनीतिः अङ्गी सर्वं गुणं निहन्ति अस्तगुणानुराग विरागतः जगति सर्वापदां धाम स्यात् इति आकलय्य सुधियः मानं न धरन्ति ॥ ५ ॥ अपहृताभिमानात् अयम् अन्यजनतः हीनः जातः तदकारकत्वात् अहम् उत्तम-गुणः जातः इति अन्यं निहीनम् अवलोकयतः अपि वितर्कभाजः पुंसः मानः सदा विनश्यति ॥ ६ ॥ विहितेन गर्वेण सर्वे मातृपितृबान्धवमित्रवर्गाः विमुखाः भवन्ति । अन्यो ऽपि जनः तस्य अनुरागं न तनुते इति मत्वा सुबुद्धिः मानम् अपहस्तयते ॥ ७ ॥ मानेन मर्त्यः आयासशोकभयदुःखम् उपैति सर्वजननिन्दितवेषरूपः च विद्यादयादमयमादिगुणान् हन्ति इति ज्ञात्वा शुद्धबुद्धिः गर्ववशं न एति ॥ ८ ॥ नदीतटगतः धरणीरुहो वा (इव) स्तब्धः (जडीकृतः) मर्त्यः विनाशं, नतः अभिवृद्धिम्

मानी प्राणी विनयको नष्ट करता है, अविनयी मनुष्य सब गुणोंको नष्ट करता है– गुणी जनोंके गुणोंमें अनुराग नहीं करता है, और गुणानुरागसे रहित प्राणी गुणोंका विद्वेषी होकर संसारमें सभी प्रकारकी आपत्तियोंका स्थान बन जाता है। यही सोचकर बुद्धिमान् प्राणी उस मानको नहीं धारण करते हैं ॥ ५ ॥ यह निकृष्ट अभिमानके कारण दूसरे जनोंकी अपेक्षा हीन हुआ है और उस अभिमानको न करनेके कारण मैं उत्तम गुणवाला हुआ हूँ, इस प्रकार विचार करनेवाले पुरुषका वह अभिमान सदा अन्य हीन जनको देख करके भी नाशको प्राप्त होता है। विशेषार्थ–प्रायः हीन जनको देखकर उत्तम मनुष्योंके हृदयमें अभिमान उदित हुआ करता है। परन्तु वे यह विचार नहीं करते कि ये जो हीन कुलमें उत्पन्न हुए हैं वे इसीलिये हुए हैं कि उन्होंने पूर्वमें अभिमानके वश होकर अन्य गुणी जनोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा की है। कहा भी है–'परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।' अर्थात् दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरोंके विद्यमान गुणोंको ढाँकना और अपने अविद्यमान गुणोंको प्रगट करना, इससे नीच गोत्रका बन्ध होता है [त. सू. ६–२५]। और चूंकि मैंने उस निन्द्य कुलमें उत्पन्न करनेवाले उस अभिमानको पूर्वमें नहीं किया है इसीलिये मैं उच्च कुलमें उत्पन्न होकर गुणवान् हुआ हूँ। यदि वे उपर्युक्त विचार करे तो अपनेसे हीन जनोंको देख करके भी उन्हे कभी अभिमान न होगा ॥ ६ ॥ अभिमानके करनेसे माता, पिता, बान्धव और मित्रवर्ग आदि सब उस अभिमानी पुरुषके प्रतिकूल हो जाते हैं। अन्य जन भी उससे अनुराग नहीं करते हैं। इस प्रकार विचार करके विवेकी जन उस अभिमानको नष्ट करते हैं ॥ ७ ॥ मानके वश होकर मनुष्य सब जनोंके द्वारा निन्दित वेष एवं आकारको धारण करता हुआ परिश्रम, शोक, भय और दुखको प्राप्त होता है तथा विद्या, दया, दम (कषायों और इन्द्रियोंका दमन) और संयम आदि गुणोंको नष्ट करता है; ऐसा जानकर निर्मल बुद्धिका धारक मनुष्य उस मानके वशमें नहीं होता है ॥ ८ ॥ नदीके तटपर स्थित वृक्षके समान जो

---

१ स °रंगा । २ स सर्व्वा । ३ स सर्वोपदा । ४ स सधियो । ५ स जनतो° । ६ स °पहिना°, पिहिता° । ७ स भाजा । ८ स विहतेन । ९ स °शोक°, °क्रोश°, °कोप° for शोक । १० स °तिवृद्धिं । ११ स रुहे वाः । १२ स विचारदक्षः ।

52) हीनानवेक्ष्य कुरुते हृदये ऽभिमानं मूर्खः स्वतो ऽधिकगुणानवलोक्य मर्त्यान् ।
प्राज्ञः परित्यजति गर्वमतीव लोके सिद्धान्तशुद्धधिषणा मुनयो वदन्ति ॥ १० ॥
53) जिह्वासहस्रकलितो ऽपि समासहस्रैर्यस्यां न दुःखमुपवर्णयितुं समर्थः ।
सर्वज्ञदेवमपहाय परो मनुष्यस्तां श्वभ्रभूमिमुपयाति नरो ऽतिमानी ॥ ११ ॥
54) या छेदभेददमनाङ्कनदाहदोहवातातपान्नजलरोधवधादिदोषा ।
मायावशेन मनुजो जननिन्दनीयां तिर्यग्गतिं व्रजति तामतिदुःखपूर्णाम् ॥ १२ ॥
55) यत्र प्रियाप्रियवियोगसमागमान्यप्रेष्यत्वधान्यधनबान्धवहीनताद्यैः ।
दुःखं प्रयाति विविधं मनसोऽप्यसह्यं तं मर्त्यवासमधितिष्ठति माययाङ्गी ॥ १३ ॥

उपयाति इति गुणदोषविचारदक्ष. चेतसि गर्वस्य दोषं संनिधाय न अहंकरोति ॥ ९ ॥ लोके मूर्ख. स्वतः हीनान् मर्त्यान् अवेक्ष्य हृदये अभिमान कुरुते । प्राज्ञ स्वत. अधिकगुणान् मर्त्यान् अवलोक्य अतीव गर्वं त्यजति इति सिद्धान्तशुद्धधिषणाः मुनयो वदन्ति ॥ १० ॥ सर्वज्ञदेवम् अपहाय जिह्वासहस्रकलितः अपि पर. मनुष्य. समा (वर्ष) सहस्रै. यस्यां दुःखम् उपवर्णयितु न समर्थः, अतिमानी नरः तां श्वभ्रभूमिम् उपयाति ॥ ११ ॥ मायावशेन मनुज जननिन्दनीयामतिदुःखपूर्णां तां तिर्यग्गतिं व्रजति या छेदभेददमनाङ्कनदाहदोहवातातपान्नजलरोधवधादिदोषा (अस्ति) ॥ १२ ॥ अङ्गी मायया तं मर्त्य-

---

मनुष्य उद्धत रहता है वह नाशको प्राप्त होता है और जो नम्र रहता है वह समृद्धिको प्राप्त होता है। इस प्रकार अभिमानके दोषको चित्तमें धारण करके–उसकी बुराईका विचार करके–गुण और दोषका चतुराईसे विचार करनेवाला पुरुष उस अहंकारको नहीं करता है ॥ ९ ॥ लोकमें मूर्ख मनुष्य अपनेसे हीन जनोंको देखकर हृदयमें अभिमान करता है और बुद्धिमान् मनुष्य अपनेसे अधिक गुणवाले मनुष्योंको देखकर उस गर्वको बहुत दूर करता है, ऐसा आगमके अभ्याससे निर्मलताको प्राप्त हुई बुद्धिके धारक मुनिजन निरूपण करते हैं ॥ विशेषार्थ–अज्ञानी मनुष्य जब अपनेसे हीन मनुष्योंको देखता है तो उसके हृदयमें यह अभिमान उत्पन्न होता है कि मैं कितना श्रेष्ठ हूँ, ये बेचारे मेरे सामने कुछ भी नहीं हैं। इस अभिमानका फल यह होता है कि वह जो भविष्यमें और भी अधिक उन्नति कर सकता था, वह नहीं कर पाता है। इसके अतिरिक्त उक्त अभिमानके निमित्तसे जो पापबन्ध होता है उसके कारण वह भविष्यमें दुखी भी होता है। परन्तु जो बुद्धिमान मनुष्य है वह जब अपनेसे अधिक गुणवाले मनुष्योंको देखता है तो उसे उनके गुणोंमें अनुराग होता है, इसीलिये वह उनके सामने नतमस्तक हो जाता है। फल इसका यह होता है कि वह स्वयं भी वैसा गुणवान बन जाता है तथा उस गुणानुरागसे प्राप्त पुण्यके उदयसे भविष्यमें सुखी भी होता है ॥ १० ॥ अतिशय अभिमानी मनुष्य जिस नरकभूमिको प्राप्त होता है उसमें प्राप्त होनेवाले दुखका वर्णन करनेके लिये सर्वज्ञ देवको छोडकर दूसरा कोई मनुष्य, यदि हजार जीभोंसे भी सहित हो तो भी वह हजार वर्षोंमें भी समर्थ नहीं हो सकता है। [अभिप्राय यह है कि अभिमानके कारण प्राणी नरकमें जाता है और वहां वह वर्णनातीत असह्य दुखोंको चिरकाल तक सहता है] ॥ ११ ॥ मायाचारके वशीभूत होकर मनुष्य लोगोंके द्वारा निन्दनीय एवं अतिशय दुखोंसे परिपूर्ण उस तिर्यंचगतिको प्राप्त होता है जो कि नाक आदिका छेदना, भेदना (खण्डित करना), दमन (दण्डित करना), किसी अस्त्रादिसे चिह्नित करना (दागना), जलाना, दुहना, वायु, घाम, अन्न-जलका रोकना (भूखा-प्यासा रखना) और मारने आदिरूप अनेक दोषोंसे सहित हैं ॥ १२ ॥ प्राणी मायाचारसे उस मनुष्यक्षेत्र

---

१ स समा सहस्रै° । २ स °मुपहाय । ३ स मिमानी । ४ स यां । ५ स °दोषां, °दोषाः । ६ स °निंद°, °नैद° ७ स प्रेष्यत्व°, प्रेक्षत्व° प्रेक्षित्व° । ८ स हीनतौघैः । ९ स मनसोपिसह्यम् ।

56) यत्रावलोक्य दिवि दीनमना विभूतिमन्यामरेष्वधिककान्तिसुखादिकेषु ।
प्राप्याभियोगपदवीं लभते ऽतिदुःखं तत्रैति वञ्चनपरः पुरुषो निवासम् ॥ १४ ॥

57) या[1] मातृभर्तृपितृबान्धवमित्रपुत्रवस्त्राशनाभरणमण्डनसौख्यहीनाः ।
दीनानना[4] मलिननिन्दितवेषरूपा[5] नारीषु तासु भवमेति नरो निकृत्या ॥ १५ ॥

58) शीलव्रतोद्यमतपःशमसंयुतो ऽपि नाप्नोति निकृतिशल्यधरो मनुष्यः ।
आत्यन्तिकीं[6] श्रियमबाधसुखस्वरूपां[7] शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा ॥ १६ ॥

59) क्लेशार्जितं सुखकरं रमणीयमर्घ्यं[8] धान्यं कृषीवलजनस्य शिखीव सर्वम्[9] ।
भस्मीकरोति बहुधापि जनस्य सत्यं मायाशिखी प्रचुरदोषकरः क्षणेन ॥ १७ ॥

60) विद्वेषवैरिकलहासुखघातभीतिनिर्भर्त्सनाभिभवनांसु[10]विनाशनादीन् ।
दोषानुपैति निखिलान्मनुजो ऽतिमायी बुद्ध्वेति चारुमतयो न भजन्ति मायाम् ॥ १८ ॥

धामम् अधितिष्ठति यत्र प्रियाप्रियवियोगसमागमान्यप्रेष्यत्वधान्यधनबान्धवहीनताद्यैः मनसा अपि असह्यं विविधं दुःखं प्रयाति ॥ १३ ॥ यत्र दिवि अधिककान्तिसुखादिकेषु अन्यामरेषु विभूतिम् अवलोक्य आभियोगपदवीं प्राप्य अतिदुःखं लभते, वञ्चनपरः पुरुषः तत्र निवासम् एति ॥ १४ ॥ याः मातृभर्तृपितृबान्धवमित्रपुत्रवस्त्राशनाभरणमण्डनसौख्यहीनाः दीनाननाः मलिननिन्दितवेषरूपाः तासु नारीषु नरः निकृत्या भवमेति ॥ १५ ॥ शल्यान्वितः विविधधान्यधनेश्वरः वा (इव) निकृतिशल्यधरः मनुष्यः अत्र शीलव्रतोद्यमतपःशमसंयुतो ऽपि अबाधसुखस्वरूपाम् आत्यन्तिकीं श्रियं न अश्नुते ॥ १६ ॥ कृषीवलजनस्य क्लेशार्जितं सुखकरं रमणीयम् अर्घ्यं सर्वं धान्यं शिखी इव प्रचुरदोषकरः मायाशिखी जनस्य क्लेशार्जितं सुखकरं रमणीयं सर्वं सत्यम् अपि बहुधा क्षणेन भस्मीकरोति ॥ १७ ॥ अतिमायी मनुजः विद्वेषवैरकलहासुखघातभीति-

---

(मनुष्य पर्याय) में स्थित होता है जहांपर वह इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, दूसरोंकी दासता, धान्यहीनता, धनहीनता और बन्धुहीनता आदि अनेक कारणोंसे नाना प्रकारके असह्य मानसिक दुखको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ जिस देवपर्यायमें प्राणी अपनेसे अधिक कान्ति और सुख आदिसे सम्पन्न दूसरे देवोंकी विभूतिको देखकर मनमें दीनताको धारण करता हुआ आभियोग्य पदवीको प्राप्त होता है–आभियोग्य जातिका देव होता है–और अतिशय दुखको पाता है उस निकृष्ट देवपर्यायमें वह मायाचारी मनुष्य निवासको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ मनुष्य मायाचारसे उन स्त्रियोंमें जन्म लेता है जो कि माता, पति, पिता, अन्य हितैषी बन्धुजन, मित्र, पुत्र, वस्त्र, भोजन, आभरण, अन्य अलंकारसामग्री एवं सुख; इनसे रहित होकर मलिन एवं निन्दित वेष और आकृतिके साथ मुखपर दीनताको धारण करती हैं ॥ १५ ॥ जिस प्रकार चिन्तायुक्त मनुष्य अनेक प्रकारके धान्य एवं धनका स्वामी होकर भी निर्बाध सुखको नहीं प्राप्त होता है उसी प्रकार मायाशल्यको धारण करनेवाला (मायाचारी) मनुष्य यहां शील व व्रतोंके उद्यम तथा तप एवं शमसे संयुक्त होकर भी निर्बाध सुखस्वरूप आत्यन्तिकी श्रीको–मोक्षलक्ष्मीको–नहीं प्राप्त होता है ॥ विशेषार्थ–तत्त्वार्थसूत्र (७–१८) में कहा गया है कि जो माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित वही व्रती हो सकता है। अत एव जो इस मायाशल्यसे सहित है वह भले ही व्रतों व शीलोंके परिपालनका प्रयत्न करता हो तथा तप एवं शमसे भी संयुक्त हो, किन्तु वह इन व्रत–शीलादिके फलभूत मुक्तिसुखको नहीं प्राप्त कर सकता है। कारण कि मायाशल्यके रहते हुए वे सब शील-व्रतादि व्यर्थ सिद्ध होते हैं ॥ १६ ॥ जिस प्रकार अग्नि किसान जनके कष्टसे उत्पादित, सुखकारक, रमणीय एवं बहुमूल्य सब धान्यको प्रायः क्षणभरमें भस्म कर देती है उसी प्रकार अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाली मायारूप अग्नि भी मनुष्यके कष्टके उत्पादित, सुखकारक, रमणीय एवं बहुमूल्य सब सत्य-संभाषणको क्षणभरमें नष्ट कर देती है ॥ १७ ॥ अतिशय मायाचारी मनुष्य द्वेष (क्रोध), वैर, युद्ध, दुख, हिंसा,

---

१ स जामातृ° । २ स °शना । ३ स °हीनः । ४ स °ननो । ५ स °रूपो । ६ स आत्यंतकीं, °कीं । ७ स °रूपं । ८ स °मर्घ्यं, °मर्थं । ९ स सर्व्वः, सर्वा । १० स °भवनांशु° ।

61) या प्रत्ययं बुधजनेषु निराकरोति पुण्यं हिनस्ति परिवर्धयते च पापम् ।
सत्यं निरस्यति तनोति विनिन्द्यभावं तां सेवते निकृतिमत्र जनो न भव्यः ॥ १९ ॥

62) प्रच्छादितो ऽपि कपटेन जनेन दोषो लोके प्रकाशमुपयातितरां क्षणेन ।
वर्चो[1] यथा जलगतं विदधाति पुंसा[2] माया मनागपि न चेतसि संनिधेया ॥ २० ॥

॥ इति मानमायानिषेधविंशतिः[3] ॥ ३ ॥

निर्भर्त्सनाभिभवनासुविनाशनादीन् निखिलान् दोषान् उपैति इति बुद्ध्वा चारुमतयः मायां न भजन्ति ॥ १८ ॥ या अत्र बुधजनेषु प्रत्ययं निराकरोति पुण्यं हिनस्ति पापं परिवर्धयते सत्यं निरस्यति च विनिन्द्यभावं तनोति भव्यः जनः तां निकृतिं न सेवते ॥ १९ ॥ लोके जनेन कपटेन प्रच्छादितः अपि दोषः क्षणेन प्रकाशम् उपयातितराम् । यथा जलगतं वर्चः क्षणेन प्रकाशतां विदधाति । (अतः) पुंसा मनाक् अपि माया चेतसि न संनिधेया ॥ २० ॥

॥ इति मानमायानिषेधविंशति. ॥ ३ ॥

भय, झिडकी, तिरस्कार और प्राणनाश आदि समस्त दोषोंको प्राप्त होता है, ऐसा जान करके बुद्धिमान् मनुष्य उस मायाका व्यवहार नहीं करते हैं ॥ १८ ॥ जो मायाव्यवहार यहां विद्वानोंके मध्यमें विश्वासको दूर करता है, पुण्यको नष्ट करता है, पापको बढाता है, सत्यका निराकरण करता है और निन्दनीय भावको विस्तृत करता है, भव्य जन उस मायाव्यवहारकी सेवा नहीं करते हैं । [अभिप्राय यह कि बुद्धिमान् भव्य जीव ऐसे अनर्थकारी कपटव्यवहारसे सदा दूर रहते हैं] ॥ १९ ॥ मनुष्य अपने दोषको यद्यपि कपटसे आच्छादित करता है (ढँकता है) तो भी वह लोकमें क्षणभरमें ही इस प्रकारसे अतिशय प्रकाशमें आ जाता है– प्रगट हो जाता है– जिस प्रकारसे कि जलमें डाला गया मल क्षणभरमें ही ऊपर आ जाता है। अत एव मनुष्यको उस मायाचारके लिए हृदयमें थोडा-सा भी स्थान नहीं देना चाहिये ॥ २० ॥

इस प्रकार बीस श्लोकोंमें मान व मायाके निषेधपर कथन समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

---

१ स वर्चो for वर्चो । २ स पुंसो । ३ स om. इति, 'निषेधक', 'निषेधा', इति मायाहंकारनिराकरणोपदेशः ।

[४. लोभनिवारणविंशतिः]

63) शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी स्तब्धं नभो जलनिधिः सरिदम्बुतृप्तः ।
स्थायी मरुद्विदहनो दहनोऽपि जातु लोभानलस्तु न कदाचिददाहकः स्यात् ॥ १ ॥

64) लब्धेन्धनज्वलनवत्क्षणतोऽतिवृद्धिं लाभेन लोभदहनः समुपैति जन्तोः[४] ।
विद्यागमव्रततपःशमसंयमादीन् भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रवृद्धः ॥ २ ॥

65) वित्ताशया खनति भूमितलं सतृष्णो धातून् गिरेर्धमति धावति भूमिपाग्रे ।
देशान्तराणि विविधानि विगाहते च पुण्यं विना न च नरो लभते स तृप्तिम् ॥ ३ ॥

66) वर्धस्व जीव जय नन्द चिरं विभो त्वमित्यादिचाटुवचनानि विभाषमाणः ।
दीनाननो मलिननिन्दितरूपधारी लोभाकुलो वितनुते सधनस्य सेवाम् ॥ ४ ॥

जातु रविः शीतः भवति शीतरुचिः प्रतापी भवति नभः स्तब्धं (स्तम्भितं) भवति जलनिधिः सरिदम्बुतृप्तः भवति मरुत् स्थायी भवति दहनः अपि विदहनः भवति । तु लोभानलः कदाचित् अदाहकः न स्यात् ॥ १ ॥ जन्तोः लोभदहनः लाभेन लब्धेन्धनज्वलनवत् क्षणतः अतिवृद्धि समुपैति । पुनः प्रवृद्धः सः यमिना विद्यागमव्रततपःशमसयमादीन् भस्मीकरोति ॥ २ ॥ सतृष्णः नरः वित्ताशया भूमितल खनति गिरेः धातून् धमति भूमिपाग्रे धावति च विविधानि देशान्तराणि विगाहते (किंतु) पुण्य विना सः नरः तृप्ति न च लभते ॥ ३ ॥ लोभाकुल हे विभो, त्वं चिरं वर्धस्व जीव जय नन्द इत्यादिचाटुवचनानि विभाषमाण. दीनानन मलिननिन्दितरूपधारी सन् सधनस्य सेवा कुरुते ॥ ४ ॥

सूर्य कदाचित् स्तब्ध हो सकता है, चन्द्रमा कदाचित् तीक्ष्ण हो सकता है, आकाश कदाचित् स्तब्ध हो सकता है—सीमित या स्थानदान क्रियासे शून्य हो सकता है, समुद्र कदाचित् नदियोंके जलसे सन्तुष्ट हो सकता है, वायु कदाचित् स्थिर हो सकती है, तथा अग्नि भी कदाचित् दाहक्रियासे रहित हो सकती है; परन्तु लोभरूप अग्नि कभी भी दाह क्रियासे रहित नहीं हो सकती है। [तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सूर्य आदि कभी अपने स्वभावको छोडकर शीतलता आदिको नहीं प्राप्त हो सकते हैं उसी प्रकार लोभ भी कभी अपने स्वभावको छोडकर मनुष्यकी तृष्णाको शान्त नहीं कर सकता है] ॥ १ ॥ जिस प्रकार अग्नि इन्धनको प्राप्त करके क्षणभरमें ही अतिशय वृद्धिको प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार प्राणीकी लोभरूप अग्नि भी धन आदि अभीष्ट वस्तुओंके लाभसे अतिशय वृद्धिको प्राप्त होती है। इस प्रकारसे वृद्धिंगत होकर वह संयमी जनोंके विद्या, आगमज्ञान, व्रत, तप, शम, और संयम आदि गुणोंको भस्मसात् कर देती है—नष्ट कर देती है ॥ २ ॥ तृष्णायुक्त मनुष्य धनकी आशासे पृथिवीतलको खोदता है, पहाडकी धातुओंको तपाता है, राजाके आगे दौडता है, और अनेक प्रकारके देशोंमें जाता-आता है। परन्तु वह पुण्यके विना सन्तोषको नहीं प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ लोभसे पीडित मनुष्य 'हे प्रभो! तुम वृद्धिको प्राप्त होओ, तुम चिरकाल तक जीवित रहो, तुम्हारी जय होवे, तुम चिरकाल तक समृद्ध रहो, इत्यादि खुशामदी वचनोंका उच्चारण करता है; मुखपर दीनताका भाव प्रगट करता है, तथा मलिन और निन्दित वेष-भूषाको धारण करता हुआ धनवान्‌की सेवा करता है ॥ ४ ॥

---

१ स सदेहदहनो, मरुच्चदहनो । २ स यातु । ३ स °दाहकं । ४ स यंतोः । ५ स °सम° । ६ स विताशयः । ७ स विभो चिरं । ८ स °वेषधारी ।

67) चक्षुःक्षयं प्रचुररोगशरीरबाधा[1]स्वान्ताभिघातगति[2]भङ्गममन्यमानः ।
संस्कृत्य पत्रनिचयं च मषीं[3] विमर्द्य तृष्णातुरो लिखति लेखकतामुपेतः ॥ ५ ॥
68) विश्वंभरां विविधजन्तुगणेन पूर्णां स्त्रीं[4] गर्भिणीमिव कृपामपहाय मर्त्यः ।
नानाविधोपकरणेन हलेन दीनो लोभार्दितः कृषति पापमलोकमानः ॥ ६ ॥
69) भोगोपभोगसुखतो[5] विमुखो मनुष्यो रात्रिंदिवं[6] पठनचिन्तनसक्तचित्तः[7] ।
शास्त्राण्यधीत्य[8] विविधानि करोति लोभादध्यापनं शिशुगणस्य विवेकशून्यः ॥ ७ ॥
70) वस्त्राणि सीव्यति[9] तनोति विचित्रचित्रं मृत्काष्ठलोहकनकादिविधिं चिनोति[10] ।
नृत्यं करोति[11] रजकत्वमुपैति मर्त्यः किं किं न लोभवशवर्तितया विधत्ते ॥ ८ ॥
71) लोकस्य मुग्धधिषणस्य विवञ्चनानि कुर्वन्नरो विविधमानविशेषकृत्या ।
संसारसागरमपारमवीक्षमाणो[12] वाणिज्यमत्र विदधाति विवृद्धलोभः ॥ ९ ॥
72) अध्येति नृत्यति लुनाति मिनोति नौति क्रीणाति[13] हन्ति वपते[14] चिनुते बिभेति ।
मुष्णाति गायति धिनोति[15] बिभर्ति भिन्ते लोभेन सीव्यति पणायति याचते च ॥ १० ॥

तृष्णातुरः लेखकताम् उपेतः सन् चक्षुःक्षयं प्रचुररोगशरीरबाधास्वान्ताभिघातगतिभङ्गम् अमन्यमानः पत्रनिचयं संस्कृत्य च मषीं विमर्द्य लिखति ॥ ५ ॥ दीनः लोभार्दितः मर्त्यः पापम् अलोकमानः कृपाम् अपहाय नानाविधोपकरणेन हलेन गर्भिणी स्त्रीम् इव विविधजन्तुगणेन पूर्णां विश्वंभरां कृषति ॥ ६ ॥ लोभात् भोगोपभोगसुखतः विमुखः रात्रिंदिवं पठनचिन्तनसक्तचित्तः मनुष्यः विविधानि शास्त्राणि अधीत्य विवेकशून्यः सन् शिशुगणस्य अध्यापनं करोति ॥ ७ ॥ वस्त्राणि सीव्यति विचित्रचित्रं तनोति मृत्काष्ठलोहकनकादि विधिं चिनोति नृत्यं करोति रजकत्वम् उपैति, मर्त्यः लोभवशवर्तितया किं किं न विधत्ते ॥ ८ ॥ अत्र विवृद्धलोभः नरः अपारं संसारसागरम् अवीक्षमाणः विविधमानविशेषकृत्या मुग्धधिषणस्य लोकस्य विवञ्चनानि कुर्वन् वाणिज्यं विदधाति ॥ ९ ॥ लोभेन (नरः)

तृष्णासे व्याकुल मनुष्य लेखक (मुनीम या क्लर्क) के स्वरूपको प्राप्त होकर आंखोंकी ज्योतिकी हानिको, अनेक रोगोंसे उत्पन्न होनेवाली शरीरकी पीडाको, मनके अभिघातको, उसकी यथेच्छ प्रवृत्तिमें होनेवाली बाधाको तथा स्थिरतापूर्वक बैठनेके कष्टको भी नहीं देखता है और पत्रोंके समूहको व्यवस्थित कर एवं स्याहीको घोलकर लिखता है ॥ ५ ॥ लोभसे पीडित दीन मनुष्य गर्भिणी स्त्रीके समान अनेक जीवोंके समूहसे परिपूर्ण पृथिवीको निर्दयतापूर्वक अन्य अनेक उपकरणोंके साथ हलके द्वारा जोतता है और उसमें उत्पन्न होनेवाले पापको नहीं देखता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार कामासक्त मनुष्य गर्भवती स्त्रीके साथ भी विषयसेवन करता है और उससे होनेवाले गर्भपातके पापको नहीं देखता है उसी प्रकार लोभी मनुष्य अनेक जीव-जन्तुओंसे परिपूर्ण पृथिवीको जोतकर खेतीको करता है और उससे होनेवाली जीवहिंसाका वह विचार नहीं करता है ॥ ६ ॥ मनुष्य लोभके कारण भोग और उपभोगके सुखसे विमुख होकर दिन-रात अपने चित्तको पढ़ने और पठित अर्थका विचार करनेमें लगाता है। तथा इस प्रकारसे अनेक शास्त्रोंको पढ करके वह विवेकसे रहित होता हुआ बालकोंको पढ़ाता है ॥ ७ ॥ मनुष्य लोभके वश होकर वस्त्रोंको सीता है, अनेक प्रकारके चित्रोंको बनाता है; मिट्टी, लकडी, लोहा एवं सुवर्ण आदिके विधानको करता है— उनसे अनेक प्रकारके उपकरणोंको बनाता है; नृत्य करता है, और धोबीके धंधेको प्राप्त होता है— दूसरोंके मलिन कपडे धोता है। ठीक है— लोभके वशमें होकर मनुष्य किस किस कार्यको नहीं करता है ? अर्थात् वह कार्य-अकार्यका विचार न करके सभी कुछ करता है ॥ ८ ॥ बढ़े हुए लोभके वशमें होकर मनुष्य भोले प्राणियोंको अनेक प्रकारके मानविशेषोंसे— नापने व तौलनेके हीनाधिक उपकरणोंसे— धोखा देकर यहां व्यापारको करता है और अपरिमित संसाररूप समुद्रको नहीं देखता है— लोभ

---

१ स बाधाः, बाधां, बाधा । २ स स्वशान्ताभि°, श्वांताभि°, श्वांतोभि श्वाता°, स्वाता°, [Gloss:, चेतसंनिरोध, अंधकार]। ३ स मषीर्विमर्द्य । ४ स स्त्री । ५ स° सुखितो । ६ स दिनं । ७ स शक्ति°, °शक्त°, om चित्तः । ८ स °धीति । ९ स सव्यति । १० स करोति । ११ स चिनोति । १२ स वीक्ष्य । १३ स क्रीणन्ति । १४ स चपते । १५ स विभर्ति धिनोति ।

73) कुन्तासिशक्तिभरतोमरतद्बलादिनानाविधायुधभयंकरमुग्रयोधम्[1][2] ।
संग्राममध्यमधितिष्ठति लोभयुक्तः स्वं जीवितं तृणसमं विगणय्य जीवः ॥ ११ ॥

74) अत्यन्तभीमवनजीवगणेन पूर्णं दुर्गं वनं भयभृतां मनसाप्यगम्यम् ।
चौराकुलं विशति लोभवशेन मर्त्यो नो धर्मकर्म[3] विदधाति कदाचिदज्ञः ॥ १२ ॥

75) जीवान्निहन्ति विविधं वितथं ब्रवीति स्तेयं तनोति भजते वनितां परस्य ।
गृह्णाति दुःखजननं धनमुग्रदोषं लोभग्रहस्य वशवर्तितया मनुष्यः ॥ १३ ॥

76) उद्यन्महानिलवशोत्थविचित्रवीचिविक्षिप्तनक्रमकरादिनितान्तभीतिम् ।
अम्भोधिमध्यमुपयाति विवृद्धवेलं लोभाकुलो मरणदोषममन्यमानः ॥ १४ ॥

77) निःशेषलोकवनदाहविधौ समर्थं लोभानलं[4] निखिलतापकरं ज्वलन्तम् ।
ज्ञानाम्बुवाहजनितेन विवेकिजीवाः संतोषदिव्यसलिलेन शमं[5] नयन्ति[6] ॥ १५ ॥

अध्येति नृत्यति लुनाति मिनोति नौति क्रीणाति हन्ति वपते चिनुते बिभेति मुष्णाति गायति धिनोति (प्रीणयति) बिभर्ति भिन्ते सीव्यति पणायति (स्तौति) च याचते ॥ १० ॥ लोभयुक्तः जीवः स्वं जीवितं तृणसम विगणय्य कुन्तासिशक्ति (कासू) भर (अतिशय·) तोमरतद्बलादि (तस्मिन् लक्ष्ये एव बल यस्य स तद्बल. बाणविशेष. तदादि)–नानाविधायुधभयकरम् उग्रयोध संग्राममध्यम् अधितिष्ठति ॥ ११ ॥ अज्ञः मर्त्यः लोभवशेन अत्यन्तभीमवनजीवगणेन पूर्ण भयभृता मनसा अपि अगम्यं चौराकुल दुर्ग (दुर्गमं) वन विशति कदाचित् धर्मकर्म नो विदधाति ॥ १२ ॥ लोभग्रहस्य वशवर्तितया मनुष्य. जीवान् निहन्ति विविधं वितथ ब्रवीति स्तेयं तनोति परस्य वनिता भजते उग्रदोषं दुःखजननं धनं गृह्णाति ॥ १३ ॥ लोभाकुल (नर) मरणदोषम् अमन्यमान. उद्यन्महानिलवशोत्थविचित्रवीचिविक्षिप्तनक्रमकरादिनितान्तभीति विवृद्धवेलम् अम्भोधिमध्यम् उपयाति ॥ १४ ॥ विवेकिजीवा. ज्ञानाम्बुवाहजनितेन संतोषदिव्यसलिलेन

जनित पापसे होनेवाले दीर्घ संसारपरिभ्रमणका विचार नहीं करता है ॥ ९ ॥ मनुष्य लोभके कारण अध्ययन करता है–अनेक विषयोंका ज्ञान प्राप्त करता है, नाचता है, फसल आदिको काटता है, नापता-तौलता है, दूसरोंकी स्तुति करता है, खरीदता है–बाजारमें अनेक प्रकारकी वस्तुओंको खरीदता और बेचता है, हत्या करता है–चाण्डाल आदिका धंधा करता है, बोता है–खेती करता है; गृह आदिको बनाता है, भय खाता है, चोरी करता है, गान करता है, प्रीति करता है, बोझा धारण करता है, विदारण करता है, कपडे सीता है, प्रतिज्ञा करता है, और भीख मांगता है ॥ १० ॥ लोभयुक्त जीव अपने जीवनको तृणके समान तुच्छ समझकर ऐसे युद्धके मध्यमें स्थित होता है जो कि भाला, तलवार, शक्ति (आयुधविशेष), बाण और लक्ष्यवेधक विशेष बाण आदि अनेक प्रकारके शस्त्रोंसे भयको उत्पन्न करनेवाला तथा बलवान् योद्धाओंसे परिपूर्ण होता है ॥ ११ ॥ अज्ञानी मनुष्य लोभके वश होकर ऐसे दुर्गम वनमें तो प्रविष्ट होता है जो कि अतिशय भयानक जंगली जीवों (सिंह-व्याघ्रादि) के समूहसे परिपूर्ण है, जिसके विषयमें प्राणी मनसे भी विचार नहीं कर सकते हैं, तथा जो चोरोंसे व्याप्त है। परन्तु वह धर्मकार्यको नहीं करता है ॥ १२ ॥ मनुष्य लोभरूप पिशाचके वशमें होकर जीवोंका घात करता है, अनेक प्रकारका असत्य वचन बोलता है, चोरी करता है, परस्त्रीका सेवन करता है, तथा महान् दोषोंसे परिपूर्ण दुखदायक धनको ग्रहण करता है। अभिप्राय यह कि लोभी मनुष्य हिंसा आदि पांचों ही पापोंको करता है ॥ १३ ॥ लोभसे व्याकुल मनुष्य अपने मरणके कष्टको भी न देखकर ऐसे समुद्रके मध्यमें पहुंचता है जिसका कि किनारा जलकी वृद्धिसे बढ़ रहा है तथा जो उत्पन्न हुई महावायुके वश उठनेवाली विचित्र लहरोंके द्वारा इधर उधर फेंके जानेवाले घडयाल एवं मगर आदि हिंस्र जलजंतुओंसे अतिशय भयको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ १४ ॥ जो जलती हुई लोभरूप अग्नि समस्त लोकरूप

---

१ स °तजवलादि°,° तज्वलादि, °तद्वतादि°। २ स योधां। ३ स om, कर्म। ४ स लाभा°। ५ स समं। ६ स नियन्ते नयन्ते।

78) द्रव्याणि पुण्यरहितस्य न सन्ति लोभात्सन्त्यस्य चेन्न तु भवन्त्यचलानि तानि ।
सन्ति स्थिराणि यदि तस्य न सौख्यदानि ध्यात्वेति शुद्धधिषणो न तनोति लोभम् ॥ १६ ॥

79) चक्रेशकेशवहलायुधभूतितो ऽपि संतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति ।
तृप्तिं विना न सुखमित्यवगम्य सम्यग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवन्ति धीराः ॥ १७ ॥

80) दुःखानि यानि[1] नरकेष्वतिदुःसहानि तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु[2] यानि ।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवन्ति लोभादित्याकलय्य विनिहन्ति तमत्र धन्यः ॥ १८ ॥

81) लोभं[3] विधाय विधिना बहुधापि पुंसः संचिन्वतः क्षयमनित्यतया प्रयान्ति[4] ।
द्रव्याण्यवश्यमिति चेतसि संनिरूप्य लोभं त्यजन्ति सुधियो धुतमोहनीयाः ॥ १९ ॥

82) तिष्ठन्तु बाह्यधनधान्यपुरःसरार्थाः संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन[5] पुंसा[6] ।
कायो ऽपि नश्यति निजो ऽयमिति प्रचिन्त्य लोभारिमुग्रमुपहन्ति विरुद्धतत्त्वम् ॥ २० ॥

॥ इति लोभनिवारणविंशतिः[7] ॥ ४ ॥

निःशेषलोकवनदाहविधौ समर्थं निखिलतापकरं ज्वलन्तं लोभानलं शमं नयन्ति ॥ १५ ॥ पुण्यरहितस्य लोभात् द्रव्याणि न सन्ति, अस्य सन्ति चेत् तानि तु अचलानि न भवन्ति, यदि तस्य स्थिराणि सौख्यदानि न सन्ति इति ध्यात्वा शुद्धधिषणः लोभं न तनोति ॥ १६ ॥ संतोषमुक्तमनुजस्य चक्रेशकेशवहलायुधभूतितः अपि तृप्तिः न अस्ति, तृप्तिं विना सुखं न इति सम्यक् अवगम्य धीराः लोभग्रहस्य वशिनो न भवन्ति ॥ १७ ॥ यानि नरकेषु अतिदुःसहानि दुःखानि यानि तिर्यक्षु यानि मनुजेषु यानि अमरेषु (सन्ति) तानि सर्वाणि मनुजस्य लोभात् भवन्ति इति आकलय्य अत्र धन्यः तं विनिहन्ति ॥ १८ ॥ लोभं विधाय बहुधा द्रव्याणि संचिन्वतः अपि पुंसः (तानि) विधिना अनित्यतया अवश्यं क्षयं प्रयान्ति इति चेतसि संनिरूप्य धुतमोहनीयाः सुधियः लोभं त्यजन्ति ॥ १९ ॥ प्रचुरलोभवशेन पुंसा संवर्धिताः बाह्यधनधान्यपुरःसरार्थाः तिष्ठन्तु अयं निजः कायः अपि नश्यति इति प्रचिन्त्य (सुधीः) उग्रं विरुद्धतत्त्वं लोभारिम् उपहन्ति ॥ २० ॥

॥ इति लोभनिवारणविंशतिः ॥ ४ ॥

वनके जलानेमें समर्थ है तथा सब प्राणियोंको सन्तप्त करनेवाली है उसको विवेकी जीव ज्ञानरूप मेघसे उत्पन्न हुए सन्तोषरूप दिव्य जलके द्वारा शान्त करते हैं ॥ १५ ॥ जो प्राणी लोभके वश होकर धनको प्राप्त करना चाहता है वह यदि पुण्यहीन है तो प्रथम तो उसे वह धन इच्छानुसार प्राप्त ही नहीं होता है, फिर यदि वह प्राप्त भी हो गया तो वह उसके पास स्थिर नहीं रहता है, और यदि स्थिर भी रह गया तो वह चिन्ता या रोगादिसे सहित होनेके कारण उसको सुख देनेवाला नहीं होता है; ऐसा विचार करके निर्मलबुद्धि मनुष्य उस लोभको विस्तृत नहीं करते हैं ॥ १६ ॥ जो मनुष्य सन्तोषसे रहित है उसको चक्रवर्ती, नारायण और बलदेवकी विभूतिसे भी तृप्ति नहीं होती है, और जब तक तृप्ति (सन्तोष) नहीं होती है तब तक सुखकी सम्भावना नहीं है। इस बातको भले प्रकार जान करके विद्वान् मनुष्य उस लोभरूप पिशाचके वशमें नहीं होते हैं ॥ १७ ॥ जो असह्य दुख नरकोंमें हैं, जो दुख तिर्यंचोंमें हैं, और जो दुख देवोंमें हैं वे सब दुख मनुष्यको लोभके कारणसे प्राप्त होते हैं; ऐसा निश्चय करके श्रेष्ठ मनुष्य यहां उस लोभको नष्ट करता है ॥ १८ ॥ जो मनुष्य लोभके वश होकर बहुत प्रकारसे धनका संचय करता है भाग्यवश उसका वह धन नश्वरस्वभाव होनेसे नष्ट हो जाता है, ऐसा मनमें विचार करके बुद्धिमान् मनुष्य मोहसे रहित होकर उस लोभका परित्याग करते हैं ॥ १९ ॥ मनुष्य तीव्र लोभके वश होकर जिन धन व धान्य आदि बाह्य पदार्थोंको बढाता है वे तो दूर रहें, किन्तु मनुष्यका यह अपना शरीर भी नाशको प्राप्त होता है; ऐसा विचार करके विवेकी जीव विपरीत स्वभाववाले उस प्रबल लोभरूप शत्रुको नष्ट करता है ॥ २० ॥

इस प्रकार इन बीस श्लोकोंमें लोभके दूर करनेका कथन किया गया है ॥ ४ ॥

---

१ स जानि । २ स मनुजेश्वरेषु । ३ स लोमे । ४ स प्रयाति । ५ स प्रमुखलोम । ६ स ° पुंसः । ७ स om. इति, इति लोभनिराकरणोपदेशः ।

[५. इन्द्रियरागनिषेधविंशतिः]

83) स्वेच्छाविहारसुखितो[1] निवसन् नगानां भक्षन्[2] वने किसलयानि मनोहराणि ।
आरोहणाङ्कुशविनोदनबन्धनादि दन्ती त्वगिन्द्रियवशः समुपैति दुःखम् ॥ १ ॥

84) तिष्ठन् जले ऽतिविमले विपुले यथेच्छं[3] सौख्येन भीतिरहितो रममाणचित्तः ।
गृध्रो[4] रसेषु रसनेन्द्रियतो ऽतिकष्टं निष्कारणं मरणमेति षडीक्षणो ऽत्र ॥ २ ॥

85) नानातरुप्रसवसौरभवासिताङ्गो घ्राणेन्द्रियेण मधुपो यमराजधिष्ण्यम्[5] ।
गच्छत्यशुद्धमतिरत्र गतो विषक्तिं[6] गन्धेषु पद्मसदनं समवाप्य दीनः ॥ ३ ॥

86) सज्जातिपुष्पकलिकेयमितीव मत्वा दीपार्चिषं हतमतिः शलभः पतित्वा ।
रूपावलोकनमना रमणीयरूपे मुग्धो ऽवलोकनवशेन यमास्यमेति ॥ ४ ॥

87) दूर्वाङ्कुराशनसमृद्धवपुः कुरङ्गः क्रीडन्वनेषु हरिणीभिरसौ विलासैः ।
अत्यन्तगेयरवबद्धमना वराकः श्रोत्रेन्द्रियेण समवर्ति[7]मुखं प्रयाति ॥ ५ ॥

वने स्वेच्छाविहारसुखित. निवसन् नगानां मनोहराणि किसलयानि भक्षन् दन्ती त्वगिन्द्रियवशः सन् आरोहणाङ्कुशविनोदन (प्रेरण) बन्धनादिदुःखं समुपैति ॥ १ ॥ अतिविमले विपुले जले सौख्येन तिष्ठन् भीतिरहितः यथेच्छं रममाणचित्त- रसेषु गृध्र षडीक्षणः (मत्स्य.) अत्र रसनेन्द्रियतः निष्कारणम् अतिकष्टं मरणम् एति ॥ २ ॥ अत्र नानातरुप्रसवसौरभवा- सिताङ्गः अशुद्धमतिः पद्मसदनं समवाप्य गन्धेषु विषक्ति गतः दीनः मधुपः घ्राणेन्द्रियेण यमराजधिष्ण्यं (कृतान्तालयं) गच्छति ॥ ३ ॥ रूपावलोकनमनाः रमणीयरूपे मुग्धः हतमतिः शलभः इयं सज्जातिपुष्पकलिका इति मत्वा इव दीपार्चिष पतित्वा अवलोकनवशेन यमास्यमेति ॥ ४ ॥ वनेषु दूर्वाङ्कुराशनसमृद्धवपुः विलासैः हरिणीभिः क्रीडन् अत्यन्तगेयवरबद्धमना

जो हाथी इच्छानुसार गमनसे सुखको प्राप्त होकर वनमें निवास करता है तथा वहां वृक्षोंके मनोहर कोमल पत्तोंको खाता है वह स्पर्शन इन्द्रियके वशमें होकर मनुष्योंके द्वारा की जानेवाली सवारी, अंकुश और बन्धन आदिको दुखको प्राप्त होता है ॥ विशेषार्थ— हाथी जंगलमें रहता है। उसे पकडनेके लिये मनुष्य गहरा गड्ढा खोदकर उसमें हथिनीकी मूर्ति बनाते हैं। इसे साक्षात् हथिनी समझता हुआ वह हाथी कामासक्त होकर उस गड्ढेमें जा गिरता है। इस प्रकारसे वह सहजमें पकड लिया जाता है। अब वह सर्वथा पराधीन हो जाता है। इसीलिये मनुष्य उसके ऊपर सवारी करते हैं, अंकुशसे ताडन करते हैं, और बन्धनमें रखते हैं। यह सब दुख उसे एक मात्र स्पर्शन इन्द्रियके वशीभूत होनेसे ही सहना पडता है, अन्यथा वह इतना विशालकाय पशु साधारण मनुष्यके वशमें नहीं हो सकता था ॥ १ ॥ मछली अतिशय निर्मल एवं विशाल जलमें स्वेच्छापूर्वक सुखसे रहती है और वहां निर्भय होकर चित्तको रमाती है। वह रसना इन्द्रियके वश रसोंमें गृद्धिको प्राप्त होकर अकारण ही यहां अतिशय दुखदायक मरणको प्राप्त होती है ॥ २ ॥ यहाँ अनेक वृक्षोंके फूलोंके सुगंधसे जिसका शरीर सुगन्धित हुआ है, ऐसा बेचारा निर्बुद्ध भ्रमर कमलरूप घरमें रहता हुआ इन्द्रियसे गन्धमें आसक्त होकर मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ रूपके देखनेकी इच्छा करनेवाला मूर्ख दुर्बुद्धि पतंग रमणीय रूपमें मूढ होकर दीपककी शिखाको 'यह उत्तम जाति पुष्पकी कलि है' ऐसा समझ करके ही मानो उसके ऊपर गिरता है और नेत्र इन्द्रियके वश यमके मुखको प्राप्त होता है– जलकर मर जाता है ॥ ४ ॥ जिस मृगका शरीर वनमें दूर्वाके अंकुरों (घास)

---

१ स स्वेच्छा वि°। २ स °क्षतो। ३ स यथ°। ४ स गृद्धो। ५ स °धिष्ण्यां। ६ स विशक्ति। ७ स समवर्ति°।

88) एकैकमक्षविषयं भजताममीषां संपद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम् ।
पञ्चाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्यमक्षार्थमित्यमलधीरधियस्त्यजन्ति ॥ ६ ॥

89) दन्तीन्द्रदन्तदलनैकविधौ समर्थाः सन्त्यत्र रौद्रमृगराजवधे[1] प्रवीणाः ।
आशीविषोरगवशीकरणे ऽपि दक्षाः पञ्चाक्षनिर्जयपरास्तु न सन्ति मर्त्याः ॥ ७ ॥

90) संसारसागरनिरूपणदत्तचित्ताः[2] सन्तो वदन्ति मधुरां[3] विषयोपसेवाम् ।
आदौ विपाकसमये कटुकां नितान्तं किंपाकपाकफलभुक्तिमिवाङ्गभाजाम् ॥ ८ ॥

91) तावन्नरो भवति[4] तत्त्वविदस्तदोषो मानी मनोरमगुणो मननीयवाक्यः[5] ।
शूरः समस्तजनतामहितः[6] कुलीनो यावद्धृषीकविषयेषु न सक्ति[7]मेति ॥ ९ ॥

वराकः असौ कुरङ्गः श्रोत्रेन्द्रियेण समवर्तिमुखं (यमास्यं) प्रयाति ॥ ५ ॥ एकैकम् अक्षविषय भजताम् अमीषां यदि कृतान्त-गृहातिथित्वं संपद्यते (तर्हि) पञ्चाक्षगोचररतस्य किं वाच्यमस्ति इति अमलधीरधिय अक्षार्थं त्यजन्ति ॥ ६ ॥ अत्र मर्त्याः दन्तीन्द्रदन्तदलनैकविधौ समर्थाः सन्ति । रौद्रमृगराजवधे प्रवीणाः सन्ति । आशीविषोरगवशीकरणे ऽपि दक्षाः सन्ति । तु पञ्चाक्षनिर्जयपराः न सन्ति ॥ ७ ॥ संसारसागरनिरूपणदत्तचित्ताः सन्त. अङ्गभाजा किंपाक--(कुत्सित पाक परिणामो यस्य सः किम्पाक) पाकफलभुक्तिमिव विषयोपसेवाम् आदौ मधुरा विपाकसमये नितान्त कटुकां वदन्ति ॥ ८ ॥ यावत् नर. हृषीकविषयेषु सक्ति न एति, तावत् (स) तत्त्ववित्, अस्तदोष, मानी मनोरमगुण · मननीयवाक्य. शूरः

को खाकर वृद्धिंगत हुआ है और जो वहां विलासपूर्वक हरिणियोंके साथ क्रीडा किया करता है वह बेचारा मृग कर्ण इन्द्रियके वशीभूत होकर उत्तम गानके सुननेमें अपने मनको अतिशय आसक्त करता है और इसीलिये यमके मुखको प्राप्त होता है -- व्याधके द्वारा पकडकर मारा जाता है ॥ ५ ॥ यदि एक एक इन्द्रियके विषयका सेवन करनेवाले इन हाथी आदि (मछली, भौंरा, पतंग और हरिण) जीवोंको यमराजके घरका अतिथि बनना पडता है -- मरना पडता है -- तो फिर जो मनुष्य उन पांचों ही इन्द्रियोंके विषयमें अनुरक्त रहता है उसके विषयमें क्या कहा जा सकता है ? अर्थात् वह तो मरण आदिके अनेक कष्टोंको सहता ही है। इसीलिये निर्मल और धीर बुद्धिके धारक मनुष्य इन्द्रियविषयका परित्याग करते हैं ॥ ६ ॥ जो गजराजके दांतोंके तोडनेरूप अनुपम कार्यके करनेमें समर्थ हैं, जो भयानक सिंहका वध करनेमें चतुर हैं, तथा जो आशीविष सर्पके वश करनेमें भी समर्थ हैं ऐसे मनुष्य तो यहां बहुत हैं। परन्तु जो पांचों इन्द्रियोंके जीतनेमें तत्पर हों ऐसे मनुष्य यहां नहीं हैं। [अभिप्राय यह कि पांचों इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करना अतिशय कठिन है। जो विवेकी मनुष्य उनको वशमें करते हैं वे प्रशंसाके योग्य हैं और वेही आत्मकल्याण करते हैं] ॥ ७ ॥ जो सज्जन संसाररूप समुद्रके निरूपणमें अपने चित्तको देते हैं संसारके स्वरूपको जानते हैं -- वे विषयोंके सेवनको महाकालफल विषफलके भक्षणके समान प्रारम्भमें-- सेवन करनेके समयमें--ही प्राणियोंके लिये मधुर, परन्तु फल देनेके समयमें उसे अतिशय कटु बतलाते हैं। विशेषार्थ-- अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार विषफल खाने समयमें तो स्वादिष्ट प्रतीत होता है, परन्तु परिणाममें वह प्राणघातक ही होता है; उसी प्रकार ये इन्द्रियविषय भी भोगते समयमें तो आनन्ददायक दिखते हैं परन्तु परिणाममें वे अतिशय दुखदायकही सिद्ध होते हैं। कारण कि रोगादिजनक होनेसे वे इस भवमें भी प्राणीको कष्ट देते हैं तथा नरकादि दुर्गतिको प्राप्त कराकर परभवमें भी वे उसे दुख देते हैं ॥ ८ ॥ जब तक मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति को नहीं प्राप्त होता

---

१ स °वध । २ स दृतचिता । ३ स विधुरा । ४ स भवते । ५ स ° वाच्यः । ६ स °सहितः, जनसामहिनः । ७ स शक्ति° ।

92) मर्त्यं हृषीकविषया यदमी त्यजन्ति नाश्चर्यमेतदिह किंचिदनित्यतातः ।
एतत्तु चित्रमनिशं यदमीषु मूढो मुक्तो ऽपि मुञ्चति मतिं न विवेकशून्यः ॥ १० ॥
93) आदित्यचन्द्रहरिशंकरवासवाद्याः[1] शक्ता न जेतुमतिदुःखकराणि यानि ।
तानीन्द्रियाणि बलवन्ति सुदुर्जयानि ये[2] निर्जयन्ति भुवने[3] बलिनस्त एके[4] ॥ ११ ॥
94) सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम् ।
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया[5]विलभ्यं किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः ॥ १२ ॥
95) नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं तत्त्वं विविक्तमवगम्य जिनेशिनोक्तम् ।
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य हस्ते ऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः[6] ॥ १३ ॥
96) दासत्वमेति वितनोति निहीनसेवां धर्मं धुनोति[7] विदधाति विनिन्द्यकर्म ।
[8]रेपश्चिनोति कुरुते ऽतिविरूपवेषं किं वा हृषीकवशतस्तनुते[9] न[10] मर्त्यः ॥ १४ ॥

समस्तजनतामहितः कुलीनः भवति ॥ ९ ॥ यत् इह अनित्यतात अमी हृषीकविषयाः मर्त्यं त्यजन्ति एतत् किंचित् आश्चर्यं न । तु यत् मुक्तो ऽपि अमीषु मूढः विवेकशून्यः अनिशं मतिं न मुञ्चति एतत् चित्रम् (अस्ति) ॥ १० ॥ आदित्यचन्द्र-हरिशङ्करवासवाद्याः अतिदुःखकराणि यानि जेतुं न शक्ताः तानि सुदुर्जयानि बलवन्ति इन्द्रियाणि ये निर्जयन्ति भुवने ते एके बलिनः ॥ ११ ॥ अत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः यत् पापरहितं विगतान्तरायं स्वस्थं तदात्मकं सौख्यं प्राप्नोति दुरन्तविषयान-लतप्तचित्तः अनात्मधियाविलभ्यं तत् प्राप्नोति किम् ॥ १२ ॥ जिनेशिना उक्तं नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं विविक्तं तत्त्वम् अवगम्य यः विषयसौख्यं सेवते असौ निहीनः हस्ते (स्थितम्) अमृतं विमुच्य रौद्रविषं पिबति ॥ १३ ॥ मर्त्यः हृषीक-

---

है तभी तक वह वस्तुस्वरूपका जानकार, दोषोंसे रहित, स्वाभिमानी, उत्तम गुणोंसे संयुक्त, आदरणीय, वक्ता, पराक्रमी, समस्त जनसमूहसे पूजित और कुलीन रहता है। [अभिप्राय यह कि मनुष्यके इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त होनेसे उसके उपर्युक्त सब ही गुण नष्ट हो जाते हैं] ॥ ९ ॥ यहां यदि ये इन्द्रियविषय मनुष्यको छोड देते हैं तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है, क्यों कि वे अनित्य हैं— विनश्वर ही हैं। परन्तु आश्चर्य तो इसमें है कि उक्त इन्द्रियविषयोंके द्वारा छोडा गया भी वह मनुष्य अविवेकतासे इनमें मोहको प्राप्त होकर दिनरात उनकी ओरसे अपनी बुद्धिको नहीं हटाता है— सर्वदा उन्हें भोगनेकी ही अभिलाषा रखता है ॥ १० ॥ जिन दुखदायक इन्द्रियोंको जीतनेके लिये सूर्य, चन्द्र, विष्णु, महादेव और इन्द्र आदि समर्थ नहीं हुए हैं उन अतिशय दुर्जय बलवान् इन्द्रियोंको जो इस संसारमें जीतते हैं वे अद्वितीय बलवान् हैं— उनके समान पराक्रमी दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ११ ॥ जिसने इन्द्रियरूप शत्रुओंके अभिमानको चूर्ण कर दिया है वह यहां बाधारहित जिस निर्दोष आत्मिक सुखको प्राप्त करता है वह क्या कभी उस मनुष्यको प्राप्त हो सकता है जो शरीरादि बाह्य वस्तुओंको अपना समझता है तथा जिसका मन दुखदायक विषयरूप अग्निसे सदा सन्तप्त रहता है ? अर्थात् वह निर्बाध सुख विषयी प्राणीको कभी नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥ जिन भगवानके द्वारा उपदिष्ट जो निर्दोष वस्तुस्वरूप अनेक प्रकारके व्यसनरूप धूलिके वैभवको नष्ट कर देनेके लिये वायुके समान है उसको जान करके भी जो जीव विषयसुखका सेवन करता है वह मूर्ख हाथमें स्थित अमृतको छोडकर भयानक विषको पीता है। विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिसने जिनागमके अभ्याससे यह भले प्रकार जान लिया है कि ये इन्द्रियविषय प्राणीको अनेक जन्मोंमें कष्ट देनेवाले हैं तथा इनका परित्याग उसे निराकुल सुखको उत्पन्न करनेवाला है, फिर भी यदि वह उन्हीं विषयोंके सेवनकी अभिलाषा करता है तो उसे उस मूर्खके समान ही समझना चाहिये जो कि प्राप्त हुए अमृतको छोडकर प्राणघातक विषके पीनेमें प्रवृत्त होता है ॥ १३ ॥ विषयी मनुष्य दासका काम करता है, नीच जनकी सेवा करता है, धर्मको नष्ट करता है, नीच कार्यको

---

१ श °केशवाद्याः । २ श जे । ३ श भवने । ४ श एव । ५ स °धिया वि° । ६ स विहीन° । ७ स धुनाति । ८ स रेफ°, रैफ° । ९ श वशत° । १० श स मर्त्यः ।

97) अब्धिर्न तृप्यति यथा सरितां सहस्रैर्नो[1] चेन्धनैरिव शिखी बहुधोपनीतैः ।
जीवः समस्तविषयैरपि तद्वदेवं[2] संचिन्त्य चारुधिषणस्त्यजतीन्द्रियार्थान् ॥ १५ ॥

98) आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतुं[3] किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके ।
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा पञ्चेन्द्रियार्थसुखमर्थधियस्त्यजन्ति ॥ १६ ॥

99) विद्या दया द्युतिरनुद्धतता तितिक्षा सत्यं तपो नियमनं विनयो नयो[4] वा ।
सर्वे भवन्ति विषयेषु रतस्य मोघा मत्वेति चारुमतिरेति न तद्वशित्वम् ॥ १७ ॥

100) लोकार्चितो ऽपि कुलजो[5] ऽपि बहुश्रुतो ऽपि धर्मस्थितो ऽपि विरतो ऽपि शमान्वितो[6] ऽपि ।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्यस्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निन्द्यम् ॥ १८ ॥

101) लोकार्चितं गुरुजनं पितरं सवित्रीं बन्धुं सनाभिमबलां[7] सुहृदं स्वसारम् ।
भृत्यं प्रभुं तनयमन्यजनं च मर्त्यो नो मन्यते विषयवैरिवशः कदाचित् ॥ १९ ॥

वंशत: दासत्वम् एति निहीनसेवा वितनोति, धर्मं धुनोति, विनिन्द्यकर्म विदधाति, रेप. (रेप्यते निन्द्यते इति रेप: निन्दित: अथवा 'रेफ:' इति पाठे रिफतीति रेफ· (सकारान्त.) कुत्सित:, तस्य द्वितीयैकवचने रेफ:) चिनोति, अतिविरूपवेषं कुरुते । किं वा न तनुते । (सर्वमपि अकार्यं तनुते) ॥ १४ ॥ यथा अब्धि. सरिता सहस्रैः न तृप्यति । च बहुधा उपनीतैः इन्धनैः शिखी नो इव । तद्वत् जीव· समस्तविषयै. अपि न तृप्यति । एवं संचिन्त्य चारुधिषण: इन्द्रियार्थान् त्यजति ॥ १५ ॥ अर्थधिय: पञ्चेन्द्रियार्थसुखम् आपातमात्ररमणीयम् अतृप्तिहेतुम् अथो विपाके किंपाकपाकफलतुल्यं नो शाश्वतं प्रचुर-दोषकरं विदित्वा तत् त्यजन्ति ॥ १६ ॥ विषयेषु रतस्य विद्या, दया, द्युति:, अनुद्धतता, तितिक्षा, सत्यं, तप·, नियमनं, विनय: वा नय:, सर्वे मोघा· भवन्ति इति मत्वा चारुमति· तद्वशित्व न एति ॥ १७ ॥ अक्षार्थपन्नगविषाकुलित: मनुष्य: लोकार्चित: अपि कुलज· अपि बहुश्रुत· अपि धर्मस्थित· अपि विरत. अपि शमान्वित· अपि अत्र यत् निन्द्यं कर्म न कुरुते तत् नास्ति ॥ १८ ॥ विषयवैरिवश: मर्त्य: लोकार्चितं गुरुजनं पितरं सवित्रीं बन्धुं सनाभिम् अबलां सुहृदं स्वसारं भृत्यं प्रभुं

करता है, कुत्सित पापका संचय करता है, तथा विकृत वेषको धारण करता है । ठीक है– मनुष्य इन्द्रियोंके अधीन होकर कौन कौनसे अकार्यको नहीं करता है? अर्थात् वह सब ही निन्द्य कार्योंको करता है ॥ १४ ॥ जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियोंके जलसे नहीं सन्तुष्ट होता है– नहीं पूर्ण होता है, तथा जिस प्रकार अग्नि कभी बहुत प्रकारके लाये गये इन्धनोंसे सन्तुष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार जीव सब विषयोंसे भी कभी सन्तुष्ट नहीं होता है– उत्तरोत्तर उसकी वह विषयाभिलाषा बढती ही जाती है यह, विचार करके ही निर्मलबुद्धि मनुष्य उन इन्द्रियविषयोंका परित्याग करता है ॥ १५ ॥ उत्तरोत्तर तृष्णाको बढानेवाला यह नश्वर विषयसुख इन्द्रायणफल (विषफल) के समान केवल भोगनेके समयमें ही रमणीय प्रतीत होता है, परन्तु वह फलकालमें अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाला है, यह जान करके ही बुद्धिमान् मनुष्य पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले उस दुरन्त सुखका परित्याग करते हैं ॥ १६ ॥ जो जीव विषयोंमें आसक्त होता है उसकी विद्या, दया, कान्ति, निरभिमानता, क्षमा, सत्य, तप, नियम, विनय और नीति ये सब गुण व्यर्थ हो जाते हैं; ऐसा जान करके निर्मल बुद्धिका धारक मनुष्य उन विषयोंके अधीन नहीं होता है ॥ १७ ॥ मनुष्य यद्यपि लोगोंके द्वारा पूजित भी है, कुलीन भी है, अतिशय विद्वान् भी है, धर्ममें स्थित भी है, हिंसादि पापोंसे विरत भी है तथा शान्तिसे सहित भी है; फिर भी यदि वह इन्द्रियविषयरूप सर्पके विषसे व्याकुल है तो फिर ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिस निन्द्य कार्यको वह न करता हो । [तात्पर्य यह कि विषयी पुरुष अपनी लोकप्रतिष्ठा, कुलीनता एवं विद्वत्ता आदिको भूलकर अतिशय घृणित कार्य करने लगता है] ॥ १८ ॥ विषयरूप शत्रुके वश हुआ मनुष्य लोकपूजित

---

१ स नो बन्धनैरिव । २ स °देव । ३ स आयात्र°, आताप° । ४ स विवेकः for नयो वा । ५ स कुलयो । ६ स समान्वितो । ७ स °चलं for °बलां ।

102) येनेन्द्रियाणि विजितान्यतिदुर्धराणि तस्याभिभूतिरिह नास्ति कुतो ऽपि लोके ।
श्लाघ्यं च जीवितमनर्थविमुक्तमुक्तं पुंसो[1] विविक्तमतिपूजिततत्त्वबोधैः ॥ २० ॥

॥ इतीन्द्रियरागनिषेधविंशतिः[2] ॥ ५ ॥

तनयं च अन्यजनं कदाचित् नो मन्यते ॥ १९ ॥ इह लोके येन अतिदुर्धराणि इन्द्रियाणि विजितानि तस्य कुतः अपि अभिभूति नास्ति । अतिपूजिततत्त्वबोधैः तस्य पुंसः जीवितं श्लाघ्यम् अनर्थविमुक्तं च विविक्तम् उक्तम् ॥ २० ॥

॥ इतीन्द्रियरागनिषेधविंशतिः ॥ ५ ॥

गुरुजन, पिता, माता, भाई, सगोत्री, स्त्री, मित्र, बहिन, दास, स्वामी, पुत्र और दूसरे जनको भी कभी नहीं मानता है [अभिप्राय यह कि वह योग्यायोग्यके विवेकसे रहित होकर पूज्य पुरुषोंका भी निरादर किया करता है] ॥ १९ ॥ जिस भव्य जीवने इन दुर्जय इन्द्रियोंको जीत लिया है उसका यहां लोकमें किसीसे भी अभिभव (तिरस्कार) सम्भव नहीं है । जिनका तत्त्वज्ञान अतिशय पूजित है ऐसे महापुरुष उस जितेन्द्रिय जीवके प्रशंसनीय जीवनको शुद्ध एवं अनर्थसे रहित बतलाते हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार बीस श्लोकोंमें इन्द्रियरागनिषेधका कथन हुआ ॥ ५ ॥

---

१ श वि, ति for भि । २ श पुंसां । ३ श निषेधैक°, इतीन्द्रियनिग्रहोपदेशः ।

[६. स्त्री [गुण] दोषविचारपञ्चविंशतिः]

103) उद्यद्गन्धप्रबन्धां[1] परमसुखरसां[2] कोकिलालापजल्पां[3]
पुष्पस्रक्सौकुमार्यां[4] कुसुमशरवधूं रूपतो निर्जयन्तीम्[5] ।
सौख्यं सर्वेन्द्रियाणामभिमतमभितः कुर्वतीं मानसेष्टां[6]
सत्सौभाग्याँल्लभन्ते[7][8] कृतसुकृतवशाः कामिनीं[9] मर्त्यमुख्याः[10] ॥ १ ॥

104) अक्ष्णोर्युग्मं विलोकान्मृदुतनुगुणतस्तर्पयन्ती[11] शरीरं
दिव्यामोदेन वक्त्रादपगतमरुता[12] नासिकां चारुवाचा ।
श्रोत्रद्वन्द्वं मनोज्ञाद्रसनमपि रसादर्पयन्ती[13][14] मुखाब्जं
यद्वत्पञ्चाक्षसौख्यं वितरति युवतिः कामिनां नान्यदेवम्[15] ॥ २ ॥

105) या कूर्मोन्नताङ्घ्रिपृष्ठारुणचरणतला[16] वृत्तजङ्घा वरोरुः
स्थूलश्रोणीनितम्बा प्रविपुलजघना दक्षिणावर्तनाभिः[17] ।
इन्द्रास्त्रक्षाममध्या[18] कनककुटकुचा[19] वारिजावर्तकण्ठा
पुष्पस्रग्बाहुयुग्मा शशधरवदना पक्वबिम्बाधरोष्ठी ॥ ३ ॥

कृतसुकृतवशाः मर्त्यमुख्याः सत्सौभाग्यात् उद्यद्गन्धप्रबन्धां परमसुखरसां कोकिलालापजल्पां पुष्पस्रक्सौकुमार्यां रूपतः कुसुमशरवधूं निर्जयन्तीं सर्वेन्द्रियाणाम् अभिमतं सौख्यम् अभितः कुर्वतीं मानसेष्टां कामिनीं लभन्ते ॥ १ ॥ विलोकात् अक्ष्णोः युग्मं, मृदुतनुगुणतः शरीरं, वक्त्रात् अपगतमरुता दिव्यामोदेन नासिका, चारुवाचा श्रोत्रद्वन्द्वं, मुखाब्जम् अर्पयन्ती (सती) मनोज्ञात् रसात् रसनम् अपि तर्पयन्ती युवतिः, कामिनां यद्वत् पञ्चाक्षसौख्यं वितरति एवम् अन्यत् न (वितरति) ॥ २ ॥ या कूर्मोन्नताङ्घ्रि (घ्रि)पृष्ठा, अरुणचरणतला, वृत्तजङ्घा, वरोरुः, स्थूलश्रोणीनितम्बा, प्रविपुलजघना, दक्षिणावर्तनाभिः, इन्द्रास्त्रक्षाममध्या, कनककुट (कलश) कुचा, वारिजावर्तकण्ठा, पुष्पस्रग्बाहुयुग्मा, शशधरवदना, पक्वबिम्बाधरोष्ठी, सशुम्भत्पाण्डुगण्डा, प्रचकितहरिणीलोचना, कीरनासा, सज्येष्वासानतभ्रूः,

---

जिस स्त्रीसे सुगन्ध उत्पन्न हो रही है अर्थात् जो घ्राण इन्द्रियको सुखकर है, जिसका रस अतिशय सुखोत्पादक है अर्थात् जो अधरोष्ठपानादिके द्वारा रसना इन्द्रियको सन्तुष्ट करनेवाली है, जो कोयलके समान मधुरवाणी बोलकर कानोंको आनन्दित करनेवाली है, जो फूलोंके समान सुकुमार शरीरके द्वारा स्पर्शन इन्द्रियको तृप्त करनेवाली है, तथा जो सुन्दरतासे कामदेवकी प्रिया (रति) को भी जीतकर चक्षु इन्द्रियको सुखप्रद है; इस प्रकारसे जो सब ओरसे सबही इन्द्रियोंके लिये अभीष्ट सुख को उत्पन्न करनेवाली तथा मनको भी अभीष्ट है उस स्त्रीको सौभाग्यसे पुण्यशाली श्रेष्ठ मनुष्यही प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥ युवति स्त्री देखनेसे कामी जनके दोनों नेत्रोंको संतुष्ट करती है, शरीरके मृदुता (सुकुमारता) गुणसे शरीर (स्पर्शन इन्द्रिय) को सन्तुष्ट करती है, मुखसे निकलनेवाली दिव्य सुगन्धयुक्त वायुसे घ्राणको सन्तुष्ट करती है, मधुर वाणीसे दोनों कानोंको सन्तुष्ट करती है, तथा अपने मुखकमलको देकर मनोहर रससे रसना इन्द्रियको भी सन्तुष्ट करती है। इस प्रकार कामी जनकी पांचोंही इन्द्रियोंको जैसे युवति स्त्री सुख देती है वैसे अन्य कोई

---

१ स °प्रबन्धाः, °प्रबन्धा। २ स °रसः, °रसाः। ३ स °जल्पाः, °जल्पा। ४ स °कुमार्याः। ५ स °र्जयंतीः, °र्जयंती। ६ स कुर्व्वतीर्मा, कुर्वती मानश्रेष्टाः, मानसेष्टं। ७ स °सौभाग्यान्, °भाग्या। ८ स लभंती। ९ स कामिनि, कामिनीमं°। १० स °मुख्यां, °मुख्या। ११ स °तन°। १२ स वक्त्रादुष°, °दुप°। १३ स मनोन्या° मनोज्ञा°, रशन°, मनोज्ञा दशनमपि रसा तर्पयन्ती। १४ स रसादतीमुखाब्जं। १५ स °देव। १६ स कूर्मोन्नांघ्रि। १७ स दक्षणा°। १८ स °श्याम°। १९ स °पुट° for °कुट°।

106) संशुभ्रस्पाण्डुगण्डा प्रचकितहरिणीलोचना कीरनासा
लज्जेष्वासानतभ्रूः सुरभिकचचया त्यक्तपद्मेव पद्मा ।
अङ्गैरङ्गं भजन्ती धृतमदनमदैः प्रेमतो वीक्ष्यमाणा
नेदृग्यस्यास्ति योषा स किमु वरतपो भक्तितो नो विधत्ते ॥ ४ ॥

107) संत्यक्तव्यक्तबोधस्तरुरपि बकुलो मद्यगण्डूषसिक्तैः
पिण्डीवृक्षश्च मुञ्चंश्चरणतलहतः पुष्परोमाञ्चमर्घ्यम् ॥
सौख्यं जानाति यस्याः कृतमदनपतेर्हावभावास्पदाया-
स्तां नारीं वर्जयन्तो विदधति तरुतो ऽप्यूनमात्मानमज्ञाः ॥ ५ ॥

108) गौरीं देहार्धमीशो हरिरपि कमलां नीतवानत्र वक्षो
यत्संगात्सौख्यमिच्छुः सरसिजनिलयो ऽष्टार्धवक्त्रो बभूव ।
गीर्वाणानामधीशो दशशतभगतामासवानस्तधैर्यः
सा देवानामपीष्टा मनसि सुवदना वर्तते नुर्न कस्य ॥ ६ ॥

सुरभिकचचया, त्यक्तपद्मा पद्मा इव, धृतमदनमदैः अङ्गैः अङ्गं भजन्ती, प्रेमतः वीक्षमाणा, ईदृक् यस्य योषा नास्ति सः भक्तितः वरतपः नो विधत्ते किमु ॥ ३–४ ॥ कृतमदनपतेः हावभावास्पदायाः यस्याः मद्यगण्डूषसिक्तः संत्यक्तव्यक्तबोधः बकुलः तरुः च चरणतलहतः पिण्डीवृक्षः (अशोकः) अर्घ्यं (पूजोपचारार्थं) पुष्परोमाञ्चं मुञ्चन् सौख्यं जानाति, तां नारीं वर्जयन्तः अज्ञाः आत्मानं तरुतः अपि ऊनं विदधति ॥ ५ ॥ अत्र यत्संगात् सौख्यम् इच्छुः ईशः गौरीं देहार्धं, हरिः अपि कमलां वक्षः नीतवान् । सरसिजनिलयः अष्टार्धवक्त्रः बभूव । गीर्वाणानाम् अधीशः अस्त-

---

भी वस्तु सुख देनेवाली नहीं है ॥ २ ॥ जिसके पांवोंका पृष्ठ भाग कछुएकेसमान ऊंचा है, चरणोंका तल भाग लाल है, जंघाएं (पिंडरीं) गोल हैं, ऊरु (घुटनोंके ऊपरका भाग) सुन्दर हैं, कटि भाग और नितम्ब स्थूल हैं, जघन विस्तृत है, नाभि सरल भँवरके समान हैं, मध्य भाग इन्द्रके अस्त्र (वज्र) के समान कृश है, स्तन सुवर्णकलशके समान हैं, कण्ठ शंखके घुमावके समान है, उभय भुजाएं पुष्पमालाके समान हैं, मुख चन्द्रके समान आल्हादजनक है, अधरोष्ठ पके हुए कुंदुरु फलके समान लाल है, शोभायमान कपोल सफेद हैं, नेत्र भयभीत हरिणीके नेत्रोंके समान चंचल हैं, नाक तोतेकी चोंचके समान है, भौंहें सुसज्जित धनुषके समान नम्रीभूत हैं, तथा बालोंका समूह सुगन्धित है, ऐसी जो स्त्री मानो कमलको छोड़कर आयी हुई लक्ष्मीके समान प्रतीत होती है तथा जो प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखकर कामोत्पादक अपने अंगों (अवयवों) से कामीके शरीरका सेवन करती हुई उसे सुखित करती है, वह जिस मनुष्यके पास नहीं है वह भक्तिसे उत्तम तपको क्यों नहीं करता है ? अर्थात् उक्त स्त्रीकी प्राप्तिके लिये उसे उत्कृष्ट तप करना चाहिये ॥ ३–४ ॥ हावभावोंको दिखाकर कामको उद्दीप्त करनेवाली जिस स्त्रीके मद्यके कुल्लेसे सींचा जाकर विशिष्ट बोधसे रहित बकुल वृक्ष तथा जिसके पादतलसे ताड़ित होकर पिण्डीवृक्ष (अशोकवृक्ष) भी योग्य पुष्परूप रोमांचको छोड़कर—प्रफुल्लित होकर—सुखका अनुभव करते हैं उस स्त्रीका जो परित्याग करते हैं वे अज्ञानी मनुष्य अपने को उन वृक्षोंसे भी हीन करते हैं ॥ ५ ॥ जिस स्त्रीके संयोगसे सुखकी इच्छा करनेवाले महादेवने पार्वतीको अपने शरीरके अर्ध भागको प्राप्त कराया, विष्णूने भी लक्ष्मीको वक्षस्थलपर धारण किया, ब्रह्माने चार मुख धारण किये, तथा अधीरतावश इन्द्रको सौ योनियां धारण करनी पड़ीं; इस प्रकार देवों को भी इष्ट वह सुन्दर मुखवाली किस मनुष्यके मनमें नहीं रहती है ? अर्थात् मनसे उसे सब ही चाहते हैं ॥ ६ ॥

---

१ स कीरणासा । २ स संघेयासा°, शञ्छेच्छासा° (Gloss: आरोपितधनुषवत्)। ३ स °पद्मेन। ४ स वीक्ष°। ५ स °शिक्तः। ६ स °मर्घं। ७ स यानाति, जातिना। ८ स यस्याकृत°। ९ स °पते। १० स °भावास्पदोषा°, °भावस्पदाया°, °भावस्पदीया°।

109) यत्कामार्ति धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
सत्पात्राहारदानप्रभववरवृषस्यास्तदोषस्य हेतुः।
वंशाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभुवः कारणं कान्तकीर्ते[2]-
स्तत्सर्वाभीष्टदात् प्रवदत न कथं प्रार्थ्यते स्त्रीसुरत्नम्[3] ॥ ७ ॥

110) कृष्णत्वं केशपाशे वपुषि च कृशतां नीचतां नाभिबिम्बे
वक्रत्वं भ्रूलतायामलककुटिलतां मन्दिमानं[4] प्रयाणे।
चापल्यं नेत्रयुग्मे कुचकलशयुगे कर्कशत्वं दधाना
चित्रं दोषानपि[5] स्त्री लसति[6] मुखरुचा ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥ ८ ॥

111) बाहुद्वन्द्वेन[7] मालां मलविकलतया पद्धतिं[8] स्वर्भवानां
हंसीं गत्यान्यपुष्टां मधुरवचनतो नेत्रतो[10] मार्गभार्याम्[11]।
सीतां शीलेन कान्त्या शिशिरकरतनुं क्षान्तितो भूतधात्रीं[12]
सौभाग्याद्या विजिग्ये गिरिपतितनयां रूपतः कामपत्नीम् ॥ ९ ॥

वैर्वैः दशशतभगताम् आप्तवान्। देवानाम् अपि इष्टा सा सुवदना कस्य नुः मनसि न वर्तते ॥ ६ ॥ यत् कामार्ति धुनीते, सुखम् उपचिनुते, प्रीतिम् आविष्करोति, अस्तदोषस्य सत्पात्राहारदानप्रभववरवृषस्य हेतुः, वंशाभ्युद्धारकर्तुः कान्तकीर्तेः तनुभुवः कारणं भवति तत् सर्वाभीष्टदात् स्त्रीसुरत्नं कथं न प्रार्थ्यते, प्रवदत ॥ ७ ॥ केशपाशे कृष्णत्वं, वपुषि कृशता, नाभिबिम्बे नीचत्वं, भ्रूलतायां वक्रत्वम्, अलककुटिलतां, प्रयाणे मन्दिमानं, नेत्रयुग्मे चापल्यं, कुचकलशयुगे कर्कशत्वं च (एतान्) दोषान् दधाना अपि स्त्री मुखरुचा ध्वस्तदोषाकर (दोषां रात्रिं करोतीति दोषाकरश्चन्द्रः, पक्षे दोषाणामाकरः खनिः) श्रीः लसति चित्रम् ॥ ८ ॥ या बाहुद्वन्द्वेन मालां, मलविकलतया स्वर्भवानां पद्धतिं (सुराणा मार्गम् आकाशम्), गत्या हंसीं, मधुरवचनतः अन्यपुष्टां, नेत्रतः मार्गभार्यां (मृगीं), शीलेन सीतां, कान्त्या शिशिर-

---

जो स्त्रीरूप उत्तम रत्न मनुष्यकी कामपीड़ाको नष्ट करता है, सुखको उत्पन्न करता है, प्रेमको प्रगट करता है, उत्तम पात्रको दिये जानेवाले आहारदानसे उत्पन्न होनेवाले निर्दोष धर्मका कारण है तथा वंशकी रक्षा करनेवाले ऐसे निर्मल कीर्तिके धारक पुत्रका कारण है; कहिये कि उस इच्छित सब वस्तुओंके देनेवाले स्त्रीरूप रत्नकी प्रार्थना कैसे नहीं की जाती है! अर्थात् उसकी सब ही जन अभिलाषा करते हैं ॥ ७ ॥ स्त्री बालोंके समूहमें कालेपनको, शरीरमें दुर्बलताको (कमरमें पतलेपनको), नाभिमें नीचता (गहरेपन) को भौंहोंमें तिरछेपनको, बालोंमें कुटिलता (घुंघरालेपन) को, गमनमें मन्दताको, नेत्रयुगलमें चंचलताको और दोनों स्तनोंमें कठोरताको; इन दोषोंको धारण करती है। फिर भी वह अपने मुखकी कान्तिसे चन्द्रमाकी कान्तिको जीतनेवाली समझी जाती है, यह आश्चर्यकी बात है। श्लेष रूपमें यहां यह भी प्रगट किया गया है कि अनेक दोषोंको धारण करनेसे वह स्त्री दोषाकर दोषोंकी (खानि) है। इसीलिये वह दोषाकर (दोषोंकी खानीभूत, रात्रिको करनेवाले चन्द्र) की कान्तिको तिरस्कृत करती है। अभिप्राय यह कि जो श्यामता आदि लोकमें दोष माने जाते हैं वे स्त्रीमें संश्लिष्ट होकर गुणरूप परिणमते हैं—इनसे कामी जनकी दृष्टिमें उसकी सुन्दरता बढ़ती है ॥ ८ ॥ जिस स्त्रीने दोनों भुजाओंसे मालाको, निर्मलतासे देवोंके मार्गस्वरूप आकाशको, गमनसे हंसीको, मधुर भाषणसे कोयलको, नेत्रोंसे मृगकी स्त्री (मृगी) को, शील गुणसे सीताको, कान्तिसे चन्द्रमाके शरीरको,

---

१ स °मुद्धार°। २ स °कीर्ति°। ३ स स्त्रीसुरत्नं, °सुरत्नं। ४ स मंदमानं, मंदमाने, मंदिमाणं। (Gloss: गजगमन।) ५ स दोषादपि। ६ स लशति। ७ स om. बाहुद्वंद्वेन। ८ स पद्धतीं। ९ स °पुष्टं। १० स नेत्रयो। ११ स मार्ग्गभार्जा, मार्ग्गभार्या। १२ स धूतधात्री।

112) वक्षोजौ कठिनौ न वाग्विरचना मन्दा गतिर्नो मति-
र्वक्रं[1] भ्रूयुगलं मनो न जठरं क्षामं नितम्बौ[2] न च ।
युग्मं लोचनयोश्चलं न चरितं कृष्णाः कचा नो गुणा
नीचं नाभिसरोवरं न रमणं यस्या मनोज्ञाकृतेः ॥ १० ॥

113) स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः सुरनतचरणो जायते ऽबाधबोध-
स्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहितकथकं[5] मोक्षमार्गावबोधः ।
तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदुरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं
बुद्ध्वैवं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकरणीं सज्जनः स्वीकरोति ॥ ११ ॥

करतनुं, क्षान्तितः भूतधात्रीं, सौभाग्यात् गिरिपतितनयां, रूपतः कामपत्नीं वि जिग्ये ॥ ९ ॥ मनोज्ञाकृतेः यस्याः वक्षोजौ कठिनौ, वाग्विरचना न । गतिः मन्दा, मतिः न । भ्रूयुगलं वक्रं, मनः न । जठरं क्षामं, नितम्बौ न । लोचनयोः युग्मं चलं चरितं न । कचाः कृष्णाः गुणाः नो । नाभिसरोवरं नीचं रमणं न ॥ १० ॥ स्त्रीतः सुरनतचरणः सर्वज्ञनाथः अबाधबोधः जायते । तस्मात् जनहितकथकं श्रुताख्यं तीर्थम् । तस्मात् मोक्षमार्गावबोधः । तस्मात् भवदुरिततते: विनाशः

क्षमासे पृथिवीको, सौभाग्यसे पार्वतीको तथा सुन्दरता से कामकी पत्नी रतिको भी जीत लिया है; इसके अतिरिक्त मनोहर आकार को धारण करनेवाली जिस स्त्रीके केवल स्तन ही कठोर रहते हैं, न कि वचन-प्रबन्ध; जिसकी केवल गति ही धीमी होती है, न कि बुद्धि; जिसकी केवल दोनों भौंहें कुटिल होती हैं, न कि मन; जिसका केवल उदर कृश रहता है, न कि दोनों नितम्ब; जिसके दोनों नेत्र ही चंचल रहते हैं, न कि चरित्र; जिसके केवल बाल काले होते हैं, न कि गुण; तथा जिसका नाभिरूप तालाब नीच (गहरा) होता है, न कि रमण (रमना)। उस स्त्रीसे जिनके चरणोंमें देवगण नमस्कार करते हैं तथा जो निर्बाध ज्ञान (अनन्त ज्ञान) के धारक होते हैं ऐसे सर्वज्ञनाथ (तीर्थंकर) जन्म लेते हैं, उनसे प्राणियोंके लिये हितकर कहनेवाला श्रुत नामका तीर्थ प्रगट होता है, उस श्रुततीर्थसे मोक्षमार्गका ज्ञान प्राप्त होता है उस मोक्षमार्गके स्वरूपको जान लेनेसे संसारके बढ़ानेवाले पापसमूहका नाश होता है, और फिर इससे निर्बाध सुख (मोक्ष-सुख) प्राप्त होता है। इस प्रकार उस पवित्र स्त्रीको परम्परासे मोक्षसुखकी कारणीभूत जान करके सत्पुरुष स्वीकार करता है ॥ विशेषार्थ–प्राणीका हित निर्बाध शाश्वतिक सुखकी प्राप्तिमें है, वह सुख ज्ञानावरणादिरूप कर्मोंके बन्धनसे छुटकारा पा जानेपर ही मिल सकता है, उक्त कर्मोंके बन्धनसे प्राणी तब ही छूट सकता है जब कि उसे मोक्षमार्गका यथार्थ ज्ञान हो, वह मोक्षमार्गका ज्ञान श्रुततीर्थ (आगम) से प्राप्त होता है, इस श्रुत-तीर्थकी उत्पत्ति जिनेन्द्र देवसे होती है, और उन जिनेन्द्र देवको जन्म देनेवाली वह पवित्र स्त्री ही होती है। इस प्रकार उस सुखकी प्राप्तिका कारण परम्परासे वह स्त्री ही है। इसीलिये सज्जन पुरुष उसे स्वीकार करके आत्मकल्याणके मार्गमें प्रवृत्त होते हैं। परन्तु यह खेदकी बात है कि कामी जन उसकी इस पवित्र-ताको भूलकर केवल उसके निन्द्य शरीरमें ही अनुरक्त होते हुए उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं ॥ ९–११ ॥

---

१ स वक्त्रं । २ स नितम्बो । ३ स नवा । ४ स सुरणत° । ५ स °कथ्थकं ।

114) भृत्यो मन्त्री विपत्तौ भवति रतिविधौ यात्र वेश्या विदग्धा
लज्जालुर्या विनीता गुरुजनविनता गेहिनी गेहकृत्ये ।
भक्ता पत्यौ सखी या स्वजनपरिजने धर्मकर्मैकदक्षा
साल्पक्रोधाल्पपुण्यैः सकलगुणनिधिः प्राप्यते स्त्री न मर्त्यैः ॥ १२ ॥

115) कृत्याकृत्ये न वेत्ति त्यजति गुरुवचो नीचवाक्यं करोति
लज्जालुत्वं जहाति व्यसनमतिमहद्गाहते निन्दनीयम् ।
यस्यां सक्तो मनुष्यो निखिलगुणरिपुर्माननीयो ऽपि लोके
सानर्थानां निधानं वितरति युवतिः किं सुखं देहभाजाम् ॥ १३ ॥

116) शश्वन्मायां करोति स्थिरयति न मनो मन्यते नोपकारं
या वाक्यं वक्त्यसत्यं मलिनयति कुलं कीर्तिवल्लीं लुनाति ।
सर्वारम्भैकहेतुर्विरतिसुखरतिध्वंसिनी निन्दनीया
तां धर्मारामभङ्क्त्रीं भजति न मनुजो मानिनीं मान्यबुद्धिः ॥ १४ ॥

अस्मात् विमाध सौख्यम्। एवं बुद्ध्वा सज्जनः शिवसुखकरणीं पवित्रां स्त्रीं स्वीकरोति ॥ ११ ॥ अत्र या विपत्तौ भृत्यः मन्त्री (वा), रतिविधौ विदग्धा वेश्या, या गुरुजनविनता लज्जालुः विनीता, गेहकृत्ये गेहिनी, पत्यौ भक्ता, स्वजनपरिजने सखी, या धर्मकर्मैकदक्षा, अल्पक्रोधा, सकलगुणनिधिः भवति, सा स्त्री अल्पपुण्यैः मर्त्यैः न प्राप्यते ॥ १२ ॥ लोके माननीयः अपि मनुष्यः यस्यां सक्तः निखिलगुणरिपुः (सन्) कृत्याकृत्ये न वेत्ति, गुरुवचः त्यजति, नीचवाक्यं करोति, लज्जालुत्वं जहाति, अतिमहत् निन्दनीयं व्यसनं गाहते, सा अनर्थानां निधानं युवतिः देहभाजां सुखं वितरति किम् ॥ १३ ॥ या शश्वत् माया करोति, मनः न स्थिरयति, उपकार न मन्यते, असत्यं वाक्यं वक्ति, कुलं मलिनयति, कीर्ति-वल्लीं लुनाति, सर्वारम्भैकहेतुः, विरतिसुखरतिध्वंसिनी, निन्दनीया (अस्ति) तां धर्मारामभङ्क्त्रीं मानिनीं मान्यबुद्धिः

जो स्त्री यहां आपत्तिके समयमें दासीके समान पतिकी सेवा करती है, संकटके समयमें मंत्रीके समान पतिके साथ योग्यायोग्यका विचार करती है, विषयभोगके समयमें चतुर वेश्याके समान पतिको आनन्दित करती है, लज्जाशील होती है, विनम्र रहती है, गुरुजनोंका आदर करती है, घरके कार्यमें योग्य गृहिणी (गृहस्वामिनी) के समान चतुर होती है, पतिके विषयमें अनुराग करती है, कुटुम्बी जन और दासी-दास आदि अन्य जनोंके विषयमें मित्रतापूर्ण व्यवहार करती है, धर्मकार्यमें अतिशय निपुण होती है, तथा जो प्रतिकूल व्यवहारमें किंचित् ही कभी क्रोधको प्रगट करती है; ऐसी समस्त गुणोंकी स्थानभूत उस स्त्रीको साधारण पुण्यवाले मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकते हैं—किन्तु विशेष पुण्यात्मा पुरुष ही उसे प्राप्त करते हैं ॥१२ ॥ लोक में प्रतिष्ठित मनुष्य भी जिस स्त्रीमें आसक्त होकर समस्त गुणोंका शत्रु होता हुआ कार्य व अकार्यका विचार नहीं करता है, महापुरुषोंके वचनका उल्लंघन करता है, निन्द्य वाक्यको बोलता है, लज्जाशीलताको छोड़कर निर्लज्ज बन जाता है, तथा निन्दनीय महान् दुर्व्यसनका सेवन करता है, वह समस्त अनर्थों (दोषों) की स्थानभूत युवति स्त्री क्या प्राणियोंको सुख दे सकती है ? अर्थात् कभी नहीं दे सकती है ॥ १३ ॥ जो निन्दनीय स्त्री निरन्तर कपटपूर्ण व्यवहार करती है, मनको स्थिर नहीं करती है—चंचलचित्त रहती है, उपकारको नहीं मानती है, असत्य वचन बोलती है, कुलको कलंकित करती है, कीर्तिरूप लताको काटती है, समस्त आरम्भोंकी अद्वितीय कारण है, तथा संयमजनित सुखके अनुरागको नष्ट करती है, धर्मरूप उद्यानको

---

१ स यत्र। २ स विगीता। ३ स गेहनी। ४ स भक्त्या। ५ स यस्या शक्तो, यस्याः शक्तो। ६ स °रिपोर्माननीयो। ७ स सानर्थाना। ८ स वितरतु। ९ स °विंतरतिसुखं°। १० स रतिध्वं (°भ्रं°)। ११ स भंक्तीं।

117) या विश्वासं नराणां जनयति शतधालीकजल्पप्रपञ्चै-
र्न प्रत्येति स्वयं तु व्यपहरति गुणानेकदोषेण सर्वान् ।
कृत्वा दोषं विचित्रं रचयति निकृतिं चात्मकृत्यैकनिष्ठां
तां दोषाणां धरित्रीं रमयति रमणीं मानवो नो वरिष्ठः ॥ १५॥

118) उद्यज्ज्वालावलीभिर्वरमिह भुवनप्लोषके हव्यवाहे
रङ्गद्वीचौ प्रविष्टं जलनिधिपयसि ग्राहनक्राकुले वा ।
संग्रामे वारिरौद्रे विविधशरहतानेकयोधप्रधाने
नो नारीसौख्यमध्ये भवशतजनितानन्तदुःखप्रवीणे ॥ १६ ॥

119) विद्युद्द्योतेन रूपं रजनिषु तिमिरे वीक्षितुं शक्यते यैः
पारं गन्तुं भुजाभ्यां विविधजलचरक्षोभिणां वारिधीनाम् ।
ज्ञातुं चारोऽमितानां वियति विचरतां ज्योतिषां मण्डलस्य
नो चित्तं कामिनीनामिति कृतमतयो दूरतस्तास्त्यजन्ति ॥ १७ ॥

मनुजः न भजति ॥ १४ ॥ या शतधा अलीकजल्पप्रपञ्चैः नराणां विश्वास जनयति। स्वयं तु न प्रत्येति। एकदोषेण सर्वान् गुणान् व्यपहरति। या विचित्रं दोषं कृत्वा निकृतिं रचयति। वरिष्ठः मानवः आत्मकृत्यैकनिष्ठां, दोषाणां धरित्रीं, ता रमणीं नो रमयति ॥ १५ ॥ इह उद्यज्ज्वालावलीभिः भुवनप्लोषके (लोकदाहके) हव्यवाहे प्रविष्टं वरम्। वा रङ्गद्वीचौ ग्राहनक्राकुले जलनिधिपयसि प्रविष्टं वरम्। वा विविधशरहतानेकयोधप्रधाने अरिरौद्रे संग्रामे प्रविष्टं वरम्। परं भवशतजनितानन्तदुःखप्रवीणे नारीसौख्यमध्ये प्रविष्टं नो वरम् ॥ १६ ॥ यैः रजनिषु तिमिरे विद्युद्द्योतेन रूपं वीक्षितुं शक्यते, यैः भुजाभ्या विविधजलचरक्षोभिणां वारिधीना पारं गन्तुं शक्यते, यैः वियति विचरताम् अमितानां ज्योतिषां मण्डलस्य चारः ज्ञातुं शक्यते, (तैः) कामिनीनां चित्तं (ज्ञातुं) नो (शक्यते)। अतः कृतमतयः ताः दूरतः त्यजन्ति ॥ १७ ॥

नष्ट करनेवाली अभिमानिनी उस स्त्रीका सेवन निर्मलबुद्धि मनुष्य कभी नहीं करता है ॥ १४ ॥ जो स्त्री सैकड़ों प्रकारके झूठ वचनोंको बोलकर मनुष्योंको विश्वास उत्पन्न कराती है, परन्तु स्वय उनका विश्वास नहीं करती है; जो एकही दोषसे समस्त गुणोंको नष्ट करती है, अनेक प्रकारके दोष (अपराध) को करके कपटताका व्यवहार करती है, तथा जो अपने कार्यमें दृढ रहती है उस समस्त दोषोंकी खानिभूत स्त्रीको कोई भी श्रेष्ठ मनुष्य नहीं रमाता है ॥ १५ ॥ संसारमें उत्पन्न हुई अपनी ज्वालाओंके समूहसे लोकको भस्म कर देनेवाली अग्निमें प्रवेश करना अच्छा है, जिसमें बड़ी बड़ी लहरें उठ रही हैं तथा जो मगर व घड़ियाल आदि हिंसक जलजन्तुओंसे भयको उत्पन्न करनेवाला है ऐसे समुद्रके जलमें प्रवेश करना अच्छा है, अथवा जहां नाना प्रकारके बाणों (शस्त्रों) के द्वारा अनेक शूरवीर मारे जा रहे हों ऐसे शत्रुओंसे भयानक युद्धमें भी प्रवेश करना अच्छा है; परन्तु सैकड़ों भवोंमें अनन्त दुखको उत्पन्न करनेवाले स्त्रीसुखके मध्यमें प्रवेश करना अच्छा नहीं है। [तात्पर्य यह कि स्त्रीजन्य सुख उपर्युक्त जाज्वल्यमान अग्नि आदिसे भी भयानक है] ॥ १६ ॥ जो जन रात्रिके समय अंधेरेमें बिजलीके प्रकाशसे रूपको देख सकते हैं, जो अनेक जलचर जीवोंसे क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रोंको भुजाओंसे तैरकर पार जा सकते हैं, तथा जो आकाशमें संचार करनेवाले अगणित ज्योतिषियोंके मण्डलके संचारको जान सकते हैं; वे भी स्त्रियोंके चित्तको—उनके मनोगत भावको—नहीं जान सकते हैं।

---

१ स जन्म। २ स °कृतैं°। ३ स रमणं। ४ स° नक्राद्रुवेला। ५ स योधा। ६ स विद्युतघातेन ७ स °क्षोभिनां। ८ स कृति°।

120) कात्र श्रीः श्रोणिबिम्बे स्रवदुदरपुरोवास्ति खद्वारवाच्ये
लक्ष्मीः का कामिनीनां कुचकलशयुगे मांसपिण्डस्वरूपे ।
का कान्तिर्नेत्रयुग्मे जलकलुषभुषि श्लेष्मरक्तादिपूर्णे
का शोभावर्तगर्ते निगदत यदहो मोहिनस्ताः स्तुवन्ति ॥ १८ ॥

121) वक्त्रं लालाद्यवद्यं सकलरसभृता स्वर्णकुम्भद्वयेन
मांसग्रन्थी स्तनौ च प्रगलदुरुमला स्यन्दनाङ्गेन योनिः ।
निर्गच्छद् दूषिकास्रं यदुपमितमहो पद्मपत्रेण नेत्रं
तच्चित्रं नात्र किंचिद्यदपगतमतिर्जायते कामिलोकः ॥ १९ ॥

122) यस्त्वङ्मांसास्थिमज्जाक्षतजरसवसाशुक्रधातुप्रवृद्धं
विष्ठामूत्रासृगश्रुप्रभृतिमलनवस्रोत्रमत्र त्रिदोषे ।
वर्चःसद्मोपमाने कृमिकुलनिलये ऽत्यन्तबीभत्सरूपे
रज्यत्यङ्गे वधूनां व्रजति गतमतिः श्वभ्रगर्ते कृमित्वम् ॥ २० ॥

अत्र कामिनीनां स्रवदुदरपुरौ खद्वारवाच्ये श्रोणिबिम्बे का श्रीः अस्ति। मांसपिण्डस्वरूपे कुचकलशयुगे का लक्ष्मीः। जलकलुषभुषि नेत्रयुग्मे का कान्तिः। श्लेष्मरक्तादिपूर्णे आवर्तगर्ते का शोभा अस्ति। अहो निगदत। यत् मोहिनः ताः स्तुवन्ति ॥ १८ ॥ लालाद्यवद्यं वक्त्रं सकलरसभृता (चन्द्रेण), मांसग्रन्थी स्तनौ स्वर्णकुम्भद्वयेन, प्रगलदुरुमला योनिः स्यन्दनाङ्गेन, निर्गच्छद्दूषिकास्र (निर्गच्छन्ती दूषिका नेत्रयोर्मलः अस्राभ्यां कोणाभ्यां यस्य तत्। अथवा दूषिका च अस्राणि–अश्रूणि च दूषिकास्राणि। निर्गच्छन्ति दूषिकास्राणि यस्मात् तत्।) नेत्रं पद्मपत्रेण उपमितम्। तत् अत्र किंचित् चित्रं न। यत् कामिलोकः अपगतमतिः जायते ॥ १९ ॥ यत् त्वङ्मांसास्थिमज्जाक्षतजरसवसाशुक्रधातुप्रवृद्धं विष्ठामूत्रासृगश्रुप्रभृतिमलनवस्रोत्रं (वर्तते) वधूनां त्रिदोषे वर्चःसद्मोपमाने कृमिकुलनिलये अत्यन्तबीभत्सरूपे अत्र अङ्गे

इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य उनका दूरसे ही परित्याग करें ॥ १७ ॥ यहां स्त्रियोंके उस श्रोणिबिम्ब (योनि) में, जो कि निरन्तर मध्यसे अधिक रुधिर आदिको बहाता रहता है तथा जो इन्द्रियद्वार शब्दसे कहा जाता है, कौन-सी शोभा है; उनके मांसके पिण्डभूत दोनों स्तनरूप घटोंमें कौन-सी लक्ष्मी है; मलिन जल (अश्रु) से संयुक्त उनके दोनों नेत्रोंमें कौन-सी कान्ति है; तथा कफ व रुधिर आदिसे पूर्ण उनके आवर्तगर्तमें–मुखरूप गड्ढेमें–कौन-सी शोभा है; यह बतलाइये जिससे कि अज्ञानी जन उनके इन अवयवोंकी प्रशंसा करते हैं। [अभिप्राय यह है कि स्त्रीके ये सब अवयव केवल घृणित रुधिर एवं मल-मूत्रादिके ही स्थान हैं, फिर भी कामी जन मोहके वशीभूत होकर उन्हें शोभायुक्त बतलाते हैं, यह आश्चर्यकी बात है] ॥ १८ ॥ कामी जन जो स्त्रियोंके लार आदिसे दूषित मुखको पूर्ण चन्द्रमाकी, मांसकी गांठोंरूप दोनों स्तनोंको सुवर्णमय घटोंकी, अतिशय मलको निकालनेवाली योनिको रथके पहियेकी तथा कोनोंसे कीचड़को निकालनेवाले नेत्रको कमल-पत्रकी उपमा देते हैं; इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। कारण यह कि कामान्ध जनोंकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ १९ ॥ जो स्त्रियोंका शरीर चमड़ा, मांस, हड्डी, मज्जा, रुधिर, रस, वसा (चर्बी) और वीर्य इन धातुओंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है; जो विष्ठा, मूत्र, रक्त और अश्रु आदि नौ प्रकारके मलको बहानेवाला है; जो वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे सहित है, जो पुरीषालय (संडास) की उपमाको धारण करता है, जो कीड़ोंके समूहका घर है, तथा जो अतिशय घृणाको उत्पन्न करनेवाला है; ऐसे उस स्त्रियोंके शरीरमें अनुराग

---

१ स °पुरोवास्ति°। २ स °खटद्वार°। ३ स कुचवाकश। ४ स जलुषयुषि, °कलुषिगलद्वाष्पकिद्दादि°, °वक्त्र-श्लेष्मादि°, द्वक्त्रस्ले°, वक्त्रश्ले°। ५ स शोभा वक्त्र°। ६ स तास्तवंसि। ७ स सकलशशिभृता, °शश°। ८ स स्यंदि° स्यंदनांगेन। ९ स निर्गच्छद्द्खिलास्रं, निर्गच्छद् दूस्विकाश्रं। १० स om. तच्चित्रं। ११ स °दपिगत°। १२ स °सगश्रु°। १३ स °श्रोत्र°। १४ स °निलयो। १५ स °त्स्वरूपे। १६ स रज्य°, रिप्यंअंगे।

123) छायावद्यो न वन्ध्याचिररुचिचपला खड्गधारेव तीक्ष्णा
बुद्धिर्वा लुब्धकस्य प्रतिहतकरुणा व्याधिवन्नित्यदुःखा ।
वक्रा वा सर्परीतिः कुनृपगतिरिवावद्यकृत्यप्रचारा
चित्रा वा शक्रचापं भवचकितबुधैः सेव्यते स्त्री कथं सा ॥ २१ ॥

124) संज्ञातो ऽपीन्द्रजालं यदुत युवतयो मोहयित्वा मनुष्या-
न्नानाशास्त्रेषु दक्षानपि गुणकलितं दर्शयन्त्यात्मरूपम् ।
शुक्रासृग्यातनाक्तं ततकुथितमलैः प्रक्षरत्स्रोत्रगर्तैः
सर्वैरुच्चारपुञ्जं कुथितजठरभृच्छिद्रितं यद्वत् ॥ २२ ॥

125) या सर्वोच्छिष्टवक्त्रा हितजनभषणी सद्गुणास्पर्शनीया
पूर्वाधर्मात्प्रजाता सततमलभृता निन्द्यकृत्यप्रवृत्ता ।
दानस्नेहा शुनीव भ्रमणकृतरतिश्चाटुकर्मप्रवीणा
योषा सा साधुलोकैरवगतजननैर्दूरतो वर्जनीया ॥ २३ ॥

रज्यन् गतमतिः (नरः) श्वभ्रगर्भे (विष्ठागर्तमध्ये) कृमित्वं व्रजति ॥ २० ॥ या छायावत् वन्ध्या न, अचिररुचि-चपला, खड्गधारेव तीक्ष्णा, लुब्धकस्य प्रतिहतकरुणा बुद्धिर्वा, व्याधिवत् नित्यदुःखा, वक्रा सर्परीतिः वा, कुनृपगतिरिव अवद्यकृत्यप्रचारा, शक्रचाप वा चित्रा सा स्त्री भवचकितबुधैः कथं सेव्यते ॥ २१ ॥ यदुत युवतयः संज्ञातः इन्द्रजालम् अपि (यतस्ता) अत्र नानाशास्त्रेषु दक्षान् अपि मनुष्यान् मोहयित्वा शुक्रासृग्यातनाक्तं ततकुथितमलैः सर्वैः स्रोत्रगर्तैः छिद्रितं कुथितजठरभृत् (कुथितभृतपटं) यद्वत् उच्चारपुञ्जं प्रक्षरत् आत्मरूपं गुणकलितं दर्शयन्ति ॥ २२ ॥ या सर्वोच्छिष्टवक्त्रा, हितजनभषणा (भषण बुक्कनं-कुक्कुरशब्द), सद्गुणास्पर्शनीया, पूर्वाधर्मात्प्रजाता, सततमलभृता, निन्द्य-कृत्यप्रवृत्ता, शुनीव दानस्नेहा, भ्रमणकृतरति, चाटुकर्मप्रवीणा सा योषा अवगतजननैः साधुलोकैः दूरतः वर्जनीया ॥ २३ ॥

करनेवाला मूर्ख मनुष्य विष्ठाके मध्यमें कृमि पर्यायको प्राप्त करता है ॥ २० ॥ जो स्त्री छायाके समान विफल नहीं है अर्थात् साथमें रहनेवाली है, जो बिजलीके समान चंचल है, तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण है, व्याधकी बुद्धिके समान दयासे रहित है, व्याधिके समान निरन्तर दुख देनेवाली है, सर्पके संचारके समान कुटिल है, कुत्सित राजाकी प्रवृत्तिके समान पापकार्यका प्रचार करनेवाली है, तथा जो इन्द्रधनुषके समान विचित्र रूपको धारण करती है, उस स्त्रीका संसारसे भयभीत हुए विद्वान् मनुष्य कैसे सेवन करते हैं? अर्थात् विद्वान् मनुष्योंको उस अहितकारक स्त्रीका परित्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥ अथवा युवति स्त्रियां नामसे इन्द्रजाल भी हैं; क्योंकि वे अनेक शास्त्रोंमें प्रवीण भी पुरुषोंको मोहित करके अपने उस रूपको गुणयुक्त दिखलाती हैं जो कि वीर्य, रुधिर एवं पीड़ासे संयुक्त तथा दुर्गन्धपूर्ण विपुल मलसे भरे हुए सब स्रोत्रगर्तों (श्रोत्रादि नौ द्वारों) के द्वारा मलसे परिपूर्ण छिद्रयुक्त वस्त्रके समान मलको बहानेवाले अपने स्वरूपको गुणयुक्त दिखलाया करती हैं॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार मलसे भरे हुए छिद्रयुक्त वस्त्रसे वह मल सदा चूता रहता है उसी प्रकार स्त्रियोंके नौ द्वारयुक्त शरीरसे भी निरन्तर रक्त, मल व मूत्र आदि बहता रहता है। फिर भी वे स्त्रियां विद्वान् मनुष्योंको भी मोहित करके अपने उस निन्द्य शरीरको गुणयुक्त एवं सुन्दर प्रगट करती हैं। यह उनकी प्रवृत्ति इन्द्रजालके समान कपटसे परिपूर्ण है। अत एव उनको नामसे इन्द्रजाल भी कहा जा सकता है॥ कारण कि इन्द्रजाल भी इसी प्रकार दर्शकोंको मुग्ध करके कुछ का कुछ दिखलाया करता है ॥ २२ ॥ जो स्त्री सबके द्वारा जूठे किये गये—सबसे चुम्बितमुखसे सहित है, जो हितैषी जनोंके ऊपर कुत्तेके समान भौंकती है—उनसे रुष्ट रहती है, गुणवान् मनुष्य जिसका स्पर्श करना भी योग्य नहीं समझते हैं, जो पूर्व पापसे स्त्री हुई है, निरन्तर मलसे पूर्ण रहती

---

१ स °वद्यानवद्या° २ स वध्या ३ स °चिरुरुचि°। ४ स °चपलां। ५ स प्रसहृत। ६ स °करणा, °करुणाव्या°। ७ स शुक्रोसृगयातनांत्तं, शुक्रासुग्घातनांत्तं। ८ स °गर्त्तैं, °गर्त्तैः °गर्तैः। ९ स °च्चारपुंजा। १० स कुथितभृत्जठरं°, कुथिततप°, कुथितभृतपटं°। ११ स °भुषणा°। १२ स मलकृता। १३ स °प्रवीणा।

126) दुःखानां या निधानं भवनमविनयस्यार्गला स्वर्गपुर्याः
श्वभ्रावासस्य[1] वर्त्म प्रकृतिरयशसः[2] साहसानां निवासः ।
धर्मारामस्य शस्त्री गुणकमलहिमं मूलमेनोद्रुमस्य[3]
मायावल्लीधरित्री[4] कथमिह वनिता सेव्यते सा विदग्धैः ॥ २४ ॥

127) श्रोणीसद्मप्रपन्नैः[5] कृमिभिरतिशयारुंतुदैस्तुद्यमाना
यत्पीडातो ऽतिदीना विदधति चलनं लोचनानां रमण्यः ।
तन्मन्यन्ते ऽतिमोहादुपहतमनसः सद्विलासं मनुष्या
इत्येतत्तथ्यमुच्चैरमितगतियतिप्रोक्तमाराधनातः[6] ॥ २५ ॥

इति[7] स्त्री [गुण] दोषविचारपञ्चविंशतिः ॥ ६ ॥

या दुःखानां निधानम्, अविनयस्य भवनं, स्वर्गपुर्याः अर्गला, श्वभ्रावासस्य वर्त्म, अयशसः प्रकृतिः, साहसानां निवासः, धर्मारामस्य शस्त्री, गुणकमलहिमम्, एनोद्रुमस्य मूल, मायावल्लीधरित्री सा वनिता इह विदग्धैः कथमिव सेव्यते ॥ २४ ॥ श्रोणीसद्मप्रपन्नैः अतिशयारुंतुदैः कृमिभिः तुद्यमानाः रमण्यः यत्पीडात् अतिदीनाः सत्यः लोचनानां चलनं विदधति, अतिमोहात् उपहतमनसः मनुष्याः तत् सद्विलासं मन्यन्ते । इत्येतत् उच्चैः तथ्यम् आराधनात् अमितगतियतिप्रोक्तम् ॥२५॥

॥ इति स्त्री (गुण) दोषविचारपञ्चविंशतिः ॥ ६ ॥

है, निन्द्य कार्यमें प्रवृत्त होती है, कुत्तीके समान दानमें स्नेह रखती है, इधर उधर घूमने–फिरनेमें आनन्दित रहती है, तथा जो चापलूसी (खुशामद) करनेमें चतुर होती है; ऐसी उस स्त्रीका संसारस्वरूपके जानकार साधुजन दूरसे ही परित्याग करें ॥ २३ ॥ जो स्त्री दुःखोंका भण्डार है, अविनयका घर है, स्वर्गरूप पुरीकी प्राप्तिमें अर्गला (बेंडा) के समान बाधक है, नरकनिवासका मार्ग (कारण) है, अपयशको उत्पन्न करनेवाली है, साहसोंका निवास है–निन्द्य कार्य करनेका साहस करती है, धर्मरूप उद्यानको नष्ट करनेमें शस्त्रका काम करनेवाली है, गुणोंरूप कमलोंको सुखानेके लिये तुषारके समान है, पापरूप वृक्षको स्थिर रखनेके लिये जड़के समान है, तथा मायारूप बेलिको उत्पन्न करनेके लिये पृथिवीके समान है; उस स्त्रीका सेवन यहां चतुर पुरुष कैसे करते हैं ! अर्थात् विद्वान् मनुष्योंको स्त्रीके ऊपर्युक्त स्वभावको जानकर उसका परित्याग करना चाहिये ॥ २४ ॥ स्त्रियोंके नेत्रोंमें जो चंचलता होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके योनिस्थानमें जो पीड़ाजनक कीड़े होते हैं उनसे पीड़ित हो करके ही मानो वे चंचल नेत्रोंसे देखा करती हैं । परन्तु उनके नेत्रोंकी इस चंचलताको अविवेकी मनुष्य अतिशय मोहके वशीभूत होकर उत्तम विलास समझते हैं । इस अतिशय सत्यको अमित गति मुनिने यहां आराधना (भगवती आराधना) से कहा है ॥ २५ ॥

इस प्रकार पचीस श्लोकोंमें स्त्रीके गुण – दोषोंका विचार समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

---

१ स °वासस्य । २ स °रपयशः । ३ स मूलमेनु° । ४ स वल्ली धरित्री । ५ स श्रोणीसम° । ६ स °प्रोक्तमाराधनात् । ७ स om. इति, इति स्त्रीदोषविचारमिदस समाप्तः, इति स्त्रीगुणदोषविचारः ।

[७. मिथ्यात्वसम्यक्त्वनिरूपणद्वापञ्चाशत्]

128) दुरन्तमिथ्यात्वतमोदिवाकरा विलोकिताशेषपदार्थविस्तराः ।
उशन्ति मिथ्यात्वतमो जिनेश्वरा यथार्थतत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणम् ॥ १ ॥

129) विमूढतैकान्तविनीतिसंशयप्रतीपताग्राहनिसर्गभेदतः ।
जिनैश्च मिथ्यात्वमनेकधोदितं भवार्णवभ्रान्तिकरं शरीरिणाम् ॥ २ ॥

130) परिग्रहेणापि युतांस्तपस्विनो वधे ऽपि धर्मं बहुधा शरीरिणाम् ।
अनेकदोषामपि देवतां जनस्त्रिमोहमिथ्यात्ववशेन भाषते ॥ ३ ॥

131) विबोधनित्यत्वसुखित्वकर्तृताविमुक्तितद्धेतुकृतज्ञतादयः ।
न सर्वथा जीवगुणा भवन्त्यमी भवन्ति चैकान्तदृशेति बुध्यते ॥ ४ ॥

दुरन्तमिथ्यात्वतमोदिवाकरा विलोकिताशेषपदार्थविस्तरा जिनेश्वरा मिथ्यात्वतमः यथार्थतत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणम् उशन्ति ॥ १ ॥ जिनैः च शरीरिणा भवार्णवभ्रान्तिकर मिथ्यात्वं विमूढता-एकान्त-विनीति--संशय-प्रतीपता ग्राह-निसर्गभेदतः अनेकधा उदितम् ॥ २ ॥ जनः त्रिमोहमिथ्यात्ववशेन परिग्रहेण युतान् अपि तपस्विनः, शरीरिणा बहुधा वधे ऽपि धर्मम्, अनेकदोषाम् अपि देवता भाषते ॥ ३ ॥ विबोध-नित्यत्व-सुखित्व-कर्तृतो-विमुक्ति-तद्धेतु-कृतज्ञतादयः

जो कठिनतासे नष्ट होनेवाले मिथ्यात्वरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान हैं तथा जिन्होंने समस्त पदार्थोंके विस्तारको जान लिया है ऐसे वे जिनेन्द्र देव मिथ्यात्वरूप अन्धकार को पदार्थोंके यथार्थस्वरूपके अश्रद्धानरूप बतलाते हैं। [अभिप्राय यह है कि जीवाजीवादि पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान न होना यह मिथ्यात्व कहलाता है] ॥ १ ॥ जो मिथ्यात्व प्राणियोंको संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण कराता है उसे जिन भगवान्ने अज्ञान, एकान्त, विनय, संशय, विपरीत, गृहीत और स्वभाव (अगृहीत) के भेदसे अनेक प्रकारका बतलाया है ॥ २ ॥ तीन मूढतारूप मिथ्यात्वके वशसे मनुष्य परिग्रहसे सहित भी जनोंको तपस्वी, बहुत प्रकारसे किये जानेवाले प्राणियोंके वधमें भी धर्म तथा अनेक दोषोंसे संयुक्त देवोंको भी यथार्थ देव बतलाया करता है । विशेषार्थ--लोकमूढता (धर्ममूढता) गुरुमूढता और देवमूढताके भेदसे मूढता तीन प्रकारकी है। इनमें धर्म मानकर यज्ञादिकमें प्राणियोंका वध करना, गंगा आदि नदियोंमें स्नान करना, हिमालयके बर्फमें गलकर प्राण देना और सती होनेके रूपमें अग्निमें जलना आदि कार्योंको लोकमूढता या धर्ममूढता कहा जाता है। जो आरंभ और परिग्रहसे सहित होकरके भी महत्त्वख्यापन करनेके लिये साधुका वेष धारण करते हैं उनकी गुरु समझ करके पूजा-भक्ति आदि करना गुरुमूढता कहलाती है। राग-द्वेषसे दूषित देवताओंको अभीष्टसिद्धिका कारण समझकर इसी आशासे उनकी उपासना करनेको देवमूढता कहते हैं। इन मूढताओंके रहनेपर कभी निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ ३ ॥ विज्ञान, नित्यत्व, सुखित्व, कर्तृत्वविमुक्ति--अकर्तृत्व (अथवा कर्तृत्व, विमुक्ति) और उस कर्तृत्वहेतुक कृतज्ञता (उपकारस्मरण) आदि ये सर्वथा जीवके गुण नहीं हैं--विवक्षाभेदके अनुसार वे कथंचित् जीवके गुण हैं और कथंचित् नहीं भी हैं; परन्तु एकान्तमिथ्या दृष्टि उन्हें सर्वथा ही जीवगुण मानता है ॥ विशेषार्थ--प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं। उनमेंसे प्राणीको जब जिस धर्मकी विवक्षा होती है तदनुसार ही वह अपेक्षाकृत वस्तुका वैसा स्वरूप मानता है। उदाहरणके रूपमें किसी एक ही व्यक्तिमें पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व एवं भागिनेयत्व आदि अनेक धर्म हैं। उनमेंसे जब जिसकी अपेक्षा होती है तदनुसार पिता-पुत्र आदिका व्यवहार किया जाता है। यही

---

१ स °त्वमनोदिवा°। २ स उसंति। ३ स वि (बि) मूढि। ४ स °विनीत°। ५ स धनेकमि°, धिनेक°, जिनैश्च°। ६ स °भ्रांत°। ७ स युतास्त°। ८ स वधो। ९ स धर्म्मे। १० स जना°। ११ स दयाः।

132) न धूयमानो भवति ध्वजः स्थिरो[1] यथानिलैर्देवकुलोपरिस्थितः ।
समस्तधर्मानिलधूतचेतनो[2] विनीतिमिथ्यात्वपरस्तथा नरः ॥ ५ ॥

133) समस्ततत्त्वानि न सन्ति सन्ति वा विरागसर्वज्ञनिवेदितानि वै ।
विनिश्चयः कर्मवशेन सर्वथा जनस्य संशीतिरुचेर्न जायते ॥ ६ ॥

134) पयो युतं[4] शर्करया कटूयते यथैव पित्तज्वरभाविते जने ।
तथैव तत्त्वं विपरीतमङ्गिनः प्रतीपमिथ्यात्वदृशो विभासते ॥ ७ ॥

135) प्रपूरितश्चर्मलवैर्यथाशनं न मण्डलश्चर्मकृतः समिच्छति ।
कुहेतुदृष्टान्तवचःप्रपूरितो[5] जिनेन्द्रतत्त्वं वितथं प्रपद्यते ॥ ८ ॥

अमी जीवगुणा. सर्वथा न भवन्ति । च एकान्तदृशा भवन्ति इति बुध्यते ॥ ४ ॥ यथा देवकुलोपरि स्थितः ध्वजः अनिलैः धूयमानः स्थिरः न भवति तथा विनीतिमिथ्यात्वपरः नरः समस्तधर्मानिलधूतचेतनः भवति ॥ ५ ॥ विरागसर्वज्ञनिवेदितानि समस्ततत्त्वानि सन्ति वा न सन्ति, इति कर्मवशेन संशीतिरुचेः जनस्य सर्वथा विनिश्चयः न वै जायते ॥ ६ ॥ यथैव पित्तज्वरभाविते जने शर्करया युतं पयः कटूयते तथैव प्रतीपमिथ्यात्वदृशः अङ्गिनः तत्त्वं विपरीतं विभासते ॥ ७ ॥ यथा चर्मकृतः चर्मलवैः प्रपूरितः मण्डलः अशनं न समिच्छति तथा कुहेतुदृष्टान्तवचःप्रपूरितः जनः जिनेन्द्रतत्त्वं वितथं प्रपद्यते ॥ ८ ॥

वस्तुस्वरूपकी यथार्थता है । परन्तु एकान्तमिथ्यादृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता है। उसकी प्रतीतिमें जिस समय जो धर्म आता है उसे ही वह सर्वथा उसका धर्म मान बैठता है। जैसे—जीव सर्वथा पूर्णज्ञानस्वरूप ही है अथवा सर्वथा नित्य ही है आदि । इससे उसे वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान व श्रद्धान नहीं हो पाता है और इसीलिये वह मोक्षमार्गसे दूर ही रहता है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार देवगृहके ऊपर स्थित ध्वजा वायुसे कम्पित होकर स्थिर नहीं रहती है—चंचल रहती है—उसी प्रकार विनयमिथ्यात्वके अधीन हुए प्राणीकी प्रतीति भी समस्त धर्मोंरूप वायुसे कम्पित होकर स्थिर नहीं रहती है। [अभिप्राय यह है कि विनयमिथ्यादृष्टि जीव देव—कुदेव, गुरु—कुगुरु और धर्म—कुधर्म आदिमें विवेक न करके सबको समानरूपसे ही मानता है और तदनुसार ही उनकी भक्ति आदि भी करता है] ॥ ५ ॥ मिथ्यात्वके उदयसे जिस मनुष्य के वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा निर्दिष्ट समस्त तत्त्व वैसे ही हैं अथवा नहीं हैं, ऐसा सन्देह बना हुआ है उसे तत्त्वका निश्चय सर्वथा नहीं हो पाता है। [अभिप्राय यह है कि वीतराग सर्वज्ञके द्वारा जो वस्तुस्वरूप बतलाया गया है वह वैसा ही है या नहीं है, ऐसी जिसके चलित प्रतिपत्ति (अस्थिरता) है उसे सांशयिक मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये] ॥ ६ ॥ जिस प्रकार पित्तज्वरसे पीड़ित मनुष्यको शक्करसे संयुक्त मीठा दूध कड़ुवा प्रतीत होता है, उसी प्रकार विपरीत मिथ्यादृष्टि प्राणीको भी वस्तुस्वरूप विपरीत ही प्रतिभासित होता है ॥ ७ ॥ जिस प्रकार चमड़ेके टुकड़ोंसे परिपूर्ण चमारका कुत्ता अन्नरूप भोजनकी इच्छा नहीं करता है उसी प्रकार खोटे हेतु (युक्ति) और उदाहरणरूप वचनोंसे परिपूर्ण पुरुष भी जिनेन्द्रद्वारा कथित यथार्थ वस्तुस्वरूपको अन्यथा स्वीकार करता है। [अभिप्राय यह है कि जो एकान्तवादी विद्वानोंकी कुयुक्तियों आदिसे प्रेरित होकर वस्तुस्वरूपको अन्यथा (अयथार्थ) स्वीकार करता है वह गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा जाता है] ॥ ८ ॥

---

१ स भजति ध्वजः (ज) स्थिति । २ स °धूम° । ३ स वि (वि°) नीत° । ४ स पयोयुतं ।
५ स °वचः प्र° ।

136) यथान्धकारान्धपटावृतो जनो विचित्रचित्रं न विलोकितुं क्षमः ।
यथोक्ततत्त्वं[1] जिननाथभाषितं[2] निसर्गमिथ्यात्वतिरस्कृतस्तथा ॥ ९ ॥

137) दयादमध्यानतपोव्रतादयो गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा[3] ।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगतं[4] यथा[5] पयः ॥ १० ॥

138) अवैति तत्त्वं सदसत्त्वलक्षणं विना विशेषं विपरीतरोचनः[6] ।
यदृच्छया मत्तवदस्तचेतनो जनो जिनानां वचनात्पराङ्मुखः ॥ ११ ॥

139) त्रिलोककालत्रयसंभवासुखं[7] सुदुःसहं यत्त्रिविधं विलोक्यते[8] ।
चराचराणां भवगर्तवर्तिनां[9] तदत्र मिथ्यात्ववशेन जायते ॥ १२ ॥

140) वरं विषं भुक्तमसुक्षयक्षमं[10][11] वरं वनं श्वापदवन्निषेवितम् ।
वरं कृतं वह्निशिखाप्रवेशनं नरस्य मिथ्यात्वयुतं न जीवितम् ॥ १३ ॥

यथा अन्धकारान्धपटावृतः जनः विचित्रचित्रं विलोकितुं न क्षमः तथा निसर्गमिथ्यात्वतिरस्कृतः जिननाथभाषितं यथोक्ततत्त्वं विलोकितुं न क्षमः ॥ ९ ॥ यथा रजोयुतालाबुगतं पयः (तथा) दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनः दयादम-ध्यानतपोव्रतादयः समस्ता गुणाः सर्वथा न भवन्ति ॥ १० ॥ जिनानां वचनात् पराङ्मुखः विपरीतरोचनः जनः अस्तचेतनः (सन्) मत्तवत् यदृच्छया विशेषं विना सदसत्त्वलक्षणं तत्त्वम् अवैति ॥ ११ ॥ यत् सुदुःसहं त्रिविधं त्रिलोक-कालत्रयसंभवासुखं भवगर्तवर्तिनां चराचराणां विलोक्यते तत् अत्र मिथ्यात्ववशेन जायते ॥ १२ ॥ असुक्षयक्षमं विषं भुक्तं वरम्। श्वापदवत् वनं निषेवितं वरम्। वह्निशिखाप्रवेशनं कृतं वरम्। नरस्य मिथ्यात्वयुतं जीवितं न वरम् ॥ १३ ॥

जिस प्रकार अंधेरेमें काले वस्त्रसे वेष्टित मनुष्य भीतरके अनेक प्रकारके चित्रको—अनेक वस्तुओं को—नहीं देख सकता है उसी प्रकार अगृहीत मिथ्यात्व से तिरस्कृत जीव जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए यथार्थ वस्तु-स्वरूपको नहीं देख सकता है। [तात्पर्य यह कि मिथ्यात्वके उदयसे जिसे योग्य उपदेश आदिके प्राप्त होनेपर भी वस्तुस्वरूपका यथार्थ श्रद्धान प्राप्त नहीं होता है उसे अगृहीतमिथ्यादृष्टि समझना चाहिये] ॥ ९ ॥ जिस प्रकार धूलियुक्त सूखी हुई तूंबड़ीमेंसे बीजोंके निकल जानेपर जो शेष धूलि रह जाती है उसे संयुक्त तूंबड़ीमें स्थित दूध नहीं रहता है—वह विकृत हो जाता है—उसी प्रकार दुर्विनाश मिथ्यात्वरूप धूलिसे दूषित आत्मामें दया, दम (इन्द्रियदमन) ध्यान, तप और व्रत आदि गुण भी सर्वथा नहीं रहते हैं ॥ १० ॥ विपरीतरुचि (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य विवेक से रहित होकर जिन भगवान्के वचनोंसे विमुख होता हुआ सत् व असत् स्वरूप पदार्थको पागलके समान विना किसी प्रकारकी विशेषताके ही मनमाने ढंगसे जानता है। [अभिप्राय यह कि जैसे पागल पुरुष अन्तरंग दृढ़ताके विना ही कभी माताको माता और कभी उसे पत्नी भी मानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी अन्तरंग विश्वासके विना कभी सत् पदार्थको सत् और कभी असत् तथा कभी असत् पदार्थको असत् और कभी उसे सत् भी मानता है] ॥ ११ ॥ संसाररूप गड्ढेमें रहनेवाले त्रस—स्थावर जीवों के जो तीन प्रकारका असह्य दुख (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) तीन लोक और तीन कालोंमें सम्भव दिखता है वह उस मिथ्यात्वके वशसे ही होता है ॥ १२ ॥ प्राणोंके संहारक विषका भक्षण करना अच्छा है, व्याघ्रादि हिंसक जीवोंसे व्याप्त वनमें रहना अच्छा है, तथा अग्निकी ज्वालामें प्रवेश करना भी अच्छा है; परन्तु मनुष्यका मिथ्यात्वके साथ जीवित रहना अच्छा नहीं है ॥ १३ ॥

---

१ स °तत्वलं। २ स °नाषितं। ३ स सर्व्वकाः। ४ स °रजोयुता°। ५ स व्ययाक पय। ६ स °लोचनः। ७ स °भवा सुखं। ८ स विलोच्यते। ९ स भवनार्त°, °गर्ति°, भवगभ° ?। १० स भक्त°। ११ स °क्षमा।

141) करोति दोषं न तमत्र केसरी न दन्दशूको न करी न भूमिपः ।
अतीव रुष्टो न च शत्रुरुद्धतो यमुग्रमिथ्यात्वरिपुः[1] शरीरिणाम् ॥ १४ ॥
142) दधातु धर्मं दशधा तु पावनं[2] करोतु[3] भिक्षाशनमस्तदूषणम् ।
तनोतु योगं[4] धृतचित्तविस्तरं तथापि मिथ्यात्वयुतो न मुच्यते ॥ १५ ॥
143) ददातु दानं बहुधा चतुर्विधं करोतु पूजामतिभक्तितो ऽर्हताम्[5] ।
दधातु शीलं[6] तनुतामभोजनं तथापि मिथ्यात्ववशो[7] न सिध्यति[8] ॥ १६ ॥
144) अवैतु[9] शास्त्राणि नरो विशेषतः करोतु चित्राणि तपांसि भावतः ।
अतत्त्वसंसक्त[10]मनास्तथापि नो विमुक्ति[11]सौख्यं गतबाधम[12]श्नुते ॥ १७ ॥
145) विचित्रवर्णाञ्चितचित्रमुत्तमं यथा गताक्षो न जनो विलोकते[13] ।
प्रदर्श्य[14]मानं न तथा प्रपद्यते[15] कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम्[16] ॥ १८ ॥
146) अभव्य[17]जीवो वचनं पठन्नपि जिनस्य मिथ्यात्वविषं न मुञ्चति ।
यथा विषं रौद्रविषो ऽति[18] पन्नगः सशर्करं चारु पयः पिबन्न[19]पि ॥ १९ ॥

उग्रमिथ्यात्वरिपुः शरीरिणां यं दोषं करोति, अत्र तं केसरी न करोति, न दन्दशूकः (सर्पः), न करी, न भूमिपः, न च अतीव रुष्टः उद्धतः शत्रुः करोति ॥ १४ ॥ मिथ्यात्वयुतः पावनं दशधा धर्मं दधातु । तु अस्तदूषणं भिक्षाशनं करोतु । धृतचित्तविस्तरं योगं तनोतु । तथापि (सः) न मुच्यते ॥ १५ ॥ मिथ्यात्ववशः चतुर्विधं दानं बहुधा ददातु । अतिभक्तितः अर्हतां पूजां करोतु । शीलं दधातु । अभोजनं तनुताम् । तथापि (सः) न सिध्यति ॥ १६ ॥ अतत्त्वसंसक्तमनाः नरः विशेषतः शास्त्राणि अवैतु । भावतः चित्राणि तपांसि करोतु । तथापि गतबाधं विमुक्तिसौख्यं नो अश्नुते ॥ १७ ॥ यथा गताक्षः जनः उत्तमं विचित्रवर्णाञ्चितचित्रं प्रदर्श्यमानम् (अपि) न विलोकते, तथा कुदृष्टिजीवः जिननाथशासनं न प्रपद्यते ॥ १८ ॥ यथा सशर्करं चारु पयः अति पिबन् अपि रौद्रविषः पन्नगः विषं न मुञ्चति तथा जिनस्य वचनं पठन्नपि

प्राणियोंके जिस दोषको तीव्र मिथ्यात्वरूप शत्रु करता है उसे यहां न सिंह करता है न सर्प करता है, न हाथी करता है, न राजा करता है, और न अतिशय क्रोधको प्राप्त हुआ बलवान् शत्रु भी करता है। [तात्पर्य यह कि प्राणियोंका सबसे अधिक अहित करनेवाला एक यह मिथ्यात्व ही है] ॥ १४ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव भलेही दस प्रकारके पवित्र धर्मको भी धारण करे, निर्दोष भिक्षाभोजनको भी करे, और मनको विस्तृत करके ध्यान भी करे; तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता है ॥ १५ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव बहुत प्रकारसे चार प्रकारका दान भी दे, अत्यन्त भक्तिसे जिनपूजा भी करे, शीलको भी धारण करे, और उपवास भी करे; तो भी वह सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥ तत्त्वश्रद्धानसे रहित मिथ्यादृष्टि मनुष्य विशेषरूपसे शास्त्रोंका परिज्ञान भले ही प्राप्त करले तथा भावसे अनेक प्रकारके तपोंका भी आचरण क्यों न करे, तो भी वह निर्बाध मोक्षसुखको नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ १७ ॥ जिस प्रकार अन्धा मनुष्य दिखलाये जानेवाले अनेक वर्णयुक्त उत्तम चित्रको नहीं देख सकता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान्के मतको नहीं देख सकता है--उनके द्वारा निर्दिष्ट वस्तुस्वरूपको स्वीकार नहीं करता है ॥ १८ ॥ जिस प्रकार भयानक विषसे संयुक्त सर्प शकरसहित उत्तम दूधको अतिशय पीकर भी विषको नहीं छोड़ता है उसी प्रकार अभव्य जीव जिनवाणीका अध्ययन करके भी मिथ्यात्वरूप विषको नहीं छोड़ता है। [तात्पर्य यह कि अभव्य जीवका मिथ्यात्व कभी नष्ट नहीं हो सकता है और इसीलिये उसे कभी मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती है] ॥ १९ ॥

---

१ स यस्त्वग्र°, यमुग्र°। २ स दशधातुपावनं। ३ स करोति। ४ स om योगं....करोतु। ५ स °तोर्हणं १६। ६ स शीलां। ७ स °वशो। ८ स शुद्ध्यति १७। ९ स अवैति। १० स °संशक्त°, °संलक्त°। ११ स विमुक्त°। १२ स °श्नुते १८॥ १३ स विलोक्यते। १४ स प्रदर्श°। १५ स प्रवर्तते। १६ स १९॥ १७ स अभाव्य°। १८ स °विषोपि, °विषो ऽपि। १९ स २०॥

147) भजन्ति नैकैकगुणं त्रयस्त्रयो द्वयं द्वयं च त्रयमेककः परः ।
इमेऽत्र सप्तापि भवन्ति दुर्दृशो यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिवर्जिताः ॥ २० ॥[4]

148) अनन्तकोपादिचतुष्टयोदये त्रिभेदमिथ्यात्वमलोदये तथा ।
दुरन्तमिथ्यात्वविषं शरीरिणामनन्तसंसारकरं प्ररोहति ॥ २१ ॥[7]

अभव्यजीवः मिथ्यात्वविषं न मुञ्चति ॥ १९ ॥ त्रयः एकैकगुणं न भजन्ति । त्रय. द्वय द्वयं च न भजन्ति । पर. एकक: त्रय न भजति । अत्र इमे सप्त अपि दुर्दृशः यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिवर्जिता भवन्ति ॥ २० ॥ अनन्तकोपादिचतुष्टयोदये तथा त्रिभेदमिथ्यात्वमलोदये (सति) शरीरिणाम् अनन्तसंसारकरं दुरन्तमिथ्यात्वविषं प्ररोहति ॥ २१ ॥ यथा तदुद्भव. कृमि:

तीन प्रकारके मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन आदि तीन गुणोंमेंसे किसी एक एकको नहीं मानते हैं। इनके अतिरिक्त तीन प्रकारके मिथ्यादृष्टि जीव उनमेंसे किन्हीं दो दो गुणोंको नहीं मानते हैं। अन्य एक मिथ्यादृष्टि उन तीनोंको ही स्वीकार नहीं करता है। यहां ये सातों ही मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्गके यथार्थ ज्ञानसे रहित हैं। विशेषार्थ–मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकतासे होती है, परन्तु कुछ मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे हैं जो इनमेंसे किसी एकको, दोको अथवा तीनोंको ही मोक्षके साधनभूत नहीं मानते हैं। यथा— १ एक मिथ्यादृष्टि वह है जो कि उपर्युक्त तीनों गुणोंमें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान इन दो गुणोंको मानता है, परन्तु वह सम्यक्चारित्र को मोक्षका साधक नहीं मानता है। २ दूसरा मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को तो स्वीकार करता है, किन्तु वह सम्यग्ज्ञानको स्वीकार नहीं करता है। ३ तीसरा मिथ्यादृष्टि, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको तो स्वीकार करता है, परन्तु वह सम्यग्दर्शनको स्वीकार नहीं करता है। ४ चतुर्थ मिथ्यादृष्टि वह है जो केवल सम्यग्दर्शनको ही मोक्षका साधक मानकर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका निषेध करता है। ५ पांचवां मिथ्यादृष्टि केवल सम्यग्ज्ञानको ही मोक्षका साधक मानकर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्य इन दोनोंका निषेध करता है। ६ छठा मिथ्यादृष्टि केवल सम्यक्चारित्रको ही मोक्षका साधक मानकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनोंका निषेध करता है। ७ सातवां मिथ्यादृष्टि उपर्युक्त उन तीनों ही गुणोंको मोक्षके साधनभूत नहीं मानता है। इस प्रकार ये सातों ही मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्गसे विमुख हैं। अतएव उनका परित्याग करना चाहिये ॥ २० ॥ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारका तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन प्रकारके मिथ्यात्वका भी उदय होनेपर प्राणियोंके अनन्त संसारको करनेवाला वह मिथ्यात्वरूप विष उत्पन्न होता है जिसको कि नष्ट करना अतिशय कठिन है॥ विशेषार्थ–प्राणीके जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियोंका (अनादि मिथ्यादृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वके विना पांचका ही) उदय रहता है तब तक उसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती है–तब तक वह मिथ्यादृष्टि रह कर अनन्त संसारमें परिभ्रमण करता है। और जब उसके इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है तब उसके औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है जिससे कि उसके संसारपरिभ्रमणका अन्त निकट आ जाता है ॥ २१ ॥ जिस प्रकार नीममें उत्पन्न हुआ कीड़ा दूध आदि न प्राप्त हो सकनेसे उनके स्वादसे अनभिज्ञ रहता है और इसीलिये उसको नीमका रस ही स्वादिष्ट प्रतीत होता है उसी प्रकार जिस जीवने कभी जिनेन्द्रके वचनरूप रसायनका अनुभव नहीं किया है उसे कुतत्त्व ही – मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा प्ररूपित

---

१ स नै (नै) कैकगुणत्रय। २ स om, द्वयं। ३ स दुर्दृशा, दुर्दृशो। ४ स २१॥ ५ स °दयो। ६ स यथा, ७ स २२॥

149) अलब्धदुग्धादिरसो रसावहं तदुद्भवो निम्बरसं कृमिर्यथा।
अदृष्टजैनेन्द्रवचोरसायनस्तथा कुतत्त्वं मनुते रसायनम्[2] ॥ २२ ॥[3]

150) ददाति दुःखं बहुधातिदुःसहं तनोति पापोपचयोन्मुखीं मतिम्।
यथार्थबुद्धिं विधुनोति[5] पावनीं करोति मिथ्यात्वविषं न किं नृणाम् ॥ २३ ॥[6]

151) अनेकधेति प्रगुणेन चेतसा विविच्य मिथ्यात्वमलं सदूषणम्।
विमुच्य जैनेन्द्रमतं सुखावहं भजन्ति भव्या भवदुःखभीरवः ॥ २४ ॥[8]

152) विमुक्तसंगादिसमस्तदूषणं विमुक्ततत्त्वाप्रतिपत्तिमुज्ज्वलम्।
वदन्ति सम्यक्त्वमनन्तदर्शना जिनेशिनो नाकिनुताङ्घ्रिपङ्कजाः ॥ २५ ॥[12]

153) परोपदेशेन शशाङ्कनिर्मलं नरो निसर्गेण तदा तदश्नुते।
क्षयं शमं मिश्रमुपागते मले यथार्थतत्त्वैकरुचेर्निषेधके[16] ॥ २६ ॥[17]

अलब्धदुग्धादिरस निम्बरस रसावहं मनुते तथा अदृष्टजैनेन्द्रवचोरसायन. जन॰ कुतत्त्वं रसायनं मनुते ॥ २२ ॥ मिथ्यात्वविषं नृणाम् अतिदुःसह बहुधा दुःख ददाति। मतिं पापोपचयोन्मुखां तनोति। पावनी यथार्थबुद्धि विधुनोति। तत् नृणां किं न करोति ॥ २३ ॥ भवदुःखभीरव जना प्रगुणेन चेतसा सदूषण मिथ्यात्वमलम् इति अनेकधा विविच्य विमुच्य च सुखावहं जैनेन्द्रमत भजन्ति ॥ २४ ॥ अनन्तदर्शना नाकिनुताङ्घ्रिपङ्कजा जिनेशिन. विमुक्तसगादि (शङ्कादि) समस्तदूषणं विमुक्ततत्त्वाप्रतिपत्तिम् उज्ज्वल सम्यक्त्व वदन्ति ॥ २५ ॥ यथार्थतत्त्वैकरुचे॰ निषेधके मले क्षयं, शमं, मिश्रम्

पदार्थका अयथार्थ स्वरूप ही – रसायन (हितकर औषध) प्रतीत होता है ॥ २२ ॥ मिथ्यात्वरूप विष मनुष्योंका क्या क्या अहित नहीं करता है ? अर्थात् वह उनका अनेक प्रकारसे अहित करता है– वह उन्हें अनेक प्रकारसे अत्यन्त असह्य दुखको देता है, उनकी बुद्धिको पापसंचयके उन्मुख करता है, तथा निर्मल यथार्थबुद्धिको नष्ट करता है ॥ २३ ॥ संसारके दुखसे डरनेवाले भव्य जीव इस प्रकार सरल चित्तसे बहुत दोषोंसे संयुक्त मिथ्यात्वरूप मलका अनेक प्रकारसे विचार करके उसे छोड़ देते हैं और सुखकारक जैन मतका आराधन करते हैं ॥ २४ ॥ जो अनन्तदर्शन (अनन्तचतुष्टय) से सहित हैं तथा जिनके चरणकमलोंमें देवगण नमस्कार करते हैं ऐसे वे जिनेंद्र देव निर्मल सम्यग्दर्शनको शंका आदि समस्त दोषोंसे तथा अतत्त्वश्रद्धानसे रहित बतलाते हैं ॥ विशेषार्थ — जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसके ये निम्न पच्चीस दोष हैं जिनके कि दूर करनेपर ही वह निर्मल रह सकता है – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ; ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद धनमद, तपमद, और रूपमद ये आठ मद; कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुभक्त, कुदेवभक्त और कुधर्मभक्त ये छह अनायतन; तथा धर्ममूढता, गुरुमूढता और देवमूढता ये तीन मूढतायें ॥ २५ ॥ तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको रोकनेवाले मलके – अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोहनीय तीन इन सात प्रकृतियोंके – क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमको प्राप्त होनेपर मनुष्य (जीव) परके उपदेशसे अथवा स्वभावसे ही चन्द्रके समान निर्मल उस सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है ॥ विशेषार्थ — यथार्थ तत्त्वश्रद्धानरूप वह सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका है – औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जो सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि उपर्युक्त सात प्रकृतियोंके उपशमसे प्राप्त होता है वह औपशमिक, जो उनके क्षयसे प्राप्त होता है वह क्षायिक, तथा जो उनके क्षयोपशमसे प्राप्त होता है वह क्षायोपशमिक, कहलाता है। इनके अतिरिक्त उसके ये दो भेद उत्पत्तिकी अपेक्षासे भी हैं–निसर्गज और अधिगमज। जो सम्यग्दर्शन परोपदेश आदिके विना पूर्व संस्कारसे स्वभावतःही उत्पन्न हो जाता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इसके विपरीत जो सम्यग्दर्शन परोपदेश

---

१ स °दुःखादि°। २ स रसायणं। ३ स २३॥ ४ स °न्मुखं, °त्सुखं। ५ स विधुनाति। ६ स २४॥ ७ स विवेच्य। ८ स २५॥ ९ स °शंका°, °संका°। १० स °तत्त्वप्र°। ११ स °तांहि°। १२ स २६॥ १३ स °श्नुता। १४ स समं। १५ स °मपागते। १६ स °षेधिके, °षेधको। १७ स २७॥

154) सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रसंपदः सुखेन सर्वा लभते भ्रमन् भवे[1] ।
अशेषदुःखक्षयकारणं परं न दर्शनं पावनमश्नुते जनः[2] ॥ २७ ॥

155) जनस्य यस्यास्ति विनिर्मला रुचिर्जिनेन्द्रचन्द्रप्रतिपादिते मते ।
अनेकधर्मान्विततत्त्वसूचके किमस्ति नो तस्य समस्तविष्टपे[3] ॥ २८ ॥

156) विधाय यो[5] जैनमतस्य रोचनं मुहूर्तमप्येकमथो विमुञ्चति ।
अनन्तकालं भवदुःखसंततिं न सोऽपि जीवो लभते कथंचन[4] ॥ २९ ॥

157) यथार्थतत्त्वं कथितं जिनेश्वरैः सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा ।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्यजीवो वितनोति दुर्मतिम्[7] ॥ ३० ॥

158) विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये यतौ निरस्ताखिलसंगसंगतौ ।
वृषे च हिंसारहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः ॥ ३१ ॥

उपागते सति नरः तदा परोपदेशेन निसर्गेण च शशाङ्कनिर्मलं तत् (सम्यग्दर्शनम्) अश्नुते ॥ २६ ॥ भवे भ्रमन् जनः सर्वाः सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रसंपदः सुखेन लभते। परम् अशेषदुःखक्षयकारणं पावनं दर्शनं न अश्नुते ॥ २७ ॥ यस्य जनस्य अनेकधर्मान्विततत्त्वसूचके जिनेन्द्रचन्द्रप्रतिपादिते मते विनिर्मला रुचिः अस्ति, समस्तविष्टपे तस्य किं नो अस्ति ॥ २८ ॥ यो जीवः एकं मुहूर्तम् अपि जैनमतस्य रोचनं विधाय अथो विमुञ्चति स अपि अनन्तकालं भवदुःखसंततिं कथंचन न लभते ॥ २९ ॥ भव्यजीवः सर्वशरीरिणां सदा सुखावहं जिनेश्वरैः कथितं यथार्थतत्त्वं कर्णे निधाय विहितार्थनिश्चयः सन् दुर्मतिं न वितनोति ॥ ३० ॥ जिनवाक्यभावितः विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये निरस्ताखिलसंगसंगतौ यतौ च महाफले हिंसारहिते वृषे हर्षं करोति ॥ ३१ ॥ सद्रुचिः भङ्गुरात्मना नारीजनचित्तसततिम् अपि जयत्सु भवार्णवभ्रान्तिविधान-

---

आदिके निमित्तसे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा जाता है। ॥ २६ ॥ प्राणी संसाररूप वनमें परिभ्रमण करता हुआ इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तीकी सब सम्पत्तियोंको तो सुखपूर्वक पा लेता है; परन्तु इस प्रकारसे वह समस्त दुःखोंको नष्ट करनेवाले पवित्र सम्यग्दर्शनको नहीं प्राप्त कर पाता है ॥ २७ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा निरूपित जो मत अनेक धर्मात्मक वस्तुस्वरूपको प्रगट करता है उसके विषयमें जो जीव निर्मल श्रद्धान करता है उसके पास इस समस्त लोकमें क्या नहीं है ? अर्थात् सब कुछ ही है ॥ २८ ॥ जो जीव एक मुहूर्तके लिये भी जैन मतके ऊपर श्रद्धा करके उसे छोड़ देता है वह भी किसी प्रकारसे अनन्त कालतक संसारदुखकी परम्पराको नहीं प्राप्त करता है ॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जिस जीवने एक अन्तर्मुहूर्तके लिये भी सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया है वह अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालके भीतर अवश्य ही मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। जहां कि वह अनन्त काल रहता है। किन्तु जिस अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको अभीतक एक-बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है उसके संसार पभ्ररिमणका अन्त नहीं है – वह अनन्त काल तक भी संसारमें परिभ्रमण कर सकता है ॥ २९ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा गया वस्तुका यथार्थ स्वरूप सब प्राणियोंको निरन्तर सुख देनेवाला है। जो भव्य जीव उसको सुन कर पदार्थका निश्चय करता है उसकी दुर्बुद्धि (अविवेक) नष्ट हो जाती है ॥ ३० ॥ जिनवचनके ऊपर विश्वास करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव वीतराग सर्वज्ञ देवके दोनों चरणकमलों, समस्त परिग्रहके संयोगसे रहित निर्ग्रन्थ गुरु और महान् फलदायक अहिंसा-रूप धर्मके विषयमें हर्ष (अनुराग) को धारण करता है ॥ ३१ ॥ जो संसार, शरीर और भोग संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण करानेवाले हैं, तथा जो विनश्वर स्वभावसे स्त्रीजनकी चित्तपरम्पराको भी जीतते हैं अर्थात् स्त्रीजनके चित्तके समान चंचल हैं उनके विषयमें सम्यग्दृष्टि जीव विरागताको धारण करता है – उनसे विरक्त

---

१ स भवे for परं। २ स २८ ॥ ३ स °तिष्टये, °विष्टये, °विष्टपो। ४ स २९ ॥ ५ स जो। ६ स °संगतिं। ७ स ३० ॥ ८ स व्यहिता°। ९ स ३१ ॥ १० स यतौ, यतो। ११ स °वाक्यभावितः। ३२ ॥

159) भवाङ्गभोगेष्वपि भङ्गुरात्मनो[1] जयत्सु नारीजनचित्तसंततिम् ।
भवार्णवभ्रान्ति[2]विधानहेतुषु विरागभावं विदधाति सद्रुचिः[3] ॥ ३२ ॥

160) कलत्रपुत्रादिनिमित्ततः क्वचिद्विनिन्द्यरूपे विहिते ऽपि कर्मणि ।
इदं[4] कृतं कर्म विनिन्दितं[5] सतां मयेति भव्यश्चकितो विनिन्दति ॥ ३३[6] ॥

161) गलन्ति दोषाः कथिताः कथंचन प्रतप्तलोहे पतितं यथा पयः[7] ।
न येषु[8] तेषां व्रतिनां स्वदूषणं निवेदयत्यात्महितोद्यतो[9] जनः ॥ ३४ ॥[10]

162) निमित्ततो भूतमनर्थकारणं च यस्य कोपादिचतुष्टयं स्थितिम्[11] ।
करोति रेखा पयसीव मानसे स शान्तभावो[12] ऽस्ति विशुद्धदर्शनः ॥ ३५ ॥[13]

163) विशुद्धभावेन विधूतदूषणं[14] करोति भक्तिं गुरुपञ्चके श्रुते ।
श्रुतान्विते जैनगृहे[15] जिनाकृतौ जिनेशतत्त्वैकरुचिः शरीरवान् ॥ ३६ ॥[16]

हेतुषु भवाङ्गभोगेषु विरागभाव विदधाति ॥ ३२ ॥ क्वचित् कलत्रपुत्रादिनिमित्ततः विनिन्द्यरूपे कर्मणि विहिते अपि मया सतां विनिन्दितम् इद कर्म कृतम् इति भव्यः चकित सन् विनिन्दति ॥ ३३ ॥ यथा प्रतप्तलोहे पतित पयः (तथा) कथिताः दोषाः कथंचन गलन्ति। आत्महितोद्यतो जनः, येषु दूषण न, तेषा व्रतिनां स्वदूषणं निवेदयति ॥ ३४ ॥ निमित्ततः भूतम् अनर्थकारणं कोपादिचतुष्टय यस्य मानसे, पयसि रेखा इव, स्थितिं न करोति सः शान्तभावः विशुद्धदर्शनः अस्ति ॥ ३५ ॥ जिनेशतत्त्वैकरुचि शरीरवान् विशुद्धभावेन विधूतदूषणं (यथा स्यात् तथा) गुरुपञ्चके, श्रुते, श्रुतान्विते, जैनगृहे, जिनाकृतौ भक्ति करोति ॥ ३६ ॥ गो. नवे तर्णके इव सुदर्शन. निरस्तमिथ्यात्वमले अतिपावने जिनाश्रिते

रहता है ॥ ३२ ॥ संसारके दुखसे भयभीत हुआ भव्य जीव (सम्यग्दृष्टि) यदि कदाचित् स्त्री और पुत्र आदिके निमित्तसे लोकनिन्द्य कार्य भी करता है तो वह 'मैंने यह सज्जनोंसे निन्दित खोटा कार्य किया है' इस प्रकारसे आत्मनिन्दा करता है॥ विशेषार्थ – यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव जिनदेव और उनके द्वारा प्ररूपित पदार्थस्वरूपके विषयमें पूर्णतया श्रद्धान करता है तथा वह संसार परिभ्रमणके दुखसे भयभीत भी रहता है तो भी चारित्रमोहमोहनीय (अप्रत्याख्यानावरण आदि) के वशीभूत होकर वह जब तब विषयजन्य सुखमें तथा तन्निमित्तक आरम्भादिमें भी प्रवृत्त होता है। परन्तु चूंकि वह हेयको हेय और उपादेयको उपादेय ही समझता है अत एव ऐसे कार्योंको करता हुआ भी वह निरन्तर आत्मनिन्दा किया करता है। इसी कारण वह पापसे सन्तप्त नहीं होता है॥ ३३ ॥ जिस प्रकार अतिशय तपे हुए लोहेके ऊपर गिरा हुआ पानी नष्ट हो जाता है उसी प्रकार गुरुसे कहे गये अपने दोष भी किसी न किसी प्रकारसे नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये आत्मकल्याण करनेमें उद्यत प्राणी जिन संयमी जनोंमें वह दूषण नहीं है उनसे अपने उस दोषको कहता है॥ ३४ ॥ जिस जीव के मनमें अनर्थकी कारणभूत क्रोधादि कषायें किसी निमित्तके वश उत्पन्न हो करके भी जलमें की जानेवाली रेखाके समान स्थितिको नहीं करती हैं वह शान्त स्वभाववाला जीव निर्मल सम्यग्दृष्टि होता है। [अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार जलमें की गई रेखा तत्काल ही नष्ट हो जाती है–स्थिर नहीं रहती है – उसी प्रकार निर्मल सम्यग्दृष्टि जीवके यदि कदाचित् किसी निमित्तविशेष को पाकर कषाय उत्पन्न होती भी है तो वह तत्कालही नष्ट हो जाती है–स्थिर नहीं रहती है] ॥ ३५ ॥ जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्ररूपित तत्त्वमें असाधारण रुचि रखनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव विशुद्ध परिणामोंसे दोषोंको नष्ट करके पांचों परमेष्ठी, श्रुत, श्रुतसे संयुक्त संयमी जन, जिनमन्दिर और जिनप्रतिमाके विषयमें भक्ति करता है॥ ३६ ॥

---

१ स °त्मन। २ स °भ्रांत°। ३ स सद्रुचि। ३२॥ ४ स इदं। ५ स विनिंदितां। ६ स ३४॥ ७ स पयः, पुन। ८ स नयेषु। ९ स °द्यते जन। १० स ३५॥ ११ स स्थितं, °चतुष्टयस्थितिं। १२ स सशान्त°। १३ स ३६॥ १४ स °दूषणां। १५ स जना°। १६ स ३७॥

164) चतुर्विधे धर्मिजने[1] जिनाश्रिते[2] निरस्तमिथ्यात्वमले ऽतिपावने ।
करोति वात्सल्यमनर्थनाशनं सुदर्शनो[3] गौरिव[4] तर्णके नवे[5] ॥ ३७[6] ॥

165) दुरन्तरोगोपहतेषु[7] संततं पुरार्जितैनोवशतः[8] शरीरिषु ।
करोति सर्वेषु[9] विशुद्धदर्शनो दयां परामस्तसमस्तदूषणः[10] ॥ ३८[11] ॥

166) विशुद्धमेवंगुणमस्ति[12] दर्शनं[13] जनस्य यस्येह[14] विमुक्तिकारणम् ।
व्रतं विनाप्युत्तममञ्चितं सतां स[15] तीर्थकृत्त्वं लभते ऽ[16]तिपावनम् ॥ ३९[18] ॥

167) दमो दया[19] ध्यानमहिंसनं तपो जितेन्द्रियत्वं विनयो नयस्तथा ।
ददाति नो[20] तत्फलमङ्गधारिणां[21] यदत्र सम्यक्त्वमनिन्दितं धृतम् ॥ ४०[22] ॥

168) वरं निवासो नरके ऽपि देहिनां विशुद्धसम्यक्त्वविभूषितात्मनाम् ।
दुरन्तमिथ्यात्वविषोपभोगिनां न देवलोके वसतिर्विराजते ॥ ४१ ॥

चतुर्विधे धर्मिजने अनर्थनाशन वात्सल्य करोति ॥ ३७ ॥ अस्तसमस्तदूषण · विशुद्धदर्शन · पुराजितनोवशत : सर्वेषु दुरन्त रोगोपहतेषु शरीरिषु संतत परा दया करोति ॥ ३८ ॥ यस्य जनस्य व्रत विनापि एवगुणं विमुक्तिकारणं विशुद्धं दर्शनम् अस्ति सः उत्तमं सुपावनं सताम् अञ्चितं तीर्थकृत्त्व लभते ॥ ३९ ॥ अत्र अङ्गधारिणा धृतम् अनिन्दितं सम्यक्त्वं यत्फलं ददाति तत्फलं दम , दया, ध्यानम् , अहिंसनम् , तप , जितेन्द्रियत्वं, विनय· तथा नय. नो ददाति ॥ ४० ॥ विशुद्धसम्यक्त्व-विभूषितात्मनां देहिना नरके अपि निवासः वरम् । दुरन्तमिथ्यात्वविषोपभोगिना देवलोके वसति. न विराजते ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार गाय अपने नवीन बछड़ेसे प्रेम करती है उसी प्रकार शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वरूप मलको नष्ट करके जिन भगवान्‌की शरणमें आये हुए मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चार प्रकारके पवित्र धर्मात्मा जनके विषयमें आपत्तियोंको नष्ट करनेवाले वात्सल्य (प्रेमभाव) को करता है ॥ [अभिप्राय यह कि सम्यग्दृष्टि जीव उपर्युक्त चतुर्विध संघमें ऐसा स्नेह करता है जैसे कि गाय अपने नवजात बछड़ेसे करती है] ॥ ३७ ॥ समस्त दोषोंसे रहित विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोपार्जित पापके वश होकर असाध्य रोगसे पीड़ित हुए समस्त प्राणियोंमें निरन्तर उत्कृष्ट दया को करता है ॥ ३८ ॥ यहां जिस जीवके पास व्रतके विना भी इस प्रकारके उपर्युक्त गुणोंसे विभूषित एवं मुक्तिका कारणभूत निर्मल सम्यग्दर्शन है वह सज्जनोंसे पूजित निर्मल उत्तम तीर्थंकर पदको प्राप्त करता है ॥ विशेषार्थ—तीर्थंकर प्रकृतिकी बन्धक जो दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनायें निर्दिष्ट की गई हैं उनमें मुख्य दर्शनविशुद्धि ही है। दर्शनविशुद्धिसे अभिप्राय यहां तीन मूढताओं एवं शंका–कांक्षा आदि दोषोंसे रहित निर्मल सम्यग्दर्शनका है । इस प्रकारका सम्यग्दर्शन जिस जीवके होता है उसके इस दर्शनविशुद्धिके साथ शेष पन्द्रह भावनाओंमेंसे यदि एक दो भी रहीं तो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो जाता है (ष. खं. पु. ८. पृ. ९१)। इसके विपरीत यदि दर्शनविशुद्धि नहीं है तो अन्य विनयसम्पन्नता आदि सभी (पन्द्रह) भावनाओंके होनेपर वह तीर्थंकर प्रकृति नहीं बंधती है। इसी कारणसे यहां विशुद्ध सम्यग्दर्शनको तीर्थंकर पदकी प्राप्तिका कारण बतलाया है ॥ ३९ ॥ धारण किया गया निर्मल सम्यग्दर्शन प्राणियोंके लिये जिस अपूर्व फलको देता है उसको यहां दम (कषायविजय), दया, ध्यान अहिंसा, तप, जितेन्द्रियता, विनय और न्यायनीति; ये सब नहीं दे सकते हैं ॥ ४० ॥ अपनी आत्माको निर्मल सम्यग्दर्शनसे विभूषित करके प्राणियोंका नरकमें भी रहना अच्छा है, परन्तु कठिनतासे नष्ट होनेवाले

---

१ स धर्म्मं°, द्दर्मे। २ स जनाश्रते। ३ स सुदर्शना, °ना, °नै। ४ स गोरित। ५ स वने। ६ स ३८॥ ७ स °रागो°। ८ स पुरार्जिते नो वशता, पुरार्ज्जितेनो°। ९ स संवेषु। १० स °दूषणां, °दूषणं। ११ स ३९॥ १२ स om. वि, विशुद्धिमेवं°। १३ स दूर्षणं। १४ स जस्येह। १५ स विना शुभमसंचिते सतां, संचितं, °मर्चितं। १६ स सतीर्थ° १७ स क्रमते पि। १८ स ४०॥ १९ स दयार्ज्जनमहिंसने, दयाध्यानमहिंसने। २० स ने, नै। २१ स भंगि°। २२ स ४१॥

169) अधस्तनश्वभ्रभुवो न याति[1] षट्सु सर्वनारीषु न सज्जितो ऽन्यतः[2][3] ।
न जायते व्यन्तरदेवजातिषु न भावनज्योतिषिकेषु[4] सद्दृष्टिः ॥ ४२[5] ॥

170) न बान्धवा नो सुहृदो न वल्लभा न देहजा नो धनधान्यसंचयाः ।
तथा हिताः[6] सन्ति शरीरिणां जने यथात्र[7] सम्यक्त्वमदूषितं हितम्[8] ॥ ४३[9] ॥

171) तनोति धर्मं विधुनोति पातकं[10] ददाति सौख्यं विधुनोति बाधकम् ।
चिनोति मुक्तिं विनिहन्ति संसृतिं जनस्य सम्यक्त्वमनिन्दितं धृतम्[11] ॥ ४४[12] ॥

172) मनोहरं सौख्यकरं शरीरिणां तदस्ति लोके सकले न किंचन[13] ।
यदत्र सम्यक्त्वधनस्य दुर्लभमिति प्रचिन्त्यात्र भवन्तु तत्पराः ॥ ४५[14] ॥

173) विहाय दैवीं[15] गतिमर्चितां सतां व्रजन्ति नान्यत्र विशुद्धदर्शनाः[16] ।
ततश्च्युताश्चक्रधरादिमानवा भवन्ति भव्या भवभीरवो[17] भुवि ॥ ४६[18] ॥

सद्दृष्टि. षड् अधस्तनश्वभ्रभुव न याति। सर्वनारीषु न, सज्जित. अन्यत. न (याति)। व्यन्तरदेवजातिषु न जायते। भावनज्योतिषिकेषु न जायते ॥ ४२ ॥ अत्र जने यथा अदूषित सम्यक्त्व शरीरिणा हित तथा न बान्धवा, नो सुहृद., न वल्लभाः, न देहजा., नो धनधान्यसचया हिता सन्ति ॥ ४३ ॥ धृतम् अनिन्दित सम्यक्त्व जनस्य धर्मं तनोति, पातकं विधुनोति, सौख्य ददाति, बाधकं विधुनोति, मुक्ति चिनोति, संसृति विनिहन्ति ॥ ४४ ॥ अत्र सकले लोके शरीरिणां मनोहरं सौख्यकरं तत् किंचन न अस्ति यत् सम्यक्त्वधनस्य दुर्लभम् इति प्रचिन्त्य अत्र (भव्या) तत्परा भवन्तु ॥ ४५ ॥ विशुद्धदर्शना सताम् अर्चिता दैवी गतिं विहाय अन्यत्र न व्रजन्ति। तत. च्युता भवभीरव भव्या भुवि चक्रधरादिमानवाः भवन्ति ॥४६॥

मिथ्यात्वरूप विषका उपभोग करते हुए स्वर्गमें भी रहना अच्छा नहीं है ॥ ४१ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवीको छोड़कर नीचेकी शेष छह पृथिवियोंमें, सब स्त्रियोंमें, संज्ञीको छोड़कर अन्य असंज्ञी पर्यायमें तथा व्यन्तर, भवनवासी एवं ज्योतिषी देवजातियोंमें भी उत्पन्न नहीं होता है ॥ ४२ ॥ लोकमें प्राणियोंका जैसा हितकारक निर्मल सम्यग्दर्शन है वैसे हितकारक न तो बान्धव (समान गोत्रवाले) हैं, न मित्र हैं, न स्त्रियां हैं, न पुत्र हैं, और न धनसंचय है ॥ ४३ ॥ धारण किया गया निर्मल सम्यग्दर्शन मनुष्य के पापको नष्ट करके धर्मका विस्तार करता है, विघ्नबाधाओंको दूर करके सुखको देता है, तथा संसारको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त कराता है ॥ ४४ ॥ समस्तही लोकमें प्राणियोंके लिये ऐसी कोई भी सुखकारक रमणीय वस्तु नहीं है जो कि यहां सम्यग्दर्शनरूप सम्पत्तिसे सहित जीवको दुर्लभ हो, ऐसा विचार करके भव्य जीव उस निर्मल सम्यग्दर्शनमें लीन होवें। [अभिप्राय यह कि प्राणीको जब इस निर्मल सम्यग्दर्शनसे ऐहिक और पारलौकिक सब प्रकारका ही सुख प्राप्त हो सकता है तब उसे उस निर्मल सम्यग्दर्शनको अवश्य धारण करना चाहिये] ॥ ४५ ॥ निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव सज्जनोंद्वारा पूजित देवगतिको छोड़कर दूसरी किसी भी गतिमें नहीं जाते हैं। फिर वहांसे च्युत होकर वे भव्य जीव संसारसे भयभीत होते हुए पृथिवीके ऊपर चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न होते हैं ॥ विशेषार्थ– इसका अभिप्राय यह है कि जिस भव्य जीवके सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पूर्वमें किसी आयुका बन्ध नहीं हुआ है उसके फिर एकमात्र देवायुका ही बन्ध होता है। परन्तु यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पूर्वमें उसके किसी आयुका बन्ध हो चुका है तो फिर वह उस आयुके अनुसार ही किसी गतिमें जावेगा। जैसे–यदि उसके सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेके पूर्वमें नारक आयुका बन्ध हो चुका है तो वह नियमतः नरकगतिमें ही जावेगा। परन्तु वह ऊपरके श्लोक ४२ के अनुसार प्रथम नरकमें ही जावेगा, आगे नहीं। इसी प्रकार यदि उसके पूर्वमें तिर्यगायुका बन्ध हो चुका है तो फिर वह तिर्यंच गतिमें ही जावेगा, परन्तु जावेगा वह भोगभूमिज तिर्यंचों में न कि कर्मभूमिज तिर्यंचोंमें ॥ ४६ ॥

---

१ स जाति। २ स सज्ञितो, संशितो। ३ स नतः, न्यत्र। ४ स भावनघोति°। ५ स ४२ ॥ ६ स चिताः। ७ स जयात्र, यथा हि। ८ स जनैः for हितम्। ९ स ४४ ॥ १० स पापकं। ११ स भूतां। १२ स ४५ ॥ १३ स किं धना। १४ स ४६ ॥ १५ स देवीं। १६ स विशुद्धिदर्शनो, दर्शनां। १७ स तीरवो। १८ स ४७ ॥

174) प्रमाणसिद्धाः कथिता जिनेशिना व्ययोद्भवध्रौव्ययुता[1] विमोहिना[2] ।
समस्तभावा वितथा न वेति[3] यः करोति शङ्कां स निहन्ति दर्शनम् ॥४७[4]॥
175) सुरासुराणामथ चक्रधारिणां निरीक्ष्य[5] लक्ष्मीममलां मनोहराम् ।
अनेन शीलेन भवेन्ममेति यस्[6]तनोति काङ्क्षां स धुनोति सद्रुचिम् ॥४८[7]॥
176) मलेन दिग्धानवलोक्य[8] संयतान्प्रपीडितान्वा तपसा महीयसा ।
नरश्चिकित्सां विदधाति यः परां निहन्ति सम्यक्त्वमसावचेतनः ॥४९[9]॥
177) विलोक्य रौद्रव्रतिनो[10] ऽन्यलिङ्गिनः प्रकुर्वतः कन्दफलाशनादिकम् ।
इमे ऽपि कर्मक्षयकारणव्रता विचिन्त्यतेति[11] प्रतिहन्यते रुचिः ॥५०[12]॥
178) कुदर्शनज्ञानचरित्रचित्तजान्[13]निरस्ततत्त्वार्थरुचीनसंयतान् ।
निषेवमाणो मनसापि मानवो लुनाति सम्यक्त्व[14]तरुं महाफलम् ॥५१[15]॥
179) जिनेन्द्रचन्द्रामलभक्तिभाविना[16] निरस्तमिथ्यात्वमलेन देहिना ।
प्रधार्यते येन विशुद्धदर्शनमवाप्यते तेन विमुक्तिकामिनी[17] ॥५२[18]॥
[19]इति मिथ्यात्वसम्यक्त्वनिरूपणद्वापञ्चाशत् ॥७॥

विमोहिना जिनेशिना कथिता व्ययोद्भवध्रौव्ययुता समस्तभावा प्रमाणसिद्धा । (ते) वितथा न वा इति यः शङ्कां करोति स दर्शनं निहन्ति ॥ ४७ ॥ यः सुरासुराणाम् अथ चक्रधारिणाम् अमलां मनोहरां लक्ष्मीं निरीक्ष्य अनेन शीलेन मम (सा) भवेत् इति काङ्क्षां तनोति स सद्रुचिं धुनोति ॥ ४८ ॥ यः नरः संयतान् मलेन दिग्धान् अवलोक्य वा महीयसा तपसा प्रपीडितान् अवलोक्य परां चिकित्सां विदधाति असौ अचेतनः सम्यक्त्वं निहन्ति ॥ ४९ ॥ कन्दफलाशनादिकं प्रकुर्वतः रौद्रव्रतिनः अन्यलिङ्गिनः विलोक्य इमे अपि कर्मक्षयकारणव्रता इति विचिन्त्वता रुचिः प्रतिहन्यते ॥ ५० ॥ कुदर्शनज्ञान-चरित्रचित्तजान् निरस्ततत्त्वार्थरुचीन् असंयतान् मनसा अपि निषेवमाणः मानवः महाफलं सम्यक्त्वतरुं लुनाति ॥ ५१ ॥ निरस्तमिथ्यात्वमलेन जिनेन्द्रचन्द्रामलभक्तिभाविना येन देहिना विशुद्धदर्शनं प्रधार्यते, तेन विमुक्तिकामिनी अवाप्यते ॥५२॥
इति मिथ्यात्वसम्यक्त्वनिरूपणद्वापञ्चाशत् ॥ ७ ॥

वीतराग जिनेन्द्र देव के द्वारा जो प्रमाणसे सिद्ध एवं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त पदार्थ कहे गये हैं वे असत्य हैं या सत्य; इस प्रकार की जो जीव शंका करता है वह अपने सम्यग्दर्शनको नष्ट करता है। इस प्रकारसे यहाँ सम्यग्दर्शनके 'शंका' दोषका निर्देश किया गया है ॥ ४७ ॥ देव, असुर और चक्रवर्तियोंकी मनोहर निर्मल लक्ष्मीको देखकर इस रूपसे वह सम्पत्ति मेरे लिये प्राप्त हो; ऐसी जो इच्छा करता है वह कांक्षा दोषके कारण अपने सम्यग्दर्शनको नष्ट करता है ॥ ४८ ॥ मलसे लिप्त अथवा महान तपसे अतिशय पीडाको प्राप्त हुए संयमी जनोंको देखकर जो मनुष्य अतिशय घृणाको करता है वह अज्ञानी अपने सम्यग्दर्शनको नष्ट करता है। विचिकित्सा दोषसे मलिन करता है ॥ ४९ ॥ जो कन्द एवं फलों-आदिको खाकर भयानक व्रतोंका—पंचाग्नितप आदिका—आचरण करनेवाले कुलिंगियोंको देखकर 'ये भी कर्मोंका क्षय करनेवाले व्रतोंके धारक हैं' ऐसा विचार करता है वह अपने सम्यग्दर्शनको नष्ट करता है अन्यदृष्टिसंस्तव दोषसे दूषित करता है ॥ ५० ॥ जिनका चित्त मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप परिणामोसे सहित व तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित है ऐसे (मिथ्यादृष्टि) असंयमी जनोंकी मनसे भी आराधना करनेवाला प्राणी महान् फलको देनेवाले अपने सम्यक्त्वरूप वृक्षको काटता है—अन्यदृष्टिप्रशंसा दोषसे कलुषित करता है ॥ ५१ ॥ मिथ्यात्वरूप मलको नष्ट करके जिनेन्द्ररूप चन्द्रके प्रति निर्मल भक्तिसे युक्त हुआ जो प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करता है वह मुक्तिरूप स्त्रीको प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार बावन श्लोकोंमें मिथ्यात्व व सम्यक्त्वका निरूपण हुआ ॥ ७ ॥

---

१ स व्ययोद्भव°। २ स युता विमोहितः। ३ स वेत्ति। ४ स ४८ ॥ ५ स निरीक्ष, निरीक्ष्य। ६ स om. य। ७ स ४९॥ ८ स दग्धा°, दिग्धावव°। ९ स ५० ॥ १० स °लिंगिनो, °व्रतं। ११ स °तिप्रति°। १२ स ५१ ॥ १३ स °चित्तजा, चित्रजान्, °चिद्रजा। १४ स समक्त। १५ स ५२ ॥ १६ स °भाविता। १७ स °कामिनीं। १८ स ५३ ॥ १९ स om. इति, तृपंचाशत्, त्रि°, इति सदसत्स्वरूपनिरूपणम्।

[८. ज्ञाननिरूपणात्रिंशत्]

180) अनेकपर्यायगुणैरुपेतं विलोक्यते येन समस्ततत्त्वम् ।
तदिन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्नं ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय ॥ १ ॥

181) रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो विरज्यते ऽत्यन्तशरीरसौख्यात् ।
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः ॥ २ ॥

182) क्रोधं धुनीते विदधाति शान्तिं तनोति मैत्रीं विहिनस्ति मोहम् ।
पुनाति चित्तं मदनं लुनीते येनेह बोधं तमुशन्ति सन्तः ॥ ३ ॥

183) ज्ञानेन बोधं कुरुते परेषां कीर्तिस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरी ।
ततो ऽनुरागः सकले ऽपि लोके ततः फलं तस्य मनोऽनुकूलम् ॥ ४ ॥

184) ज्ञानाद्धितं वेत्ति ततः प्रवृत्ती रत्नत्रये संचितकर्ममोक्षः ।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्नं विदधाति दक्षः ॥ ५ ॥

येन अनेकपर्यायगुणैः उपेत समस्ततत्त्व विलोक्यते तत् इन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्नं ज्ञानं जिनेन्द्रैः हिताय गदितम् ॥ १ ॥ येन जीवः रत्नत्रयी रक्षति, अत्यन्तशरीरसौख्यात् विरज्यते, पाप रुणद्धि, विशुद्धि कुरुते, तत् ज्ञान सकलार्थविद्भिः इष्टम् ॥२॥ (भव्यः) येन इह क्रोधं धुनीते शान्ति विदधाति, मैत्री तनोति, मोह विहिनस्ति, चित्तं पुनाति, मदनं लुनीते, सन्तः तं बोधम् उशन्ति ॥ ३ ॥ (भव्यः) ज्ञानेन परेषां बोधं कुरुते। तत चन्द्रमरीचिगौरी कीर्ति, तत. सकले अपि लोके अनुराग, ततः तस्य मनोनुकूल फलम् ॥ ४॥ दक्ष ज्ञानात् हितं वेत्ति। तत. रत्नत्रये प्रवृत्ति । तत. सचितकर्ममोक्षः। ततः अबाधम् उच्चैः सौख्यम्। तेन अत्र यत्न विदधाति ॥ ५॥ अज्ञजीवः भवकोटिलक्षैरुग्रैः तपोभि. यत् कर्म विधुनोति

जो अनेक गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त समस्त तत्त्वको देखता जानता है वह ज्ञान कहा जाता है। वह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके भेदसे दो प्रकारका अथवा छह प्रकारका है। जिनेन्द्र देवने उसे प्राणियोंका हित करनेवाला बतलाया है॥ १॥ जीव जिस गुणके द्वारा शारीरिक सुखसे अतिशय विरक्त होकर रत्नत्रयकी रक्षा करता है तथा पापको रोककर आत्मविशुद्धिको करता है वह समस्त पदार्थोंके जानकार सर्वदर्शियोंके लिये ज्ञान अभीष्ट है। विशेषार्थ–जब तक प्राणीके ज्ञान (हिताहितविवेक) नहीं होता है तब तक वह शारीरिक सुखको ही यथार्थ सुख समझकर उसकी पूर्तिके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है और पापका संचय करता है। परन्तु जब उसे वह सुबोध प्राप्त हो जाता है तब वह उस सुखको परिणाममें दुखकारक समझ करके उससे विरक्त हो जाता और यथार्थ सुखके कारणभूत रत्नत्रयमें अनुराग करने लगता है। इस प्रकारसे उत्तरोत्तर विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ वह अन्तमें शाश्वतिक सुखको भी प्राप्त कर लेता है। यह सब माहात्म्य उस ज्ञानका ही है॥ २॥ जिसके द्वारा प्राणी क्रोधको नष्ट करता है, शान्तिको उत्पन्न करता है, मित्रताको विस्तारता है, मोहका घात करता है, चित्तको पवित्र करता है, तथा कामको खण्डित करता है उसे साधुजन ज्ञान कहते हैं ॥ ३ ॥ ज्ञानी जीव ज्ञानके द्वारा दूसरोंको प्रबुद्ध करता है। इससे उसकी समस्त लोकमें चन्द्रकिरणोंके समान धवल कीर्ति फैलती है। उससे समस्त लोकमें अनुराग होता है अर्थात् कीर्तिके फैलनेसे सब प्राणी उसके विषयमें अनुराग करने लगते हैं। और इससे उसे इच्छित फल प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ प्राणी ज्ञानसे अपने हितको जानता है। उससे उसकी रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होती है, उससे संचित कर्मका क्षय होता है, और उससे निर्बाध महान सुख प्राप्त होता है। इसीलिये चतुर पुरुष इस ज्ञानके विषयमें प्रयत्न करता है ॥ ५ ॥

---

१ स °त्रयं रक्ष्यति। २ स जेन। ३ स विराज्यते। ४ स °वद्भिः। ५ स वोधः। ६ स मनो ऽनुकूलम्। ७ स °मुड्वं ?, °मुद्र्धं, °मुध्व।

185) यदज्ञजीवो विधुनोति कर्म तपोभिरुग्रैर्[1]भवकोटिलक्षैः ।
ज्ञानी तु[2] चैकक्षणतो हिनस्ति तदत्र कर्मेति जिना वदन्ति ॥ ६ ॥
186) [3]चौरादिदायादतनूजभूपैरहार्यमर्च्यं सकले ऽपि लोके ।
धनं[4] परेषां नयनैरदृश्यं ज्ञानं नरा [5]धन्यतमा वहन्ति ॥ ७ ॥
187) विनश्वरं पापसमृद्धिदक्षं विपाकदुःखं बुधनिन्दनीयम्[6] ।
तदन्यथाभूतगुणेन[7] तुल्यं[8] ज्ञानेन राज्यं न कदाचिदस्ति ॥ ८ ॥
188) पूज्यं स्वदेशे[9] भवतीह राज्यं[10] ज्ञानं त्रिलोके ऽपि सदर्चनीयम् ।
ज्ञानं विवेकाय मदाय राज्यं ततो न ते तुल्यगुणे भवेताम्[11] ॥ ९ ॥
189) तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम् ।
तनोति धर्मं विधुनोति पापं ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम् ॥ १० ॥

तत् तु कर्म अत्र ज्ञानी च एकक्षणतः हिनस्ति इति जिनाः वदन्ति ॥ ६ ॥ धन्यतमाः नराः चौरादिदायादतनूजभूपैः अहार्यं, सकले ऽपि लोके अर्च्यं, परेषां नयनैः अदृश्यं ज्ञानम् (एव) धनं वहन्ति ।। ७ ॥ विनश्वरं पापसमृद्धिदक्षं विपाकदुःखं बुधनिन्दनीयं राज्यं तदन्यथाभूतगुणेन ज्ञानेन तुल्यं कदाचित् न अस्ति ॥ ८ ॥ इह स्वदेशे राज्यं पूज्यं भवति । त्रिलोके ऽपि ज्ञानं सदर्चनीयम् । ज्ञानं विवेकाय, राज्यं मदाय (भवति) । ततः ते तुल्यगुणे न भवेताम् ॥ ९ ॥ ज्ञानं नराणां (विषये) किं किं न कुरुते । तमः धुनीते । प्रकाशं कुरुते । शमं विधत्ते । कोपं विनिहन्ति । धर्मं तनोति । पापं विधुनोति ॥ १० ॥ जीवः

जिन भगवानने कहा है कि अज्ञानी जीव लाखों करोड़ो भव तक कठोर तप करके जितने कर्मकी निर्जरा करता है, ज्ञानी उतने कर्मकी निर्जरा एक क्षणमे ही कर देता है ॥ ६ ॥ इस ज्ञानरूपी धनको चोर डाकू चुरा नहीं सकते, भागीदार कुटुम्बी पुत्र आदि बाँट नहीं सकते, राजा हर नही सकता, तीनों लोकों में यह ज्ञान पूज्य है । दूसरे लोग इस ज्ञानरूपी धनको अपनी आँखोंसे देख नहीं सकते । ऐसे ज्ञानरूपी धनको संसारके श्रेष्ठतम भाग्यशाली पुरुष ही धारण करते हैं । भावार्थ–धनको तो चोर चुरा सकता है पुत्रादि बाँट सकते हैं, राजा हर सकता है, पड़ौसी देखकर डाह करते हैं । किन्तु ज्ञानरूपी धन ही ऐसा धन है जिसे न कोई चुरा सकता है न बाँट सकता है, न हर सकता है । जिनके पास यह ज्ञानरूपी धन है वे ही धन्य हैं ॥ ७ ॥ राज्य भी ज्ञानकी समानता नही कर सकता । क्योंकि राज्य विनश्वर है एक दिन अवश्य नष्ट हो जाता है । किन्तु ज्ञान अविनाशी है वह आत्माका गुण है । राज्य पापको बढ़ाने वाला है किन्तु ज्ञानसे पापका नाश होता है । राज्यका फल अन्तमें दुःख ही है, शत्रुओंकी चिन्ता सदा सताती रहती है । किन्तु ज्ञानका फल मोक्ष सुख है । राज्यकी पण्डितजन निन्दा करते हैं किन्तु ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं । इस तरह राज्यसे ज्ञान और ज्ञानसे राज्य विपरीत गुणवाला होनेसे कभी भी राज्य ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकता ॥ ८ ॥ इस संसारमें राज्य या राजाकी पूजा केवल अपने राज्यमें ही होती है और वह तभी तक होती है जब तक राज्य रहता है । किन्तु ज्ञानकी पूजा तीनों लोकोंमें सदा होती है । ज्ञान हित अहित, हेय उपादेय आदिका विवेक कराता है किन्तु राज्य मद पैदा करता है । अतः ज्ञान और राज्य समान गुणवाले कैसे हो सकते हैं ॥ ९ ॥ ज्ञान मनुष्यों के लिये क्या क्या नहीं करता । वह अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करता है । आत्मामे स्वानुभूतिरूप प्रकाशको उद्भूत करता है । परिणामोंमें शान्ति लाता है, क्रोधका विनाश करता है, धर्मभावको विस्तारता है और

---

१ स °र्नवकोटि° । २ स ज्ञानी हि । ३ स चोरादि । ४ स धनै । ५ स धान्य° । ६ स °निन्दनीया । ७ स तदन्यथाभूत° ८ स तुल्यः । ९ स स्वदेहे । १० स रायं । ११ स भवेतं ।

190) यथा यथा ज्ञानबलेन जीवो जानाति तत्त्वं जिननाथदृष्टम् ।
तथा तथा धर्ममतिः[1] प्रशस्ता[2] प्रजायते पापविनाशशक्ता[3] ॥ ११ ॥

191) आस्तां [4]महाबोधबलेन साध्यो[5] मोक्षो विबाधामलसौख्ययुक्तः ।
धर्मार्थकामा अपि नो भवन्ति ज्ञानं विना तेन तदर्चनीयम् ॥ १२ ॥

192) सर्वे ऽपि लोके विधयो हितार्था[6] ज्ञानादृते नैव भवन्ति[7] जातु ।
अनात्मनीयं परिहर्तुकामास्तदर्थिनो ज्ञानमतः श्रयन्ति ॥ १३ ॥

193) शक्यो विजेतुं न मनःकरीन्द्रो[8] गन्तुं प्रवृत्त प्रविहाय मार्गम् ।
ज्ञानाङ्कुशेनात्र विना मनुष्यैर्विनाङ्कुशं मत्तमहाकरीव ॥ १४ ॥

ज्ञानबलेन यथा यथा जिननाथदृष्ट तत्त्वं जानाति तथा तथा (तस्य) पापविनाशशक्ता प्रशस्ता धर्ममतिः प्रजायते ॥ ११ ॥ महाबोधबलेन साध्य विबाधामलसौख्ययुक्तः मोक्ष. (तावत्) आस्ताम् । धर्मार्थकामाः अपि ज्ञानं विना नो भवन्ति । तेन तत् अर्चनीयम् ॥ १२ ॥ लोके जातु सर्वे ऽपि विधय. ज्ञानादृते हितार्था. नैव भवन्ति । अत. तदर्थिन अनात्मनीयं परिहर्तुकामाः ज्ञानं श्रयन्ति ॥ १३ ॥ मत्तमहाकरी अङ्कुश विना इव मनुष्यै. अत्र मार्गं प्रविहाय गन्तुं प्रवृत्तः मनः करीन्द्रः ज्ञाना-

---

पापोंका विनाश करता है ॥ १० ॥ जैसे जैसे ज्ञानके बलसे यह जीव जिनेन्द्रदेवके द्वारा केवलज्ञानरूपी लोचनों से देखे हुए जीव अजीव आदि तत्त्वोंको जानता है वैसे वैसे उसकी धार्मिक बुद्धि प्रशस्त होती जाती है, जो समस्त पापोंका विनाश करनेमें समर्थ है। अर्थात् ज्ञानके द्वारा तत्त्वोंको जान लेनेसे धार्मिक भावनामें दृढ़ता और निर्मलता आती है और उससे पापोंका विनाश होता है ॥ ११ ॥ महाबोध अर्थात् केवलज्ञानके बलसे ही प्राप्त होनेवाले अव्याबाध अर्थात् बाधारहित और अमल अर्थात् कर्ममलसे रहित शाश्वत सुखके भण्डार मोक्ष की बात जाने दो। ज्ञानके बिना तो धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थ भी नहीं हो सकते। अतः ज्ञान पूज्य है। भावार्थ–चार पुरुषार्थोंमें से सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मोक्ष है। वह मोक्ष स्थायी सुखका भण्डार है और वह केवलज्ञान प्राप्त होने पर ही प्राप्त होता है। किन्तु मोक्ष जनसाधारणके लिये अदृश्य है उसे वे देख नही सकते अतः उसके प्रति उनकी श्रद्धा होना भी कठिन ही है। अत. ज्ञानसे मोक्ष सुख मिलता है ऐसा कहने पर लोग ज्ञानके प्रति अनादर व्यक्त कर सकते हैं, इसलिये ग्रन्थकार मोक्षकी बात दूर रखकर कहते हैं कि लोग जिन धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थके प्रति लालायित रहते है वे भी ज्ञानके बिना दुर्लभ हैं। बिना ज्ञानके न धर्माचरण किया जा सकता है, न धन कमाया जा सकता है और न सुख भोगा जा सकता है ॥ १२ ॥ इस संसारमें जितने भी विधि विधान हैं वे सब ज्ञानके बिना कभी भी कल्याणकारी नहीं होते। अर्थात् समझ बूझकर करने पर ही वे सब व्यवहार हितकारी होते हैं। इसीलिये अपने अहितसे बचनेके इच्छुक और हितके अभिलाषी पुरुष ज्ञानका ही आश्रय लेते हैं ॥ १३ ॥ जैसे मदोन्मत्त हाथी अंकुशके बिना वशमें नही होता। वैसे ही मनरूपी मदमत्त हाथी जब सुमार्गको छोड़कर कुमार्गमें जाने लगता है तो मनुष्य ज्ञानरूपी अकुशके बिना उसे वशमे नही कर सकते। अर्थात् मनुष्योंका मन मदमस्त हाथीके समान उच्छृंखल है। जब वह कुमार्गमें जाता है तो उसे ज्ञानके बलसे ही रोका जा सकता है। दूसरा कोई उपाय नही है ॥ १४ ॥ ज्ञान मनुष्यका तीसरा नेत्र है जो समस्त तत्त्वो और पदार्थोंको देखनेमें समर्थ है। उसे किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नही है और वह बिना

---

१ स °मति। २ स प्रशक्ता, प्रसक्ताः शमस्ता। ३ स शक्ता.। ४ स महाबाध°। ५ स साधोर्मोक्षो। ६ स विधियो यथार्था। ७ स भवतु। ८ स मनः करीन्द्रो।

194) ज्ञानं तृतीयं पुरुषस्य नेत्रं समस्ततत्त्वार्थविलोकदक्षम्[1] ।
तेजो ऽनपेक्षं[2] विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रये ऽपि ॥ १५ ॥

195) निःशेषलोकव्यवहारदक्षो ज्ञानेन मर्त्यो महनीयकीर्तिः ।
सेव्यः सतां संतमसेन हीनो [3]विमुक्तिकृत्यं प्रति[4] बद्धचित्तः ॥ १६ ॥

196) धर्मार्थकामव्यवहारशून्यो [5]विनष्टनिःशेषविचारबुद्धिः ।
रात्रिंदिवं भक्षण[6]सक्तचित्तो ज्ञानेन हीनः पशुरेव शुद्धः ॥ १७ ॥

197) तपोदया[7]दानयमक्षमाद्याः सर्वे ऽपि पुंसां महिमा गुणा ये ।
भवन्ति सौख्याय न ते जनस्य ज्ञानं विना तेन तदेषु पूज्यम् ॥ १८ ॥

198) ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानाम् ।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभते ऽप्यभीष्टम् ॥ १९ ॥

कुशेन विना विजेतुं न शक्यः ॥ १४ ॥ समस्ततत्त्वार्थविलोकदक्षं, तेजोऽनपेक्षं, विगतान्तरायं, सर्वजगत्त्रये ऽपि प्रवृत्तिमत् ज्ञानं पुरुषस्य तृतीयं नेत्रम् ॥ १५ ॥ मर्त्यः, ज्ञानेन निःशेषलोकव्यवहारदक्षः, महनीयकीर्तिः, सतमसेन हीनः, विमुक्तिकृत्यं प्रति बद्धचित्तः, सतां सेव्यः (भवति) ॥ १६ ॥ ज्ञानेन हीनः (मनुजः) धर्मार्थकामव्यवहारशून्यः, विनष्टनिःशेषविचार-बुद्धिः, रात्रिंदिवं भक्षणसक्तचित्तः शुद्धः पशुः एव ॥ १७ ॥ ये पुंसां तपोदयादानयमक्षमाद्याः सर्वेऽपि महिमाः गुणाः, ते ज्ञानं विना जनस्य सौख्याय न भवन्ति । तेन एषु (गुणेषु) तत् (ज्ञानं) पूज्यम् ॥ १८ ॥ ज्ञानं विना जनानाम् अहितात्

किसी प्रकारकी रुकावटके तीनों लोकोंमें सर्वत्र गतिशील है ॥ भावार्थ—मनुष्यके दो नेत्र होते हैं किन्तु वे समस्त पदार्थोंको जाननेमें समर्थ नहीं हैं और न वे सर्वलोकको ही देख सकते हैं। उनके सन्मुख जो स्थिर स्थूल पदार्थ आता है मात्र उसको ही देख सकते हैं। वह भी प्रकाश होने पर ही देख सकते हैं। किन्तु ज्ञानरूपी नेत्र उन दोनोसे विलक्षण है। वह विना प्रकाशके ही सर्वत्र सबको जान सकता है ॥ १५ ॥ ज्ञानके द्वारा मनुष्य समस्त लोक व्यवहारमे प्रवीण हो जाता है। उसका यश विश्वमें फैल जाता है। सज्जन भी उसकी सेवा करते हैं। वे उसके पास ज्ञानार्जनके लिये आते हैं। वह अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होता है तथा मुक्तिरूपी कार्यको सम्पादन करनेमें अपने चित्तको दृढ़तापूर्वक लगाता है ॥ १६ ॥ किन्तु जो ज्ञानसे शून्य होता है वह कोरा पशु ही होता है; क्योंकि जैसे पशु धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थ सम्बन्धी व्यवहारोंको नहीं जानता। वैसे ही वह भी उनसे अनभिज्ञ रहता है। उनके विषयमें यथेच्छ प्रवृत्ति करता है। पशुके समान ही उसकी समस्त विचारशील बुद्धि नष्ट हो जाती है। और वह रात दिन पशु की तरह ही खाने पीनेमे लगा रहता है। उसे भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक नहीं रहता ॥ १७ ॥ इस संसारमें तप-व्रत-दया-दान-प्रशम-क्षमा प्रभृति पुरुषके जो मुख्य गुण है, जिनके धारण करनेसे जीवको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है वे सब ज्ञानकी सहायतासे ही सुख-दायी होते है। ज्ञानपूर्वक किये गये व्रत-तप मुक्तिके कारण हो सकते है। विना ज्ञानके वे सुख प्राप्तिके कारण नही हो सकते है। इसलिये उन सब मुख्य गुणोंमे भी एक ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ मुख्य गुण है ॥ १८ ॥ ज्ञानके विना मनुष्यकी अहितरूप पाप क्रियाओंसे निवृत्ति नहीं होती और आत्महित कार्योंमें प्रवृत्ति नही होती। हित कार्यमें प्रवृत्ति न होनेसे पूर्व संचित कर्मोंका नाश भी नहीं हो सकता। संसार दुःखका नाश हुये विना सब जीवोंका अंतिम अभीष्ट जो शाश्वत् सुख, वह भी उनको प्राप्त नहीं हो सकता। विशेषार्थ—ज्ञानी जीव ज्ञानके

---

१ स दक्ष्यं, विलोकक्षं। २ स °पेक्ष्यं। ३ स विमुक्त°। ४ स प्रतिबद्ध। ५ स विनिष्ट। ६ स °शक्त°। ७ स °दानक्षम°। ८ स °क्षवृद्धिः।

199) क्षेत्रे प्रकाशं नियतं[1] करोति रविर्दिने ऽस्तं पुनरेव रात्रौ।
ज्ञानं त्रिलोके सकले[2] प्रकाशं करोति नाच्छादनमस्ति किंचित् ॥ २० ॥

200) भवार्णवोत्तारणपूतनावं निःशेषदुःखेन्धनदाववह्निम्।
दशाङ्गधर्मं न करोति येन ज्ञानं तदिष्टं न जिनेन्द्रचन्द्रैः ॥ २१ ॥

201) गन्तुं समुल्लङ्घ्य भवाटवीं यो ज्ञानं विना मुक्तिपुरीं समिच्छेत्।
सो ऽन्धो ऽन्धकारेषु विलङ्घ्य दुर्गं वनं पुरं प्राप्तुमना विचक्षुः[3] ॥ २२ ॥

202) ज्ञानेन पुंसां सकलार्थसिद्धिर्ज्ञानादृते काचन नार्थसिद्धिः।
ज्ञानस्य मत्वेति गुणान् कदाचिज्ज्ञानं न मुञ्चन्ति महानुभावाः ॥ २३ ॥

निवृत्तिः न अस्ति। ततः हिते प्रवृत्तिः न। ततः पूर्वार्जितकर्मनाशः न। ततः अभीष्टं सौख्यम् अपि न लभते ॥ १९ ॥ रविः दिने क्षेत्रे नियत प्रकाशं करोति। पुनः रात्रौ अस्तम् एव करोति। ज्ञान सकले त्रिलोके प्रकाशं करोति। (तस्य) आच्छादनं किंचित् न अस्ति ॥ २० ॥ येन भवार्णवोत्तारणपूतनाव निःशेषदुःखेन्धनदाववह्नि दशाङ्गधर्म न करोति, तत् ज्ञानं जिनेन्द्रचन्द्रैः न इष्टम् ॥ २१ ॥ यः ज्ञानं विना भवाटवी समुल्लङ्घ्य मुक्तिपुरी गन्तुं समिच्छेत्, सः अन्धकारेषु दुर्गं वनं विलङ्घ्य पुरं प्राप्तुमना विचक्षुः अन्धः (एव) ॥ २२ ॥ पुंसा ज्ञानेन सकलार्थसिद्धिः। ज्ञानादृते काचन अर्थसिद्धिः न। इति ज्ञानस्य गुणान् मत्वा महानुभावाः कदाचित् ज्ञान न मुञ्चन्ति ॥ २३ ॥ उग्रदोषं विष भक्षित वरम्। अतिरौद्रं

बलसे ही अशुभसे निवृत्ति कर शुभमें प्रवृत्ति करता है। ज्ञानसे ही उसके पूर्वोपार्जित कर्मोंका नाश होकर शाश्वत सुख मिलता है ॥ १९ ॥ सूर्य तो केवल दिनमें ही अपने नियत क्षेत्रमें नियत परिमित प्रकाश ही करता है। रात्रिमें अस्तको प्राप्त होता है। मेघोंके आच्छादनसे उसका प्रकाश रुक जाता है। परन्तु ज्ञानका प्रकाश संपूर्ण तीन लोकमें और अलोकमें भी, तथा भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालोंमें सदा सर्वदा दिन-रात बिना रोक-टोक होता है। इसलिये ज्ञानका प्रकाश सूर्य प्रकाशसे भी अधिक है ॥ २० ॥ ज्ञानका फल क्षमादिक दशधर्मोंका पालन करना है। दशधर्मोंका पालन संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये पवित्र नावके समान है। अथवा संपूर्ण दुःख रूपी ईंधनको भस्मसात् करनेवाले दावानलके समान है। अर्थात् जो दशधर्मोंका पालन करता है वही संसार समुद्रसे पार हो सकता है। और संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होता है। परन्तु जो ज्ञानी होकर भी दशधर्मोंका पालन नहीं करते उनके ज्ञानको सर्वज्ञ देवने ज्ञान ही नहीं कहा है। विशेषार्थ– "हतं ज्ञानं क्रियाहीनं" जो ज्ञान क्रियाशील नही है वह ज्ञान सच्चा ज्ञान ही नही है। क्रियाशून्य ज्ञान-चारित्र रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। ज्ञानका फल अहितसे निवृत्ति और हितमें-धर्ममें प्रवृत्ति करना है। जो ज्ञान धर्ममें प्रवृत्त नहीं वह ज्ञान फलदायक न होनेसे वास्तवमें ज्ञान नही कहा जाता ॥ २१ ॥ जो पुरुष ज्ञानके बिना इस संसाररूपी पृथ्वीको पार करके मुक्तिपुरीको जाना चाहता है वह आँखोंसे हीन अन्धा पुरुष गहन अन्धकारमें गहन वनको पार करके नगरको जाना चाहता है। अर्थात् जैसे अन्धे मनुष्यका रात्रिके घोर अन्धकारमें गहन वनको पार करके नगरमें पहुँचना संभव नहीं है वैसे ही ज्ञानके बिना संसाररूप गहन वनको पार करके मोक्ष प्राप्त करना संभव नहीं है ॥ २२ ॥ इस संसारमें समस्त पुरुषोंको ज्ञानसे ही समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि होती है। ज्ञानके बिना केवल क्रियाकांडसे किंचित् मात्र भी इष्ट सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानका महत्त्व जानकर अपना हित चाहने वाले संत पुरुष ज्ञानको कभी भी छोड़ते नहीं। सदैव ज्ञानके उपार्जनमें लगे

---

१ स नियति। २ स सकल। ३ स विचाधु।

203) वरं विषं भक्षितमुग्रदोषं वरं प्रविष्टं ज्वलने ऽतिरौद्रे ।
वरं कृतान्ताय निवेदितं स्वं न जीवितं तत्त्वविवेकमुक्तम् ॥ २४ ॥

204) [1]शौचक्षमासत्यतपोदमाद्या गुणाः समस्ताः क्षणतश्चलन्ति ।
ज्ञानेन हीनस्य नरस्य लोके वात्याहता वा तरवो ऽपि मूलात् ॥ २५ ॥

205) माता पिता बन्धुजनः कलत्रं पुत्रः सुहृद् भूमिपतिश्च तुष्टः[2] ।
न तत्सुखं कर्तुमलं नराणां ज्ञानं यदेव[3] स्थितमस्तदोषम् ॥ २६ ॥

206) शक्यो वशीकर्तुमिभो ऽतिमत्तः सिंहः फणीन्द्रः कुपितो नरेन्द्रः ।
ज्ञानेन हीनो न पुनः कथंचिदित्यस्य दूरेण[4] भवन्ति सन्तः ॥ २७ ॥

207) करोति संसारशरीरभोगविरागभावं विदधाति रागम् ।
शीलव्रतध्यान[5]तपःकृपासु ज्ञानी विमोक्षाय कृत[6]प्रयासः ॥ २८ ॥

ज्वलने प्रविष्टं वरम् । कृतान्ताय स्वं निवेदितं वरम् । तत्त्वविवेकमुक्तं जीवितं न (वरम्) ॥ २४ ॥ वात्याहताः तरवः मूलात् वा लोके ज्ञानेन हीनस्य नरस्य शौचक्षमासत्यतपोदमाद्या समस्ताः अपि गुणाः क्षणतः चलन्ति ॥ २५ ॥ अस्तदोष स्थितं ज्ञानं नराणां यदेव सुखं कर्तुम् अलम्, तत् सुखं माता, पिता, बन्धुजनः, कलत्रं, पुत्रः, सुहृत्, तुष्टः भूमिपतिः च (कर्तुं) न (अलम्) ॥ २६ ॥ अतिमत्तः इभः, सिंहः, फणीन्द्रः, कुपितः नरेन्द्रः वशीकर्तुं शक्यः । पुनः ज्ञानेन हीनः (नरः) कथंचित् न । इति सन्तः अस्य दूरेण भवन्ति ॥ २७ ॥ ज्ञानी विमोक्षाय कृतप्रयासः (सन्) संसारशरीरभोगविरागभावं करोति ।

रहते हैं ॥ २३ ॥ ज्ञान प्राप्तिके लिये कितने भी संकट आये, कदाचित् भयंकर हालाहल विष खानेका भी प्रसंग आवे तो अच्छा, अथवा भयंकर अतिरुद्र अटवीमे प्रवेश करनेका भी प्रसग आवे तो अच्छा, अग्निमें जलकर भस्मसात हो जाना अच्छा, अथवा अन्तमें अन्य भी किसी कारणसे यमराजकी गोदमें चला जाना अच्छा । परंतु तत्त्व ज्ञानसे रहित होकर जीना इस संसारमें अच्छा नही है । ज्ञानहीन जीवन इन भयंकर दुःखोंसे भी महान् दुःख है ॥ २४ ॥ जिस प्रकार आंधीके वेगसे वृक्ष मूलसे उखड़ कर गिर पड़ते है, उसी प्रकार जो पुरुष ज्ञानसे हीन होते है, अज्ञानमय जीवन जीते हैं उनके शुचिता-पवित्रता-क्षमा-सत्य-तप-सयम इत्यादि समस्त गुण क्षणमात्रमे नष्ट हो जाते है । विशेषार्थ–अज्ञानी जीव प्रसग आने पर क्षमादि गुणोंसे च्युत होते हैं । परंतु ज्ञानी कितना भी संकट आने पर भो गुणोंसे च्युत नही होते । दृढ़ प्रतिज्ञ होकर गुणोका पालन करते हैं ॥ २५ ॥ इस जीवको निर्दोष पवित्र ज्ञान जो सुख देता है वह सुख सतुष्ट हुये माता-पिता-बन्धुजन, स्त्री-पुत्र-मित्र तथा प्रसन्न हुआ राजा भी नहीं दे सकता । विशेषार्थ–माता-पिता आदि कौटुम्बिक जन स्वार्थ वश भौतिक पदार्थ ऐश्वर्य देकर सुख देने वाले प्रतीत होते हैं । परतु वह सुख सच्चा सुख नही है । अंतमें उसका कटु फल दुःख ही प्राप्त होता है । परंतु ज्ञान ऐसा सुख देता है जो कि कभी भी नष्ट न होकर दिन दूना बढता ही जाता है ॥ २६ ॥ लोक मदोन्मत्त हाथीको अंकुशके सहायसे वशमे ला सकते हैं, कुपित सिंह, सर्प या राजाको भी किसी प्रकार शांत कर सकते हैं । परंतु ज्ञानसे-विवेकसे हीन पुरुषको किसी भी प्रकारसे सुमार्ग पर लाना महान् कठिन है । इसलिये संत लोक ज्ञानसे कभी दूर नही रहते । ज्ञानके उपार्जनसे कभी भी अपना मुंह नही मोड़ते । सदैव ज्ञानमें तत्पर रहते है ॥ २७ ॥ जो ज्ञानी होते हैं वे सदैव संसार-शरीर-भोगोंसे सहज उदासीन रहते हैं । विषय वासनाओंमें कभी फसते नही । सदा विरक्त रहते हैं । और शील-व्रत-ध्यान-तप-दया आदिका पालन करनेमें अनुराग रखते हैं । संसार दुःखसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं । आत्मज्ञानमें, ध्यानमें सदैव लीन

---

१ स सौचं, सौच्यं, शौचं । २ स दुष्टं । ३ स यदेवं । ४ स दूरेन, दूरे नः । ५ स °तपःदयासु । ६ स कृत. प्रयास. ।

208) परोपदेशं[1] स्वहितोपकारं ज्ञानेन देही वितनोति लोके।
जहाति दोषं श्रयते गुणं च ज्ञानं जनैस्तेन समर्चनीयम् ॥ २९ ॥

209) एवं विलोक्यास्य गुणाननेकान् समस्तपापारिनिरासदक्षान्।
विशुद्धबोधा न कदाचनापि ज्ञानस्य पूजां महतीं त्यजन्ति ॥ ३० ॥

इति[2] ज्ञाननिरूपणात्रिंशत् ॥ ८ ॥

शीलव्रतध्यानतपःकृपासु रागं विदधाति ॥ २८ ॥ लोके देही ज्ञानेन परोपदेशं (वितनोति), स्वहितोपकारं वितनोति, दोषं जहाति, गुणं च श्रयते। तेन जनैः ज्ञानं समर्चनीयम् ॥ २९ ॥ विशुद्धबोधाः एवम् अस्य ज्ञानस्य समस्तपापारिनिरासदक्षान् अनेकान् गुणान् विलोक्य, कदाचन अपि महतीं पूजां न त्यजन्ति ॥ ३० ॥

॥ इति ज्ञाननिरूपणात्रिंशत् ॥ ८ ॥

रहते हैं ॥ २८ ॥ इस लोकमें ज्ञानी पुरुष ज्ञानके बलसे अपना आत्म कल्याण करता है तथा परोपदेश देकर अन्य जीवोंका भी सहज कल्याण कर सकता है। काम-क्रोधादि विकार भावोको सर्वथा हेय जानकर छोड़ता है। दोषोंसे बचनेका उपाय करता है। तथा रत्नत्रय गुणोंका सदा आश्रय करता है। इसलिये ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा ज्ञान सदा आदरणीय-पूजनीय है। ज्ञानी जनोंको सदैव ज्ञानकी ही आराधना करनी चाहिये ॥ २९ ॥ इस प्रकार ज्ञानके समस्त पापोंका नाश करनेमे समर्थ अनेक गुणोंका विचार करके विशुद्ध ज्ञानधारी पुरुष ज्ञान देवताकी महान् पूजा-आराधना करनेमें कभी भी प्रमाद नहीं करते। निरन्तर ज्ञान देवताकी ही आराधना करते हैं ॥ ३० ॥

●

---

१ स °देश। २ स Om. इति, °निरूपण°, इति ज्ञाननिरूपणम्।

[९. चारित्रनिरूपणत्रयस्त्रिंशत्]

210) सद्दर्शनज्ञानबलेन भूता पापक्रियाया[1] विरतिस्त्रिधा या।
जिनेश्वरैस्तद्गदितं चरित्रं [2]समस्तकर्मक्षयहेतुभूतम् ॥ १ ॥

211) शमं क्षयं मिश्रमुपागतायां तन्नाशि[3] कर्म प्रकृतौ त्रिधातः।
द्विधा सरागेतरभेदतश्च प्रजायते [4]ऽसाधनसाध्यरूपम् ॥ २ ॥

सद्दर्शनज्ञानबलेन भूता या पापक्रियायाः त्रिधा विरतिः, तत् जिनेश्वरैः समस्तकर्मक्षयहेतुभूतं चरित्रं गदितम् ॥ १ ॥ तत् नाशि कर्म शमं क्षयं मिश्रम् उपागतायां प्रकृतौ अतः त्रिधा (प्रजायते)। च असाधनसाध्यरूपं सरागेतरभेदतः द्विधा

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे जो पापक्रियाओंसे मन-वचन-काय पूर्वक विरक्तिरूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे सर्वज्ञदेवने सम्यक्चारित्र कहा है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र ही समस्त कर्मोंका क्षय करनेमें प्रधान कारण है। विशेषार्थ—सर्वज्ञ प्रतिपादित सप्ततत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान होनेसे हित-अहितका विवेक जागृत होता है। अनादिकालसे मिथ्यात्वमूलक जो विषय-कषाय-भावोंके साथ एकत्वाध्यास था, वह दूर हो जाता है। संसारमें परिभ्रमण करानेवाले राग-द्वेषमोह भावोंका नाश करनेका अभ्यास प्रयत्न करता है। पंचेन्द्रियोंके विषयोसे तथा पापक्रियाओसे मन-वचन-कायसे घृणा-विरति उत्पन्न होती है उसीका नाम सम्यक्चारित्र है ॥ १ ॥ आत्माके चारित्रगुण घातक चारित्रमोहनीयकर्मके उपशम-क्षय तथा क्षयोपशम होनेपर जो चारित्रगुण प्रगट होता है वह सम्यक्चारित्र है। इसलिये उसके तीन भेद हैं। अथवा सरागचारित्र तथा वीतराग चारित्रके भेदसे सम्यक्चारित्र दो प्रकारका कहा गया है। उनमें सरागचारित्र साधनरूप है। और वीतराग चारित्र साध्यरूप है। विशेषार्थ—इस श्लोकमें चारित्रके भेद गिनाये हैं। सम्यक्चारित्र तीन प्रकारका है—१ औपशमिक चारित्र, २. क्षायिक चारित्र, ३. क्षायोपशमिक चारित्र। चारित्रमोहनीयको २१ प्रकृतियोंका उपशम होनेपर जो चारित्र गुण प्रकट होता है वह औपशमिक चारित्र है। यह चारित्र उपशम श्रेणी चढ़नेवाले उपशम सम्यग्दृष्टि अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टिको गुणस्थान ७ से ११ तक होता है। चारित्रमोहनीयकी २१ प्रकृतियोंका क्षय होनेपर जो चारित्रगुण प्रगट होता है उसे क्षायिक चारित्र कहते है। यह चारित्र क्षायिक सम्यग्दृष्टि को ही ७से १४ गुणस्थान तक (११वाँ उपशान्तमोह गुणस्थान छोड़कर) तथा सिद्ध जीवोंको होता है। क्षायोपशमिकचारित्र—चारित्रमोहनीय कर्मके कुछ सर्वघाति कर्मोंका उदयाभावी क्षय (उदयक्षय) तथा कुछ सर्वघाति कर्मोंका सदवस्थारूप उपशम और देशघातिका उदय होनेपर जो चारित्रगुण प्रगट होता हैं उसे क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ४से ७ गुणस्थान तक होता है। तथा चारित्रके दूसरे प्रकारसे दो भेद कहे हैं। १. सराग चारित्र, २. वीतराग चारित्र। यहाँ राग का अर्थ प्रमाद है। प्रमाद सहित जो चारित्रगुण प्रगट होता है उसको सरागचारित्र कहते हैं। यह चारित्र प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनिके होता है। प्रमादका अभाव होनेपर जो चारित्रगुण प्रगट होता है उसे वीतरागचारित्र कहते हैं। यह चारित्र अप्रमत्त ७वें गुणस्थानसे लेकर १४ गुणस्थान तक होता है। इनमें वीतराग-

१ स °विरतस्त्रिया। २ स सम्यक्तकर्मत्वय°। ३ स तन्नाशिकर्म। ४ स om S।

212) [1]हिंसानृतस्तेयजया[2]न्यसङ्गनिवृत्तिरुक्तं[3] व्रतमङ्गभाजाम् ।
पञ्चप्रकारं[4] शुभभूतिहेतु[5]र्जिनेश्वरैर्ज्ञातसमस्ततत्त्वैः ॥ ३ ॥

213) [6]जीवास्त्रसस्थावरभेदभिन्नास्त्रसाश्चतुर्धात्र भवेयुरन्ये ।
[7]पञ्चप्रकारास्त्रिविधेन तेषां रक्षा[8] त्वहिंसाव्रतमस्ति पूतम् ॥ ४ ॥

214) स्पर्शेन वर्णेन रसेन गन्धाद्यदन्यथा वारि गत[9]स्वभावम् ।
तत्प्रासुकं[10] साधुजनस्य योग्यं[11] पातुं मुनीन्द्रा निगदन्ति जैनाः ॥ ५ ॥

215) उष्णोदकं साधुजनाः पिबन्ति मनोवचःकायविशुद्धिलब्धम् ।
एकान्ततस्तत्पिबतां मुनीनां षड्जीवघातं कथयन्ति सन्तः[11] ॥ ६ ॥

प्रणायते ॥ २ ॥ ज्ञातसमस्ततत्त्वै. जिनेश्वरैः शुभभूतिहेतु' हिंसानृतस्तेयजयान्यसंगनिवृत्तिः (इति) पञ्चप्रकारं व्रतम् अङ्गभाजाम् उक्तम् ॥ ३ ॥ जीवा. त्रसस्थावरभेदभिन्ना । अत्र त्रसा. चतुर्धा भवेयु. । अन्ये पञ्चप्रकाराः । तेषां त्रिविधेन रक्षा पूतम् अहिंसाव्रतम् अस्ति ॥ ४ ॥ यत् स्पर्शेन, वर्णेन, रसेन, गन्धात् अन्यथा, गतस्वभावं वारि तत् प्रासुकं, जैनाः मुनीन्द्रा. साधुजनस्य पातुं योग्यं निगदन्ति ॥ ५ ॥ साधुजना' मनोवच कायविशुद्धिलब्धम् उष्णोदक पिबन्ति । सन्तः एकान्ततः तत्

चारित्र आत्माका स्वभावभाव होनेसे साध्यरूप है। और सरागचारित्र वीतराग चारित्रकी भावना सहित होनेसे उसको वीतराग चारित्रका साधन उपचारसे कहा गया है। वास्तवमें सरागता वीतरागताका साधक नहीं है। सरागतामें सरागताके अभावकी ही भावना मुख्य होनेसे उपचारसे सरागताको भी साधक कहा गया है ।। २ ।। हिंसा-अनृत-स्तेय-जनी (स्त्री) संग (परिग्रह) इन पाँच प्रकारके पापपरिणामों से निवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र पाँच प्रकारका है। यह व्यवहार चारित्र पुण्यकर्मके बंधका कारण है ऐसा समस्त पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञदेवने कहा है। विशेषार्थ—इस श्लोकमें पंच पापोंसे निवृत्तिरूप व्यवहारचारित्रके ५ भेदोंका वर्णन किया है। यह व्यवहारचारित्र पाँच प्रकार का है। १ हिंसाविरति व्रत, २. असत्यविरति व्रत, ३. स्तेयविरति व्रत, ४. ब्रह्मचर्य व्रत (स्त्रीनिवृत्ति व्रत), ५. परिग्रहनिवृत्ति व्रत। यह पाँच प्रकारका व्रत पुण्यकर्म बन्धका ही कारण है। पापोंसे निवृत्तिरूप होनेसे पापबन्धका कारण नहीं है। इसलिये यावत्काल संसार जीवन है तावत्काल नरकादि दुर्गति असाता दुःखसे बचाकर सुगति साता सुखमय जीवनके लिये कारण है। इसलिये ज्ञानी जीवोंके तावत्काल प्रवृत्ति करने योग्य है। तथापि उसमें भी शुभ प्रवृत्तिसे भी निवृत्तिकी भावना ही मुख्यतासे रहती है। तब ही वह व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रका साधक कहा जाता है ॥ ३ ॥ संसारी जीवके २ भेद है–१ त्रस २ स्थावर। त्रस जीव चार प्रकारके है और स्थावर जीव पाँच प्रकारके है। इन त्रस स्थावर जीवोंकी मन-वचन-काय पूर्वक तीन योग पूर्वक रक्षा करना, उनके घात करनेके परिणाम नहीं रखना यह पवित्र अहिंसा व्रत है ॥ ४ ॥ जो अहिंसा व्रतको पालन करनेवाले मुनि हैं उन्हे अहिंसा व्रतका निर्दोष पालन करनेके लिये प्रासुक जल ही पीना चाहिये। जिस जलका स्पर्श-रस-गंध-वर्ण स्वभाव बदल गया है ऐसे उष्ण जलको प्रासुक जल कहते हैं। ऐसा जैन आचार्य कहते हैं ॥ ५ ॥ जो साधुलोक सब प्रकारके हिंसाके त्यागी है वे मन-वचन-काय शुद्धि पूर्वक प्राप्त हुआ उष्ण उदक ही पीते हैं। और जो ऐसा नही करते, केवल उष्ण उदकका ही मतलब रखते है, मन-वचन-कायकी शुद्धताकी सावधानी नहीं

---

१ स हिंसावृत । २ स °स्तेय-जनीति° °जनाति° । ३ स निवृत्तिरूपं । ४ °प्रकाराशु° । ५ स °हेतुर्मूर्ति° । ६ स जीवश्च°, जीवात्र°। ७ स पंचप्रकाराणि, °प्रकारं°। ८ स °राक्षमहिंसा°। ९ स मतं । १० स प्राशुकं, प्रांशुकं । ११ स योगं ।

216) हतं घटीयन्त्रचतुष्पदादिसूर्येन्दुवाताग्निकरैर्मुनीन्द्राः ।
[1]अत्यन्तवातेन हतं[2] वहच्च यत्प्रासुकं[3] तन्निगदन्ति वारि ॥ ७ ॥

217) भवत्यवश्यायहिमांशु[4]धूमरीघनाम्बुशुद्धोदकबिन्दुशीकरान् ।
विहाय शेषं व्यवहारकारणं मुनीशिनां[5] वारिविशुद्धिमिच्छताम् ॥ ८ ॥

218) उष्णोदकं प्रतिगृहं यदकारि[6] लोकैस्तच्छ्रावकः[7] पिबति नान्यजनः[8] कदाचित् ।
तत्केवलं मुनिजनाय विधीयमानं षड्जीवसंततिविराधनसाधनाय ॥ ९ ॥

219) यथार्थवाक्यं[9] रहितं कषायैरपीडनं[10] प्राणिगणस्य[11] पूतम्[12] ।
गृहस्थभाषाविकलं[13] हितार्थं[14] सत्यव्रतं[15] स्याद्वदतां यतीनाम् ॥ १० ॥

220) ग्रामादिनष्टादि धनं परेषामगृह्णतो[16] ऽल्पादि[17] मुनेस्त्रिधापि ।
भवत्यदत्तग्रहवर्जनाख्यं व्रतं मुनीनां गदितं हि लोके ॥ ११ ॥

पिबतां मुनीनां षड्जीवघातं कथयन्ति ॥ ६ ॥ यद् वारि घटीयन्त्रचतुष्पदादिसूर्येन्दुवाताग्निकरैः हतं, अत्यन्तवातेन हतं वहत् च मुनीन्द्राः तत् प्रासुकं निगदन्ति ॥ ७ ॥ वारिविशुद्धिम् इच्छता मुनीनाम् अवश्यायहिमांशुधूमरीघनाम्बुशुद्धोदकबिन्दुशीकरान् विहाय शेषं व्यवहारकारण भवति ॥ ८ ॥ लोकैः प्रतिगृहं यद् उष्णोदकम् अकारि तत् श्रावकः पिबति । कदाचित् अन्यजनः न । केवलं मुनिजनाय विधीयमानं तत् षड्जीवसंततिविराधनसाधनाय (भवति) ॥ ९ ॥ कषायैः रहितं, प्राणिगणस्य अपीडनं, पूतं, गृहस्थभाषाविकल, यथार्थवाक्यं हितार्थं वदता यतीना सत्यव्रत स्यात् ॥ १० ॥ परेषा ग्रामादिनष्टादि अल्पादि धन त्रिधापि अगृह्णत: मुने: लोके मुनीनाम् अदत्तग्रहवर्जनाख्यं व्रतं गदितं भवति ॥ ११ ॥ यासां स्त्रीणा

रखते हैं उनको षट्कायिक जीवोंके घातका दोष लगता हैं ऐसा संत पुरुष कहते है ॥ ६ ॥ जो जल घटीयंत्र द्वारा आहत हो, जो चतुष्पद गाय-भैंस आदि जानवरोंके पाँवोंसे ताडित हो, जो सूर्य-चंद्रकी किरणोंसे, वायुसे, अग्निसे, तथा हाथोसे आहत हो, अत्यंत वेगवान वायुसे आहत हो, अथवा जो जल प्रवाहरूपसे बहता है उसको प्रासुक जल कहते हैं ॥ ७ ॥ "पाला, ओले, ओस बिन्दु"–मेघकी जलधारा आदि छोड़ कर शेष जल विशुद्धि करनेकी इच्छा करने वाले मुनिजनोंको व्यवहार करने योग्य है ॥ ८ ॥ जो उष्णजल प्रत्येक घरमें श्रावक लोकोंके द्वारा ही अपने लिये गरम किया हो वह मुनि जनोंको पीने योग्य है । श्रावकोके सिवाय अन्य लोकोंने गरम किया हुआ जल, अथवा जो केवल मुनिजनोंके लिये गरम किया हो, वह जल पीने योग्य नही है; क्योंकि वह षट्काय जीवोंकी संततिकी विराधनाका कारण होता है ॥ ९ ॥ जो वचन यथार्थ है, कषायोंसे रहित है, प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाने वाला है । पवित्र भावनासे युक्त है, गृहस्थ लोक व्यापार-आरभ विषयक जो वचन बोलते हैं उनसे रहित है, अथवा गृहस्थी जनोंके साथ कुशल वार्ता आदि विषयक जो भाषा बोली जाती है उससे रहित है, ऐसे यथार्थ वचन बोलने वाले मुनियोंके सत्य व्रत होता है । विशेषार्थ—जो हित-मित है, तथा जीवोंको पीड़ा कारक न हो ऐसा सार्थक वचन बोलना ही, वचनयोगी मुनियोंका सत्य व्रत कहा जाता है ॥ १० ॥ मन, वचन, काय पूर्वक दूसरेका राज्य आदि तथा खोया हुआ धन आदि अथवा अल्पसी कोई चीज भी बिना दिये ग्रहण न करना यह मुनियोंका अदत्त ग्रहणत्याग नामक व्रत कहा गया है । भावार्थ–

---

१ स प्रत्यंतवाते, अत्यंतवाते, अत्यंतवाये । २ स निहितं । ३ स प्रासुकं, प्राशुक । ४ स हिमासु, हिमांसु; धूसरी । ५ स मनीषिणां । ६ स यदकार । ७ स तच्छ्रवकै, तच्छ्रावकैः । ८ स नान्यजनैः । ९ स °वाच्यं । १० स °पीडितं । ११ स °गतस्य । १२ स पूर्तं । १३ स विरलं । १४ स यथार्थं । १५ स सत्यं व्रतं । १६ स परेषां न गृह्णती । १७ स ऽल्पादिमुने° ।

221) विलोक्य मातृस्वसृदेहजावत्[1] स्त्रीणां त्रिकं[2] रागवशो[3] न यासाम् ।
विलोकनस्पर्शनसंकथाभ्यो निवृत्तिरुक्तं[4] तदमैथुनत्वम् ॥ १२ ॥
222) सचेतनाचेतनभेदनोत्था:[5] परिग्रहा: सन्ति विचित्ररूपा: ।
तेभ्यो निवृत्तिस्त्रिविधेन यत्र[6] नैसंग्यमुक्तं तदपास्तसंगै: ॥ १३ ॥
223) युगान्तरप्रेक्षणत: स्वकार्याद्दिवा पथा[7] जन्तुविवर्जितेन ।
यतो[8] मुनेर्जीवविबाधहान्या गतिर्वरेर्या[9] समिति: समुक्ता ॥ १४ ॥
224) आत्मप्रशंसापरदोषहासपैशुन्यकार्कश्यविरुद्धवाक्यम् ।
विवर्ज्य भाषां वदतां मुनीनां वदन्ति भाषा[10] समितिं जिनेन्द्रा: ॥ १५ ॥
225) अनुद्गमोत्पादनव[11] ल्भदोषा मनोवच:कायविकल्पशुद्धा[12] ।
सकारणा[13] या मुनिपस्य भुक्तिस्तामेषणाख्यां समितिं वदन्ति ॥ १६ ॥
226) आदाननिक्षेपविधे[14] र्विधाने द्रव्यस्य योग्यस्य[15] मुने: प्रयत्न:[16] ।
आदाननिक्षेपणनामधेयां[17] वदन्ति सन्त: समितिं पवित्राम्[18] ॥ १७ ॥

त्रिकं मातृस्वसृदेहजावत् विलोक्य रागवशो न (तथा) विलोकनस्पर्शनसंकथाभ्यो निवृत्ति· तद् अमैथुनत्वम् उक्तम् ।। १२ ॥ सचेतनाचेतनभेदनोत्था· विचित्ररूपा: परिग्रहा: सन्ति । यत्र तेभ्य: त्रिविधेन निवृत्ति: तद् अपास्तसंगै. नै.संग्यम् उक्तम् ॥ १३ ॥ दिवा स्वकार्यात् जन्तुविवर्जितेन पथा युगान्तरप्रेक्षणत: यत: मुने: जीवविबाधहान्या वरा गति: ईर्यासमिति: समुक्ता ॥ १४ ॥ जिनेन्द्रा: आत्मप्रशंसापरदोषहासपैशुन्यकार्कश्यविरुद्धवाक्यं विवर्ज्य भाषा वदता मुनीना भाषासमितिं वदन्ति ॥ १५ ॥ मुनिपस्य या अनुद्गमोत्पादनवल्भदोषा मनोवच कायविकल्पशुद्धा सकारणा भुक्ति· ताम् एषणाख्या समितिं वदन्ति ॥ १६ ॥ मुने: योग्यस्य द्रव्यस्य आदाननिक्षेपविधे: विधाने प्रयत्न: । सन्त. (ता) आदाननिक्षेपणनामधेया पवित्रा

किसीकी रक्खी हुई, गिरी हुई, भूली हुई छोटीसे छोटी भी चीज बिना दिये मन-वचन-कायसे ग्रहण न करना तीसरा अचौर्यव्रत है ।। ११ ।। वृद्धाको माँ के समान, युवतीको बहिनके समान, कन्याको पुत्रीके समान मान-कर, सब स्त्रीमात्रके साथ राग भावसे उनके अंग-उपांगोको देखना, उनको स्पर्श करना, उनसे राग कथा-गोष्ठी करना इन सबका त्याग मैथुन विरति नामक चौथा ब्रह्मचर्यव्रत है ।। १२ ।। सचेतन और अचेतनके भेदसे परि-ग्रह अनेक प्रकारका है । उनसे मन-वचन-कायसे निवृत्ति करना, उन पर मूर्छा-ममत्व परिणाम न रखना उसे परिग्रह त्यागी मुनियोंने परम निर्ग्रंथ नामक परिग्रहत्याग व्रत कहा है ।। १३ ।। चलते समत एकेंद्रियादि जीवों-की विराधना न हो, उनको बाधा न पहुँचे इस सावधानीसे आगेकी हस्तप्रमाण जमीन देखकर चलना, अपने आत्म-हित कार्यके लिये ही गमन करना, दिनमे ही गमन करना, जीव जन्तु रहित मार्गसे गमन करना यह मुनियोंकी श्रेष्ठ ईर्यासमिति कही गई है ।। १४ ।। आत्मप्रशंसा, परनिंदा, उपहास, पिशुनता (चुगल) कर्कश-कठोर वचन तथा आगम विरुद्ध वचनको छोड़कर जो हित-मित्त-प्रिय वचन बोलते है उन वचनयोगी मुनियोंकी वह भाषा-समिति है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं ।। १५ ।। उद्गम आदि छ्यालीस दोष तथा बत्तीस अंतरायोंसे रहित मन-वचन-कायकी शुद्धि पूर्वक, रत्नत्रयका निर्दोष पालन करनेके उद्देशसे शरीरकी स्थितिके लिये प्रासुक आहार लेना, उसे मुनियोंकी एषणासमिति कहते हैं ।। १६ ।। दिगंबर मुनिके योग्य पिच्छि कमंडल, शास्त्र

---

१ स देहयाव° । २ स तृकं, स्त्रिकं, त्रिकं । ३ स °वशेन । ४ स om. °रुक्तं to यत्र in verse No. 13 । ५ स °भेदतोर्था, °भेदतोक्ता । ६ स या च, यात्रा । ७ स यथा । ८ स यत्नो मुने, यत्र मुने, यत्नान्मुने° । ९ स वरेर्या स° । १० स भाषा स° । ११ स वला, वल्म । १२ स °शुद्धा: । १३ स स्वकारणा । १४ स °विधि° । १५ स योगस्य, योग्यंस । १६ स सयत्न: । १७ स °धेयं, °येयं । १८ स पवित्रं ।

227) दूरे विशाले [1]जनजन्तुमुक्ते गूढे ऽविरुद्धे[2] त्यजतो मलानि ।
पूतां [3]प्रतिष्ठापननामधेयां वदन्ति साधोः समितिं जिनेन्द्राः ॥ १८ ॥

228) समस्तजन्तुप्रतिपालनार्थाः कर्मास्रव[4]द्वारनिरोधदक्षाः ।
इमा मुनीनां निगदन्ति पञ्च पञ्चत्वमुक्ताः समितीर्जिनेन्द्राः ॥ १९ ॥

229) प्रवृत्तयः स्वान्तवचस्तनूनां सूत्रानुसारेण निवृत्तयो वा[5] ।
यास्ता जिनेशाः कथयन्ति तिस्रो गुप्तीर्विधूताखिलकर्मबन्धाः ॥ २० ॥

230) एवं चरित्रस्य चरित्रयुक्तैस्त्रयोदशाङ्गस्य निवेदितस्य ।
व्रतादिभेदेन भवन्ति भेदाः सामायिकाद्याः पुनरेव पञ्च ॥ २१ ॥

231) पञ्चाधिका विंशतिरस्तदोषैरुक्ताः[6] कषायाः क्षयतः शमाद्वा ।
तेषां यथाख्यातचरित्रमुक्तं [7]तन्मिश्रतायामितरं चतुष्कम् ॥ २२ ॥

समितिं वदन्ति ॥ १७ ॥ जिनेन्द्राः दूरे विशाले जनजन्तुमुक्ते गूढे अविरुद्धे (स्थाने) मलानि त्यजतः साधोः पूता प्रतिष्ठापननामधेयां समितिं वदन्ति ॥ १८ ॥ जिनेन्द्राः मुनीनां समस्तजन्तुप्रतिपालनार्थाः, कर्मास्रवद्वारनिरोधदक्षाः, पञ्चत्वमुक्ताः इमाः पञ्च समितीः निगदन्ति ॥ २० ॥ स्वान्तवचस्तनूनां सूत्रानुसारेण याः प्रवृत्तयः निवृत्तयः वा, ताः जिनेशाः विधूताखिलकर्मबन्धाः तिस्रः गुप्तीः कथयन्ति ॥ २० ॥ चरित्रयुक्तैः एवं निवेदितस्य त्रयोदशाङ्गस्य चरित्रस्य व्रतादिभेदेन सामायिकाद्याः पुनः पञ्च एव भेदा भवन्ति ॥ २१ ॥ अस्तदोषैः पञ्चाधिका विंशति कषाया, क्षयतः शमाद्वा उक्ताः

आदि पदार्थोंका सावधानीसे धरना-उठाना यह मुनियोंकी आदान निक्षेपण नामकी चौथी पवित्र समिति संतपुरुषोंने कही है ॥ १७ ॥ ग्रामसे दूरवर्ती, विशाल, जीवजतु विरहित, एकांत स्थान पर मलमूत्र विसर्जन करना मुनियोंकी प्रतिष्ठापन समिति जिनेंद्र देवने कही है ॥ १८ ॥ जन्म मरणसे मुक्त जिनेन्द्रदेवने समस्त जीव जंतुकी सुरक्षा हो इस हेतुसे, तथा शुभ-अशुभ कर्मास्रवको रोकनेके लिये यह मुनियोंके लिये पाँच प्रकारकी समिति कही है ॥ १९ ॥ सर्वज्ञ प्रतिपादित शास्त्रके अनुसार मन-वचन-कायकी आत्म स्वरूपके तरफ प्रवृत्ति अथवा शुभ-अशुभ कार्यसे निवृत्ति यह मुनियोंकी तीन प्रकारकी गुप्ति है ऐसा समस्त कर्मबंधका नाश करनेवाले जिनेंद्रदेवने कहा है ॥ २० ॥ पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इसतरह तेरह भेद सहित चारित्र चारित्रधारी मुनियोंने कहा है । तथा व्रतादि भेदोंसे इस चारित्रके (१) सामयिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्मसांपराय (५) यथाख्यात ऐसे पाँच भेद होते हैं ॥ २१ ॥ इन सामायिकादि पाँच भेदोंमें जो यथाख्यात नामक चारित्र है वह क्रोध-मान-माया-लोभ आदि पच्चीस कषाय दोषोंका क्षय अथवा उपशम होनेपर होता है और शेष चार चारित्र उन कषायोंका क्षयोपशम होनेपर होते हैं । विशेषार्थ—चारित्र मोहनीय कर्मकी पचीस प्रकृति-अनंतानुबंधीक्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलनक्रोध मान माया लोभ, ये सोलह प्रकृति और नव नोकषाय-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन पच्चीस प्रकृतियोंका उपशमश्रेणी चढनेवाला जीव सर्वथा उपशम करता है उस समय उसको औपशमिक यथाख्यात चारित्र होता है (गुण ११) । इन्ही पच्चीस प्रकृतियोंका क्षपकश्रेणी चढ़नेवाला जीव क्षय करता है उसको क्षायिक यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है (गुण १२ से १४) । तथा अनंतनुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण इन कुल सर्वघातिप्रकृतियोंका उदयाभावीक्षय और कुछ प्रकृतियों-

---

१ स जीवजन्तु । २ स विरुद्धे । ३ स °ष्टापण° । ४ स °श्रव° । ५ स निवृत्तयो गा । ६ स °रुक्त । ७स तान्मिश्रि°, जन्मि° ।

232) सद्दर्शनज्ञानफलं चरित्रं ते तेन हीने भवतो वृथैव ।
[1]सूर्यादिसंगेन दिवेव नेत्रे नैतत्फलं येन वदन्ति सन्तः ॥ २३ ॥

233) कषायमुक्तं कथितं चरित्रं [2]कषायवृद्धावुपघातमेति ।
यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतम्[3] ॥ २४ ॥

234) कषायसंगौ[4] सहते[5] न वृत्तं सभार्द्रचक्षुर्न दिनं च रेणुम् ।
कषायसंगौ[6] विधुनन्ति[7] तेन चारित्रवन्तो मुनयः सदापि ॥ २५ ॥

235) निःशेषकल्याणविधौ समर्थं यस्यास्ति वृत्तं शशिकान्तिकान्तम् ।
मर्त्यस्य[8] तस्य द्वितये[9]ऽपि लोके न विद्यते क्वापि जातु भीतिः ॥ २६ ॥

तेषां यथाख्यातचरित्रम् उक्तम् । तन्मिश्रतायाम् इतरं चतुष्कम् ॥ २२ ॥ चरित्रं सद्दर्शनज्ञानफलम् । दिवा सूर्यादिसंगेन (हीने) नेत्रे इव तेन हीने ते वृथैव भवतः । येन सन्तः एतत् फलं न वदन्ति ॥ २३ ॥ चरित्रं कषायमुक्तं कथितम् । कषाय-वृद्धौ उपघातम् एति । यदा पुंसः कषायः शमम् एति, तदा चरित्रं पुनः पूतम् एति ॥ २४ ॥ वृत्तं कषायसंगौ न सहते । सभार्द्रचक्षुः न दिनं रेणुं च (सहते) । तेन चारित्रवन्तः मनुयः सदापि कषायसंगौ विधुनन्ति ॥ २५ ॥ निःशेषकल्याणविधौ समर्थं शशिकान्तिकान्तं यस्य वृत्तम् अस्ति, तस्य मर्त्यस्य द्वितये ऽपि लोके जातु क्वापि भीति न विद्यते ॥ २६ ॥ संयतस्य

का सदवस्थारूप उपशम, तथा संज्वलन देशघातिका उदय होनेपर जो क्षायोपशमिक चारित्र प्रगट होता है उसके चार भेद हैं। (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहारविशुद्धि (४) सक्ष्मसांपराय। सामायिक–का अर्थ है आत्मा-आत्मस्वभावमें लीन रहना वह सामायिक चारित्र है। छेदोपस्थापना–स्वभावसे च्युत होनेपर छेद-प्रायश्चित्त लेकर फिरसे स्वभावमें स्थापना करना इसको छेदोपस्थापना चारित्र कहते है (गुण ६ से ९)। परिहारविशुद्धि–आत्मविशुद्धिके बलसे विहार करते समय भूमीसे अधर चलनेकी ऋद्धि प्राप्त होना यह परि-विशुद्धि चारित्र है। सूक्ष्मसांपराय–सूक्ष्म लोभ कषाय रहनेपर जो चारित्र प्रगट होता है उसे सूक्ष्मसापराय चारित्र कहते हैं। यथाख्यातचारित्र–जैसा आत्माका स्वरूप है ध्रुव स्वभाव है उस स्वरूप परिणत होना इसको यथाख्यात चारित्र कहते हैं॥ २२ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका फल सम्यक् चारित्र है। सम्यक्चारित्रसे रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान वृथा निरर्थक है। जिसप्रकार नेत्र होकर भी दिनको सूर्यादिक का प्रकाश न हो तो नेत्रका फल (कार्य) देखना संभव नही है। उसीप्रकार विना चारित्रके केवल सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। ऐसा संतपुरुष कहते हैं॥ २३ ॥ कषायके अभाव होनेपर ही चारित्र होता है। ऐसा कहा है। कषायकी वृद्धि होनेपर चारित्रका विनाश होता है। जब कषाय शमनको प्राप्त होता है तब ही चारित्र पवित्र निर्दोष होता है॥ २४ ॥ चारित्र कषाय और संग (परिग्रह मूर्छापरिणाम), इनके सद्भाव को सहन नहीं करता। जिसप्रकार नेत्ररोगसे पीड़ित आंख दिनका प्रकाश तथा धूलिकणको सहन नहीं करती। इसलिये जो चारित्रधारी मुनि कषाय और परिग्रहका सदाके लिये त्याग करते हैं वे ही सच्चे ज्ञानी मुनि कहलाते हैं। ॥ २५ ॥ पूर्ण चंद्रमाकी कांतिसमान जिनका चारित्र निर्दोष और पूर्ण है उनका ही चारित्र परिपूर्ण आत्म-कल्याण करनेमें समर्थ होता है। उस वीरपुरुषको इस लोकमें तथा परलोकमें कदापि रंचमात्र भी भीति नहीं होती। विशेषार्थ–जो कषाय और परिग्रहसे सहित है उनको ही सदैव भीति रहती है। वेही (अप + राधी)

---

१ स सर्प्पादि°, सर्पादि°, सर्प्पादिसमेन दिव्ये वि, सर्प्पाद्य° दिवे वि। २ स °वृद्धाचयद्या°, °वपाद्या°। ३ स पूंस। ४ स संगो, संगैः। ५ स सह तेन। ६ स शंगौ, संगौ, संगं। ७ स विधुनोति। ८ स मर्त्तस्य, मूर्त्तस्य। ९ स द्वितयो।

236) न चक्रनाथस्य न नाकिराजो न भोगभूपस्य न नागराजः ।
आत्मस्थितं शाश्वतमस्तदोषं यत्संयतस्यास्ति सुखं विबाधम् ॥ २७ ॥

237) निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः संतोषवानस्तसमस्तदोषः ।
यत्सौख्यमाप्नोति गतान्तरायं किं तस्य लेशो[1] ऽपि सरागचित्ते[2] ॥ २८ ॥

238) ससंशयं नश्वरमन्तदुःखं सरागचित्तस्य जनस्य सौख्यम् ।
तदन्यथा रागविवर्जितस्य तेनेह संतो न भजन्ति रागम् ॥ २९ ॥

239) विनिर्मलं [3]पार्वणचन्द्रकान्तं यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः ।
मानी[4] कुलीनो जगतोऽभिगम्यः कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः ॥ ३० ॥

240) गर्भे विलीनं वरमत्र मातुः[5] प्रसूतिकाले ऽपि वरं विनाशः ।
असंभवो वा वरमङ्गभाजो न जीवितं चारुचरित्रमुक्तम् ॥ ३१ ॥

आत्मस्थित अस्तदोषं शाश्वतं विबाध यत् सुखम् अस्ति (तत्) न चक्रनाथस्य न नाकिराज , न भोगभूपस्य, न नागराज· (अस्ति) ॥ २७ ॥ निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः, सतोषवान्, अस्तसमस्तदोष· यद् गतान्तरायं सौख्यम् आप्नोति तस्य लेशः अपि सरागचित्ते (अस्ति) किम् ? ॥ २८ ॥ सरागचित्तस्य जनस्य सौख्यं ससंशयं नश्वरम् अन्तदु.खं (च) । रागविवर्जितस्य तदन्यथा । तेन इह सन्त. रागं न भजन्ति ॥ २९ ॥ यस्य पार्वणचन्द्रकान्तं विनिर्मलं चारित्रम् अस्ति, असौ गुणज्ञ , मानी, कुलीन , जगत अभिगम्य , कृतार्थजन्मा, महनीयबुद्धि· ॥ ३० ॥ अत्र मातु· गर्भे विलीनं वरम् । प्रसूतिकाले विनाश· अपि

आत्माकी आराधनासे दूर होनेसे अपराधी है । अपराधी चोर ही भयभीत होता है । रात्रिमें कोई न देखे, न सुने इस डरसे धीमे-धीमे पाव रखकर चलता है । परतु जो निरपराधी है, चारित्रधारी है, आत्माकी आराधना में सदैव तत्पर है वह सदा निर्भय है ॥ २६ ॥ चारित्रधारी संयतमुनिको जो निर्बाधात्मास्थित, ध्रुवस्वभावरूप, समस्तदोष रहित शाश्वत सुख होता है वह सुख चक्रवर्तीको भी नही है । स्वर्गस्थ देवेंद्रको भी नहीं है । भोग-भूमिमें रहनेवालोंको भी नही है । नागराज धरणेंद्रको भी नही है । इनका सब बाह्य अनात्म जडवैभव आत्म-वैभवके सामने तुच्छ है ॥ २७ ॥ जिसने सांसारिक समस्त लोकव्यवहारोसे अपनी वृत्ति अपना उपयोग हटाया है, जो परमसंतोषवान् है, समस्त दोष भय जिनके नष्ट हो गये हैं उसको सब अंतराय-विघ्नबाधाओंसे रहित निरंतराय अखंड जो साधन सुख मिलता है, उसका लेशमात्र भी सरागीको प्राप्त नही होता ॥ २८ ॥ जो सरागचित्त है; सरागचरित्र धारण करने वाले है, उनको चारित्रके बलसे जो कुछ स्वर्गादि ऐहिकसुख मिलता है वह संशयसहित होता है । उस सुखसे च्युत होनेकी शंका-भीति देवलोकमे सदैव रहती है । वह नश्वर है । शाश्वत नही है । अंतमें महान दुःख उत्पन्न करने वाला है । परंतु जिनका चित्त रागरहित है, वीतरागचारित्र को जो धारण करते है । उनको जो सुख मिलता है वह उक्त ऐहिक सुखसे विलक्षण है । उस सुखसे च्युत होनेका भय नहीं होता है । वह अविनश्वर शाश्वत होता है । उसका अंत नही, निरंतर ऐसा अनत सुख वीतरागचारित्र धारी मुनिको प्राप्त होता है । इसलिये सत पुरुष रागको—कषायको कभी नहीं चाहते । रागको आगके समान भयंकर समझते हैं । उससे सदैव दूर ही रहते हैं ॥ २९ ॥ जिसका चारित्र पूर्णमासी चंद्रमाके समान निर्मल-निर्दोष पूर्ण है, वही श्रेष्ठ है । गुणज्ञ है । वही सच्चा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है । वही सम्मान करने योग्य है । कुलीन है । उसीने अपना जन्म अपना कुल सार्थक किया । वही जगत में श्रेष्ठ है ॥ ३० ॥ जिसका जीवन चारित्रसे हीन रहित है, उसका इस लोकमें जन्म लेकर माताके गर्भमें ही विलीन होना अच्छा है । अथवा जन्म

---

१ स लेश्यो; २ स °चित्त. । ३ स पार्व्वणि, पार्वणि° । ४ स माणी । ५ स प्रसोति° ।

241) निरस्तभूषो ऽपि यथा विभाति पवित्रचारित्रविभूषितात्मा ।
अनेकभूषाभिरलंकृतो ऽपि [1]विमुक्तवृत्तो न तथा मनुष्यः ॥ ३२ ॥

242) सद्दर्शनज्ञानतपोद[2]माढ्याश्चारित्रभाजः सफलाः समस्ताः ।
व्यर्थाश्चरित्रेण विना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते ॥ ३३ ॥

इति चारित्रनिरूपणत्रयस्त्रिंशत् ॥ ९ ॥

वरम् । अङ्गभाज असंभव वा वरम् । चारुचरित्रमुक्तं जीवितं न ॥ ३१ ॥ यथा निरस्तभूषः अपि पवित्रचारित्रविभूषितात्मा विभाति तथा विमुक्तवृत्त मनुष्य अनेकभूषाभि अलंकृत. अपि न (विभाति) ॥ ३२ ॥ सद्दर्शनज्ञानतपोदमाढ्याः चारित्रभाज समस्ता सफला । चरित्रेण विना व्यर्था. भवन्ति । (इति) ज्ञात्वा सन्त. इह चरिते यतन्ते ॥ ३३ ॥

॥ इति चारित्रनिरूपणत्रयस्त्रिंशत् ॥ ९ ॥

लेकर प्रसूतिकालमें ही मर जाना अच्छा है। अथवा उस शरीरधारी जीवका उत्पन्न न होना ही अच्छा है। परंतु चारित्र रहित जीवन जीना निरर्थक है ॥ ३१ ॥ जिसने पवित्र चारित्ररूपी अलंकार भूषणसे अपना आत्मा विभूषित किया है वह संत पुरुष बाह्य भूषण-अलंकार-वस्त्र आदि परिग्रह न होनेपर भी जिस अपूर्व शोभाको प्राप्त करता है, उस शोभाको अनेक भूषण-अलंकार-महीनवस्त्र आदि धारण करने वाला किंतु चरित्रहीन पुरुष कदापि प्राप्त नही कर सकता ॥ ३२ ॥ जो संतपुरुष चारित्रको धारण करते है उनका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान-तप-दया-आदि सब गुण सार्थक होते हैं। चारित्रके बिना वे सब व्यर्थ-निरर्थक है। कार्यकारी नहीं है। इष्ट सिद्धिको देनेवाले नही हैं। ऐसा जानकर सतपुरुष चारित्रकी आराधनामें निरंतर प्रयत्न करते हैं ॥ ३३ ॥

●

---

१ स नि for वि, विमुक्तवृं न । २ स °दया , °ढ्याः।

[१०. जातिनिरूपणषड्विंशतिः]

243) अनेकमलसंभवे[1] कृमिकुलैः सदा संकुले[2]
विचित्रबहुवेदने बुधविनिन्दिते दुःसहे ।
भ्रमन्नयमनारतं व्यसनसंकटे देहवान्
पुरार्जितवशो भवे भवति भामिनीगर्भके ॥ १ ॥

244) शरीरमसुखावहं विविधदोषवर्चोगृहं
[3]सशुक्ररुधिरोद्भवं भवभृता भवे भ्रम्यते[4] ।
प्रगृह्य भवसंततेर्विदधता निमित्तं विधिं[5]
सरागमनसा सुखं प्रचुरमिच्छता तत्कृते ॥ २ ॥

245) किमस्य सुखमादितो भवति देहिनो गर्भके[6]
किमङ्ग[7] मलभक्षणप्रभृतिदूषिते शैशवे ।
किमङ्गजकृता[8] सुखव्यसनपीडिते यौवने
किमङ्ग[9] गुणमर्दनक्षमजराहते वार्द्धके ॥ ३ ॥

अयं देहवान् पुरार्जितवश व्यसनसकटे भवे अनारतं भ्रमन्, अनेकमलसंभवे, सदा कृमिकुलै. संकुले, विचित्रबहुवेदने, बुधविनिन्दिते, दु सहे भामिनीगर्भके भवति ॥ १ ॥ भवसंतते निमित्तं विधिं विदधता, तत्कृते प्रचुर सुखम् इच्छता, सराग-मनसा भवभृता, असुखावह, विविधदोषवर्चोगृहं, सशुक्ररुधिरोद्भव शरीर प्रगृह्य भवे भ्रम्यते ॥ २ ॥ अस्य देहिन. गर्भके आदित किं सुख भवति ? हे अङ्ग, मलभक्षणप्रभृतिदूषिते शैशवे किं (सुख भवति) ? अङ्गजकृतासुखव्यसनपीडिते यौवने

यह शरीरधारी प्राणी अपने पूर्वोपार्जित कर्मोदय वश नाना दु खोसे पूर्ण योनियोंमें भ्रमण करता हुआ माताके गर्भमें जन्म लेता है, जो कि नाना प्रकारके रक्त-मास आदि सप्त धातु मलसे बना है। निरंतर उसमें कृमी-कीटक आदि त्रस जीव उत्पन्न होते हैं। गर्भमें संकुचित रूपसे नाना प्रकारकी भयंकर वेदना सहता है। ज्ञानी सज्जन ऐसे गर्भमें उत्पन्न होनेकी निंदा करते हैं ॥ १ ॥ यह जीव जन्म धारण कर जो शरीर प्राप्त करता है वह यद्यपि इस जीवको सुखावह नही है, निरंतर दु ख ही देने वाला है। नाना प्रकारके दोष विष्टा-मल का घर है, पिताके वीर्य और माताके रजसे उत्पन्न होने वाला है। तो भी यह जीव उस शरीरके प्रेममें अंधा हो उससे अधिकाधिक सुख मिले ऐसी खोटी आशा करता हुआ उस शरीरके लिये अनुराग बुद्धिसे नाना प्रकारके उपाय करता है और जन्म-मरण सततिके कारणभूत इस शरीरको धारण करके संसारमें चिरकाल काल तक घूमता है ॥ २ ॥ इस देहधारी जीवको शरीरकी किसी भी अवस्थामें सुख नहीं मिलता। देखो ! जब यह गर्भमें आता है तब वहाँ शरीर संकुचित रहनेसे कष्ट होता है। गर्भसे निकलते समय कितने कष्ट होते हैं वे बालकके रुदनसे ज्ञात हो सकते हैं। बालकपनमें वह अंगमल-विष्टा-नाकका मल वगैरह खाता है। अज्ञानसे उसमें घृणा नहीं समझता। यौवन अवस्थामें काम विकार आदि पीड़ाओंसे पीड़ित होता है। वृद्धा अवस्थामें शरीरमें खून कम हो जानेसे शरीर जीर्ण होता है। हाथ-पाँव वातसे पीड़ित होते हैं। इस प्रकार सब अवस्थाओं-

---

१ स अनेकमूत्र° । २ स संकुलै । ३ स सुशुक्र°, सुसुक्र° । ४ स भ्राम्यते । ५ स विधं । ६ स गर्भको । ७ स किमङ्गमलभक्षणे । ८ स °कृता सुख° । ९ स किमङ्गगुण° ।

246) किमत्र विरसे सुखं दयितकामिनीसेवने
किमन्यजन[1]प्रीतये द्रविणसंचये नश्वरे।
किमस्ति [2]सुविभङ्गुरे तनयदर्शने वा भवे
यतो ऽत्र गतचेतसा तनुमता रतिर्बध्यते ॥ ४ ॥
247) गतिर्विगलिता वपुः परिणतं हृषीकं मितं[3]
[4]कुलं नियमितं भवो ऽपि कलितः सुखं संमितम्।
परिभ्रमकृतं भवे भवभृता घटीयन्त्रवद्
भवस्थितिरियं सदा परिमिताप्यनन्ता कृता ॥ ५ ॥
248) तदस्ति न वपुर्भृता यदिह नोपभुक्तं[5] सुखं
न सा गतिरनेकधा गतवता न या गाहिता।
न ता नरपतिश्रियः परिचिता न या[6] संसृतौ
न सो ऽस्ति विषयो न यः परिचितः[7] सदा देहिना[8] ॥ ६ ॥

किं (सुखं भवति) ? हे अङ्ग, गुणमर्दनक्षमजराहते वार्द्धके किं (सुखं भवति) ? ॥ ३ ॥ अत्र विरसे दयितकामिनीसेवने किं सुखम् ? अन्यजनप्रीतये नश्वरे द्रविणसंचये किं सुखम् ? सुविभङ्गुरे तनयदर्शने वा किं (सुखम्) अस्ति ? यतः अत्र भवे गतचेतसा तनुमता रतिः बध्यते ॥ ४ ॥ गतिः विगलिता। वपुः परिणतम्। हृषीकं मितम्। कुलं नियमितम्। भवो ऽपि कलितः। भवे परिभ्रमकृतं सुखं संमितम्। भवभृता घटीयन्त्रवत् इयं परिमिता अपि भवस्थितिः सदा अनन्ता कृता ॥ ५ ॥

में दुःख ही दुःख भोगना पडता है ॥ ३ ॥ वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमे न तो सुंदर प्यारी स्त्रियोंके सेवनमें सुख है। विरसे–विरस होने पर शरीरका वीर्यरस स्खलन होने पर, काम भोगमें भी रस-आनंद नहीं आता। स्त्री-पुत्र आदि अन्य जनोंके रक्षणके लिये, दूसरे लोकोंके भोगके लिये कष्ट साध्य और नश्वर धनका संचय करनेके लिये यह जीव अनेक कष्ट सहन करता है। भाग्यसे स्त्री मिली, धन मिला, तथापि इतनेसे आशाकी तृप्ति नही होती। पुत्रके मुख दर्शनकी आशा चिंता लगती है। वास्तवमे देखा जाय तो क्या उसमें भी सुख है ? उससे भी आशाकी तृप्ति नही होती। तथापि यह जीव इस चेतन-अचेतन परवस्तुओंमें तन्मय होकर उनमें ही प्रेम करता है। उनमें प्रेम बंधनमें अपनी आत्माको फसाता है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार घटीयंत्र परिमित होकर भी सदैव घूमते रहनेसे अपरिमित अनंत सा प्रतीत होता है उसी प्रकार इस शरीरधारी जीवने संसारमें परिभ्रमण करते हुये संसारकी प्रत्येक अवस्था परिमित-मर्यादित होकर भी बार-बार उन अवस्थाओंको धारण कर अनंत काल तक बनाये रखा। यह बड़ा आश्चर्य है ! वास्तव में यह जीव एक गतिमें स्थिर नही रहता। एक गति नष्ट होने पर दूसरी गति धारण करता है। शरीर भी जीर्ण होनेसे एक शरीरको छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है। इंद्रियोंकी शक्ति परिमित है तथापि यह जीव इंद्रिय विषयोंकी आशाको अपरिमित-अमर्याद-अनंत बनाता है। यह जीव जिस कुलमें उत्पन्न होता है वह कुल भी परिमित है। भव-वैभव भी परिमित मर्यादित होता है। परंतु वैभवकी इच्छा अपरिमित अमर्याद होती है। इंद्रिय विषयजन्य सुख भी तावत्काल परिमित होता है। परंतु सुखकी आशा इस जीवको अपरिमित अमर्याद होती है। इस प्रकार इस जीवने अपनी भवस्थिति वास्तवमें परिमित मर्यादित होकर भी उसकी आशा अमर्याद होनेसे अपनी भवस्थितिको अमर्याद-अनंत काल बनाये रखा है ॥ ५ ॥ इस संसार चक्र-

---

१ स °जनदुर्लभे। २ स शुचिभ°, सु(भु)विभ°। ३ स मतं for मितं। ४ स om. कुलं नियमितं। ५ स °भक्तं। ६ स या। ७ स परिनतः। ८ स देहिनाम्।

249) इदं स्वजनदेहजाततनयमातृभार्यामयं
विचित्रमिह केनचिद्रचितमिन्द्रजालं ननु[1] ।
क्व कस्य कथमत्र को भवति तत्त्वतो देहिनः
स्वकर्मवशवर्तिनस्त्रिभुवने निजो वा परः ॥ ७ ॥

250) हृषीकविषयं सुखं किमिह यन्न भुक्तं भवे
किमिच्छति नरः परं सुखमपूर्वभूतं ननु ।
कुतूहलमपूर्वजं भवति नाङ्गिनो ऽस्यास्ति चे
[2]च्छमैकसुखसंग्रहे किमपि नो विधत्से मनः ॥ ८ ॥

251) क्षणेन [3]शमवानतो भवति [4]कोपवान् संसृतौ
विवेकविकलः शिशुर्विरहकातरो वा युवा ।
[5]जराविततनुस्ततो विगतसर्वचेष्टो जरी
दधाति नटवन्नरः प्रचुरवेषरूपं वपुः ॥ ९ ॥

वपुर्भृता इह यत्सुखं न उपभुक्तं तत् न अस्ति । अनेकधा गतवता या न गाहिता, सा गति न । संसृतौ या. न परिचिताः, ता. नरपतिश्रिय न । य. देहिना सदा न परिचित स विषय न अस्ति ॥ ६ ॥ इह इदं स्वजनदेहजाततनयमातृभार्यामयं विचित्रम् इन्द्रजालं केनचित् रचितं ननु । अत्र त्रिभुवने तत्त्वत. स्वकर्मवशवर्तिन कस्य देहिन क निज वा पर. कथं क्व भवति ? ॥ ७ ॥ इह भवे यत् न भुक्तं (तत्) हृषीकविषयं सुखं किम् (अस्ति) ? ननु नर अपूर्वभूतं परं सुखम् इच्छति किम् ? अस्य अङ्गिन अपूर्वजं कुतूहलं न भवति । अस्ति चेत् शर्मैकसुखसंग्रहे मन किं नो विधत्से ॥ ८ ॥ नर संसृतौ क्षणेन शमवान् अत कोपवान् भवति । विवेकविकल शिशु विरहकातर. युवा वा (भवति) । ततः

में घूमते हुये इस जीवने एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रिय तक ऐसा एक भी शरीर नही कि जो इसने धारण नही किया। इस संसारमें ऐसा कोई सुख नहीं जो इस जीवने नही भोगा। ऐसी कोई गति नही जो इस गतिमान् जीवने धारण नही की। ऐसा कोई राजवैभव नहीं जो इस जीवको परिचित नहीं, इस जीवने भोगा नहीं। ऐसा कोई चेतन-अचेतन पदार्थ या क्षेत्र नही जो इस जीवको परिचित अनुभूत नही है ॥ ६ ॥ इस संसारमें यह अपनी कन्या, पुत्र, माता, स्त्री, इत्यादिको लेकर विचित्र इंद्रजाल नाटक किसने रचा है इसका पता नही चलता। वास्तवमें कहाँ कौन किसका किस तरह हो सकता है। अर्थात् कोई भी किसीका नही है। अपने अपने कर्मोदय-वश इस त्रिभुवनमें ये अपने भाई-बहन बनते हे। बादमें यह भव छूटनेपर पर हो जाते हैं। विशेषार्थ–जिस प्रकार इंद्रजालमें देखी गई चीजें वास्तवमें सत् रूप यथार्थ नही होती। जब तक इंद्रजाल है तब तक वे दीखती हैं। बादमें नष्ट हो जाती हैं। उसी प्रकार ये भाई बहन इस पर्यायमें जब तक संबंध है तब तक ही रहते हैं। पर्याय बदलने पर सब भिन्न भिन्न हो जाते है ॥ ७ ॥ जन्म-मरण रूप इस संसारमें ऐसा कोई भी इंद्रिय जन्य सुख नहीं है कि जो इस जीवने अनेकों बार न भोगा हो। परंतु यह जीव ऐसा मूर्ख है कि उस पूर्वभुक्त सुख-को ही बार बार भोगना चाहता है। वास्तवमें अपूर्व भुक्त पहले न भोगा हुआ जो सुख होता है वही श्रेष्ठ सुख है। इस जीवको अभूतपूर्व सुख भोगनेका कुतूहल ही नहीं है। यदि है तो यह जीव समतारूप उत्कृष्ट सुखके संग्रहके लिये अपना चित्त क्यों नहीं लगाता है ॥ ८ ॥ यह जीव कभी शांत होता है, तो कभी क्षणमात्रमें क्रोधयुक्त होता है। कभी विवेकशून्य होकर बालक अवस्था धारण करता है। कभी युवा होकर युवतियोंके विरहसे व्याकुल होता है। कभी वृद्ध होकर बुढ़ापेसे सब शरीर पीड़ित-शिथिल होता है, इसलिये कोई भी शरीर

---

१ स तनु for ननु । २ स चेत्सर्मै° । ३ स सम° । ४ स लोकवान् । ५ स जरार्द्रितनस्तदा ।

252) अनेकगतिचित्रितं [1]विविधजातिभेदाकुलं
समेत्य तनुमद्गणः[2] प्रचुरचित्र[3]चेष्टोद्यतः ।
पुरार्जितविचित्र[4]कर्मफलभुग्विचित्रां तनुं
प्रगृह्य नटवत्सदा भ्रमति जन्मरङ्गाङ्गणे ॥ १० ॥

253) अचिन्त्यमतिदुःसहं [5]त्रिविधदुःखमेनोऽर्जितं
चतुर्विधगतिश्रितं भवभृता न किं प्राप्यते ।
शरीरमसुखाकरं जगति गृह्णतामुञ्चता[6]
तनोति न तथाप्ययं विरतिमूर्जितां पापतः ॥ ११ ॥

254) [7]भजत्यतनुपीडितो विरहकातरः कामिनीं
करोति मदनोज्झितो विरतिमङ्गनासङ्गतः ।
तपस्यति मुनिः सुखी[8] हसति[9] विक्लवः क्लिश्यति
विचित्रमति चेष्टितं श्रयति संसृतौ जन्मवान् ॥ १२ ॥

जरार्दिततनुः विगतसर्वचेष्टः जरी भवति । (एवं) नटवत् प्रचुरवेषरूपं वपु दधाति ॥ ९ ॥ अनेकगतिचित्रितं विविधजातिभेदाकुलं समेत्य प्रचुरचित्रचेष्टोद्यतः पुरार्जितविचित्रकर्मफलभुक् तनुमद्गणः विचित्रां तनुं प्रगृह्य जन्मरङ्गाङ्गणे नटवत् सदा भ्रमति ॥ १० ॥ जगति असुखाकरं शरीरं गृह्णता मुञ्चता भवभृता चतुर्विधगतिश्रितम् अचिन्त्यम् अतिदुःसहम् एनोर्जितं त्रिविधदुःखं न प्राप्यते किम् ? तथापि अयं पापतः ऊर्जितां विरतिं न तनोति ॥ ११ ॥ जन्मवान् संसृतौ विचित्रमति चेष्टितं श्रयति । अतनुपीडितः विरहकातरः कामिनीं भजति । मदनोज्झितः अङ्गनासङ्गत

चेष्टा करनेको, हाथ-पांव हिलानेकी भी शक्ति नहो रहती है । इसप्रकार इस संसाररूपी रंगभूमीपर यह जीव नाना प्रकारके शरीररूप वेष धारण कर नटकी तरह नाट्यलीला करता है ॥ ९ ॥ जिसप्रकार रंगभूमिमें नट अनेक प्रकारके चित्र विचित्र पात्रोंके रूप धारण कर उन्ही जैसी चेष्टा करता है और दर्शकलोकोंको वास्तविक की सी भ्रांति करा देता है, उसीप्रकार यह जीव भी जन्ममरणरूप इस संसाररंगभूमिपर मनुष्य तिर्यंच नरक-देव इन गतियोंमें नानाप्रकारकी एकेंद्रियादि जातियोंमें जन्म लेकर नानाप्रकारकी शुभ-अशुभ भावरूप चेष्टा करता हुआ अपने पूर्वोपार्जित नानाप्रकारके कर्मोंका सुख-दुःख फल भोगता हुआ भ्रमण करता है । जब जिस पर्यायको धारण करता है उस समय उससे तन्मय होकर मैं उस पर्यायरूप ही हूं ऐसा भ्रमसे मानता है ॥ १० ॥ इस संसारमें भव धारण करनेवाले इस जीवने चतुर्गतिमें पापकर्मोंसे उत्पन्न होने वाला शारीरिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकारका अचिंत्य अति दुःसह ऐसा कौनसा दुःख है जो कि नहीं भोगा । अर्थात् जन्म लेते समय दुःखकारक शरीर धारण करते हुए और मरण आनेपर उसे छोड़ते हुए नानाप्रकारका दुःख भोगा है । तथापि यह जीव पापकर्मसे उत्कृष्ट विरति-विराग परिणतिको धारण नहीं करता, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ११ ॥ यह जीव संसारमें कभी अनंग-कामदेवसे पीड़ित होकर प्रिय स्त्रियोंके विरहसे आकुलित होकर स्त्रियोंका संगम करता है । कभी कामविकार शांत हो जानेपर स्त्रियोंसे विरक्ति धारण करता है । कभी मुनि-तपस्वी होकर तप करता है । कभी वैभवसुखसे सुखी होता है तब आनंद मानता है हँसता है । कभी दुःखसे दुःखी होता है । तब शोक करता है । इस प्रकार इस संसारमें यह एकही जीव नाना-

---

१ स विविधि° । २ स °मद्गुणः । ३ स °चित्त° । ४ स विचित्रं । ५ स त्रिविधि° । ६ स गृह्णता मुञ्चता । ७ स भजन्त्य° । ८ स सुखा । ९ स सहति ।

255) अनेकभवसंचिता इह हि कर्मणा निर्मिताः[1]
प्रियाप्रियवियोगसंगमविपत्तिसंपत्तयः[2] ।
भवन्ति सकलास्विमा गतिषु सर्वदा देहिनां
जरामरणवीचिके जननसागरे मज्जताम् ॥ १३ ॥

256) करोम्यहमिदं तदा[3] कृतमिदं करिष्याम्यदः
पुमानिति सदा क्रियाकरणकारणव्यावृतः ।
विवेकरहिताशयो[4] विगतसर्वधर्मक्षमो[5]
न वेत्ति गतमप्यहो जगति कालमत्याकुलः ॥ १४ ॥

257) इमे मम धनाङ्गजस्वजनवल्लभादेहजा[6]—
सुहृज्जनकमातुलप्रभृतयो भृशं वल्लभाः ।
मुधेति[7] हतचेतनो भववने चिरं खिद्यते[8]
यतो भवति कस्य को जगति [9]वालुकामुष्टिवत् ॥ १५ ॥

विरतिं करोति । मुनिः तपस्यति । सुखी हसति । विक्लवः क्लिश्यति ॥ १२ ॥ हि इह सर्वदा जरामरणवीचिके जननसागरे मज्जतां देहिनां सकलासु गतिषु इमाः अनेकभवसंचिताः कर्मणा निर्मिताः प्रियाप्रियवियोगसंगमविपत्तयः भवन्ति ॥ १३ ॥ अहम् इदं करोमि, इदं तदा कृतम्, अदः करिष्यामि, इति सदा क्रियाकरणकारणव्यावृतः, अत्याकुलः, विवेकरहिताशयः, विगतसर्वधर्मक्षमः पुमान् जगति गतमपि कालं न वेत्ति अहो ॥ १४ ॥ इमे मम धनाङ्गजस्वजनवल्लभादेहजासुहृज्जनकमातुलप्रभृतयः भृशं वल्लभाः इति हतचेतनः मुधा भववने चिरं खिद्यते। यतः जगति वालुकामुष्टिवत् कस्य कः भवति ॥ १५ ॥ निखिला जनाः कृतपरस्परोत्पत्तयः तनूजजननीपितृस्वसृसुताकलत्रादयो भवन्ति । किं बहुना, अत्र जगति आत्मनः

प्रकारकी चेष्टाएं करता रहता है ॥ १२ ॥ यह संसार समुद्रके समान अपरिमित है । इसमें यह जीव जन्म-मरणरूपी लहरोंसे पीड़ित होकर मनुष्य आदि गतियोंमें अनेक भवोंमें संचित पूर्वोपार्जित कर्मोदयवश कभी इष्टवियोग, कभी अनिष्ट संयोग, कभी दारिद्र्य, कभी विपत्ति, कभी सपत्ति-वैभव इस प्रकार नाना अवस्थाएं भोगता है ॥ १३ ॥ मैं अब यह करता हूँ, मैंने पूर्वमें ऐसा किया, आगे मैं यह करूंगा इसप्रकार सदैव क्रिया-व्यापारके कारणोंमें ही व्यापृत होता है, विशेषप्रकारसे चित्त लगाता है । हित-अहितके विवेकसे रहित होता है । सर्व धर्म-कर्म क्षमा-दया दान की ओर ध्यान नही देता । क्षण-क्षणमें जीवनकाल कम हो रहा है, दिन पर दिन बीत रहे हैं इसका इस जीवको भान नही रहता ॥ १४ ॥ यह जीव रात-दिन यह मेरा धन, यह मेरा पुत्र, यह मेरा बंधु, यह मेरी स्त्री, यह मेरी पुत्री, यह मेरा मित्र, यह मेरा पिता, यह मेरी माता, यह मेरा मामा आदि हैं, ये मेरे बडे प्यारे हैं । ये मुझपर बड़ा प्यार करते हैं । इन्हे छोड़कर मै जीवित नही रह सकता । इसप्रकार मोहके वश होकर इन सब मिथ्या बातोंको सच्चा समझता है । उनके संयोग-वियोगसे बिना कारण दुखी होता है । वास्तवमें इस संसारवनमें कौन किसका होता है । कोई भी किसीका होता नही । जिसप्रकार हाथकी मूठ्ठीमें बालुके कण रखो तो वे मूठ्ठीमें रहते नही । एक-एक कण मूठ्ठीमे से गिरता रहता है । उसी प्रकार ये सब माता-पिता आदि परिवार समय पाकर बिछुर जाते हैं । अपने-अपने कर्मोदय वश भिन्न-भिन्न गतिको जाते हैं ॥ १५ ॥ जो इस भवमें पुत्र है वह अन्य भवमें पिता होता है । जो इस भवमें माता है वह

---

१ स कर्मणा निर्मताः । २ स संत्पतयो । ३ स तथा । ४ स °रहितावियो । ५ स °क्षमा । ६ स °देहजा सु° । ७ स मुधेति । ८ स खिद्यसे, बिद्यते, विद्यन्ते । ९ स वालिका°, वालिकामुष्ट°, बाहुकाशुष्टि° ।

258) तनूजजननीपितृस्वसृसुताकलत्रादयो
भवन्ति निखिला जना. कृतपरस्परोत्पत्तयः ।
किमत्र बहुनात्मनो जगति देहजो जायते
धिगस्तु [1]भवसंततिर्भवभृतां सदा दु.खदा[2] ॥ १६ ॥

259) विधाय नृपसेवनं धनमवाप्य चित्तेप्सितं
करोमि[3] परिपोषणं निजकु[4]टुम्बकस्याङ्गना: ।
मनोनयनवल्लभाः समदना निषेवे तथा
सदेति कृतचेतसा स्वहिततो भवे भ्रश्यते[5] ॥ १७ ॥

260) विवेकविकलः[6] शिशुः प्रथमतोऽधिकं मोदते
ततो मदनपीडितो युवतिसंगमं वाञ्छति ।
पुनर्जरसमाश्रितो भवति [7]नष्टसर्वक्रियो
[8]विचित्रमति जीवितं [9]परिणतेर्न लज्जायते ॥ १८ ॥

261) विनश्वरमिदं वपुर्युवतिमानसं चञ्चलं
भुजङ्गकुटिलो विधि· पवनगत्वरं जीवितं ।
[10]अपायबहुलं [11]धनं बत परिप्लवं यौवनं
तथापि न जना[12] भवव्यसनसंततेर्बिम्यति[13] ॥ १९ ॥

देहज जायते । भवभृता सदा दु.खदा भवसंतति धिक् अस्तु ॥ १६ ॥ नृपसेवन विधाय चित्तेप्सितं धनम् अवाप्य निज-कुटुम्बकस्य परिपोषणं करोमि । तथा मनोनयनवल्लभा समदना अङ्गना निषेवे । इति भवे सदा कृतचेतसा स्वहितत भ्रश्यते ॥ १७ ॥ प्रथमत विवेकविकल शिशु. अधिक मोदते । तत मदनपीडित युवतिसगमं वाञ्छति । पुन. जरसम् आश्रित नष्टसर्वक्रियः भवति । विचित्रमति जीवित परिणते न लज्जायते ॥ १८ ॥ इदं वपु. विनश्वरम् युवतिमानस चञ्चलम् विधि. भुजङ्गकुटिल । जीवित पवनगत्वरम् । धनम् अपायबहुलम् । बत यौवन परिप्लवम् । तथापि जना. भव-

---

अन्य भवमें पुत्री होती है। इसप्रकार पुत्र-माता-पिता-बहिन कन्या स्त्री इनमें परस्परसे परस्परकी उत्पत्ति देखी जाती है। ज्यादा क्या कहे, यह जीव मरकर स्वयं अपना पुत्र उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार इन संसारी जीवोंकी सदा दु खमय इस संसार परंपराको धिक्कार है ॥ १६ ॥ मै राजाकी सेवाकर यथेच्छ धन प्राप्त करके उस धनसे मेरे कुटुबका परिपोषण करूंगा। तथा मनको और नेत्रको आनद देनेवाली काम बाणसे पीड़ित स्त्रीका सेवन करूंगा, उसको भोगूंगा। इसप्रकार मनमे नाना विकल्प करता हुआ यह जीव अपने आत्मकल्याणसे च्युत होता है ॥ १७ ॥ हित-अहितका विवेक रहित होनेसे शिशु अवस्थामें यह जीव प्रथम तो बड़ा आनंद मानता है। उसके बाद युवा होनेपर काम विकारसे पीड़ित होता हुआ स्त्रीके साथ संगम की इच्छा करता है। वृद्ध अवस्थाका आश्रय लेनेपर अवयव शिथिल हो जानेसे कोई भी क्रिया करनेका उत्साह नष्ट हो जाता है। इसप्रकार एकही जीवनमें ऐसी विचित्र अवस्थाओंका अनुभव करता हुआ यह जीव लज्जित नहीं होता यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १८ ॥ इस संसारमें यह शरीर तो नश्वर है। कब नष्ट होगा इसका पता नहीं। जिनपर यह प्रेम करता है उन युवतियोंका मन चंचल होता है। आज किसी पुरुषपर तो कल किसी अन्य पुरुष

---

१ स °संततिभ°, °संतति, °संततेर्भ° । २ स दु.खदा, दुःखजा । ३ स करोतु, करोति । ४ स °कुटुंबस्वसांगणाः, °कुटुम्ब°, कुटबंस्वस्या°, °स्वस्वा । ५ स भ्रस्यते, भूस्यते, मूस्यते, भ्रम्यते, भ्रंस्यते, भ्राम्यते । ६ स °विगलः । ७ स सर्वनष्ट° । ८ स विचित्रमिति, °मतिजीवितं । ९ स परिणते न । १० स आपाय° । ११ स धनं तप । १२ स जनो । १३ स विम्यत, व्यिल्पति ।

262) [1]विपत्तिसहिताः श्रियो[2] ऽसुखयुतं सुखं जन्मिनां
वियोगविषदूषिता जगति सज्जनैः संगतिः ।
[3]रुजोरगबिलं वपुर्मरणनिन्दितं प्राणिनां[4]
तथाप्ययमनारतं हतमतिर्भवे रज्यति[5] ॥ २० ॥

263) [6]अशान्तहुतभुक्शि[7]खाकवलितं जगन्मन्दिरं
सुखं विषमवातभु[8]ग्रसनवच्चलं कामजम् ।
जलस्थशशिचञ्चलां[9] भुवि विलोक्य लोकस्थितिं
विमुञ्चत[10] जनाः[11] सदा विषयमूर्च्छनां तत्त्वतः ॥ २१ ॥

264) भवे ऽत्र कठिनस्तनीस्तरललोचनाः[12] कामिनी–
[13]र्धरापरिवृढश्रि[14]यश्चपल[15]चामरभ्राजिताः[16] ।
रसादिविषयांस्तथा[17]सुखकरान्न कः[18] सेवते
भवेद्यदि[19] जनस्य नो [20]तृणशिरो ऽम्बुवज्जीवितम्[21] ॥ २२ ॥

व्यसनसंततेः न बिभ्यति ॥ १९ ॥ जगति जन्मिनां प्राणिनां श्रियः विपत्तिसहिताः । सुखम् असुखयुतम् । सज्जनैः संगतिः वियोगविषदूषिता । वपुः रुजोरगबिलं मरणनिन्दितम् । तदपि अयं हतमतिः अनारतं भवे रज्यति ॥ २० ॥ हे जनाः, जगन्मन्दिरं अशान्तहुतभुक्शिखाकवलितम् । कामजं सुखं विषमवातभुग्ग्रसनवच्चलम् । भुवि जलस्थशशिचञ्चलां लोकस्थितिं तत्त्वतः विलोक्य विषयमूर्छनां सदा विमुञ्चत ॥ २१ ॥ अत्र भवे यदि जनस्य जीवितं तृणशिरोम्बुवत् नो भवेत्, कः कठि-

---

पर । विधि दैवभाग्य भुजंगके समान टेढ़ा चलता है । कभी वैभवके शिखरपर चढाता है तो कभी विपत्तिकी खाईमें गिराता है । आज श्रीमंत है तो कल दरिद्री बनकर घूमता फिरता है । जीवन पवनवेगकी तरह चंचल है । धन कमानेमें कष्ट । उसकी रक्षा करनेमे कष्ट । अंतमें किसी कारणसे धनका वियोग होनेपर यह जीव अति कष्टी होता है । यौवन शीघ्र ही नष्टप्राय होता है । तथापि यह जीव ससारकी नानाविध संकट परंपरासे भयभीत होता नही । यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १९ ॥ यद्यपि इस ससारमें जीवोंको जो संपत्ति मिलती है वे विपत्तियोंसे सहित होती है । सुखके अनंतर दु.ख अपना स्थान जमाता है । सज्जनोंकी संगति वियोगरूपी विषदोषसे दूषित है । शरीर रोग रूपी सर्पका बिल है । जन्म मरणसे सहित है । तो भी जिसकी बुद्धि जिसका विवेक नष्ट हुआ है ऐसा यह जीव निरतर इस दुःखमय ससारमे ही अनुरक्त होता है । संसार सुखमें ही आसक्त होता है । यह बड़ा आश्चर्य है ॥ २० ॥ यह जगत् रूपी महल असातारूपी अग्निकी प्रज्वलित ज्वालासे सर्वदा जलता रहता है । काम विकार जन्य सुख विषम वायु फूत्कार छोड़ने वाले सर्पकी जिह्वाके समान चंचल है । यह लोकस्थिति-लोकमे दीखने वाली जो भी वस्तु है वह सब जलमें दीखने वाले चंद्रबिंबके समान चंचल है । ऐसा देखकर हे भव्य जीवो, यथार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करके इन विषयोकी वांछाका तथा सब प्रकारके परिग्रह मूर्च्छाका सर्वथा त्याग कर दो ॥ २१ ॥ यदि इस ससारमें मनुष्यका जीवन तृणके शिरोभागपर पड़ने वाले जल बिंदुके समान चचल क्षणभंगुर न होता तो, ऐसा कौन पुरुष है कि जो कुंभकलश समान कठिन स्तन

---

१ स सपत्ति°, सपन्नि° । २ स श्रियो सु°, श्रियो दुख° । ३ स रजो° । ४ स जन्मिना for प्राणिना, प्राणितं । ५ स स्यति, रंति, रपते, रज्यते । ६ स असात°, अशात° । ७ स °भुक्षिसा°, °भुक्विशा° । ८ स °भुग्र° । ९ स चंचला, चंचलं । १० स विमुंचति । ११ स जनां । १२ स °लोचनां कामिनी । १३ स °धरापति° । १४ स °श्रिय । १५ स चपला° । १६ स °भ्राजिता । १७ स °स्तथा सुख° । १८ स का । १९ स °व्यदि for भवेद्यदि । २० स वृतशिरोबु° । २१ स जीवितां ।

265) हसन्ति धनिनो[1] जना गतधना रुदन्त्यातुराः
पठन्ति कृतबुद्धयो [2]ऽकृतधियो ऽनिशं शेरते ।
तपन्ति मुनिपुङ्गवा विषयिणो रमन्ते तथा
करोति नटनर्तनक्रममयं [3]भवो जन्मिनाम् ॥ २३ ॥

266) न किं तरललोचना समदकामिनी वल्लभा[4]
विभूतिरपि भूभुजां धवलचामरच्छत्रभृत् ।
मरुच्चलितदीपवज्जगदिदं विलोक्यास्थिरं
परं तु सकला[5] जनाः कृतधियो वनान्ते गताः ॥ २४ ॥

267) इति प्रकुपितोरगप्रमुखभङ्गुरां सर्वदा
निधाय निजचेतसि प्रबल[6]दुःखदां संसृतिम्[7] ।
विमुञ्चत परिग्रहग्रहमनार्जवं सज्जना
यदीच्छत सुखामृतं[8] रसितुमस्तसर्वाशुभम्[9] ॥ २५ ॥

मत्तनी तरललोचना कामिनी, चपलचामरभ्राजिताः धरापरिवृढश्रिय, तथासुखकरान् रसादिविषयान् न सेवते ? ॥ २२ ॥ धनिन जनाः हसन्ति । गतधना. आतुरा. रुदन्ति । कृतबुद्धयः पठन्ति । अकृतधिय अनिशं शेरते । मुनिपुङ्गवा. तपन्ति । तथा विषयिणः रमन्ते । अयं भव. जन्मिना नटनर्तनक्रमं करोति ॥ २३ ॥ तरललोचना समदकामिनी वल्लभा न किम् । भूभुजां धवलचामरच्छत्रभृत् विभूतिरपि (वल्लभा न किम्) परं तु कृतधिय सकला जना इदं जगत् मरुच्चलित-दीपवत् अस्थिरं विलोक्य वनान्ते गता ॥ २४ ॥ हे सज्जना, इति प्रकुपितोरगप्रमुखभङ्गुरा ससृर्ति सर्वदा निजचेतसि

युगलको धारण करने वाली और चंचल नेत्रवाली कामिनियोंका संसर्ग न करता। तथा ढोलते हुये चामरोंसे शोभित पृथ्वीपतिके राजवैभवको सेवन न करता। तथा मधुर रसादि पंचेंद्रियोंके विषयोंको सेवन न करता। अर्थात् इन विषयोंको छोड़नेकी इस जीवको कदापि इच्छा नहीं होती। परतु इसका जीवन पानीके बुलबुलेके समान क्षणभंगुर होनेसे इस जीवको स्वयं इन विषयोंको छोड़कर चला जाना पड़ता है। इसलिये तत्त्वज्ञानी अपने जीवनको चंचल जानकर इन विषयोंको स्वयं त्यागकर तपस्वी बनकर आत्मकल्याणकी साधना करते हैं ॥ २२ ॥ जिनको भाग्यवश धन मिलता है वे आनंदसे हंसते हैं। दैववश जिनका धन चला जाता है वे शोकाकुल होकर रोते हैं। जिनको कुछ बुद्धि क्षयोपशम प्राप्त है वे शास्त्र पढ़ते हैं। जिनको बुद्धि नहीं-क्षयोपशम नहीं वे निरंतर प्रमादमें नींद लेनेमें जीवनको खोते हैं। जो मुनिश्रेष्ठ संसारसे विरक्त होते हैं वे तपोवन में जाकर तप करते हैं, आत्मसाधना करते हैं। जो विषयोंके अनुरागी हैं वे पंचेंद्रिय विषयोंमे ही रमते हैं। इस प्रकार यह जीव इस संसाररूपी रंगभूमिपर नटके समान विविध क्रिया करता रहता है ॥ २३ ॥ जिनके लोचन तरल हैं चंचल हैं, कामके मदसे विह्वल वे प्रिय कामिनिया क्या अस्थिर नहीं है। श्वेत चामर और छत्रसे शोभित राजा महाराजाओंकी विभूति भी क्या अस्थिर नही है। इस प्रकार पवनके द्वारा चलित होने वाली दीपककी लौके समान इस संपूर्ण जगत् को अस्थिर देख बुद्धिमान पुरुष इस जगतके मायाजालसे विमुख होकर वन प्रदेशमें जाकर तप करते हैं ॥ २४ ॥ इसलिये हे सज्जनों, यदि तुम्हारी इच्छा समस्त दुःखोंसे रहित चिर-स्थायी परम सुखामृत पीने की हो तो यह प्रक्षुब्ध सर्पादिक से युक्त क्षणभंगुर संसारका जीवन महान दुःख

---

१ स धनिजो । २ स हृत°, हृत° । ३ स भवे जन्मनां । ४ स कामिनीवल्लभा । ५ स सकलं, ऋकला । ६ स om. प्रबल । ७ स दुःखदां सदा संसृति । ८ स सुखासुखं । ९ स सर्वाशुगं, °शुगा, °सुगं ।

268) मनोभवशरार्दितः स्मरति कामिनीं यां[1] नरो
विचिन्तयति सापरं मदनकातराङ्गी परम्[2] ।
परो ऽपि परभामिनीमिति विभिन्नभावे स्थितां[3]
विलोक्य जगतः स्थितिं बुधजनास्तपः कुर्वते ॥ २६ ॥
इति[4] जातिनिरूपणषड्विंशतिः ॥ १० ॥

प्रबलदुःखदां निधाय, यदि अस्तसर्वाशुभं सुखामृतं रसितुम् इच्छत, परिग्रहग्रहं अनार्जवं विमुञ्चत ॥ २५ ॥ मनोभवशरार्दितः नरः यां कामिनीं स्मरति सा मदनकातराङ्गी अपरं विचिन्तयति । परं परोऽपि परभामिनी (विचिन्तयति) । इति विभिन्नभावे स्थितां जगतः स्थितिं विलोक्य बुधजना तप कुर्वते ॥ २६ ॥
॥ इति जातिनिरूपणषड्विंशतिः ॥ १० ॥

देनेवाला है ऐसा अपने चित्तमें निर्णय लेकर उससे छुटकारा पाने के लिये कुटिल परिग्रहको ग्रहण करनेकी इच्छा का त्याग करो। समस्त पदार्थोंसे ममत्वभाव छोड़ दो ॥ २५ ॥ जो पुरुष मनोभव कहिये कामदेवके बाणसे पीड़ित होकर जिस कामिनी-स्त्रीको चाहता है, उसके साथ समागमका निरतर आर्तध्यान करता है, वह स्त्री उसको नहीं चाहती। वह कामसे पीड़ित होकर किसी दूसरे परपुरुषके समागमकी इच्छा करती है। वह परपुरुष भी अन्य किसी दूसरी स्त्रीकी इच्छा करता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न इच्छारूप भावोंसे युक्त इस संसारकी स्थितिको देखकर ज्ञानीजन संसारसे विरक्त होकर तपोवनमें जाकर तपोनुष्ठान कर अपनी आत्माकी साधना करते हैं ॥ २६ ॥

•

---

१ स यो। २ स परां। ३ स °भावेप्सितां, स्थितं। ४ स om. इति, इति जातिनिरूपणम्।

[११. जरानिरूपणचतुर्विंशतिः]

269) जनयति वचो ऽव्यक्तं[1] वक्त्रं तनोति मलाविलं
स्खलयति गतिं हन्ति स्थाम [2]श्लथीकुरुते तनुम् ।
दहति शिखिवत्सा [3]सर्वाङ्गीणयौवनकाननं
गमयति वपुर्मर्त्यानां वा करोति जरा न किम् ॥ १ ॥

270) प्रबलपवनापातध्वस्तप्रदीपशिखोपमै[4]-
रलमलमिमैः[5] कामोद्भूतैः सुखैर्विषसंनिभैः ।
शमपरिचितौ[6] दुःखप्रान्तै [7] सतामतिनिन्दितै-
रिति कृतमनाः शङ्के वृद्धः प्रकम्पयते[8] करौ[9] ॥ २ ॥

272) चलयति तनुं [10]दृष्टेर्भ्रांतिं करोति शरीरिणा
रचयति बलादव्यक्तोक्तिं तनोति गतिक्षतिम् ।
जनयति जने ऽनुद्यां[11] निन्दामनर्थपरंपरां
हरति सुरभिं गन्धं देहाज्जरा मदिरा यथा ॥ ३ ॥

जरा वच. अव्यक्तं जनयति । वक्त्रं मलाविलं तनोति । गतिं स्खलयति, स्थाम हन्ति । तनुं श्लथीकुरुते । सर्वाङ्गीणयौवनकाननं शिखिवत् दहति । मर्त्यानां वपुः वा गमयति । सा किं न करोति ॥ १ ॥ प्रबलपवनापातध्वस्तप्रदीपशिखोपमैः विषसंनिभैः, शमपरिचितौ दुःखप्रान्तैः सताम् अतिनिन्दितैः इमैः कामोद्भूतैः सुखैः अलम् अलम् इति कृतमना वृद्ध करौ प्रकम्पयते (इति) शङ्के ॥ २ ॥ जरा यथा मदिरा शरीरिणा तनुं चलयति । दृष्टेः भ्रान्तिं करोति । बलात् अव्यक्तोक्ति

बुढ़ापा आने पर मनुष्यके वचन अस्पष्ट निकलते हैं । श्वासके रुक जानेसे वह स्पष्ट बोल नहीं सकता । जीभ लड़खड़ाने लगती है । मुँह सर्वदा मलसे भरा हुआ रहता है । लार-कफ आदि मुँहसे बहने लगते हैं । गति स्खलित हो जाती है । पैरमें पैर अटक जाते हैं । स्थाम कहिये सामर्थ्य नष्ट हो जाता है । शरीरके अवयव शिथिल हो जाते हैं । शरीर, हाथ-पांव हिलने लगते हैं । शरीरकी सब जवानी अग्निसे जलाये गये वनके समान खाकमें मिल जाती है । अंतमें शरीरको गमाना पड़ता है । और क्या कहें यह बुढ़ापा इस मृत्युलोकमें स्थित जीवोंकी कौन-सी दुःखद अवस्था नहीं करता है । अर्थात् बुढ़ापा महान दुःखदायी है ॥ १ ॥ हमारा अनुमान है कि बुढ़ापेके कारण मनुष्यके जो दोनों हाथ कंपित होते हैं वे मानों अपने अंतरंगके इस प्रकारके भाव प्रकट करते हैं कि—भाइयों ! हमने जो यौवन अवस्थामें काम जन्य सुख भोगे थे वे अब विषके समान हानिकारक सिद्ध हुए । आंधी के वेगसे बुझाई गई दीपकके लौ के समान विनश्वर निकले । जिनका सब जीवोंको समान परिचय है और दुःख ही जिनका अंत है, ऐसे इन विषयोंकी सज्जन पुरुष सदा निंदा ही करते हैं । तुच्छ समझते हैं । कदापि उनको नहीं चाहते । ऐसा मनमें भाव रखकर ही मानों यह वृद्ध पुरुष अपने दोनों हाथ हिलाता है । ऐसा हम अनुमान करते हैं ॥ २ ॥ जिस प्रकार मदिरा पीनेसे शरीर चल-विचल होता

---

१ स व्यक्तं । २ स श्लथी, श्लथीं, श्लथां, स्थलीं, स्थली° । ३ स °त्सा गर्वांगना यौ°, °त्सर्वानांनग°, °त्सर्वानंगेन यौ°, सर्व्वेषां गतयौ° । ४ स °पमौ । ५ स °रलमलनिश्चै, °मलनिनैः, °मलनिनिस्वैः, °मलसिमैः, °मलनिभैः । ६ स समपरिचितै °परिचितौ । ७ स °प्राप्तैः, °प्राप्तैः । ८ स प्रकंपायते । ९ स करौ, करै । १० स दृष्टे । ११ स मुधां ।

272) भवति मरणं प्रत्यासन्नं विनश्यति यौवनं
प्रभवति जरा सर्वाङ्गाणां विनाशविधायिनी ।
विरमत[1] बुधाः कामार्थेभ्यो वृषे[2] कुरुतादरं[3]
वदितुमिति वा [4]कर्णोपान्ते स्थितं[5] पलितं जने ॥ ४ ॥

273) मदनसदृशं यं पश्यन्ति[6] विलोचनहारिणी[7]
शिथिलिततनुः कामावस्थां[8] गता मदनातुरा ।
तमपि[9] जरसा शीर्णं मर्त्यं बलादिह भोज्यते
जगति [10]युवतीर्वा भैषज्यं विमुक्तरतस्पृहा[11] ॥ ५ ॥

274) भवति विषयान्भोक्तुं मोक्तुं [12] न च [13]क्षमचेष्टितो
वपुषि जरसा जीर्णे[14] देही विधूतबलः[15] परम् ।
रसति तरसा त्वस्थीनि[16] श्वा[17] यथा त्रपयोज्झितः
कररसनया विजीवानां विचेष्टितमीदृशम् ॥ ६ ॥

रचयति गतिक्षतिं तनोति । जने अनुद्यां निन्दाम् अनर्थपरंपरा (च) जनयति । देहात् सुरभि गन्धं हरति ॥ ३ ॥ बुधाः, मरणं प्रत्यासन्नं भवति, यौवनं विनश्यति, सर्वाङ्गाणा विनाशविधायिनी जरा प्रभवति, कामार्थेभ्य विरमत, वृषे आदरं कुरुत, इति जने वदितुं वा कर्णोपान्ते पलितं स्थितम् ॥ ४ ॥ इह जगति विलोचनहारिणी युवतिः यं मर्त्यं मदनसदृशं पश्यन्ती कामावस्थां गता मदनातुरा (भवति स्म सैव अधुना) शिथिलिततनुः विमुक्तरतस्पृहा जरसा शीर्णम् अपि तं भैषज्यं वा बलात् भोज्यते ॥ ५ ॥ वपुषि जरसा जीर्णे विधूतबलः देही विषयान् भोक्तु मोक्तुं च न क्षमचेष्टितो भवति । परं तु

है । आँखें घुमती रहती है । टूटे-फूटे अस्पष्ट वचन मुखसे निकलते हैं । चलते समय पैरमें पैर अटक जाते हैं । चलते चलते गिर पड़ता है । लोक उपहास-निंदा करते हैं । शरीरसे दुर्गन्धी फैलती है । इस प्रकार मदिरापान नाना अनर्थ परंपराका कारण होता है । उसी प्रकार वृद्धावस्थामें शरीर-यष्टी हिलती है । दृष्टिमें ज्योति कम होनेसे स्पष्ट नहीं दीखता । भ्रांति पैदा होती है । मुखसे टूटे-फूटे कुछके कुछ शब्द निकलते हैं । पांवमें चलनेकी शक्ति न होनेसे पैरमें पैर अटकते हैं । चलते-चलते गिर पड़ता है । बालक लोक हँसी उड़ाते हैं । शरीरसे दुर्गंधी फैलती है । इस प्रकार वृद्धावस्था नाना अनर्थ परंपराका कारण बन जाती है ॥ ३ ॥ वृद्धावस्था आनेपर जो शिरमें केश श्वेत हो जाते हैं वे मानों लोकोंके कानके पास आकर अपने आगमनसे इस बातकी सूचना देते हैं कि—हे सज्जनों, हिताहित विवेकीजनों सावधान हो, तुम्हारा मरण अब समीप आया है । यौवनकी अवधि पूरी हो चुकी है । तरुणावस्था नष्ट हो गई है । सर्व शरीरके अवयवोंको शिथिल बनाने वाला बुढ़ापा आ गया है । इसलिये अब तो काम पुरुषार्थको और अर्थ पुरुषार्थको छोड़ दो । काम और अर्थ पुरुषार्थसे अपनी उपयोग वृत्ति हटाकर धर्म पुरुषार्थमें अपनी उपयोग वृत्ति लगाओ । धर्मका आदर करो । अंतके दिनोंमें भी कुछ अपना आत्महित कर लो ॥ ४ ॥ अपने नेत्र कटाक्षोंसे पुरुषोंके चित्तको हरण करनेवाली, जो स्त्री युवावस्थामें जिस मदन सदृश कामी पुरुषको देखकर मदनसे पीड़ित होकर काम विकारको प्राप्त होती थी । अब उसी पुरुषको वृद्धावस्थामें बुढ़ापेसे जीर्ण शीर्ण देखकर कामकी इच्छासे रहित हो जाती है । फिर भी औषधके समान जबरन भोगी जाती हैं ॥ ५ ॥ यद्यपि बुढ़ापेसे ग्रस्त पुरुष निर्बल हो जाता है, उसकी शारीरिक शक्ति

---

१ स बिरमसि, विरमता । २ स वृष । ३ स कुरुते° । ४ स कर्णे° । ५ स स्थिति । ६ स पश्यंति । ७ स °हारिणि । ८ स कांनावस्थां, काना°, कांता° । ९ स तदपि । १० स om. युवति । ११ स विमुक्तस्पृहा । १२ स भोक्षुं, भोक्तुं । १३ स मक्षचे° । १४ स जीर्णा, जीर्णो । १५ स विधुत°, विभूवितबलः । १६ स स्वस्थीनि । १७ स श्वा, स्वा ।

275) तिमिरपिहिते नेत्रे लालाव[1]लीमलिनं मुखं
विगलितगती पादौ देहो [2]विसंस्थुलतां गतः ।
पलितकलितो मूर्धा कम्पत्यबोधि[3] जराङ्गना-
[4]मिति कृतपदां तृष्णानारी[5] तथापि न मुञ्चति ॥ ७ ॥

276) गलति सकलं रूपं लालां विमुञ्चति जल्पनं
स्खलति गमनं दन्ता नाशं श्रयन्ति शरीरिणः ।
विरमति मतिर्नो शुश्रूषां करोति च[6] गेहिनी
वपुषि जरसा ग्रस्ते वाक्यं[7] तनोति न देहजः ॥ ८ ॥

277) रचयति मतिं धर्मे नीतिं [8]तनोत्यतिनिर्मलां
विषयविरतिं धत्ते चेतः शमं[9] नयते[10] परम्[11] ।
व्यसननिहतिं[12] दत्ते सूते विनीतिमथाञ्चितां[13]
मनसि निहिता[14] प्रायः पुंसां करोति जरा हितम् ॥ ९ ॥

यथा श्वा अस्थीनि (तथा) त्र्पयोज्झित कररसनया तरसा रसति । जीवानाम् ईदृशं विचेष्टितं धिक् ॥ ६ ॥ नेत्रे तिमिर-पिहिते, मुखं लालावलीमलिनं, पादौ विगलितगती, देह विसंस्थुलतां गत , पलितकलितः मूर्धा कम्पति । इति कृतपदां जराङ्गनाम् अबोधि । तथापि तृष्णानारी न मुञ्चति ॥ ७ ॥ वपुषि जरसा ग्रस्ते शरीरिण' सकलं रूपं गलति । जल्पनं लालां विमुञ्चति । गमनं स्खलति । दन्ता. नाशं श्रयन्ति । मति' विरमति । गेहिनी शुश्रूषां न करोति । देहज च वाक्यं न तनोति ॥ ८ ॥ मनसि निहिता जरा प्राय पुंसा हितं करोति । धर्मे मतिं रचयति । अतिनिर्मला नीतिं तनोति । चेत

एकदम क्षीण हो जाती है तथापि उसको इंद्रिय विषयोंको छोड़नेकी इच्छा न होकर, प्रत्युत भोगनेकी ही इच्छा बनी रहती है। जिस प्रकार कुत्ता रक्त-मांस रहित हड्डीको तृष्णाके वश चबाया ही करता है। उसी प्रकार निर्लज्ज होकर यह जीव वृद्धावस्थामें भी उन इंद्रिय विषयोंको सेवन करनेकी ही इच्छा करता है। इस प्रकार संसारी जीवकी इस चेष्टाको धिक्कार है ॥ ६ ॥ संसारका ऐसा कायदा है कि स्त्री एक पुरुषको तब तक ही अनुराग (प्रेम) करती है जब तक वह पुरुष उसी स्त्रीको चाहता है। ज्योंही उस पुरुषने अन्य स्त्रीको चाहा, त्योंही वह उस पर गुस्सा करने लगती है। उसे छोड़नेके लिये उतावली हो जाती है। परतु तृष्णारूपी यह स्त्री ऐसी निर्लज्ज है—स्त्रियोंके कायदेके विरुद्ध काम करने वाली है—कि पुरुषको, अपने पतिको जरा रूपी अन्य स्त्री पर आसक्त होते हुये देखकर भी उसे छोड़ना नही चाहती। यद्यपि उस पुरुषके नेत्र मंद ज्योतिसे अंधुक हो गये हैं, लार गलनेसे मुख मलीन है, पैर चलनेमे लड़खड़ाते-हैं, शरीर शिथिल झुर्रीदार हो गया है, शिरका माथा केसके गलनेसे पलित हो गया है, शिर हिलता है, कांपता है, इसलिये जरारूपी अन्य स्त्रीने इसे अपना लिया है, स्वाधीन कर लिया है, ऐसा जानकर भी यह तृष्णारूपी नारी-इसे छोड़ना नहीं चाहती। अर्थात् इस पुरुषको विषय भोगोंकी इच्छा बनी ही रहती है। यह बड़ा आश्चर्य है ॥ ७ ॥ जब यह पुरुष जरासे ग्रस्त हो जाता है तब इसका संपूर्ण रूप-सौंदर्य नष्ट होता है। बोलते समय लार बहता है। चलनेमें गति स्खलित हो जाती है। दांत गिर जाते हैं। बुद्धि कुंठित हो जाती है। स्त्री सेवा शुश्रूषा करनेकी इच्छा नही करती। अपना

---

१ स °वलिम° । २ स विसंस्थ°, विसंस्क°, विशंस्थु° । ३ स °बोजरांगना । ४ स इव कृतपदां, जरांगनानिमि कृमपदां । ५ सतृष्णा नारी । ६ स वा for च । ७ स वाव्यं । ८ स तनोसिभिर्नि । ९ स समं । १० स नयति । ११ स परां । १२ स निहितं । १३ स °थाचिता, °थाचितं, थांचितां, °थार्चिता, °थच्युतां । १४ स हिता, निहता ।

278) युवतिरपरा नो भोक्तव्या त्वया मम संनिधा-
विति[1] निगदितस्तृष्णां योषां न मुञ्चसि[2] किं शठ[3] ।
निगदितुमिति [4]श्रोत्रोपान्तं[5] गतेव जराङ्गना
पलितमिषतो न स्त्रीमन्यां[6] यतः सहते ऽङ्गना ॥ १० ॥

279) वचनरचना जाता व्यक्ता[7] मुखं वलिभिः श्रितं[8]
नयनयुगलं ध्वान्ताघ्रातं श्रितं[9] पलितं शिरः ।
विघटितगती पादौ हस्तौ सवेपथुतां[10] गतौ
तदपि मनसस्तृष्णा कष्टं व्यपैति[11] न देहिनाम्[12] ॥ ११ ॥

280) सुखकरतनुस्पर्शां गौरीं करग्रहलालितां
नयनदयितां वंशोद्भूतां शरीरबलप्रदाम् ।
धृतसरलतां वृद्धो यष्टिं न [13]पर्वविभूषितां
त्यजति तरुणीं त्यक्त्वाप्यन्यां जरावनितासखीम् ॥ १२ ॥

विषयविरतिं धत्ते । परं शमं (च) नयते । व्यसननिहृतिं दत्ते । अथ अञ्चिता विनीतिं सूते ॥ ९ ॥ शठ, त्वया मम संनिधौ अपरा युवति नो भोक्तव्या, इति निगदित (त्वं) तृष्णा योषा किं न मुञ्चसि । इति निगदितुम् इव जराङ्गना श्रोत्रोपान्तं पलितमिषतो गता । यत अङ्गना अन्या स्त्री न सहते ॥ १० ॥ वचनरचना अव्यक्ता जाता । मुख वलिभि श्रितम् नयनयुगलं ध्वान्ताघ्रातम् । पलितं शिर. श्रितम् । पादौ विघटितगती । हस्तौ सवेपथुता गतौ । तदपि तृष्णा देहिना मनसः न व्यपैति, कष्टम् ॥ ११ ॥ वृद्ध सुखकरतनुस्पर्शां, गौरीं, करग्रहलालिता, नयनदयितां, वंशोद्भूतां, शरीरबलप्रदा, धृत-

---

पुत्र भी अपनी आज्ञा नहीं मानता है। इस प्रकार वृद्धावस्थामें अत्यंत दयनीय स्थिति होती है ॥ ८ ॥ परंतु ऐसा करने पर भी यदि हित बुद्धिसे विचार किया जाय तो बुढापा एक तरहसे इस प्राणीका प्रायः हित भी करता है। देखो—बुढ़ापा आने पर प्रायः विवेकी पुरुषोंकी बुद्धि धर्ममे लगती है। अति पवित्र नीतिका आचरण होने लगता है। विषयोंसे विरक्ति सहज आ जाती है। चित्तमे अभूतपूर्व शांति-प्रशम भाव उत्पन्न होता है। पाप बुद्धि नष्ट हो जाती है। मनमें श्रेष्ठ पवित्र विनय उत्पन्न होता है ॥ ९-१० ॥ तथा वृद्धावस्थामें यह जरारूपी स्त्री पलित केशके रूपमें मानों कानके समीप यह कहनेके लिये आयी है कि—तूने मेरी संगतिकी है। अब पुनः दूसरी स्त्रीको नही भोगना। ऐसा कहने पर भी हे शठ तू इस तृष्णारूपी स्त्रीको क्यों नही छोड़ता। क्योंकि कोई भी स्त्री अन्य स्त्रीको अपने सौतके साथ आसक्त होना सहन नही करती। जरा कहती है मैं तुम्हारी हितकारिणी स्त्री आ गई हूं। मेरे सामने इस दुष्ट तृष्णाका संपर्क न करना चाहिये। इसको संगतिसे तुमने आज तक नाना कष्ट उठाये। वृद्धावस्थामें मनुष्यकी भाषा अस्पष्ट होती है। मुख पर झुर्रियाँ पड़ जाती है। दोनों नेत्र ज्योति मंद होनेसे अंध हो जाते है। बाल सफेद होनेसे शिर पलित हो जाता है। दोनों पैर टेढ़े मेढ़े पड़ने लगते हैं। दोनों हाथ कंपने लगते हैं। तो भी इसके मनकी तृष्णा नहीं मिटती। यह बड़े खेदकी बात है ॥ ११ ॥ वृद्धावस्था आने पर मनुष्य यद्यपि जिसका शरीर स्पर्श सुखकर है, जो गौर वर्णवाली है, जिसका पाणिग्रहण कर प्यार किया, जो नेत्रको तृप्त करती है, कुलीन है, उच्च कुलमे उत्पन्न हुई है, जिसने आज तक

---

१ स °गदिता°, °गदितं तु° । २ स मुञ्चति । ३ स सत , सताम्, शठा , सगं, शठ । ४ स श्रोतो । ५ स °पानं, °पांते, °थांतं । ६ स श्रीमन्यां । ७ स याता, जाला, जाता व्यक्ता । ८ स सृत, श्रुतं । ९ स शितं, श्चितं, सितं । १० स सवेपथतां, °पाथतां, समुखं वलिभिः सृतं नयनयुगलं वेघिला गतौ । ११ स व्युपैति । १२ स देहिना । १३ स पूर्व° ।

281) त्यजसि न हते तृष्णायोषे जराङ्गनया नरं
रमितवपुषं धिक्ते स्त्रीत्वं शठे त्रपयोज्झिते ।
इति निगदिता कर्णाभ्यर्णे गतैः पलितैरियं
तदपि न गता तृष्णा का वा नु मुञ्चति वल्लभम्[1] ॥ १३ ॥

282) त्यजत[2] विषयान् दु:खोत्पत्तौ[3] पटूननिशं खलान्
भजत विषयान् जन्मारातेर्निरा[4]सकृतौ हितान् ।
जरयति यत. कालः कायं निहन्ति च जीवितं
[5]वदितुमिति वा कर्णोपान्ते गतं पलितं जना ॥ १४ ॥

283) हरति विषयान् दण्डालम्बे करोति गतिस्थिती
स्खलयति पथि स्पष्टं नार्थं[6] विलोकयितुं क्षमा ।
परिभवकृतः सर्वाश्चेष्टास्तनोत्यनिवारिताः[7]
कुनृपमतिवद्देहं नृणां जरा[8] परिजृम्भते[9] ॥ १५ ॥

सरलता, पर्वविभूषिता, तरुणी त्यक्त्वापि अन्या जरावनितासखी (सुखकर-इत्यादि विशेषणविशिष्टा) यष्टिं न त्यजति ॥ १२ ॥ शठे, हते, त्रपयोज्झिते, तृष्णायोषे, जराङ्गनया रमितवपुषं नरं न त्यजसि । ते स्त्रीत्वं धिक् । इति कर्णाभ्यर्णे गतैः पलितैः तृष्णा निगदिता । तदपि इयं न गता । का नु वा वल्लभं मुञ्चति ॥ १३ ॥ जनाः, अनिशं दु:खोत्पत्तौ पटून् खलान् विषयान् त्यजत । जन्मारातेः निरासकृतौ हितान् विषयान् भजत । यत कालः कायं जरयति । जीवितं च निहन्ति । इति वदितुं वा पलितं कर्णोपान्ते गतम् ॥ १४ ॥ जरा कुनृपमतिवत् विषयान् हरति । दण्डालम्बे गतिस्थिती करोति । पथि

शरीर भोगसे शरीरको बल-उत्साह प्रदान किया, माया, कपट, छल न करते हुये सच्ची पतिव्रता रहकर जिसने सरलता, ऋजुता धारण की है, धर्म पर्वसे जो विभूषित है ऐसी धर्म पत्नीको छोड़ देता है किंतु जरारूपी स्त्रीकी जो प्यारी सखी है, जिसका तनुस्पर्श सुखकर है, जो सफेद है, जिसको हाथमें पकड़ना लाभदायक लगता है, जो नेत्रका काम करती है, जो वंश (बांस) से बनी हुई है, जिसको पकड़ने पर शरीरमे बल आता है, जो सीधी सरल है, वक्र नही, जो पर्वोंसे (गाँठ) से सुंदर दिखाई देती है उस तरुण यष्टीरूपी स्त्रीको छोड़ना नहीं चाहता । यष्टीको पकड़ कर उसके सहारे चलता है ॥ १२ ॥ वृद्धावस्थामे कानों तक गये हुये सफेद केश मानों तृष्णारूपी स्त्रीको बार बार धिक्कारते हुये यह बात कहते हैं कि—हे अभागी तृष्णारूपी स्त्री अब यह पुरुष जरारूपी स्त्रीसे प्रेम करने लगा है । अब भी तू इसको छोड़ती नहीं । हे शठे तेरे स्त्रीत्वको धिक्कार है । तूने सब लज्जा छोड़ दी हैं । क्योंकि जो श्रेष्ठ स्त्रियाँ होती हैं वे अपने सामने अपने सौतके साथ, अपने पतिको रमते हुये देखना नही चाहती । अब यह पुरुष जरारूपी स्त्रीके चक्करमें फँसा है । अब इसके साथ रमना तुझे धिक्कार है । परंतु यह तृष्णारूपी स्त्री ऐसी निर्लज्ज है कि इस पुरुषको अब भी छोड़ना नही चाहती । अथवा ठीक है । केवल दूसरेके धिक्कारनेसे कोई कैसे अपने प्यारे वल्लभको छोड़ सकता है ॥ १३ ॥ अरे सज्जनो, जो विषय सदा नानाप्रकारके दु:ख देनेमें पटु है, महा दुष्ट हैं उनका त्याग करो । और जो जन्म-मरणका नाश करने वाले परम हितकारी हैं उनका अवलंबन करो । क्योंकि काल एक एक समय करके शरीरको जीर्ण बना रहा है । जीवन प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है । ऐसा कहनेके लिये ही मानों पलित हुये केश कानों तक गये हैं ॥ १४ ॥ जिस प्रकार दुष्ट राजाकी दुष्ट बुद्धि दूसरोंके देश-राज्यका हरण करना चाहती है, लोकोंको दंड देती

१ स वल्लभां, वल्लभ । २ स त्यजति । ३ स °त्पत्ति । ४ स निराश, °मिरासकृतौ, निरासा° । ५ स विदितु° । ६ स नार्थं । ७ स °वारिता, °वारिता । ८ स परा for जरा । ९ स जृंभिते ।

284) शिरसि निभृतं कृत्वा पादं प्रपातयति[1] द्विजान्
पिबति रुधिरं मांसं सर्वं समत्ति शरीरतः[2] ।
स्थपुटविषमं चर्माङ्गनां[3] दधाति[4] शरीरिणां
विचरति जरा संहाराय क्षिताविव राक्षसी ॥ १६ ॥

285) भुवनसदनप्राणिग्रामप्रकम्पविधायिनी
[5]निकुञ्चिततनुर्भीमाकारा जरा जरति रुषा ।
निहितमनसं तृष्णानार्यां[6] निरीक्ष्य नरं भृशं
पलितमिषतो जातेर्ष्या[7] वा करोति कचग्रहम् ॥ १७ ॥

286) विमदमृषिवच्छ्रीकण्ठं[8] वा गदाङ्कितविग्रहं
शिशिरकरवद्वक्त्रं वेषं विरूपविलोचनम् ।
रविमिव तमोयुक्तं[9] दण्डाश्रितं च यमं यथा
वृषमपि विना मर्त्यं निन्द्या करोतितरां जरा ॥ १८ ॥

स्खलयति । स्पष्टम् अर्थं विलोकयितु न क्षमा । परिभवकृत सर्वा चेष्टा: अनिवारिता: तनोति । नृणां देहं परिजृम्भते ॥ १५ ॥ क्षितौ राक्षसी इव जरा शिरसि निभृत पादं कृत्वा द्विजान् प्रपातयति । शरीरतः रुधिरं पिबति । सर्वं मांसं समत्ति चर्माङ्‌गना स्थपुटविषम दधाति । (एवं) शरीरिणा संहाराय विचरति ॥ १६ ॥ भुवनसदनप्राणिग्रामप्रकम्पविधायिनी निकुञ्चिततनुः भीमाकारा जरती जरा, रुषा तृष्णानार्या निहितमनसं नरं निरीक्ष्य जातेर्ष्या, पलितमिषतः वा भृशं कचग्रहं करोति ॥ १७ ॥ निन्द्या जरा वृषं विना अपि मर्त्यं ऋषिवत् विमदं, श्रीकण्ठं वा गदाङ्कितविग्रह, शिशिरकरवद् वक्त्रं, वेषं विरू-

---

है । मार्गमे लोगोंको गति-स्थितिमे रुकावट डालती है । सत्य-असत्य, न्याय-अन्यायका विचार करनेमें समर्थ नहीं होती । इस प्रकार परिभव-अपमान-तिरस्कार करनेवाली ही सब चेष्टायें करती हैं । उससे उसको कोई भी निवारण नही कर सकता । उसी प्रकार यह जरा भी पंचेंद्रियोंके विषयोंको सेवनकी सदा इच्छा करती है । चलते समय दंडयष्टीका आश्रय लेती है । मार्गमे चलनेमें खड़े रहनेमें रुकावट पैदा करती है । दृष्टि मन्द होनेसे पदार्थोंको स्पष्ट देखनेमें असमर्थ होती है । इस प्रकार वृद्धावस्थामें पुरुषकी सब चेष्टायें उसके उपहासका ही कारण बनती हैं । यह जरा अनिवार्य है । उसका कोई भी निवारण नही कर सकता ॥ १५ ॥ जिस प्रकार पृथ्वी पर राक्षसी मनुष्यके सहारके लिये विचरण करती है । वह ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्योंको नीचे दबाकर उनके शिर पर पाँव रखती है । उनका रक्त-पीती है । सब मांस खाती है । चर्म-अंगको तितर-बितर कर फेंक देती हैं । उसी प्रकार वृद्धावस्था भी प्रथम शिर पर पेर रखकर केशोंको सफेद कर देती हैं । द्विज-दाँतोंको गिराती है । फिर खूनको सुखा डालती है । मांसको भी सुखा डालती हैं । केवल हड्डी ही शेष रह जाती हैं । शरीर चर्मको झुर्रीदार कर देती हैं । इस प्रकार जरारूपी राक्षसी मनुष्यके सहारके लिये ही पृथ्वी पर संचार करती है ॥ १६ ॥ जिस प्रकार कोई स्त्री अपनी सौतको अपने पतिके साथ आलिंगन करते देखकर ईर्ष्यासे कुपित होकर रुद्ररूप धारण कर अपने पतिके केशोंको पकड़ लेती है । और इस प्रकार सब कुटुंबी जनोंके शरीरमें कपकपी पैदा कर देती हैं । उसी प्रकार यह जरारूपी स्त्री अपनी सौत तृष्णारूपी नारीमें आसक्त पुरुषको देखकर ईर्षासे मानों उसके केश पलित करनेके मिषसे उसके केशोंको पकड़ती हैं । उससे संसारके सब प्राणियोंके शरीरमें कँपकपी पैदा कर देती है ॥ १७ ॥ यह निंदनीय जरा विना ही धर्म किये मनुष्यको देवोंका स्वरूप

---

१ स प्रतापतयत्ति, प्रयातयन्ति । २ स शरीरिणां । ३ स चर्म्मांगिनां, °गणां । ४ स दधति । ५ स कुचिततनुर्भमा । ६ स °भार्यां । ७ स जातेर्षा, ज्ञातेर्ष्य, जतेर्ष्या । ८ स °मृषवच्छ्रीकंठं । ९ तमोमुक्तं ।

287) विगतदशनं शश्वल्लाला[1]स्रवाकुलसृक्ककं[2]
[3]स्खलितचरणाक्षेपं[4] वक्त्रापरि[5]स्फुटजल्पनम् ।
रहितकरणव्यक्तारम्भं मृदूकृतमूर्धजं
पुनरपि नरं पापा बालं[6] करोतितरां जरा ॥ १९ ॥

288) अहह नयने [7]मिथ्यादृग्वत्सदीक्षणवर्जिते
श्रवणयुगलं दुष्पुत्रो वा शृणोति न भाषितम्[8] ।
स्खलति चरणद्वन्द्वं मार्गे मदाकुललोकवद्
वपुषि जरसा जीर्णे वर्णो व्यपैति[9] कलत्रवत्[10] ॥ २० ॥

पविलोचन, रविम् इव तमोयुक्तं, यमं यथा च दण्डाश्रितं करोतितराम् ॥ १८ ॥ पापा जरा नरं विगतदशनं, शश्वल्लाला-स्रवाकुलसृक्ककं, स्खलितचरणाक्षेपं, वक्त्रापरिस्फुटजल्पनं, रहितकरणव्यक्तारम्भं, मृदूकृतमूर्धजं पुनरपि बालं करोतितराम् ॥ १९ ॥ अहह, वपुषि जरसा जीर्णे नयने मिथ्यादृग्वत् सदीक्षणवर्जिते । श्रवणयुगलं दुष्पुत्रो वा भाषितं न शृणोति । चरणद्वन्द्वं मदाकुललोकवत् मार्गे स्खलति । वर्णः कलत्रवत् व्यपैति ॥ २० ॥ धरात्रये जनीजनाः नदीयम् अकृत्रिमं रूपं

दे देती है। देखो—जिस प्रकार ऋषि मद रहित होते हैं। उसी प्रकार यह जरा मनुष्यको विमद-वीर्यरहित बना देती है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण गदा अस्त्रसे चिह्नित हैं, उसी प्रकार यह जरा मनुष्यको गद-रोगसे युक्त बना देती हैं। जिस प्रकार चंद्रका बिंब लांछन युक्त होता है, उसी प्रकार यह जरा मनुष्यके मुखको लांछन युक्त बनाती है। जिस प्रकार महादेव विशिष्ट रूपधारी विशिष्ट लोचन त्रिनेत्रधारी होता है उसी प्रकार यह जरा मनुष्यको कुरूप और दृष्टि रहित बनाती है। जिस प्रकार र्यसू अंधकारसे मुक्त हो जाता है उसी प्रकार यहाँ जरा मनुष्यको तममुक्त निद्रासे रहित बना देती है। जिस प्रकार यमदेव दंडधारी होता है उसी प्रकार यह जरा मनुष्यको दंडधारी बनाती है ॥ १८ ॥ अथवा यह जरा मनुष्यको बालकके समान बना देती है। जैसे बालकके मुखमें दाँत नही होते, वृद्धके मुखमें भी दाँत नही होते हैं। जिस प्रकार बालकका मुँह सदा लारसे व्याप्त रहता है, सृक्क-कहिये ओठोंके भाग हिलते रहते हैं, उसी प्रकार वृद्धके मुखसे भी लार-कफ गलता रहता है। ओठोंके भाग हिलते है। जिस प्रकार बालक चल नही सकता, चलनेकी धड़पड़ करता है तो बार बार गिरता है। उसी प्रकार वृद्ध पुरुष पाँवमें शक्ति न होनेसे चल नही सकता। चलनेकी छटपट करता है तो बारबार गिरता है। जिस प्रकार बालक टूटे-फूटे बोल बोलता है स्पष्ट बोल नही सकता। उसी प्रकार वृद्ध पुरुष भी स्पष्ट नही बोल सकता। जिस प्रकार बालककी इंद्रियाँ कमजोर होनेसे अच्छी तरह कार्य नही करती, उसी प्रकार वृद्ध पुरुषकी इंद्रियाँ भी कमजोर होनेसे काम नही करती। जिस प्रकार बालकके केश कोमल होते हैं। उसी प्रकार वृद्ध पुरुषके केश भी सफेद होनेसे कोमल बनते हैं ॥ १९ ॥ वृद्धावस्थामें मनुष्यके नेत्र मिथ्यादृष्टिके समान सम्यग्दृष्टिसे (स्पष्ट देखनेसे) रहित होते हैं। जिस प्रकार दुष्ट पुत्र पिताकी बात नही सुनता उसी प्रकार वृद्ध पुरुषके कान दूसरेका कहना नहीं सुन सकते। जिस प्रकार मदोन्मत्त पुरुष चलते समय मार्गमें इधर उधर गिरता है उसी प्रकार वृद्ध पुरुषके पाँव चलते समय मार्गमें इधर-उधर पड़ते हैं। जिस प्रकार मनुष्यके जरासे जीर्ण होने पर उससे युवती स्त्री दूर भागती है, उसी प्रकार वृद्ध पुरुषकी अंगकांति उससे दूर भागती

---

१ स लालाततकुल, लालास्रुता ° । २ स °सृक्कं । ३ स स्खलति । ४ स °चरण°, चरणापेक्षं । ५ मुखापरि° मुखाः° । ६ स पापाबाल । ७ स मिथ्या दृग्व° । ८ स भाषते. । ९ स व्यपैत्य । १० स कुलत्रवत् ।

289) मुदितमनसो दृष्ट्वा[1] रूपं यदीयमकृत्रिमं
परवशधियः कामक्षिप्तैर्भवन्ति शिलीमुखैः ।
धवलितमुखभ्रूमूर्धानं जरसा[2] धरामये[3]
झटिति मनुजं चाण्डालं[4] वा त्यजन्ति जनीजनाः[5] ॥ २१ ॥

290) नयनयुगलं व्यक्तं रूपं विलोकितुमक्षमं
पलितकलितो मूर्धा कम्पी श्रुती श्रुतिवर्जिते[6] ।
वपुषि जरसाश्लिष्टे नष्टं विचेष्टितमुत्तमं
मरणचकितो नाङ्गी धत्ते तथापि तपो हितम्[7] ॥ २२ ॥

291) [8]द्युतिगतिधृतिप्रज्ञालक्ष्मीपुरःसरयोषितः
सितकचवलिव्याजान्मर्त्यं निरीक्ष्य[9] जरां गतम्[10] ।
प्रदधति रुषं[11] तृष्णानारी पुनर्न विनिर्गता
त्यजति हि न वा स्त्री प्रेयांसं कृतागसमप्यलम् ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा मुदितमनसः कामक्षिप्तैः शिलीमुखैः मुदितमनसः भवन्ति, जरसा धवलितमुखभ्रूमूर्धानं मनुजं वा चाण्डालं झटिति त्यजन्ति ॥ २१ ॥ जरसा वपुषि आश्लिष्टे नयनयुगलं व्यक्तं रूपं विलोकितुम् अक्षमम् । पलितकलितः मूर्धा कम्पी । श्रुती श्रुतिवर्जिते । उत्तमं विचेष्टितं नष्टम् । मरणचकितः अङ्गी तथापि हितं तपः न धत्ते ॥ २२ ॥ द्युतिगतिधृतिप्रज्ञा-लक्ष्मीपुरःसरयोषितः सितकचवलिव्याजात् मर्त्यं जरा गतं निरीक्ष्य तृष्णानारी रुषं प्रदधति, पुनः न विनिर्गता । हि स्त्री अलं कृतागसमपि प्रेयांसं न त्यजति ॥ २३ ॥ नराः तनोः गुणनाशिनी परिणतिम् अतिस्पष्टां दृष्ट्वा संसाराब्धेः समुत्तर-

---

है ॥ २० ॥ जो स्त्रियाँ पहले जिसका अकृत्रिम-स्वाभाविक सौंदर्य रूप देख कर हर्षित चित्त होती थीं । तथा कामदेवके फेंके हुये बाणोंसे विद्ध होकर उसके आधीन होती थीं, वे ही स्त्रियाँ अब उस पुरुषके जरासे ग्रस्त होनेसे उसको कांतिहीन देख उस वृद्ध पुरुषको चांडाल-भूत समझ कर उसका शीघ्र त्याग करती हैं ॥ २१ ॥ बुढ़ापा आनेसे मनुष्यकी आँखें स्पष्ट देखनेमें असमर्थ होती हैं । बाल सफेद हो जाते हैं । शिर कँपने लगता है । दोनों कान किसी बातको सुन नहीं सकते । शरीर जरासे आलिंगित होनेसे नीचे झुकता है । धर्म कार्य, उत्तम व्रत-तप करना सब भूल जाता है । मरणके दिन समीप आनेसे मनुष्य भयसे आश्चर्य चकित होता है । तथापि यह जीव हितकारक तप धारण नहीं करता ॥ २२ ॥ पुरुषको जरारूपी स्त्रीमें आसक्त देखकर रोष-से द्युति-कांति, गति, धृति-प्रज्ञा, बुद्धि, लक्ष्मी-वैभव इत्यादि सब स्त्रियाँ उस वृद्ध पुरुषको छोड़ कर चली जाती हैं । परंतु तृष्णा रूपी स्त्री नहीं जाती । ठीक ही है—अपने प्रिय पतिको अपराधी देखकर भी कौन पतिव्रता स्त्री छोड़ सकती है । विशेषार्थ–वृद्धावस्था आने पर कांति आदि घटती है परंतु तृष्णा घटती नहीं । प्रत्युत बढ़ती ही जाती है । ॥ २३ ॥ इसलिये जो लोक बुद्धिमान है–शरीरकी रात-दिन प्रत्यक्ष नष्ट होने वाली परि-णतिको देखते हैं । 'वे संसार समुद्रसे पार होनेके लिये तत्पर होकर वीतराग जिनदेवका और पवित्र आगमका

---

१ स दृष्टा । २ स रजसा, जरापरिणामतः । ३ स °त्रयं । ४ स चंडालं । ५ स जहांजनाः । ६ स °विवर्ज्जिते । ७ स हितां, तपोहितम् । ८ स घुति° । ९ स निरीक्ष, om. निरीक्ष्य । १० स गताः, गतां, व्रजां गतं । ११ स प्रदधती चेर्ष्यां, चेर्षां, चेष तिर्ष्णा° ।

292) परिणतिमतिस्पष्टां दृष्ट्वा[1] तमोगुणनाशिनीं
झटिति न[2] नराः संसाराब्धेः समुत्तरणोद्यताः।
जिनपतिमतं श्रित्वा पूतं विमुच्य[3] परिग्रहं
विदधति हितं कृत्यं सम्यक्तपश्चरणादिकम् ॥ २४ ॥
इति[4] जरानिरूपणचतुर्विंशतिः ॥ ११ ॥

णोद्यताः (सन्तः) पूतं जिनपतिमतं श्रित्वा परिग्रहं विमुच्य सम्यक्तपश्चरणादिकं हितं कृत्यं झटिति न विदधति ॥ २४ ॥
[इति जरानिरूपणचतुर्विंशतिः]

आश्रय लेकर, सब परिग्रहोंका, ममत्व बुद्धिका त्याग कर सम्यग्ज्ञानी होकर तपश्चरणादि कार्योंमें लगते हैं ॥ २४ ॥

●

---

१ स om. दृष्ट्वा । २ स नु नराः । ३ स विमुच्या । ४ स om. इति, इति जरानिरूपणम् ।

[१२. मरणनिरूपणषड्विंशतिः]

293) संसारे भ्रमता पुरार्जितवशाद्दुःखं सुखं वाश्नुतां[1]
चित्रं[2] जीवितमङ्गिनां स्वपरतः संपद्यमानापदाम् ।
दन्तान्तःपतितं मनोहररसं कालेन पक्वं फलं
स्थास्यत्यत्र कियच्चिरं तनुमतस्तीव्र[3]क्षुधा चर्वितम्[4] ॥ १ ॥

294) नित्यं व्याधिशता[5]कुलस्य विधिना संक्षिप्यमाणायुषो
नाश्चर्यं भववर्तिनः श्रममतो[6] यज्जायते पञ्चता ।
किं नामाद्भुतमत्र काननतरोरत्याकुलात्पक्षिभि-
र्यत्प्रोद्यत्पवनप्रतापनिहतात्त्यक्तं[7] फलं भ्रश्यति[8] ॥ २ ॥

295) निर्धूतान्यबलो ऽविचिन्त्य[9]महिमा प्रध्वस्तदुर्गक्रियो
विश्वव्यापिगतिः कृपाविरहितो दुर्बोधमन्त्रः शठः ।
[10]शस्त्रास्त्रोदकपावकारिपवनव्याध्यादिनानायुधो
गर्भादावपि हन्ति जन्तुमखिलं दुर्वारवीर्यो[11] यमः ॥ ३ ॥

संसारे भ्रमता पुरार्जितवशात् दुःखं सुखं वा अश्नुता स्वपरतः संपद्यमानापदाम् अङ्गिना जीवितं चित्रम् । तनुमतः दन्तान्तःपतितं मनोहररसं कालेन पक्वं तीव्रक्षुधा चर्वितं फलं कियच्चिरम् अत्र स्थास्यति ॥ १ ॥ नित्यं व्याधिशताकुलस्य विधिना संक्षिप्यमाणायुषः श्रममतः भववर्तिनः यत् पञ्चता जायते [तत्] न आश्चर्यम् । पक्षिभिः अत्याकुलात् प्रोद्यत्पवनप्रतापनिहतात् काननतरोः त्यक्तं यत् फलं भ्रश्यति अत्र किं नाम अद्भुतम् ॥ २ ॥ निर्धूतान्यबलः अविचिन्त्यमहिमा प्रध्वस्तदुर्गक्रियः विश्वव्यापिगतिः कृपाविरहितः दुर्बोधमन्त्रः शठः शस्त्रास्त्रोदकपावकारिपवनव्याध्यादिनानायुधः दुर्वारवीर्यः

पूर्व जन्ममे उपार्जित पुण्य-पाप कर्मोंके वश दुःख सुखको भोगते हुए संसारमें भ्रमण करने वाले और अपने या दूसरों के द्वारा की गई विपत्तियोंका सामना करने वाले प्राणियों का विचित्र जीवन तीव्र भूखसे पीड़ित मनुष्यके दांतोंके बीचमें चबाये हुए मधुर रससे भरे और समय पर पके फलके समान कितने समय तक ठहर सकता है। अर्थात् जैसे मधुर रससे भरा और यथा समय पका फल तीव्र भूखसे पीडित मनुष्यके दांतोंके द्वारा चबाया जाने पर उसके पेटमें चला जाता है उसी प्रकार मनुष्यका जीवन भी आयु पूर्ण होने पर समाप्त हो जाता है ॥ १ ॥ नित्य ही सैकड़ो रोगोसे पीड़ित और दैववश क्षीण आयु के धारक तथा परिश्रमसे थके संसारी प्राणीका जो मरण होता है इसमें कोई अचरज नही हैं। क्योंकि पक्षियोसे अत्यन्त घिरे रहने वाले वनके वृक्षसे पका हुआ फल प्रचण्ड वायुके झोंकोंसे आघात पाकर गिर जाता है इसमें क्या अचरजकी बात है ॥ २ ॥ यह यम बड़ा ही बलवान है इसके सामने किसीका बल काम नही देता। यह सबको निर्बल कर देता है। दुर्ग आदिमें छिपनेसे भी काम नही चलता। यह वहाँ भी पहुँच जाता है। इसकी गति विश्वव्यापी है। इसे दया भी नहीं है। इसका मन्त्र किसी की समझमें नही आता। यह बड़ा दुष्ट है। शस्त्र,

---

१ स वाश्नुता, वाश्नतां । २ स चैवं, चेत्रं, चैत्री । ३ स तीव्रं । ४ स °र्वाचितं, चर्चितं, चर्च्चितं° । ५ स °शाता,° °सता,° °शिता° । ६ स श्रमतो । ७ स निहितात्पक्वं । ८ स भ्रशति, भ्रस्यति । ९ स विचित्य, चित्य । १० स शस्त्रो° °व्याधादिनानायुषो । ११ स °वीर्या मम, °वीर्योपमः ।

296) प्राज्ञं[1] मूर्खमनार्यमार्यमधनं द्रव्याधिपं दुःखितं
सौख्योपेतमनाममामपिहितं[2] धर्मार्थिनं पापिनम् ।
व्यावृत्तं व्यसनादराद्व्यसनिनं [3]व्याशाकुलं दानिनं
शिष्टं दुष्टमनर्यमर्यमखिलं लोकं[4] निहन्त्यन्तकः ॥ ४ ॥

297) देवाराधनतन्त्रमन्त्रहवनध्यानग्रहे[5]ज्याजप-
स्थानत्यागधराप्रवेशगमनव्रज्या[6]द्विजार्चादिभिः ।
अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानङ्गीकृतो भक्षितुं
व्याघ्रेणेव[7] बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितुम् ॥ ५ ॥

298) प्रारब्धो ग्रसितुं यमेन तनुमान् दुर्वारवीर्येण[8] य-
स्तं त्रातुं भुवने[9] न को ऽपि सकले[10] शक्तो नरो[11] वा सुरः[12] ।
नो चेद्देवनरेश्वरप्रभृतयः पृथ्व्यां[13] सदा स्युर्जना
विज्ञायेति करोति शुद्धधिषणो धर्मे मतिं शाश्वते ॥ ६ ॥

299) चन्द्रादित्यपुरन्दर[14]क्षितिधरश्रीकण्ठसीर्यादयो
ये कीर्तिद्युतिकान्तिधीधनबलप्रख्यातपुण्योदयाः ।
स्वे स्वे ते ऽपि कृतान्तदन्तदलिताः [15]काले व्रजन्ति क्षयं
किं चान्येषु कथा [16]सुचारुमतयो धर्मे मतिं कुर्वताम् ॥ ७ ॥

यमः अखिलं जन्तुं गर्भादौ अपि हन्ति ॥ ३ ॥ अन्तकः प्राज्ञं मूर्खम् अनार्यम् आर्यम् अधनं द्रव्याधिपं दुःखितं सौख्योपेतम् अनामम् आमपिहितं धर्मार्थिनं पापिनं व्यसनादराद् व्यावृत्तं व्यसनिनं व्याशाकुलं दानिनं शिष्टं दुष्टम् अनर्यम् अर्यम् अखिलं लोकं निहन्ति ॥ ४ ॥ गहने बुभुक्षितेन व्याघ्रेण इव अत्युग्रेण यमेश्वरेण भक्षितुम् अङ्गीकृतः तनुमान् देवाराधनमन्त्रतन्त्र-हवनध्यानग्रहेज्याजपस्थानत्यागधराप्रवेशगमनव्रज्याद्विजार्चादिभिः रक्षितुं नो शक्यते ॥ ५ ॥ दुर्वारवीर्येण यमेन यः तनुमान् ग्रसितुं प्रारब्धः तं त्रातुं सकले भुवने नरः वा सुरः को ऽपि न शक्तः । नो चेत् देवनरेश्वरप्रभृतयः जनाः पृथ्व्यां सदा स्युः । इति विज्ञाय शुद्धधिषणः शाश्वते धर्मे मतिं करोति ॥ ६ ॥ ये चन्द्रादित्यपुरन्दरक्षितिधरश्रीकण्ठसीर्यादयः कीर्तिद्युतिकान्ति-

---

अस्त्र, जल, आग, शत्रु, पवन, रोग आदि नाना आयुध इसके पास हैं, यह अपने इन आयुधोंसे प्राणियोंको मार डालता है। अधिक क्या, गर्भ आदि जैसे स्थानोंमें भी पहुँच कर यह सब प्राणियोंको मार डालता है ॥ ३ ॥ यह यमराज किसीको नही छोड़ता। पण्डित, मूर्ख, आर्य, अनार्य, धनी, निर्धन, दुःखी, सुखी, निरोगी, रोगी, धर्मात्मा, पापी, निर्व्यसनी, व्यसनी, दानी, लोभी, सज्जन, दुर्जन, श्रेष्ठ अधम सबको मारता है ॥ ४ ॥ जैसे गहन वनमें भूखे व्याघ्रसे बचना शक्य नही है उसी प्रकार जब यमराज अत्यन्त कुपित होकर किसीको खाना चाहते हैं तो देवताका आराधन, मंत्र, तन्त्र, हवन, ध्यान, पूजा, जप आदि करनेसे वह बच नहीं सकता। भले ही वह व्यक्ति अपना स्थान छोड़ कर पृथ्वीके गर्भमें चला जाये, गृह त्याग कर साधु बन जाये, ब्राह्मणों की पूजा करें, किन्तु यमराजसे उसकी रक्षा नही हो सकती ॥ ५ ॥ जिसकी शक्ति दुर्वार है उस यमराजने जिसे खानेका निर्णय किया उसे समस्त लोकमें कोई देव या मनुष्य नही बचा सकता। यदि ऐसा होता तो देव राजा आदि इस पृथ्वी पर सदा रहते। ऐसा जान कर शुद्धबुद्धि वाले मनुष्य सदा धर्ममें मन लगाते

---

१ स प्रज्ञं। २ स °निहित, °निहितं, °पहृतं, °निहृतं। ३ स व्यासा°। ४ स लोके। ५ स °गृहे°। ६ स °व्रज्या द्वि°। ७ स व्याघ्रेणैव, व्याघ्रेनैव। ८ स °वीर्येन। ९ स भवने। १० स शकले। ११ स नरा। १२ स वासुरः, सुरा। १३ स पृथ्वी, पृथ्वां। १४ स °पुरन्दरक्षितधरं। १५ स कलिताः। १६ स कथासु चार°।

300) ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया
लोकालोकविलोकि[1]केवललसत्साम्राज्यलक्ष्मीधराः।
प्रक्षीणायुषि यान्ति तीर्थपतयस्ते[2]ऽप्यस्तदेहास्पदं
तत्रान्यस्य कथं भवेद् भवभृतः क्षीणायुषो जीवितम्॥ ८॥

301) द्वात्रिंशन्मुकुटावतंसितशिरोभूभृत्सहस्रार्चिता·
षट्खण्डक्षितिमण्डना नृपतयः साम्राज्यलक्ष्मीधराः।
नीता येन विनाशमत्र विधिना[3] सो ऽन्यान्विमुञ्चेत्कथं
कल्पान्तश्वसनो[4] गिरींश्चलयति स्थैर्यं तृणानां[5] कुत॥ ९॥

302) [6]यत्रादित्यशशाङ्कमारुतघना नो सन्ति सन्त्यत्र ते
देशा यत्र न मृत्युरञ्जनजनो नो सो ऽस्ति देश· क्वचित्।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तजनितां[7] मुक्त्वा विमुक्तिक्षितिं[8]
संचिन्त्येति विचक्षणा· पुरु[9] तपः कुर्वन्तु तामीप्सवः॥ १०॥

धीधनबलप्रख्यातपुण्योदयाः तेऽपि कृतान्तदन्तदलिताः स्वे स्वे काले क्षयं व्रजन्ति। अन्येषु किं कथा। [अत.] सुचारुमतयः धर्मे मतिं कुर्वताम्॥ ७॥ ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया लोकालोकविलोकिकेवललसत्साम्राज्यलक्ष्मीधरा· ते तीर्थपतय अपि प्रक्षीणायुषि अस्तदेहास्पदं यान्ति। तत्र क्षीणायुषः अन्यस्य भवभृत जीवित कथं भवेत्॥ ८॥ येन विधिना द्वात्रिंशन्मुकुटावतंसितशिरोभूभृत्सहस्रार्चिता. षट्खण्डक्षितिमण्डना साम्राज्यलक्ष्मीधरा नृपतय. विनाशं नीता. स अन्यान् कथ विमुञ्चेत्। कल्पान्तश्वसन गिरीन् चलयति। [तत्र] तृणाना स्थैर्यं कुतः॥ ९॥ यत्र आदित्यशशाङ्कमारुतघना. नो सन्ति अत्र ते देशा. सन्ति। यत्र सम्यग्दर्शनबोधवृत्तजनिता विमुक्तिक्षितिं मुक्त्वा मृत्युरञ्जनजनः न स देशः क्वचित् न अस्ति। इति संचिन्त्य ताम् ईप्सवः विचक्षणाः पुरु तपः कुर्वन्तु॥ १०॥ येषां स्त्रीस्तनचक्रवाकयुगले

हैं॥ ६॥ इस संसारमें ये जो प्रख्यात पुण्यशाली चन्द्र, सूर्य, देवेन्द्र, नरेन्द्र, नारायण, बलभद्र आदि कीर्ति, कान्ति, द्युति, बुद्धि धन और बलके धारी है, वे भी यमराजकी दाढमें जाकर, अपने-अपने समय पर मृत्युको प्राप्त होते हैं तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? अतः बुद्धिवानोंको धर्ममें मन लगाना चाहिये॥ ७॥ जिनके दोनों चरण तीनों लोकोंके स्वामी इन्द्र, नरेन्द्र आदिके मुकुटोमें जड़ित मणियोंकी कान्तिरूपी जलसे प्रक्षालित किये जाते हैं अर्थात् तीनों लोकोंके स्वामी जिन्हे नमस्कार करते हैं, जो लोक और अलोकको जानने देखनेवाले केवलज्ञान केवलदर्शनसे शोभित धर्मसाम्राज्यको लक्ष्मीके धारी हैं वे तीर्थाधिराज तीर्थकर भी जहाँ आयुके क्षीण होने पर शरीर रहित अवस्थाको प्राप्त होते हैं वहाँ अन्य क्षीण आयुवाले प्राणीका जीवन कैसे स्थिर रह सकता है॥ ८॥ बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओंसे पूजित और छह खण्ड पृथ्वीके स्वामी तथा साम्राज्य लक्ष्मीके धारी चक्रवर्ती राजा भी जिस दैवके द्वारा यहाँ विनाशको प्राप्त हुए, वह दूसरोंको कैसे छोड़ सकता है? प्रलयकालकी जो वायु पर्वतों तकको विचलित कर देती है उसमें तृण कैसे स्थिर रह सकते हैं॥ ९॥ संसारमें ऐसे देश वर्तमान हैं जहाँ सूर्य, चन्द्र, वायु और मेघ नही पाये जाते। किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे उत्पन्न मुक्ति रूप पृथ्वीको छोड़ ऐसा कोई देश नही है जहाँके मनुष्य मृत्युके

---

१ स °विलोक। २ स तेप्यदेहास्पदं। ३ स विधिनो। ४ स °स्वजनो, °श्वशनो, गिरिश्च°। ५ स मृगानां, नराणां, भवानां for तृणानां। ६ स यात्रा°। ७ स °वृति°, वृद्धजता मुक्त्वा। ८ स विमुक्ति°, °स्थितिं। ९ स कुरु for पुरु।

303) येषां [1]स्त्रीस्तनचक्रवाकयुगले[2] पीतांशुराजत्तटे
[3]निर्यत्कौस्तुभरत्न[4]रश्मिसलिले [5]दानाम्बुजभ्राजिते ।
[6]श्रीवक्षःकमलाकरे गतभया क्रीडां चकारापरां[7]
श्रीर्हि श्रीहरयो ऽपि ते मृतिमिताः कुत्रापरेषां स्थितिः ॥ ११ ॥

304) भोक्ता यत्र वितृप्तिरन्तकविभुर्भोज्याः समस्ताङ्गिनः
कालेशः परिवेषको[8] ऽश्रमतनुर्ग्रासा[9] विशन्त्यक्रमैः ।
वक्त्रे तस्य [10]निशातदन्तकलिते तत्र स्थितिः कीदृशी
जीवानामिति[11] मृत्युभीतमनसो जैनं तपः कुर्वते[12] ॥ १२ ॥

305) उद्धर्तुं धरणीं निशाकररवी क्षेप्तुं मरुन्मार्गतो
वातं स्तम्भयितुं पयोनिधिजलं पातुं गिरिं चूर्णितुम्[13] ।
शक्ता[14] यत्र विशन्ति मृत्युवदने कान्यस्य तत्र स्थिति-
र्यस्मिन् याति[15] गिरिर्बिले सह वनैः कात्र व्यवस्था ह्यणोः[16] ॥ १३ ॥

पीतांशुराजत्तटे निर्यत्कौस्तुभरत्नरश्मिसलिले दानाम्बुजभ्राजिते श्रीवक्षःकमलाकरे गतभया श्रीः अपरा क्रीडा चकार ते श्रीहरय. अपि मृतिम् इता । अपरेषा स्थिति कुत्र ॥ ११ ॥ यत्र भोक्ता वितृप्तिः अन्तकविभु, भोज्याः समस्ताङ्गिन, परिवेषक अश्रमतनुः कालेश, तस्य निशातदन्तकलिते वक्त्रे ग्रासा अक्रमै. विशन्ति, तत्र जीवाना स्थितिः कीदृशी । इति मृत्युभीतमनस' जैनं तप. कुर्वते ॥ १२ ॥ धरणीम् उद्धर्तुं निशाकररवी मरुन्मार्गतः क्षेप्तुं वात स्तम्भयितुं पयोनिधिजलं पातुं गिरिं चूर्णितुं शक्ताः यत्र मृत्युवदने विशन्ति तत्र अन्यस्य का स्थिति. । हि यस्मिन् बिले वनैः सह गिरिः याति अत्र अणोः का व्यवस्था ॥ १३ ॥ सुग्रीवाङ्गदनीलमारुतसुतप्रष्ठैः कृताराधन, त्रिभुवनप्रख्यातकीर्तिध्वजः, राम. येन विनाशितः

शिकार नही होते । ऐसा विचार कर उस मुक्तिके इच्छुक बुधजन उत्तम तप करें ॥ १० ॥ जिनके स्त्रीके स्तनरूपी दो चकवोंसे युक्त, तथा पीताम्बररूपी तटसे शोभित, कौस्तुभ मणिसे निकलती हुई किरणरूपी जलसे पूर्ण और मुखरूपी कमलसे शोभित ऐसे श्रीवत्ससे चिह्नित छाती रूपी सरोवरमें लक्ष्मी निर्भय होकर कीड़ा करती थी वे श्रीकृष्ण भी जब मृत्यु को प्राप्त हुए तो दूसरोका कहना ही क्या ? वे कैसे मृत्युसे बच सकते हैं ॥ ११ ॥ जिस संसारमें कभी तृप्त न होनेवाला यमराज भक्षक है और समस्त प्राणी उसके भक्ष्य हैं । कभी न थकने वाला काल प्रभु उन भक्ष्य प्राणियोंको खोज खोजकर लाने वाला है । यमराजके ग्रास लेनेका कोई क्रम नहीं है एक साथ अनेकोंको खा जाते हैं । उस यमराजके तीक्ष्ण दाढवाले मुखमें प्राणियोंकी स्थिति कैसे सम्भव है । इसीसे मृत्युसे डरे हुए मनुष्य जैन तपका आचरण करते हैं ॥ १२ ॥ जिस संसारमें पृथ्वीको उलटनेमें, आकाश मार्गसे चन्द्र सूर्यको उतार फेकनेमें, वायुको अचल करनेमें, समुद्रके जलको पी डालनेमें तथा पर्वतको चूर्ण करनेमें समर्थ पुरुष मृत्युके मुखमें प्रवेश करते हों, वहाँ दूसरोंकी क्या स्थिति है ? ठीक ही है जिस बिलमे वनोंके साथ पर्वत समा जाता है उसमें परमाणुका समा जाना कौन बड़ी बात है ? ॥ १३ ॥ जिन

---

१ स स्त्री स्तन° । २ स °युगलो पीनांसु°, पीनासु°, पीतांशु रा° । ३ स निर्जत्कौ° निर्जित्को° । ४ स °रस्मिरत्न°, °रश्मिरत्न° । ५ स आस्याम्बु° । ६ स श्रीवृक्षः°, श्रीवक्षः कमलाकरे । ७ स °परांश्चाहंच्छ्री° । ८ स °वेशको । ९ स ग्रासाविसम्त्य° । १० स निशांत° ११ स जावानाम् । १२ स कुर्व्वतं । १३ स चूर्णितं । १४ स शक्ता । १५ स माति । १६ स ह्यणौ, ह्यनौ, ह्यणो ।

306) सुग्रीवाङ्गदनीलमारुतसुतप्रष्ठैः[1] कृताराधनो
रामो येन विनाशितस्त्रिभुवनप्रख्यातकीर्तिध्वजः ।
मृत्योस्तस्य परेषु देहिषु कथा का निघ्नतो[2] विद्यते
कात्रास्था नयतो[3] द्विपं हि शशके[4] निर्यापकस्रोतसः[5] ॥ १४ ॥

307) अत्यन्तं कुरुतां[6] रसायनविधिं वाक्यं प्रियं जल्पतु
वार्धेः पारमियर्तु[7] गच्छतु नभो देवाद्रिमारोहतु ।
पातालं विशतु प्रसर्पतु[8] दिशं देशान्तरं भ्राम्यतु
न प्राणी तदपि प्रहर्तुमनसा संत्यज्यते[9] मृत्युना ॥ १५ ॥

308) कार्यं यावदिदं करोमि विधिवत्तावत्करिष्याम्यद
स्तत्कृत्वा पुनरेतदद्य कृतवानेतत्पुरा[10] कारितम् ।
इत्यात्मीयकुटुम्ब[11] पोषणपरः प्राणी क्रियाव्याकुलो
मृत्योरेति करग्रहं हतमतिः संत्यक्तधर्मक्रियः ॥ १६ ॥

309) मान्धाता भरतः शिबी दशरथो लक्ष्मीधरो रावणः
कर्णः [12]केशिरिपुर्बलो भृगुपतिर्भीमः परे ऽप्युन्नताः ।
मृत्युं जेतुमलं न यं[13] नृपतयः कस्तं परो[14] जेष्यते[15]
भग्नो यो न महातरुर्द्विपवरैस्तं किं शशो[16] भङ्क्ष्यति[17] ॥ १७ ॥

तस्य निघ्नतः मृत्यो परेषु देहिषु का कथा विद्यते । हि द्विपं निर्यापकस्रोतस नयत अत्र शशके का आस्था ॥ १४ ॥ प्राणी अत्यन्तं रसायनविधिं कुरुताम् । प्रियं वाक्यं जल्पतु । वार्धे. पारम् इयर्तु । नभ. गच्छतु । देवाद्रिम् आरोहतु । पातालं विशतु दिशं प्रसर्पतु । देशान्तर भ्राम्यतु । तदपि प्रहर्तुमनसा मृत्युना प्राणी न सत्यज्यते ॥ १५ ॥ यावत् इद कार्य करोमि । अद्य: तावत् विधिवत् करिष्यामि । तत् कृत्वा अद्य पुनः एतत् कृतवान् । एतत् पुरा कारितम् । इति आत्मीयकुटुम्बपोषणपरः क्रियाव्याकुल. हतमति सत्यक्तधर्मक्रिय प्राणी मृत्यो. करग्रहम् एति ॥ १६ ॥ मान्धाता, भरत., शिबी, दशरथः, लक्ष्मी-

---

रामचन्द्रकी आराधना सुग्रीव, अगद, नील और हनुमान जैसे बलशाली करते थे, जिन रामकी कीर्ति ध्वजा तीनों लोकोंमें प्रख्यात थी। उन रामको भी जिसने नष्ट कर डाला उस मृत्युकी अन्य प्राणियोंको मारनेकी कथा ही व्यर्थ है। क्योंकि जो नदीका प्रवाह हाथीको बहा ले जाता है उसके लिये खरगोशको न बहा ले जाना कैसे संभव है ? ॥ १४ ॥ मृत्युसे बचनेके लिये मनुष्य कितना ही रसायनोंका सेवन करे, मीठे मीठे वचन बोले, समुद्र के पार चला जावे, आकाशमें उड़ जावे, सुमेरुके ऊपर चढ़ जावे, पातालमें प्रवेश कर जावे, दिशान्तरमें चला जावे, या देशान्तर में भ्रमण करे। किन्तु जब मृत्यु उसे हरनेका सकल्प करती है तो वह मृत्युके मुख से नहीं बच सकता ॥ १५ ॥ तब तक मैं यह कार्य करता हूँ। इसे कल विधिपूर्वक करूँगा। आज मैंने अमुक कार्य करके अमुक कार्य किया है। यह कार्य दूसरोंसे कराया है। इस प्रकार क्रियाओंसे व्याकुल प्राणी धर्म कर्म छोड़कर अपने कुटुम्बके पोषणमें लगा रहता है और एक दिन उस अभागेको मृत्यु अपने चंगुलमें फांस लेती है ॥ १६ ॥ जिस मृत्युको मांधाता, भरत, शिबी, दशरथ, श्रीकृष्ण, रावण, कर्ण, बलदेव, परशुराम, भीम

---

१ स °प्रष्टैः, °पृष्टैः । २ स निष्णतो, निघ्नतो । ३ स न यतो । ४ स शशिको, शशको, निर्यापकः, °पका, नियोपये, निर्यापये । ५ स श्रोतसः । ६ स कुरुतं । ७ स इयंतु, इयतु । ८ स प्रविशंतु प्रशर्प्यंतु । ९ स संत्यजते । १० स परा-कारितं, परं° । ११ स °कुटम्ब° । १२ स कंश°, केश° । १३ स भयं for न यं । १४ स परे । १५ स जेष्यति, येष्यति, येष्यते । १६ स शिशो । १७ स भंक्षति, भक्षति ।

310) सर्वं शुष्यति[1] सार्द्रमेति निखिला पाथोनिधिं निम्नगा
सर्वं म्लायति[2] पुष्पमत्र मरुतो[3] झम्पेव सर्वं चलम् ।
सर्वं नश्यति कृत्रिमं च सकलं[4] यद्वर्ध्यपक्षीयते[5]
सर्वस्तद्वदुपैति मृत्युवदनं देही भवंस्तत्त्वतः[6] ॥ १८ ॥

311) [7]प्रख्यातद्युतिकान्तिकीर्तिधिषणाप्रज्ञाकलाभूतयो
देवा येन [8]पुरन्दरप्रभृतयो नीताः क्षयं मृत्युना ।
तस्यान्येषु जनेषु कात्र गणना हिंसात्मनो विद्यते
मत्तेभं हि हिनस्ति यः स हरिणं किं मुञ्चते केसरी[9] ॥ १९ ॥

312) श्रीह्रीकीर्तिरति[10]द्युतिप्रियतमाप्रज्ञाकलाभिः समं
यद्ग्रासीकुरुते नितान्तकठिनो मर्त्यं कृतान्तः शठः ।
तस्मात् किं तदुपार्जनेन[11] भविनां कृत्यं विबुद्धात्मनां
किं तु श्रेयसि जीविते सति चले कार्या [12]मतिस्तत्त्वतः ॥ २० ॥

धरः, रावणः, कर्णः, केशिरिपुः, बल , भृगुपति , भीम , परे ऽपि उन्नताः नृपतय , यं मृत्यु जेतु न अलं त कः परः जेष्यते। यः महातरुः द्विपवरैः न भग्न तं किं शशः भङ्क्ष्यति ॥ १७ ॥ सर्वं सार्द्रं शुष्यति । निखिला निम्नगा पाथोनिधिम् एति । सर्वं पुष्पं म्लायति । मरुत झम्पा इव अत्र सर्व चलम् । सर्व कृत्रिमं नश्यति । यत् च सकलं वर्धि अपक्षीयते । तद्वत् सर्वः तत्त्वतः भवन् देही मृत्युवदनम् उपैति ॥ १८ ॥ येन मृत्युना प्रख्यातद्युतिकान्तिकीर्तिधिषणाप्रज्ञाकलाभूतय पुरन्दरप्रभृतय देवाः क्षयं नीताः, हिंसात्मन तस्य अन्येषु जनेषु अत्र का गणना विद्यते । हि य केसरी मत्तेभ हिनस्ति सः किं हरिणं मुञ्चते ॥ १९ ॥ नितान्तकठिनः कृतान्तः शठः यत् श्रीह्रीकीर्तिरतिद्युतिप्रियतमाप्रज्ञाकलाभिः समं मर्त्यं ग्रासीकुरुते तस्मात् विबुद्धात्मनां भविना तदुपार्जनेन किं कृत्यम् । किं तु तत्त्वतः जीविते चले सति श्रेयसि मतिः कार्या ॥ २० ॥ य. निर्दय., निर-

---

तथा अन्य भी बडे बडे राजा नही जीत सके उसे दूसरा कौन जीत सकता है। जिस वृक्षको उत्तम हाथी नही गिरा सके क्या उसे खरगोश तोड़ सकेगा ? ॥ १७ ॥ सब गीले पदार्थ एक दिन सूख जाते हैं। सब नदियाँ समुद्रमें चली जाती हैं। सब पुष्प म्लान हो जाते हैं। सब पदार्थ बिजलीकी तरह चंचल हैं। जितने कृत्रिम पदार्थ हैं वे सब विनाशशील है। जिस तरह ये सब नष्ट हो जाते हैं उसी तरह सब प्राणी यथार्थमें मृत्युके मुखमें चले जाते हैं ॥ १८ ॥ जिस मृत्युके द्वारा द्युति, कान्ति, कीर्ति, बुद्धि, प्रज्ञा और कलामें प्रख्यात इन्द्र आदि देवगण विनाशको प्राप्त हुए उस हिंसामें तत्पर मृत्युके सामने सामान्य मनुष्योंकी क्या गिनती है ? जो सिंह मदोन्मत्त हाथीको मार डालता है वह क्या हिरणको छोड़ देता है ॥ १९ ॥ यह अत्यन्त कठोर धूर्त यमराज मनुष्यको लक्ष्मी, लज्जा, कीर्ति प्रेम, द्युति, अत्यन्त प्यारी स्त्री, प्रज्ञा और कलाके साथ अपना ग्रास बनाता है अर्थात् मनुष्यके साथ उसके सद्‌गुणों और प्रिय जनोंका भी अन्त कर देता है। अतः आत्मस्वरूपके ज्ञाता जनोंको कीर्ति आदि संचित करनेसे भी क्या लाभ है ? उन्हे तो जीवनकी क्षण भंगुरताको जानकर अपने यथार्थ कल्याणमें ही मनको लगाना चाहिए ॥ २० ॥ जो भ्रष्टबुद्धि विधाता (दैव) पहले तो मनुष्यको तीनों

---

१ स शुक्ष्यति, सुख्यति । २ स दलायति । ३ स मसतः, शेपेंक सर्व च°, मरुतः संपेव सर्व्वं च°, शंपेव, पुष्यमत्र शर्म्यंव । ४ स सकलो, शकलो, सकुलो । ५ स यद्वाध्यप°, यवद्वचप, यद्वद्यप°, यद्वघप°, यद्वद्यप° । ६ स भवा°, देहीभवंस्तावतः । ७ स प्रख्याता°, °धिषणाः° । ८ स पुरं° । ९ स केशरी । १० स धृति for रति, °द्युतिरतिप्रियतमा प्रज्ञा कलाभिः । ११ स उपार्ज्जितेन । १२ स कार्यामिति, कार्यमिति° ।

313) यो लोकैकशिरःशिखामणिसमं सर्वोपकारोद्यतं[1]
राजच्छीलगुणाकरं नरवरं कृत्वा पुनर्निर्दयः[2]।
धाता हन्ति निरर्गलो हतमतिः किं तत्क्रियायां फलं
प्रायो निर्दयचेतसां न भवति श्रेयोमतिर्भूतले ॥ २१ ॥

314) रम्याः किं न विभूतयो[3] ऽतिललिताः सच्चामरभ्राजिताः
किं वा पीनदृढोन्नतस्तनयुगास्त्रस्तैणदीर्घेक्षणाः।
किं वा[4] सज्जनसंगतिर्न सुखदा [5]चेतश्चमत्कारिणी
किं त्वत्रानिलधूतदीपकलिकाछायाचलं जीवितम् ॥ २२ ॥

315) यद्येतास्तरलेक्षणा युवतयो न स्युर्गलद्यौवना[6]
[7]भूतिर्वा यदि भूभृतां भवति नो सौदामिनीसंनिभा।
[8]वातोद्धूततरंगचञ्चलमिदं नो चेद् भवेज्जीवितं
को नामेह तदैव[9] सौख्यविमुखः कुर्याज्जिनानां तपः ॥ २३ ॥

र्गलः, हतमतिः धाता लोकैकशिरःशिखामणिसमं सर्वोपकारोद्यतं राजच्छीलगुणाकरं नरवरं कृत्वा पुन हन्ति। तत्क्रियायां किं फलम्। प्राय निर्दयचेतसा भूतले श्रेयोमति न भवति ॥ २१ ॥ सच्चामरभ्राजिता अतिललिताः विभूतयः रम्याः न किम्। वा त्रस्तैणदीर्घेक्षणाः पीनदृढोन्नतस्तनयुगा. [न] किम्। वा चेतश्चमत्कारिणी सज्जनसगति सुखदा न किम्। किं तु अत्र जीवितम् अनिलधुतदीपकलिकाछायाचलम् ॥ २२ ॥ यदि एता तरलेक्षणा युवतय. गलद्यौवनाः न स्युः, यदि वा भूभृता भूति सौदामिनीसनिभा नो भवति, इद जीवित वातोद्धूततरङ्गचञ्चल नो भवेत् चेत्, तदैव को नाम सौख्यविमुखः इह जिनाना तप. कुर्यात् ॥ २३ ॥ मासासृग्रसलालमामयगणव्याधै समध्यासिता नानापापवसुधरारुहन्विता जन्माटवीम्

लोकोंके मस्तक पर शिखामणिके समान, सबका उपकार करनेमें तत्पर तथा शोभनीय शील और गुणोंकी खान पुरुषोत्तम बनाता है और पीछे निर्दयतापूर्वक उसे मार डालता है। उसकी इस क्रियाका क्या फल है अर्थात् उसका पुरुषको श्रेष्ठ बनाना व्यर्थ ही है। ठीक ही है जिनका चित्त दयासे हीन होता है उनकी बुद्धि प्रायः इस भूतल पर कल्याणकारी नही होती ॥ २१ ॥ इस ससारमें जीवन वायुसे कम्पित दीपककी लौ की छायाके समान चंचल है। यदि ऐसा न होता तो समीचीन चामरोसे शोभित अत्यन्त ललित विभूति, स्थूल तथा दृढ उन्नत स्तनोसे शोभित और भयभीत मृगीके समान दीर्घ नेत्र-वाली स्त्रियाँ क्यों मनोहर नहीं होती। तथा चित्तमें चमत्कार पैदा करनेवाली सुखदायक सज्जनोकी संगति क्यों रमणीक न होती। अर्थात् जीवनके क्षणभंगुर होनेसे ही संसारकी सुखदायक वस्तुओंका कोई मूल्य नहीं है। इसीसे इन्हें त्याज्य कहा है ॥ २२ ॥ यदि चचल नेत्रवाली युवतियोंका यौवन न ढलता होता, यदि राजाओंकी विभूति बिजलीके समान चचल न होती, अथवा यदि यह जीवन वायुसे उत्पन्न हुई लहरोंके समान चंचल न होता तब कौन इस सांसारिक सुखसे विमुख होकर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट तपश्चरण करता ॥ २३ ॥

---

१ स °कारंधुत, °कारद्युतं। २ स निर्दया। ३ स विभूतियो। ४ स किं व्वा। ५ स श्वेतश्च° ; ६ स गलयौ°, गलच्चौवनौ। ७ स भूतिर्भू यदि भू° भ° ना सौ°। ८ स वातोद्धुत°, वातोयूत°। ९ स तदव, तदेव।

316) **मांसासृग्रसलालसामयगणव्याधैः समध्यासितां[1]**
नाना[2]पाप[3]वसुंधराव्हचितां जन्माटवीमाश्रितः ।
धावन्नाकुलमानसो निपतितो दृष्ट्वा जराराक्षसीं
[4]क्षुत्क्षामोद्धृतमृत्युपन्नगमुखे प्राणी कियत्प्राणिति[5] ॥ २४ ॥

317) **मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीतं जराव्याधत**
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदुःखतरुमत्संसारकान्तारगम् ।
कः शक्नोति शरीरिणं[6] त्रिभुवने पातुं नितान्तातुरं[7]
त्यक्त्वा जातिजरामृति[8]क्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥ २५ ॥

318) **एवं सर्वजगद्विलोक्य कलितं दुर्वारवीर्यात्मना**
निस्त्रिंशेन[9] समस्तसत्त्व[10]समितिप्रध्वंसिना मृत्युना ।
सद्रत्नत्रयशात[11]मार्गणगणं[12] गृह्णन्ति[13] तच्छित्तये[14]
सन्तः [15]शान्तधियो जिनेश्वरतपःसाम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः[16] ॥ २६ ॥

इति[17] मरणनिरूपणषड्विंशतिः[18] ॥ १२ ॥

आश्रितः प्राणी जराराक्षसीं दृष्ट्वा आकुलमानसः धावन् क्षुत्क्षामोद्धृतमृत्युपन्नगमुखे निपतित' कियत्प्राणिति ॥ २४ ॥ त्रिभुवने मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं जराव्याधतः भीतं तीव्रव्याधिदुरन्तदुःखतरुमत्संसारकान्तारगं नितान्तातुरं शरीरिणं पातुं जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतं त्यक्त्वा कः शक्नोति ॥ २५ ॥ एवं दुर्वारवीर्यात्मना निस्त्रिंशेन समस्तसत्त्वसमितिप्रध्वंसिना मृत्युना कलित विलोक्य तच्छित्तये शान्तधियः जिनेश्वरतपः साम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः सन्तः सद्रत्नत्रयशातमार्गणगणं गृह्णन्ति ॥ २६ ॥ इति मरणनिरूपणषड्विंशतिः ॥ १२ ॥

यह जन्मरूपी अटवी-भयानक वन मांस रुधिर आदि धातुओंके लोलुपी रोगोंके समूह रूप शिकारियोंसे व्याप्त है, नाना अपापरूपी वृक्षोंसे भरी हैं। इनमें आश्रय लेनेवाला प्राणी जरारूपी राक्षसीको देख व्याकुलचित्त हो भागता है और भागता हुआ भूखसे पीड़ित मृत्युरूपी सर्पके मुखमें गिरता है। अब वह कितनी देर जीवित रह सकता है अर्थात् उसका अन्त निश्चित है। विशेषार्थ—जो जन्म लेता है वह यदि रोगोंसे बच भी जाता है तो बुढ़ापा उसे नही छोड़ता। और बुढ़ापे के पश्चात् मृत्यु अवश्य होती है ॥ २४ ॥ तीव्र रोग और कठोर दुःखरूपी वृक्षोंसे भरे ससाररूपीं भयानक वनमें वृद्धावस्थारूपी शिकारीसे डरकर मृत्युरूपी व्याघ्रके भयानक मुखमें चले गये प्राणीको तीनों लोकोंमें कौन बचा सकता है। उसे यदि बचा सकता है तो जन्म जरामरणका विनाश करनेवाला जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट धर्मामृत ही बचा सकता है। उसे छोड़ अन्य कोई नहीं बचा सकता ॥ २५ ॥ इस प्रकार यह समस्त जगत् समस्त प्राणीसमुदायकाविनाश करने वाली निर्दयी मृत्युसे घिरा है जिसकी शक्तिका वारण अशक्य जैसा है। यह देखकर शान्त बुद्धिवाले सन्तपुरुष जिनेश्वरके तपरूपी साम्राज्य लक्ष्मीका आश्रय लेकर उस मृत्युके विनाशके लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी तीक्ष्ण वाणोंको ग्रहण करते हैं। विशेषार्थ—मृत्युके चक्रसे छूटनेका उपाय भगवान् जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रय ही है। उन्हींको धारण करनेसे उससे छुटकारा हो सकता है ॥ २६ ॥

---

१ स समाध्यासितां, समाध्याषितां। २ स °गणा°। ३ स °पाय°। ४ स भुक्षामोद्धुत°, क्षुद्रामोद्धुर°। ५ स प्राणिभि, प्राणितिः। ६ स शरीरिणा। ७ स पातुरंतंतातुरं। ८ स मृतिक्षिति°। ९ स निस्त्रंशेन। १० स °तत्त्व° for °सत्त्व°। ११ स °सात°, °शांत°। १२ स °मणं। १३ स गृह्लंतु। १४ स यक्षित्तये, यच्छित्तये, यच्छित्तय, यछीतयेत्सं° १५ स शात°, शांति°। १६ स °लक्ष्मीन्विता, °लक्ष्म्यान्विताः। १७ स om. इति। १८ स मृत्युनिरूपणम्।

[१२. सामान्यानित्यतानिरूपणचतुर्विंशतिः]

319) कार्याणां गतयो भुजंगकुटिलाः स्त्रीणां मन[1] इवञ्चलं
नैश्वर्यं स्थितिमत्तरङ्गचपलं नृणां वयो[2] धावति ।
संकल्पाः समदाङ्गनाक्षितरला[3] मृत्युः परं निश्चितो
मत्वैवं मतिसत्तमा विदधतां धर्मे मतिं तत्त्वतः ॥ १ ॥

320) [4]श्रीर्विद्युच्चपला वपुर्विधुनितं नानाविधव्याधिभिः
सौख्यं दुःखकटाक्षितं तनुमतां सत्संगतिर्दुर्लभा ।
[5]मृत्युध्यासितमायुरत्र बहुभिः किं भाषितैस्तत्त्वतः
संसारे ऽस्ति न किंचिदङ्गिसुखकृत्तस्माज्जना जाग्रत ॥ २ ॥

321) [6]यद्येताः स्थिरयौवनाः शशिमुखीः[7] पीनस्तनीर्भामिनी[8]
कुर्याद्यौवनकालमानमथ वा धाता रतं जीवितम्[9] ।
[10]चिन्तास्थैर्यमशौचमन्तविरसं सौख्यं वियोगं न तु[11]
को नामेह विमुच्य चारुधिषणः[12] कुर्यात्तपो दुश्चरम् ॥ ३ ॥

कार्याणां गतयः भुजंगकुटिलाः । स्त्रीणां मनः वञ्चलम् । ऐश्वर्यं स्थितिमत् न । नृणां तरङ्गचपलं वयः धावति । संकल्पाः समदाङ्गनाक्षितरलाः । परं मृत्युः निश्चितः । एवं मत्वा मतिसत्तमाः तत्त्वतः धर्मे मतिं विदधताम् ॥ १ ॥ तनुमतां श्रीः विद्युच्चपला, वपुः नानाविधव्याधिभिः विधुनितम्, सौख्यं दुःखकटाक्षितम्, सत्संगतिः दुर्लभा । अत्र आयुः मृत्युध्यासितम् । बहुभिः भाषितैः किम् । तत्त्वतः संसारे किंचित् अङ्गिसुखकृत् न । तस्मात् जनाः जाग्रत ॥ २ ॥ यदि धाता एताः पीनस्तनीः शशिमुखीः भामिनीः स्थिरयौवनाः कुर्यात् अथ वा जीवितं रतं [च] यौवनकालमानं कुर्यात्, तु चिन्तास्थैर्यं-

कर्मोंकी गति सर्पके समान कुटिल है। कभी राजा बना देते हैं कभी रंक। स्त्रियोंका मन भी चंचल है। संसारका ऐश्वर्य भी स्थायी नही है, पानीकी लहरोके समान चपल है। मनुष्योंका मन भी इधर-उधर दौड़ा करता है। संकल्प मदसे मत्त स्त्रियोंकी आँखोकी तरह बहनेवाला है। ये सब अस्थिर है केवल एक मृत्यु ही निश्चित है। ऐसा मानकर बुद्धिमान् पुरुष तात्त्विक धर्ममे मनको लगावें ॥ १ ॥ लक्ष्मी बिजलीकी तरह चंचल है। सदा एकके पास नही रहती। शरीर नाना प्रकारके रोगोसे ग्रस्त होनेवाला है। संसारके सुख पर दुःखकी दृष्टि लगी रहती है सुखका स्थान दुःख ले लेता है। सज्जन पुरुषोंकी संगति सुखदायक है किन्तु वह अत्यंत दुर्लभ है। आयुके पीछे मृत्यु लगी हुई है। आयुके समाप्त होते ही मृत्यु पकड़ लेती है। बहुत कहनेसे क्या। वास्तवमे संसार प्राणियोंको किंचित् भी सुखकारी नही है। अतः हे मनुष्यों सावधान हो जाओ ॥ २ ॥ यदि विधाता इन चन्द्रमुखी तथा पीन स्तनवाली स्त्रियोंके यौवनको स्थायी कर देता, अथवा यौवनकालको जीवनपर्यन्त कर देता, चिन्ताकी स्थिरता, अशौच, सुखकी विरसता और इष्टवियोग न करता

१ स मना° । २ स च यो for वयो । ३ स °तरलाः । ४ स श्रीविद्युच्चपलावपु° । ५ स मृत्युर्ध्या° रत्नबहुभिः । ६ स येचेताः । ७ स °मुखी । ८ स भामिनिः, भामिनीः । ९ स जीविता । १० स चिंतास्थैय° ११ स ननु । १२ स °धिषणाः ।

322) कान्ताः किं न शशाङ्ककान्तिधवलाः सौधालयाः कस्यचित्
काञ्चीदामविराजितोरुजघना[1] सेव्या न किं कामिनी[2] ।
किं वा श्रोत्ररसायनं सुखकरं श्रव्यं न गीतादिकं
विश्वं किं तु विलोक्य मारुतचलं सन्तस्तपः कुर्वते ॥ ४ ॥

323) [3]कृष्टेष्वासविमुक्तमार्गणगतिस्थैर्यं जने[4] यौवनं
कामान् क्रुद्धभुजङ्गकायकुटिलान् विद्युच्चलं जीवितम् ।
अङ्गारा[5]नलतप्तसूतरसवद् दृष्ट्वा श्रियो ऽप्यस्थिरा
निष्क्रम्यात्र सुबुद्धयो वरतपः कर्तुं वनान्तं गताः ॥ ५ ॥

324) वपुर्व्यसनमस्यति[6] प्रसभमन्तको जीवितं
धनं नृपसुतादयस्तनुमतां जरा यौवनम् ।
वियोगदहनः[7] सुखं समदकामिनीसंगजं
तथापि बत मोहिनो[8] दुरितसंग्रहं[9] कुर्वते ॥ ६ ॥

मशौचमन्तविरसं सौख्यं वियोग न कुर्यात् क. नाम चारुधिषण· [एतत्] विमुच्य दुश्चरं तपः कुर्यात् ॥ ३ ॥ शशाङ्क-कान्तिधवलाः सौधालया कस्यचित् कान्ता. न किम् । काञ्चीदामविराजितोरुजघना कामिनी सेव्या न किम् । वा सुखकर श्रोत्ररसायनं गीतादिकं श्रव्यं न किम् । किं तु विश्वं मारुतचल विलोक्य सन्तः तपः कुर्वते ॥ ४ ॥ जने कृष्टेष्वासविमुक्त-मार्गणगतिस्थैर्यं यौवनं, क्रुद्धभुजङ्गकायकुटिलान् कामान्, विद्युच्चलं जीवितं, अङ्गारानलतप्तसूतरसवद् श्रियः अपि अस्थिराः दृष्ट्वा अत्र निष्क्रम्य सुबुद्धय वरतपः कर्तुं वनान्तं गता. ॥ ५ ॥ व्यसनं तनुमता वपु. अस्यति । अन्तक प्रसभं जीवितं अस्यति । नृपसुतादयः धनम् अस्यति । जरा यौवनम् अस्यति । वियोगदहन समदकामिनीसंगजं सुखम् अस्यति । तथापि बत मोहिन दुरितसंग्रहं कुर्वते ॥ ६ ॥ जगति तनुः अपायकलिता । संपद· सापद· । इदं विषयजं सुख विनश्वरम् ।

तो कौन बुद्धिमान् इन सबको छोड़कर कठोर तपश्चरण करता ॥ ३ ॥ चन्द्रमाकी कान्तिके समान स्वच्छ सफेद प्रासाद किसे प्रिय नहीं लगते । जिसका जघन सुन्दर मेखलासे वेष्ठित है ऐसी सुन्दर स्त्रीको कौन सेवन करना नहीं चाहता । कानोंके लिये रसायन रूप सुखकर गीत आदिको कौन सुनना नहीं चाहता । किन्तु सन्त पुरुष इस विश्वको वायुकी तरह चचल देखकर तप करते हैं । विशेषार्थ—ससारकी रमणीक वस्तुएँ सबको प्यारी लगती हैं । किन्तु उनमें स्थिरता नहीं है । सब ही विनाशीक है इसीसे ज्ञानी पुरुष क्षणिक सुखका मोह त्यागकर शाश्वत सुखके लिये प्रयत्न करते है ॥ ४ ॥ बुद्धिमान् पुरुषोंने देखा कि मनुष्यका यौवन चढे हुए धनुषसे छूटे हुए बाणकी गतिके समान अस्थिर है । कामभोग क्रुद्ध हुए सर्पके शरीरके समान कुटिल हैं । जीवन बिजलीकी तरह चंचल है । लक्ष्मी भी अगारेकी आग पर तपाये हुए पारेके समान अस्थिर है । यह देखकर बुद्धिमान् पुरुष इन सबको त्याग उत्कृष्ट तप करनेके लिये वनमें चले गये ॥ ५ ॥ प्राणियोंके शरीरको रोग खा जाता है । यमराज बलपूर्वक जीवनको ग्रस लेता है । धनको राजा पुत्र आदि छीन लेते हैं । यौवनको बुढापा ग्रस लेता है । मदमत्त नारियोंके संसर्गसे होनेवाले सुखको वियोगरूपी आग नष्ट कर देती है । फिर भी खेद है कि मोही पुरुष पापका संचय करते हैं । अर्थात् ये सब विनाशीक हैं फिर भी मनुष्य इनके मोहमें पड़कर पापकार्य करता है और इस तरह पापकर्मका संचय करके मर जाता है ॥ ६ ॥

---

१ स °जघनाः, °जघनाः । २ स कामिनो । ३ स कुष्टे° । ४ स घने । ५ स अंगादा° । ६ स वपुर्वस्यति, मस्यति । ७ स दहनं । ८ स मौहिनो । ९ स दुरतसंगृहं ।

325) अपायकलिता तनुर्जगति सापदः संपदो
विनश्वरमिदं सुखं विषयजं[1] श्रियश्चञ्चलाः ।
भवन्ति ज[2]रसारसास्तरललोचना योषित-
स्तदप्यय[3]महो जनस्तपसि नो परे[4] रज्यति ॥ ७ ॥

326) भवे विहरतो[5] ऽभवन्[6] भवभृतो न के बान्धवाः
स्वकर्मवशतो न के ऽत्र शत्रवो भविष्यन्ति वा ।
जनः किमिति मोहितो[7] नवकुटुम्बकस्यापदि
विमुक्तजिनशासनः स्वहिततः सदा भ्रश्यते[8] ॥ ८ ॥

327) दृढोन्नतकुचात्र या चपललोचना कामिनी
शशाङ्कवदनाम्बुजा मदनपीडिता[9] यौवने ।
मनो हरति रूपतः सकलकामिनां वेगतो[10]
न सैव जरसार्दिता [11]भवति वल्लभा कस्यचित् ॥ ९ ॥

328) इमा यदि भवन्ति नो [12]गलितयौवना नीरुच-
स्तदा कमललोचनास्तरुण [13]मानिनीर्मा मुचत् ।
विलासमदविभ्रमान्[14] भ्रमति लुण्ठयन्त्री[15] जरा
यतो भुवि बुधस्ततो भवति [16]निःस्पृहस्तन्मुखे ॥ १० ॥

श्रिय चञ्चला । तरललोचना योषित. जरसा अरसा भवन्ति । तदपि अय जन परे तपसि नो रज्यति ॥ ७ ॥ भवे विहरतः भवभृत' के बान्धवा न अभवन् । अत्र स्वकर्मवशत. के वा शत्रव न भविष्यन्ति । नवकुटुम्बकस्यापदि मोहितः विमुक्तजिनशासन जन किमिति स्वहिततः सदा भ्रश्यते ॥ ८ ॥ अत्र दृढोन्नतकुचा चपललोचना शशाङ्कवदनाम्बुजा यौवने मदनपीडिता कामिनी रूपत सकलकामिना मन वेगतः हरति सैव जरसार्दिता कस्यचित् वल्लभा न भवति ॥ ९ ॥ यदि इमा. कमललोचनाः तरुणमानिनी गलितयौवना नीरुच नो भवन्ति तदा विलासमदविभ्रमान् मा मुचत् । यत. भुवि लुण्ठ-

---

इस ससारमें शरीर अनेक बुराइयोंसे भरा है। सम्पत्तियां आपत्तियोसे घिरी है। यह विषयजन्य सुख विनश्वर है। लक्ष्मी चचल है। चंचल नेत्रवाली स्त्रियाँ वृद्धावस्थाके आने पर विरस हो जाती है। फिर भी आश्चर्य है कि यह मनुष्य उत्तम तपमें अनुराग नही करता ॥ ७ ॥ अनादिकालसे इस ससारमें भ्रमण करते हुए इस जीवके अपने कर्मवश कौन बान्धव नही हुए और कौन शत्रु नही होंगे। अर्थात् अपने-अपने कर्मवश सभी जीव एक दूसरेके मित्र और शत्रु हुए है तथा होगे। फिर भी न जाने क्यो यह मनुष्य नवीन कुटुम्बके मोहमें पड़कर आपत्तिमें पड़ता है और जैनधर्मको छोड़कर सदा अपने हितसे भ्रष्ट होता है, आत्महितमें नहीं लगता ॥ ८ ॥ इस लोकमें जो स्त्री यौवन अवस्थामे दृढ़ और उन्नत स्तनवाली होती है, उसकी आंखोंमें चपलता रहती है, मुखकमल चन्द्रमाके समान होता है, कामविकारसे पीड़ित रहती है तथा अपने रूपसे कामी जनोंके मन बड़े वेगसे हरती है। वही स्त्री बुढ़ापेसे ग्रस्त होने पर किसीको भी प्रिय नही होती ॥ ९ ॥ यदि इन स्त्रियोका यौवन न ढलता और ये कान्तिहीन न होती तो इन कमलके समान नेत्रवाली युवती स्त्रियों

---

१ स जंश्रिय । २ स जरसा रसा° । ३ स तदप्यजमहो । ४ स परै, परि । ५ स विरहितो । ६ स भवन्भ° । ७ स मोहिनो । ८ स भ्रस्यते । ९ स °पीडिते । १० स योगतो । ११ स जरसार्दितो । १२ स गलति° । १३ स °मानिनी मामुचत्, °माननी°, °भामिनी° । १४ स °विभ्रमा भ्र° । १५ स लुण्टयित्री । १६ स निस्पृ° ।

329) इमा रूप[1]स्थानस्वजन[2]तनयद्रव्यवनिता[3]-
सुतालक्ष्मीकीर्तिद्युतिरति[4]मतिप्रीतिधृतयः ।
मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वभविना-
महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान् सेवितुमनाः ॥ ११ ॥

330) सहात्र स्त्री किंचित् सुतपरिजनैः प्रेम कुरुते
वशप्राप्तो भोगो भवति रतये किंचिदनघाः ।
श्रियः किंचित्तुष्टिं[5] विदधति परां सौख्यजनिकां
न किंचित्पुंसां ही[6] कतिपयदिनैरेतदखिलम् ॥ १२ ॥

331) विजित्योर्वीं सर्वां[7] सततमिह संसेव्य विषयान्[8]
श्रियं प्राप्यानर्घ्यां तनयमवलोक्यापि परमम्[9] ।
[10]निहत्यारातीनां वलवलयमत्यन्तपरमं
विमुक्तद्रव्यो ही[11] मुषितवदयं याति मरणम् ॥ १३ ॥

यत्री जरा भ्रमति, तत बुध तन्मुखे नि.स्पृह भवति ॥ १० ॥ सर्वभविनाम् इमाः रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनितासुता-लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतय. मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपला. । तदपि मर्त्य विषयान् सेवितुमना । अहो कष्टम् ॥ ११ ॥ अत्र स्त्री सुतपरिजनै सह किंचित् प्रेम कुरुते । वशप्राप्त भोगः किंचित् रतये भवति । अनघा. श्रियः परां सौख्यजनिकां कांचित्तुष्टिं विदधति । ही । पुंसाम् एतत् अखिल कतिपयदिनै किंचित् न ॥ १२ ॥ इह सततं सर्वाम् उर्वीं विजित्य विषयान् संसेव्य अनर्घ्यां श्रियं प्राप्य परम तनयम् अवलोक्यापि अरातीनाम् अत्यन्तपरमं वलवलय निहत्य ही मुषितवत् विमुक्तद्रव्यः अयं मरणं याति ॥ १३ ॥ श्रियः अपायाघ्राताः । इद जीवितं तृणजलचरम् । स्त्रीणा मन चित्रम् । कामजसुखं भुजग-

---

को कौन छोड़ता ? किन्तु इस पृथ्वी पर विलास, मद और सौन्दर्यको लूटनेवाली जरा घूमा करती है । इसलिये ज्ञानी विवेकी उनके सुखसे निस्पृह हो जाता है वह उन्हे त्यागकर आत्मकल्याणमें लगता है ॥ १० ॥ सभी प्राणियोंके रूप, स्थान, स्वजन, पुत्र, धन, पत्नी, पुत्री, यश, कान्ति, रति, मति, प्रीति, धैर्य ये सब मदमत्त स्त्रीके नेत्रोंके समान स्वभावसे ही चंचल हैं, स्थायी नही हैं । फिर भी बड़ा खेद है कि मनुष्यका मन विषयोके सेवनमें ही लगा रहता है ॥ ११ ॥ इस संसारमें स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियोंके साथ जो थोड़ा-सा प्रेम करती है, और जो अपने वशमे प्राप्त हुए भोग इस स्त्रीके साथ थोड़ा-सा राग पैदा करते हैं, तथा लक्ष्मीसम्पदा उत्कृष्ट सुख देनेवाली थोड़ी-सी तुष्टि करती है । यह सब कुछ भी नही है क्योकि ये सब कुछ दिनोका ही खेल है । कुछ समय पश्चात् सब नष्ट होनेवाला है ॥ १२ ॥ यह मनुष्य इस ससारमें समस्त पृथ्वीको जीत, निरन्तर विषयोंका सेवन कर, बहुमूल्य लक्ष्मीको प्राप्त कर तथा उत्तम पुत्रको भी देखकर और अत्यन्त महान् शत्रुओंके समूहका विनाश करके भी सब कुछ छोड़ लुटे हुए यात्रीकी तरह मरणको प्राप्त होता है अर्थात् संसारके सब सुखोंको प्राप्त करके भी अन्तमें सब कुछ छोड़कर एकाकी चला जाता है ॥ १३ ॥ संसारकी सब विभूतियाँ नाशशील हैं । यह

---

१ स °स्थाना° । २ स om स्वजन । ३ स °वनिता सुता । ४ स Om. रति । ५ स तुष्टं, किंचनुष्टं । ६ स हि । ७ स भूरि for सर्वां । ८ स विषया । ९ स परमा । १० स निहन्त्या° । ११ स हि ।

332) श्रियो[1] ऽपायाघ्राताः स्तृणजलचरं[2] जीवितमिदं
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिलं कामजसुखम्[3] ।
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवनधने
इति ज्ञात्वा सन्तः स्थिरतरधियः श्रेयसि रताः ॥ १४ ॥

333) गलत्यायुर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं
जरा प्रत्यासन्नीभवति लभते व्याधिरुदयम्[4] ।
[5]कुटुम्बस्नेहार्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो
मनो जन्मोच्छित्त्यै तदपि कुरुते नायमसुमान्[6] ॥ १५ ॥

334) बुधा ब्रह्मोत्कृष्टं[7] परमसुखकृद्वाञ्छि[8]तपदं[9]
विवेकश्चेदस्ति प्रतिहत[10]मलः स्वान्तवसतौ[11] ।
इदं लक्ष्मीभोग[12]प्रभृति सकलं यस्य वशतो[13]
न मोहग्रस्ते तन्मनसि विबुधां भावि सुखदम् ॥ १६ ॥

335) भवन्त्येता लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव सुखदा-
स्तरुण्यस्तारुण्ये विदधति मनःप्रीतिमतुलाम् ।
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चलं व्याधिकलितं
बुधाः संचिन्त्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि[14] रताः ॥ १७ ॥

कुटिलम् । कायः क्षणध्वसी । यौवनधने प्रकृतितरले । इति ज्ञात्वा सन्तः स्थिरतरधियः श्रेयसि रताः ॥ १४ ॥ आयुः गलति । देहे अखिलं रूपं विलयं व्रजति । जरा प्रत्यासन्नीभवति । व्याधिः उदयं लभते । तदपि कुटुम्बस्नेहार्तः प्रतिहतमतिः लोभकलितः अयम् असुमान् जन्मोच्छित्त्यै मनः न कुरुते ॥ १५ ॥ बुधाः, स्वान्तवसतौ प्रतिहतमलः विवेकः अस्ति चेत् ब्रह्मोत्कृष्टं परमसुखकृद् वाञ्छितपदम् । यस्य वशतः इदं लक्ष्मीभोगप्रभृति सकलं सुखदं तत् विदुषां मोहग्रस्ते मनसि न भावि ॥ १६ ॥ एताः लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव सुखदाः भवन्ति । तरुण्यः तारुण्ये अतुलां मनःप्रीतिं विदधति । भोगाः

जीवन तिनके पर पड़े जलबिन्दुकी तरह क्षणस्थायी है। स्त्रियोंका मन विचित्र है। कामजन्य सुख सर्पकी तरह टेढा है। शरीर क्षणभरमें नष्ट होनेवाला है। यौवन और धन स्वभावसे ही चपल है। ऐसा जान अति स्थिर विचारवाले सन्तपुरुष अपने कल्याणमे लीन रहते हैं ॥ १४ ॥ आयु क्षण-क्षणमें घटती जाती है। शरीरका सब सौन्दर्य विनाशकी ओर जाता है। बुढ़ापा निकट आता जाता है। रोग उत्पन्न होते जाते है। फिर भी यह बुद्धिहीन प्राणी कुटुम्बके स्नेहमें डूब, लोभमें पड़कर इस जन्ममरणके विनाशमें मन नही लगाता ॥ १५ ॥ हे ज्ञानियों! यदि तुम्हारे अन्तःकरणमें निर्मल विवेक है तो यह उत्कृष्ट ब्रह्म ही परमसुखको करनेवाला और इच्छित पदार्थको देनेवाला है। यह सब लक्ष्मी भोग वगैरह उसीके अधीन हैं। जिनका मन मोहसे ग्रस्त होता है उन्हें ये पदार्थ सुखदायक नही होते ॥ १६ ॥ ये सांसारिक सम्पदायें कुछ दिनो तक ही सुख देनेवाली प्रतीत होती है। युवती स्त्रियाँ जवानीमे ही मनको अत्यधिक अनुराग प्रदान करनेवाली होती हैं। भोग

---

१ स श्रियोपाया घ्राता° । २ स तृणजचल । ३ स °सखम् । ४ स उदया । ५ स कुटुम्ब स्ने° । ६ स असुमान् । ७ स ब्रह्मोत्कष्टं । ८ स °द्वांछत° । ९ स °परं । १० स प्रतिहति° । ११ स °वशतौ । १२ स °भोगा° । १३ स वसतो । १४ स ब्रह्मनिरताः ।

336) न कान्ता[1] कान्तान्ते विरहशिखिनी[2] दीर्घनयना
न कान्ता भूपश्री[3]स्तडिदिव चला चान्तविरसा।
न कान्तं ग्रस्तान्तं भवति जरसा यौवनमतः
श्रयन्ते[4] सन्तो ऽव[5]स्थिरसुखमयीं मुक्तिवनिताम् ॥ १८ ॥

337) वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्ते ऽत्र सकला:[6]
समं यैः संवृद्धा ननु विरलतां ते ऽपि गमिताः।
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटी[7] क्रमकृता
न पश्यन्तो ऽप्येवं विषयविरतिं यान्ति कृपणाः ॥ १९ ॥

338) स यातो यात्येष स्फुटमयमहो यास्यति मृतिं
परेषामत्रैवं[8] गणयति जनो नित्यमबुधः।
महामोहाघ्रातस्तनुधनकलत्रादिविभवे[9]
न मृत्युं[10] स्वासन्नं व्यपगतमतिः पश्यति पुनः ॥ २० ॥

339) सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि गतमलं मुक्तिवसतौ[11]
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमतं पूतचरितम्[12]।
भजध्वं मा तृष्णां कतिपयदिनस्थायिनि धने
यतो नायं सन्तः कमपि[13] मृतमन्वेति विभवः ॥ २१ ॥

तडिल्लोलाः। वपुरपि चलं व्याधिकलितम्। बुधा इति संचिन्त्य प्रगुणमनसः ब्रह्मणि रता ॥ १७ ॥ दीर्घनयना विरहशिखिनी कान्ता अन्ते न कान्ता। तडिदिव चला अन्तविरसा च भूपश्री न कान्ता। जरसा ग्रस्तान्त यौवन कान्तं न भवति। अतः सन्तः अवस्थिरसुखमयीं मुक्तिवनितां श्रयन्ते ॥ १८ ॥ येभ्यः वयं जाताः ते सकलाः अत्र मृतिम् उपगताः। यैः समं संवृद्धाः तेऽपि ननु विरलता गमिताः। इदानीम् अस्माकं क्रमकृता मरणपरिपाटी। एवं पश्यन्तः अपि कृपणाः विषयविरतिं न यान्ति ॥ १९ ॥ सः मृतिं यातः। एषः मृतिं याति। अहो, अयं स्फुटं मृतिं यास्यति। अत्र अबुधः जनः तनुधनकलत्रादिविभवे महामोहाघ्रातः परेषाम् एवं गणयति। पुनः व्यपगतमतिः स्वासन्नं मृत्युं न पश्यति ॥ २० ॥ यदि

बिजलीके समान चंचल है। व्याधियोसे युक्त शरीर भी चल है, टिकाऊ नही है। ऐसा विचार कर सरलचित्त विद्वज्जन ब्रह्म मे—आत्मध्यानमे लीन होते हैं ॥ १७ ॥ अन्तमें विरहकी आगमे जलनेवाले प्रेमीके लिये बड़ी-बड़ी आँखोंवाली पत्नी प्रिय प्रतीत नहीं होती। राजलक्ष्मी भी बिजलीकी तरह चंचल और अन्तमे विरस होनेसे प्रिय नहीं है। यौवन भी प्रिय नही है क्योकि अन्तमे उसे बुढ़ापा ग्रस लेता है। इसीसे सन्तपुरुष स्थायी सुखसे पूर्ण मुक्तिरूपी नारीका आश्रय लेते है ॥ १८ ॥ जिन माता-पिता आदिसे हमारा जन्म हुआ वे सब मरणको प्राप्त हो गये। जिन मित्र बन्धु बान्धवोंके साथ खेल कूदकर हम बड़े हुए उन सबने भी आँखें फेर ली—वे सब भी कालके गालमे समा गये। अब इस क्रम परिपाटीमे हमारे मरणका समय आया है। ऐसा जानते देखते हुए भी मूढ प्राणी विषयोंसे विरक्त नही होता ॥ १९ ॥ यह अज्ञानी प्राणी अमुक मर गया, अमुक मरणोन्मुख है और अमुक भी निश्चय ही मरेगा, इस प्रकार नित्य ही दूसरोंकी गणना तो किया करता है। किन्तु शरीर धन स्त्री आदि वैभवमे महा मोहसे ग्रस्त हुआ मूर्ख मनुष्य अपनी पासमें आई मृत्युको भी नही देखता ॥ २० ॥

---

१ स कान्ताः। २ स °शिखिनो। ३ स भूपस्त्री°। ४ स श्रयन्ते ते। ५ स om. ऽव। ६ स त्रयकालाः। ७ स परपाटिः, परिपाटिः, °पाटीक्रम°। ८ स परेषा यत्रैवं। ९ स °स विभवो। १० स मृत्यं, स्वाशमं। ११ स °वशतो। १२ स पूतरचितं। १३ स किमपि।

340) न संसारे किंचित्स्थिरमिह निजं वास्ति सकले
विमुच्यार्घ्यं रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकम् ।
अहो मोहार्तानां[1] तदपि विरतिर्नास्ति भवत-
स्ततो मोक्षोपायाद्विमुखमनसां नात्र[2] कुशलम् ॥ २२ ॥

341) अनित्यं निस्त्राणं[3] जननमरण[4]व्याधिकलितं
जगन्मिथ्या[5]त्वार्थैरहमहमिकालिङ्गितमिदम् ।
विचिन्त्यैवं सन्तो विमलमनसो धर्ममतय-
स्तपः कर्तुं वृत्तास्तदपसृ[6]तये[7] जैनमनघम् ॥ २३ ॥

342) तडिल्लोलं तृष्णाप्रचयनिपुणं सौख्यमखिलं
तृषो वृद्धेस्तापो दहति स मनो[8] वह्निवदलम् ।
ततः खेदो[9]ऽत्यन्तं भवति भविनां चेतसि बुधा
निधायेदं[10] पूते जिनपतिमते सन्ति निरताः ॥ २४ ॥

इति[11] सामान्यानित्यतानिरूपण[12]चतुर्विंशतिः ॥ १३ ॥

मुक्तिवसतौ गतमलं सुखं प्राप्तुं बुद्धिः भो पूतचरित हितं जिनपतिमतं सेवध्वम् । कतिपयदिनस्थायिनि धने तृष्णां मा भजध्वम् । [हे] सन्तः, यतः अयं विभवः कमपि मृतं न अन्वेति ॥ २१ ॥ इह सकले संसारे अनघं मुक्तिजनकम् अर्घ्यं रत्नत्रितयं विमुच्य किंचित् स्थिरं निजं वा न अस्ति । तदपि अहो मोहार्तानां भवतः विरतिः न अस्ति । ततः मोक्षोपायात् विमुखमनसाम् अत्र कुशलं न ॥ २२ ॥ जननमरणव्याधिकलितं निस्त्राणम् अनित्यम् । इदं जगत् मिथ्यात्वार्थैः अहमहमिकालिङ्गितम् । विमलमनसः धर्ममतयः सन्तः एवं विचिन्त्य तदपसृतये अनघं जैनं तपः कर्तुं वृत्ताः ॥ २३ ॥ तृष्णाप्रचयनिपुणम् अखिलं सौख्यं तडिल्लोलम् । तृषः वृद्धेः तापः । सः वह्निवत् अलं मनः दहति । ततः भविनां चेतसि अत्यन्तं खेदः भवति । बुधाः इदं निधाय पूते जिनपतिमते निरताः सन्ति ॥ २४ ॥

इति सामान्यानित्यतानिरूपणम् ॥ १३ ॥

इसलिये यदि मुक्तिरूपी निवास स्थानमे निर्मल सुख प्राप्त करनेकी भावना है तो हे प्राणी ! पवित्र आचार वाले तथा हितकारी जैनधर्मका पालन करो । तथा धनकी तृष्णा मत करो । धन कुछ ही समय तक ठहरता है । क्योकि सांसारिक वैभव किसी भी मरने वालेके साथ नही जाता ॥ २१ ॥ इस समस्त ससारमे मुक्ति देने वाले पूज्य तथा निष्पाप रत्नत्रयको छोड़ अन्य कोई वस्तु न तो स्थायी है और न अपनी है । आश्चर्य है कि फिर भी मोहसे पीड़ित प्राणी संसारसे विरत नही होते । अतः मोक्षके उपायोसे अर्थात् रत्नत्रयसे जिनका मन विमुख है उनका इस ससारमे कल्याण नही है ॥ २२ ॥ यह ससार अनित्य है, इसमे किसीकी रक्षा नही है, जन्ममरणरूपी महारोगसे युक्त है, तथा मै पहले मै पहले करके मिथ्यात्व रूप पदार्थोंसे घिरा हुआ है । ऐसा विचार कर निर्मल बुद्धिवाले धर्मात्मा सन्त पुरुष उस संसारसे छूटनेके लिये निष्पाप जैन तप करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ॥ २३ ॥ संसारका समस्त सुख बिजलीके समान चचल और तृष्णाके समूहको एकत्र करनेमे दक्ष है । तृष्णाके बढ़नेसे संताप होता है । वह सन्ताप आगकी तरह मनको जलाता है । उससे प्राणियोंको अत्यन्त खेद होता है । ऐसा मनमें विचार विद्वज्जन पवित्र जैनधर्ममे लीन होते है ॥ २४ ॥

---

१ स °र्तीना, °र्तोना । २ सौख्य° for नात्र । ३ स निस्त्राणा । ४ स जनमरण° । ५ स मिथ्यात्वार्थ र, मिथ्यात्वर्थैर । ६ स °स्तपदसृ° । ७ स अपमृतये । ८ स शमनो । ९ स स्वेदो । १० स यद for निधायेदं । ११ स om इति । १२ स °निरूपणा°, °निरूपणम् ।

[१४. दैवनिरूपणद्वात्रिंशत्]

343) यत्पाति हन्ति[1] जनयति रजस्तमःसत्त्वगुणयुतं विश्वम् ।
तद्धरिशंक[2]रविधिवज्जयतु[3] जगत्यां सदा कर्म ॥ १ ॥

344) भवितव्यता विधाता कालो नियतिः पुराकृतं कर्म ।
वेधा विधिः[4] स्वभावो भाग्यं[5] दैवस्य नामानि ॥ २ ॥

345) यत्सौख्यदुःखजनकं प्राणभृता संचितं पुरा कर्म ।
स्मरति पुनरिदानीं तद्दैवं मुनिभिः[6] समाख्यातम् ॥ ३ ॥

346) दुःखं सुखं च लभते[7] यद्येन यतो यदा यथा यत्र[8] ।
दैवनियोगात्प्राप्यं तत्तेन ततस्तदा तथा तत्र ॥ ४ ॥

347) यत्कर्म पुरा विहितं यातं[9] जीवस्य पाकमिह किंचित् ।
न तदन्यथा विधातुं कथमपि शक्रो[10]ऽपि शक्नोति ॥ ५ ॥

यत् रजस्तमः सत्त्वगुणयुतं विश्वं जनयति, पाति, हन्ति तत् कर्म हरिशंकरविधिवत् जगत्या सदा जयतु ॥ १ ॥ भवितव्यता, विधाता, कालः, नियतिः, पुराकृतं कर्म, वेधाः, विधिः, स्वभावः, भाग्यम् [इति] दैवस्य नामानि ॥ २ ॥ यत् सौख्यदुःखजनकं प्राणभृता संचितं पुरा कर्म पुनः इदानीं स्मरति तत् मुनिभिः दैवं समाख्यातम् ॥ ३ ॥ यत् येन यतः यदा यथा यत्र दुःखं सुखं च लभते तत् तेन ततः तदा तथा तत्र दैवनियोगात् प्राप्यम् ॥ ४ ॥ यत् कर्म पुरा विहितम् इह जीवस्य किंचित् पाकं यात तत् अन्यथा विधातु शक्रः अपि कथमपि न शक्नोति ॥ ५ ॥ धाता तावत् त्रिलोकस्य ललाम-

---

जो रजोगुण तमोगुण और सतोगुणसे युक्त विश्वकी विष्णुके समान रक्षा करता है, महादेवके समान विनाश करता और ब्रह्माके समान उत्पत्ति करता है वह कर्म अर्थात् दैव जगतमे सदा जयवन्त हो ॥ १ ॥ विशेषार्थ— सांख्य दर्शनमें जगत्को त्रिगुणात्मक कहा है। रजोगुणका कार्य उत्पाद है, तमोगुणका कार्य विनाश है और सतोगुणका कार्य स्थिति है। यह जैनोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। दैव भी ये तीन कार्य करता है। यह मारता भी है जिलाता भी है। बनाता भी है। बिगाड़ता भी है। समस्त संसार ही दैवका खेल है। यहाँ उसीकी तूती बोलती है इस लिये उसकी जयकामना की है ॥१॥ भवितव्यता, विधाता, काल, नियति, पूर्वोपार्जित कर्म, वेधा, विधि, स्वभाव और भाग्य, ये सब दैवके नामान्तर है ॥२॥ पूर्वमें प्राणीने जो सुख दुःख देने वाले कर्म संचित किये हैं जिन्हें इस समय स्मरण करता है उसे मुनिगण दैव कहते हैं ॥३॥ जिस जीवने जिस तरहसे जब जहाँ जो दुःख सुख प्राप्त करना होता है उस जीवको उस तरहसे उस स्थानमे, उस कालमें, वह दुःख सुख दैवके नियोगसे अवश्य प्राप्त होता है ॥४॥ पूर्वकालमें जीवने जो अच्छा या बुरा कर्म किया और इस समय वह पक कर फल देनेके सन्मुख हुआ उसको किंचित् भी अन्यथा करनेमें इन्द्र भी किसी तरह समर्थ नही है। अर्थात् किये हुए हुए कर्मका फल जीव अवश्य भोगना होता है। कोई दूसरा उसमें कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकता ॥५॥ दैव मनुष्यको तीनों लोकमें

---

१ स om. हन्ति । २ स °संकरि° । ३ स विजयतु for जयतु । ४ स विधि । ५ स त्यागं for भाग्यं । ६ स मुनिभिः ख्यातं । ७ स लभ्मेयद्येन, लभ्मतेयद्येन, लम्योयद्येन, लभयद्येन, लभेयद्येन । ८ स तत्र । ९ स om. यातं । १० स शक्तो for शक्रो ।

348) धाता जनयति तावल्ललामभूतं[1] नरं त्रिलोकस्य ।
यदि पुनरपि[2] गतबुद्धिर्नाशयति किमस्य तत्कृत्यम् ॥ ६ ॥
349) निहतं[3] यस्य मयूखैर्न तमः संतिष्ठते दिगन्ते ऽपि ।
उपयाति[4] सो ऽपि नाशं नापदि किं तं विधिः स्पृशति ॥ ७ ॥
350) विपरीते सति धातरि साधनमफलं प्रजायते पुंसाम्[5] ।
दशशतकरो ऽपि भानुर्निपतति गगनादनवलम्बः ॥ ८ ॥
351) यत्कुर्वन्नपि[6] नित्यं कृत्यं पुरुषो न[7] वाञ्छितं लभते ।
तत्रायशो विधातुर्मुनयो न वदन्ति देहभृतः ॥ ९ ॥
352) बान्धवमध्ये ऽपि जनो दुःखानि समेति पापपाकेन ।
पुण्येन वैरिसदनं यातो ऽपि न मुच्यते सौख्यैः ॥ १० ॥
353) पुरुषस्य भाग्यसमये पतितो वज्रो[8] ऽपि जायते कुसुमम् ।
कुसुममपि भाग्यविरहे[9] वज्रादपि निष्ठुरं भवति ॥ ११ ॥

भूतं नरं जनयति । यदि गतबुद्धि पुनरपि नाशयति, किम् अस्य तत् कृत्यम् ॥ ६ ॥ यस्य मयूखैः निहतं तमः दिगन्ते ऽपि न संतिष्ठते, सो ऽपि नाशम् उपयाति । विधि. आपदि तं किं न स्पृशति ॥ ७ ॥ धातरि विपरीते सति पुंसा साधनम् अफलं प्रजायते । भानुः दशशतकर अपि अनवलम्बः गगनात् निपतति ॥ ८ ॥ नित्यं कृत्यं कुर्वन् अपि पुरुषः यत् वाञ्छितं न लभते तत्र मुनयः विधातु अयश. वदन्ति । देहभृत. न ॥ ९ ॥ जनः पापपाकेन बान्धवमध्ये ऽपि दुःखानि समेति । वैरिसदनं यातः अपि पुण्येन सौख्यै. न मुच्यते ॥ १० ॥ पुरुषस्य भाग्यसमये पतितः वज्र. अपि कुसुमम् जायते । भाग्य-

---

प्रधान बनाकर पैदा करता है। यदि पुनः उसकी मति बदलती है तो नष्ट कर डालता है। यह दैवका काम है। इसमें किसीको क्या कहना ॥ ६ ॥ जिस सूर्यकी किरणोंसे भगाया हुआ अन्धकार दिशान्तमें भी नहीं ठहरता अर्थात् जब सूर्यका उदय होता है सब दिशाएं उसके तेजसे प्रकाशित होती हैं किन्तु वह सूर्य भी दिन ढलने पर पश्चिममें जाकर अस्त हो जाता है। क्या विपत्तिके समय दैव उसके साथ नही होता ? अवश्य होता है। यही तो दैवका खेल है ॥ ७ ॥ जब भाग्य प्रतिकूल होता है तो मनुष्योके सब साधन निष्फल हो जाते हैं। देखो, सूर्यके हजार हाथ होते हैं फिर भी भाग्य प्रतिकूल होने पर सन्ध्याके समय वह बिना सहारेके आकाशसे गिर जाता है। विशेषार्थ—सूर्यको सहस्रकर कहते हैं। करका अर्थ किरण भी है और हाथ भी है। एक हजार हाथ वाला भी सूर्य आकाशसे गिरकर डूब जाता है। यह भाग्यकी विपरीतताका खेल है। जब तक भाग्य अनुकूल रहता है मनुष्य जो करता है सब सफल होता है। प्रतिकूल होने पर सारे उपाय व्यर्थ हो जाते है ॥८॥ पुरुष नित्य करने योग्य कामको करते हुए भी जो इच्छित फलको प्राप्त नही करता, उसमें मुनिगण दैवको ही दोष देते हैं, पुरुषको नही। अर्थात् पुरुषके प्रयत्न करने पर भी जो कार्य सिद्धि नही होती उसमें पुरुषका दोष नही है उसके भाग्यका ही दोष है ऐसा मुनिगण कहते हैं ॥ ९ ॥ पापकर्मके उदयसे मनुष्य बन्धु-बांधवोके मध्यमें रहते हुए भी दुःख भोगता है। और पुण्य कर्मके उदयसे शत्रुके घरमे रह कर भी सुख भोगता है ॥ १० ॥ जब

---

१ स भूरं for भूतं । २ स कथमपि गतबुधिर्नाशयति किमस्य तत्कृत्तं । ३ स निहितं यस्य मयूखैर्न तम संति पृते दिगंतेपि शक्तोपि शक्ताति । ४ स निहित । ५ स उपजाति । ६ स पुंसा । ७ स ॰यकुर्वन्न॰ । ८ स for न । ९ स वज्रा । १० स भाग्यहीने ।

354) किं सुखदुःखनिमित्तं मनुजो ऽयं[1] खिद्यते[2] गतमनस्कः।
परिणमति विधिविनिर्मितमसुभाजां[3] किं वितर्केण ॥ १२ ॥
355) दिशि विदिशि वियति शिखरिणि संयति गहने वनेऽपि [4]यातानाम्।
योजयति विधिरभीष्टं जन्मवतामभिमुखीभूतः ॥ १३ ॥
356) [5]यदनीतिमतां लक्ष्मीर्यद[6]पथ्यनिषेविणां च कल्यत्वम्।
अनुमीयते विधातुः स्वेच्छाकारित्वमेतेन ॥ १४ ॥
357) जलधिगतो ऽपि न [7]कश्चित्कश्चित्तटगो ऽपि रत्नमुपयाति।
पुण्यविपाकान्मर्त्यो मत्वेति विमुच्यतां खेदः ॥ १५ ॥
358) सुखमसुखं च विधत्ते जीवानां यत्र तत्र जातानाम्।
कर्मैव पुरा चरितं कस्त[8]च्छक्नोति वारयितुम् ॥ १६ ॥
359) द्वीपे चात्र समुद्रे धरणीधरमस्तके दिशामन्ते।
यातं[9] कूपे ऽपि विधी रत्नं योजयति[10] जन्मवताम् ॥ १७ ॥

विरहे कुसुमम् अपि वज्रादपि निष्ठुरं भवति ॥ ११ ॥ गतमनस्कः अयं मनुजः सुखदुःखनिमित्तं किं खिद्यते। असुभाजा विधिविनिर्मित परिणमति। वितर्केण किम् ॥ १२ ॥ दिशि विदिशि वियति शिखरिणि संयति गहने वने ऽपि यातानां जन्मवताम् अभिमुखीभूतः विधिः अभीष्टं योजयति ॥ १३ ॥ यत् अनीतिमता लक्ष्मीः, यत् च अपथ्यनिषेविणा कल्यत्वम्, एतेन विधातुः स्वेच्छाकारित्वम् अनुमीयते ॥ १४ ॥ पुण्यविपाकात् कश्चित् मर्त्यः जलधिगत अपि रत्नं न उपयाति। कश्चित् तटगः अपि रत्नम् उपयाति। इति मत्वा खेदः विमुच्यताम् ॥ १५ ॥ पुरा चरितं कर्म एव यत्र तत्र जातानां जीवानां सुखम् असुखं च विधत्ते। तत् वारयितुं कः शक्नोति ॥ १६ ॥ विधिः द्वीपे च अत्र समुद्रे धरणीधरमस्तके दिशाम् अन्ते

पुरुषका भाग्योदय होता है तो वज्रपात भी फूल बन जाता है। और भाग्यके अभावमें फूल भी वज्रसे कठोर हो जाता है ॥ ११ ॥ यह मनुष्य अन्य मनस्क होकर सुख दुःखके लिये व्यर्थ ही खेद खिन्न होता है अर्थात् विपत्ति और सपत्तिमें यह मनुष्य व्यर्थ ही चिन्ता करता है कि ऐसा कैसे हो गया; क्योंकि प्राणियोंको जो कुछ सुख दुःख होता है वह सब दैवके द्वारा किया होता है। उसमें तर्क वितर्क करना बेकार है ॥ १२ ॥ जिस समय प्राणियोंका दैव उनके अनुकूल होता है उस समय वे दिशा, विदिशा, आकाश, पर्वत अथवा गहन वनमें कहीं भी चले जायें, दैव उनके इच्छित मनोरथ पूरे करता है ॥ १३ ॥ लोकमे देखा जाता है कि जो अन्याय करते हैं उनके पास लक्ष्मी आती है और जो अपथ्यका सेवन करते हैं वे रोगी न होकर नीरोग रहते हैं। इससे अनुमान होता है कि विधाता बड़ा स्वेच्छाचारी है उसके मनमें जो आता है सो कर डालता है ॥ १४ ॥ कोई मनुष्य तो समुद्रमे गोता लगाने पर भी रत्न नही पाता और कोई समुद्रके तट पर रहकर भी पा जाता है। यह सब जीवोंके पाप-पुण्यका खेल है। ऐसा मानकर मनुष्यको खेद नही करना चाहिये कि क्यों दूसरे सुखी हैं और वह दुःखी है ॥ १५ ॥ संसारमें सर्वत्र उत्पन्न हुए जीवोंको उनके द्वारा पूर्व जन्ममें किया गया पुण्य-पाप ही सुख अथवा दुःख देता है। उसे रोकना शक्य नहीं है ॥ १६ ॥ प्राणियोंको उनका भाग्य द्वीपमें, समुद्रमें, पर्वतके शिखर पर, दिशाओंके अन्तमें और कूपमें भी गिरे रत्नको मिला देता है ॥ १७ ॥ इस संसारमें पुण्य

---

१ स om. ऽयं। २ स खिद्यते, विद्यते। ३ स असुभुजा। ४ स जातानां। ५ स यदि नीति°। ६ स यदि पथ्य°। ७ स om. कश्चित् ८ स कस्तं छ° वारयतुं। ९ स पातं। १० स जोजयति।

360) विपदो ऽपि पुण्यभाजां जायन्ते[1] संपदो ऽत्र जन्मवताम् ।
पापविपाकाद्विपदो जायन्ते संपदो ऽपि सदा ॥ १८ ॥

361) चित्रयति यन्मयूरान् हरितयति शुकान् बकान् सितीकुरुते ।
कर्मैव तत्करिष्यति सुखासुखं किं मनःखेदैः ॥ १९ ॥

362) अन्यत् कृत्यं मनुजश्चिन्तयति दिवानिशं विशुद्धधिया ।
वेधा विदधात्यन्यत् स्वामीव[2] न शक्यते धर्तुम् ॥ २० ॥

363) द्वीपे जलनिधिमध्ये गहनवने वैरिणां समूहे ऽपि ।
रक्षति मर्त्यं सुकृतं पूर्वकृतं[3] भृत्यवत् सततम् ॥ २१ ॥

364) नश्यतु यातु[4] विदेशं प्रविशतु धरणीतलं खमुत्पततु ।
विदिशं दिशं तु[5] गच्छतु नो जीवस्त्यज्यते[6] विधिना ॥ २२ ॥

365) शुभमशुभं च मनुष्यैर्यत्कर्म पुरार्जितं विपाकमितं ।
तद्भोक्तव्यमवश्यं प्रतिषेद्धुं[7] शक्यते केन ॥ २३ ॥

कूपे अपि यातं रत्नं जन्मवतां योजयति ।। १७ ।। अत्र पुण्यभाजा जन्मवतां विपद अपि संपद. जायन्ते । सदा पापविपा-कात् सपद- अपि विपद' जायन्ते । १८ ।। यत् मयूरान् चित्रयति, शुकान् हरितयति, वकान् सितीकुरुते तत् कर्म एव सुखा-सुखं करिष्यति । मन'खेदै किम् ।। १९ ।। मनुज विशुद्धधिया दिवानिशम् अन्यत् कृत्यं चिन्तयति । वेधा अन्यत् विदधाति स स्वामी इव धर्तुम् न शक्यते ।। २० ।। द्वीपे जलनिधिमध्ये गहनवने वैरिणां समूहे अपि मर्त्यं पूर्वकृतं सुकृतं भृत्यवत् सतत रक्षति ।। २१ ।। जोव नश्यतु, विदेश यातु, धरणीतल प्रविशतु. खम् उत्पततु, विदिशं दिशं गच्छतु । तु विधिना नो त्यज्यते ।। २२ ।। मनुष्यै. पुरा शुभम् अशुभं च यत् कर्म अर्जितम्, विपाकम् इतं तत् अवश्यं भोक्तव्यम् । केन प्रतिषेद्धुं

शाली जीवोकी विपदा भी सम्पदा बन जाती है। और पाप कर्मके उदयसे संपदा भी विपदा बन जाती है ॥ १८ ॥ जो दैव मयूरोको चित्र विचित्र रंगवाला बनाता है, तोतोको हरा और बगुलोको सफेद बनाता है। वही दैव प्राणियोंको सुखी और दु'खी बनाता है। व्यर्थ खेद करनेसे क्या लाभ है ? ॥ १९ ॥ मनुष्य विशुद्ध बुद्धिसे रात दिन कुछ अन्य ही करनेका विचार करता है। किन्तु यह दैव कुछ अन्य ही कर देता है। अर्थात् मनुष्य जो सोचता है वह नही होता। और जो उसने सोचा भी न था वह हो जाता है। यह सब दैवका खेल है। वही जीवका स्वामी है उसे कोई रोक नही सकता। विशेषार्थ—यद्यपि दैवका निर्माण स्वय जीव ही करता है किन्तु फिर वही जीवका विधाता हो जाता है और उसके सामने जीवकी एक नही चलती ॥ २० ॥ पूर्व जन्ममें जो पुण्य कर्मका संचय किया है वह मनुष्यकी द्वीपमें, समुद्रके मध्यमें, गहन वनमे, और शत्रुओंके समूहमें सदा सेवककी तरह रक्षा करता है। अर्थात् यदि दैव शुभ कर्म रूप होता है तो जीवका शुभ करता है और यदि अशुभरूप होता है तो जीवका अनिष्ट करता है ॥ २१ ॥ प्राणी मर जाये, या विदेश चला जाये या पृथ्वीमें समा जाये या आकाशमे उड़ जाये या दिशा विदिशामें चला जाये किन्तु दैव उसका पीछा नही छोड़ता ॥ २२ ॥ मनुष्योंने पूर्वमें जिस शुभ या अशुभ कर्मका उपार्जन किया है वह जब उदयमें आता है तो

---

१ स जायते, जायाते । २ स स्वामी च । ३ स पूर्वकृत् । ४ स om. यातु । ५ स दिशन्तु । ६ स त्यजते । ७ स प्रतिषेधुं, प्रधिषेधं ।

366) धनधान्यकोशनिचयाः सर्वे जीवस्य सुखकृतः[1] सन्ति ।
भाग्येनेति विदित्वा विदुषा न[2] विधीयते खेदः ॥ २४ ॥
367) दैवायत्तं सर्वं जीवस्य सुखासुखं त्रिलोकेऽपि ।
बुद्ध्वेति शुद्धधिषणाः कुर्वन्ति मनःक्षतिं[3] नात्र ॥ २५ ॥
368) दातुं हर्तुं किंचित्[4] सुखासुखं नेह कोऽपि शक्नोति ।
त्यक्त्वा कर्म पुरा कृतमिति मत्वा नाशुभं[5] कृत्यम् ॥ २६ ॥
369) नरवरसुरवरविद्याधरेषु लोके न दृश्यते कोऽपि ।
शक्नोति यो निषेद्धुं भानोरिव कर्मणामुदयम्[6] ॥ २७ ॥
370) दयितजनेन वियोगं संयोगं खलजनेन जीवानाम् ।
सुखदुःखं च समस्तं विधिरेव निरङ्कुशः कुरुते ॥ २८ ॥
371) अशुभोदये जनानां नश्यति बुद्धिर्न विद्यते रक्षा ।
सुहृदोऽपि सन्ति रिपवो विषमविषं जायते [7]ऽप्यमृतम् ॥ २९ ॥

शक्यते ॥ २३ ॥ भाग्येन सर्वे धनधान्यकोशनिचया जीवस्य सुखकृत. सन्ति । इति विदित्वा विदुषा खेद. न विधीयते ॥ २४ ॥ त्रिलोके अपि सर्वं सुखासुखं जीवस्य दैवायत्तम् इति बुद्ध्वा शुद्धधिषणा अत्र मन क्षतिं न कुर्वन्ति ॥ २५ ॥ इह पुरा कृतं कर्म त्यक्त्वा क· अपि किंचित् सुखासुख दातु हर्तुं न शक्नोति । इति मत्वा अशुभं न कृत्यम् ॥ २६ ॥ लोके नरवरसुरवरविद्याधरेषु क अपि न दृश्यते । य भानो उदयम् इव कर्मणाम् उदयं निषेद्धुं शक्नोति ॥ २७ ॥ निरङ्कुश विधि. एव जीवानां दयितजनेन वियोगं खलजनेन संयोगं समस्त सुखदु खं च कुरुते ॥ २८ ॥ अशुभोदये जनानां बुद्धि नश्यति, रक्षा न विद्यते, सुहृदः अपि रिपव सन्ति । अमृतम् अपि विषमविषं जायते ॥ २९ ॥ लोके पुण्यविहीनस्य देहिन

उसका फल अवश्य ही भोगना होता है। उसे कोई रोक नही सकता ॥ २३ ॥ धन धान्य और खजाना ये सब भागयके अनुकूल होने पर ही जीवको सुखदायक होते हैं। यह जानकर ज्ञानीको खेद नहीं करना चाहिये। अर्थात् धन धान्यादिके होते हुए भी यदि कोई दु:खी है तो उसका भाग्य अनुकूल नही है ऐसा जानकर उसे खेद नही करना चाहिये। क्योंकि एक ओर लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे उसे धान्य सम्पदा प्राप्त है किन्तु दूसरी ओर भोगान्तरायका और असाता वेदनीयका उदय होनेसे वह उसका उपभोग करके सुखी नही होता ॥ २४ ॥ तीनो लोकोंमें जीवका सब सुख दु ख दैवके अधीन है ऐसा जानकर शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष उसके विषयमे अपने मनको खेद खिन्न नही करते ॥ २५ ॥ पूर्वमे किये गये कर्मको छोड़ इस लोकमें कोई भी किंचित् भी सुख या दु खको देनेमें या हरनेमें समर्थ नही है। अर्थात् इस जन्ममें न कोई व्यक्ति या देवता या ईश्वर न तो जीवको सुख या दु.ख दे सकता है और न उसे हर सकता है। सुख दु:ख देना या हरना मनुष्यके पूर्व-जन्ममें किये शुभ अशुभ कर्मोके अधीन है। अतः ऐसा जानकर मनुष्यको बुरे काम नहीं करना चाहिये ॥२६॥ जिस प्रकार इस लोकमे मनुष्यों, देवों और विद्याधरोंमें कोई ऐसा नहीं है जो सूर्यके उदयको रोक सके, उसी तरह कर्मोंके उदयको भी कोई अन्य पुरुषश्रेष्ठ या देवोत्तम या विधाधर नहीं रोक सकता ॥ २७ ॥ जीवोंका प्रियजनोंसे वियोग, दुष्टजनोंसे संयोग और समस्त सुख दुःख दैव ही करता है। उस पर किसीका अंकुश नहीं है ॥ २८ ॥ अशुभ कर्मका उदय होने पर मनुष्योंकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। रक्षाका कोई उपाय नही रहता।

---

१ स सुकृतः । २ स om. न । ३ स °क्षितिं । ४ स om. किंचित् । ५ स नो शुभं । ६ स उदयः, उदर्न । ७ स om प्य, त्वमृतं ।

372) नश्यति हस्तादर्थः पुण्यविहीनस्य देहिनो लोके ।
दूरादेत्य करस्थं भाग्ययुजो[1] जायते रत्नम् ॥ ३० ॥
373) कस्यापि को ऽपि कुरुते न सुखं दुःखं च दैवमपहाय ।
विदधाति वृथा[2] गर्वं खलो ऽहमहितस्य हन्तेति[3] ॥ ३१ ॥
374) गिरिपतिराजसानुमधिरोहतु यातु सुरेन्द्रमन्दिरम्
विशतु समुद्रवारि धरणीतलमेकधिया प्रसर्पतु ।
गगनतलं प्रयातु विदधातु सुगुप्तमनेकधायुधै-
स्तदपि न पूर्वकर्म सततं बत मुञ्चति[4] देहधारिणम्[5] ॥ ३२ ॥
इति दैवनिरूपण[6]द्वात्रिंशत् समाप्ता ॥ १४ ॥

हस्तात् अर्थः नश्यति । भाग्ययुजः रत्नं दूरात् एत्य करस्थं जायते ॥ ३० ॥ दैवम् अपहाय को ऽपि कस्यापि सुखं दुःखं च न कुरुते । खल अहं अहितस्य हन्ता इति वृथा गर्वं विदधाति ॥ ३१ ॥ गिरिपतिराजसानुम् अधिरोहतु । सुरेन्द्रमन्दिरं यातु । समुद्रवारि विशतु । एकधिया धरणीतलं प्रसर्पतु । गगनतलं प्रयातु । अनेकधा आयुधैः सुगुप्तं विदधातु । तदपि सततं पूर्वकर्म देहधारिणं न मुञ्चति बत ॥ ३२ ॥
इति दैवनिरूपणम् ॥ १४ ॥

मित्र भी शत्रु हो जाते है। और अमृत भी विष हो जाता है। विशेषार्थ—रामचन्द्रजी अशुभ कर्मका उदय होने पर लोक विश्रुतिके अनुसार सोनेके मृगके पीछे दौड़ पड़े। यह बुद्धि विनाशका उदाहरण है। द्वारिकाके जलने पर श्रीकृष्ण और बलदेवने आग बुझानेके लिये समुद्रका जल फेंका तो वह तेलकी तरह जलने लगा। यह अमृतके विष होनेका उदाहरण है ॥ २९ ॥ इस लोकमें पुण्यहीन मनुष्यके हाथमे रखा पदार्थ भी नष्ट हो जाता है। और भाग्यशालीके दूरसे आकर रत्न हाथमें आ जाता है ॥ ३० ॥ दैवके सिवाय कोई भी किसीको सुख या दुःख नही देता। मूर्ख पुरुष व्यर्थ ही गर्व करता है कि मैने उसको मार दिया या जिला दिया ॥३१॥ यह मनुष्य सुमेरुपर्वतके शिखर पर चढ़ जाये या देवेन्द्रके मन्दिरमे चला जाये, या समुद्रके जलमें प्रवेश कर जाये, या पृथ्वी तलमें समा जाये, या आकाशमें उड जाये या अनेक प्रकारके अस्त्र शस्त्रोसे अपनी रक्षा कर ले। फिर भी इस प्राणीको पूर्वमे किया कर्म कभी भी नही छोडता ॥ ३२ ॥
इस प्रकार बत्तीस श्लोकोमें दैवका निरूपण समाप्त हुआ।

●

---

१ स भाग्ययुतो । २ स यथा । ३ स हंतोपि । ४ स मुंचते, मुञ्चत । ५ स °धारिणा । ६ स °निरूपणम् ।

[१५. जठरनिरूपणषड्विंशतिः]

375) तावज्जल्पति सर्पति तिष्ठति माद्यति विलसति च[1] विभाति।
यावन्नरो न जठरं देहभृतां जायते रिक्तम् ॥ १ ॥

376) यद्यकरिष्य[2]द्वातो निक्षिप्तद्रव्यनिर्गमद्वारम्।
को वा[3] शक्यः[4] कर्तुं जठरघटीपूरणं मर्त्यः ॥ २ ॥

377) शक्येतापि समुद्रः पूरयितुं निम्नगाशतसहस्रैः।
नो शक्यते कदाचिज्जठरसमुद्रो ऽन्नसलिलेन ॥ ३ ॥

378) वैश्वानरो न तृप्यति नानाविध[5]काष्ठनिचयतो यद्वत्।
तद्वज्जठरहुताशो नो तृप्यति सर्वथाप्यशनैः ॥ ४ ॥

379) यस्यां वस्तु समस्तं न्यस्तं नाशाय कल्पते सततम्।
दुष्पूरोदरपिठरीं[6] कस्तां शक्नोति पूरयितुम् ॥ ५ ॥

380) तावन्नरः कुलीनो मानी शूरः प्रजायते ऽत्यर्थम्।
यावज्जठरपिशाचो वितनोति न पीडनं[7] देहे[8] ॥ ६ ॥

यावत् देहभृता जठर रिक्त न जायते तावत् नर जल्पति, सर्पति, तिष्ठति, माद्यति, विलसति, विभाति च ॥ १ ॥ यदि वातः निक्षिप्तद्रव्यनिर्गमद्वारम् अकरिष्यत् क वा मर्त्य जठरघटीपूरणं कर्तुं शक्य ॥ २ ॥ समुद्र अपि निम्नगाशत-सहस्रैः पूरयितुं शक्येत। जठरसमुद्र अन्नसलिलेन कदाचित् नो शक्येत ॥ ३ ॥ यद्वत् वैश्वानर नानाविधकाष्ठनिचयतः न तृप्यति, तद्वत् जठरहुताश. अशनैः सर्वथापि नो तृप्यति ॥ ४ ॥ यस्या सतत न्यस्त समस्त वस्तु नाशाय कल्पते ता दुष्पूरोदरपिठरी पूरयितुं कः शक्नोति ॥ ५ ॥ नर तावत् कुलीन मानी अत्यर्थ शूर. प्रजायते। यावत् जठरपिशाच देहे

जब तक प्राणियोंका पेट खाली नही होता अर्थात् भरा होता है तभी तक मनुष्य वार्तालाप करता है, चलता है, उठता बैठता है, हर्षित होता है, आनन्द मनाता है और शोभित होता है। पेट खाली होते ही सब उछल-कूद बन्द हो जाती है ॥ १ ॥ जब वायु इस उदररूपी घड़ेमें डाले गये पदार्थोंके निकलनेका द्वार बनाता है तब कौन मनुष्य इस उदररूपी घडेको भरनेमें समर्थ है। अर्थात् इधर हम भोजन करते है उधर मलद्वारसे पूर्व संचित द्रव्य निकल जाता है ॥ २ ॥ लाखों नदियोंसे समुद्रको भरना तो शक्य है। किन्तु अन्न-रूपी जलसे उदररूपी समुद्रको भरना कभी भी शक्य नहीं है ॥ ३ ॥ जैसे आग नाना प्रकारके काष्ठोंके ढेरसे तृप्त नहीं होती। उसी प्रकार उदरकी आग विविध प्रकारके भोजनोंसे सर्वथा तृप्त नहीं होती ॥ ४ ॥ जिस उदररूपी पिटारीमें रखी हुई समस्त वस्तु निरन्तर नष्ट होती रहती है, उस कभी न भरनेवाली पिटारीको कौन भर सकता है ॥ ५ ॥ जब तक यह पेटरूपी पिशाच शरीरमें पीड़ा पैदा नही करता तब तक ही मनुष्य कुलीन, मानी और अत्यन्त शूरवीर रहता है। विशेषार्थ—जब पेटमें भूख सताने लगती है और उसको भरना आवश्यक हो जाता है तब मनुष्यके सब सद्गुण विलीन हो जाते हैं और उसे पेटके लिये दूसरोंकी खुशामद

---

१ स om. च। २ स °करिष्यति, यद्यत्करिष्यति। ३ स को नाम। ४ स शक्य, शक्यत। ५ स नानाविधि°। ६ स °पिठरी। ७ स पीडित। ८ स दूदो।

381) यदि भवति जठरपिठरी नो मानविनाशिका[1] शरीरभृताम् ।
क: कस्य तदा दीनं जल्पति मानापहारेण ॥ ७ ॥

382) गायति नृत्यति वल्गति[2] धावति पुरतो[3] नृपस्य वेगेन ।
किं किं न करोति पुमानुदरगृह[4]पवनवशीभूत: ॥ ८ ॥

383) जीवान्निहन्त्यसत्यं जल्पति बहुधा परस्वमपहरति[5] ।
यदकृत्यं तदपि जनो जठरान[6]लतापितस्तनुते ॥ ९ ॥

384) द्युतिगतिमतिरतिलक्ष्मीलता लसन्ति तनुधारिणां तावत् ।
यावज्जठरदवाग्निर्न ज्वलति[7] शरीरकान्तारे ॥ १० ॥

385) संसारतरणदक्षो विषयविरक्तो जरार्दितो[8] ऽप्यसुमान् ।
[9]गर्वोद्ग्रीवं पश्यति सधनमुखं जठरनृपगदितः ॥ ११ ॥

पीडनं न वितनोति ॥ ६ ॥ शरीरभृतां मानविनाशिका जठरपिठरी यदि नो भवति, तदा कस्य मानापहारेण क: दीन जल्पति ॥ ७ ॥ उदरगृहपवनवशीभूत पुमान् नृपस्य पुरत गायति, नृत्यति, वल्गति वेगेन धावति । किं किं न करोति ॥ ८ ॥ जीवान् निहन्ति । असत्यं जल्पति । बहुधा परस्वम् अपहरति । जठरानलतापित जन यत् अकृत्यं तदपि तनुते ॥ ९ ॥ यावत् जठरदवाग्नि: शरीरकान्तारे न ज्वलति तावत् तनुधारिणा द्युतिगतिमतिरतिलक्ष्मीलता. लसन्ति ॥ १० ॥ संसारतरणदक्ष: विषयविरक्त: जरार्दित. अपि असुमान् जठरनृपगदित. सधनमुख गर्वोद्ग्रीवं पश्यति ॥ ११ ॥ तनुमान् जठ-

---

आदि करना पड़ता है ॥ ६ ॥ यदि यह पेटरूपी पिटारी प्राणियोके मानको नष्ट करनेवाली न होती तो कौन अपना मान खोकर किसके सामने दीन-वचन बोलता । विशेषार्थ—मनुष्य इस पेटके लिये ही अपना मान त्यागकर दूसरोंके सामने दीन बनता है । यदि पेट न होता तो कौन अपना मान खोना पसन्द करता ॥ ७ ॥ इस पेटरूपी पिशाचके वशमे होकर मनुष्य राजाके सामने वेगसे गाता है, नाचता है, कूदता है, दौड़ता है, वह क्या-क्या नही करता ॥ ८ ॥ इतना ही नही, किन्तु पेटकी आगसे सतप्त मनुष्य जो काम नहीं ही करने योग्य है वे काम भी करता है । वह पेटके लिये जीवोका घात करता है । बहुधा झूठ बोलता है और पराया धन हरता है । विशेषार्थ—राजाके सामने गाना-नाचना आदि काम उतने बुरे नही है उनमे दूसरोंका बुरा नही होता । किंतु हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना तो ऐसे कार्य हैं जो किसीको नहीं करने चाहिये । किन्तु पेटके लिये मनुष्य ये सब न करने योग्य काम भी करता है ॥ ९ ॥ प्राणियोंकी कान्ति, गति, मति, रति और लक्ष्मीरूपी लता तभी तक शोभायुक्त रहती है जब तक शरीररूपी वनमें उदररूपी आग नही जलती । विशेषार्थ—जैसे ही मनुष्यकी भूख न मिटनेसे उदराग्नि प्रज्वलित होती है उसका सब राग-रंग समाप्त हो जाता है ॥ १० ॥ जो व्यक्ति ससार समुद्रको पार करनेमे चतुर होते हैं, विषयोंसे विरक्त रहते हैं और वृद्धावस्थासे पीड़ित होते हैं उनको भी जब पेटरूपी राजाका हुकुम होता है तब वे भी गर्वसे गर्दन उठाये धनिकोंके मुखकी ओर आशाभरी दृष्टिसे ताकते हैं । विशेषार्थ—साधारण गृहस्थोंकी तो बात ही क्या, संसारसे विरक्त साधु जनोंको भी भूखसे सताये जाने पर धनिकोंके मुखकी ओर देखना पड़ता है ॥ ११ ॥

---

१ स °विनाशका । २ स वलाति, जल्पति for वल्गति । ३ स पुरो, पुरुषो; पुरतो । ४ स °ग्रहपवनवशीभूत:, °ग्रहपीडितो लोके । ५ स अपिहरति । ६ स जठरानिल° । ७ स ज्वल्यति । ८ स जरार्दिते । ९ स गर्व्वोप्येवं ।

386) कर्षति वपति लुनीते दीव्यति सीव्यति[1] पुनाति वयते च ।
विदधाति किं न कृत्यं जठरानलशान्तये तनुमान् ॥ १२ ॥

387) लज्जामपहन्ति नृणां मानं नाशयति दैन्यमुपचिनुते ।[2]
वर्धयति दुःखमखिलं [3]जठरशिखी वर्धितो देहे ॥ १३ ॥

388) गुणकमलशशाङ्कतनु[4]र्गर्वग्रहनाशने महामन्त्रः[5] ।
सुखकुमुदौ[6]घदिनेशो[7] जठरशिखी बाधते किं न[8] ॥ १४ ॥

389) शिथिलीभवति शरीरं दृष्टिर्भ्राम्यति विनाशमेति मतिः ।
मूर्छा भवति जनानामुदरभुजंगेन दष्टानाम् ॥ १५ ॥

390) उत्तमकुले ऽपि जातः सेवां विदधाति नीचलोकस्य ।
वदति च[9] वाचां नीचामुदरेश्वरपीडितो मर्त्यः ॥ १६ ॥

391) दासीभूय मनुष्यः परवेश्मसु नीचकर्म विदधाति ।
चाटुशतानि च कुरुते जठरदरीपूरणाकुलितः ॥ १७ ॥

रानलशान्तये कर्षति वपति लुनीते दीव्यति सीव्यति पुनाति वयते च । किं कृत्यं न विदधाति ॥ १२ ॥ नृणां देहे वर्धितः जठरशिखी लज्जाम् अपहन्ति, मानं नाशयति, दैन्यम् उपचिनुते, अखिलं दुःखं वर्धयति ॥ १३ ॥ गुणकमलशशाङ्कतनुः, गर्वग्रहनाशने महामन्त्रः, सुखकुमुदौघदिनेशः जठरशिखी न बाधते किम् ॥ १४ ॥ उदरभुजंगेन दष्टानां जनानां शरीरं शिथिलीभवति । दृष्टिः भ्राम्यति । मतिः विनाशम् एति । मूर्च्छा भवति ॥ १५ ॥ उदरेश्वरपीडितो मर्त्यः उत्तमकुले जातः अपि नीचलोकस्य सेवा विदधाति । नीचां वाचां च वदति ॥ १६ ॥ जठरदरीपूरणाकुलितः मनुष्यः परवेश्मसु दासीभूय

इस पेटकी आगको शान्त करनेके लिये मनुष्य क्या नही करता । उसीके लिये वह तपती हुई दोपहरीमें खेत जोतता है, फिर उसमें बीज बोता है । खेती पकने पर उसे काटता है । पेट भरनेके लिये जुआ खेलता है । कपड़े सीनेका काम करता है । सफाईका काम करता है और कपड़े बुनता है ॥ १२ ॥ शरीरमे प्रज्वलित उदराग्नि मनुष्योंकी लज्जाको नष्ट कर उन्हें निर्लज्ज बना देती है । उनके सम्मानको नष्ट कर देती है । उनमें दीनता ला देती है । इस प्रकार वह समस्त दुःखोंको बढ़ाती है । विशेषार्थ—मनुष्योंको जब भूख सताती है तो वे लज्जा और मानको त्याग दूसरोंके आगे हाथ पसारते हैं और दीनतापूर्ण वचन कहते हैं ॥ १३ ॥ उदराग्नि गुणरूपी कमलोंको चन्द्रमाके समान है । जैसे चन्द्रमाके उदित होते ही खिले कमल बन्द हो जाते हैं वैसे पेटमें भूख लगने पर मनुष्यके सब गुण मन्द पड़ जाते हैं । गर्वरूपी ग्रहको नष्ट करनेके लिये महामंत्र है । जैसे महामंत्रसे ग्रहपीडा नष्ट हो जाती है वैसे ही पेटकी भूख मनुष्यके गर्वको चूर-चूर कर देती है । सुखरूपी सफेद कमलोंके लिये सूर्यके समान है । जैसे सूर्यके उदयमें सफेद कमल मुर्झा जाते हैं वैसे पेटमें भूख सताने पर सब सुख म्लान पड़ जाते हैं ॥ १४ ॥ जिनको यह पेटरूपी सर्प डस लेता है, अर्थात् जब पेटमें अन्न नही पहुँचता तो मनुष्योके शरीर शिथिल हो जाते हैं, दृष्टि घूमने लगती है, सिरमें चक्कर आ जाता है । बुद्धि नष्ट हो जाती है । और उन्हें मूर्छा आ जाती है ॥ १५ ॥ उदररूपी ईश्वरसे सताया हुआ मनुष्य उत्तमकुलमें जन्म लेकर भी नीच लोगोंकी सेवा करता है । और नीच वचन बोलता है ॥ १६ ॥ इस पेट-

---

१ स om. सीव्यति । २ स °चिनोति, °विनोति, °पचनोति । ३ स जठरानिलवर्द्धिते देहे । ४ स °तनुगर्व° । ५ स °मंत्रं । ६ स °कुमुदोघ्व°, °कुमुदोद्य°, °कुमुदोघ° । ७ स °दिनेसा । ८ स के न, किं नः । ९ स वदति न ।

392) क्रीणाति खलति याचति गणयति रचयति विचित्रशिल्पानि ।
जठरपिठरीं न शक्तः पूरयितुं गतशुभस्तदपि ॥ १८ ॥

393) प्रविशति वारिधिमध्यं संग्रामभुवं च गाहते विषमाम्[1] ।
लङ्घति सकलधरित्रीमुदरग्रहपीडितः प्राणी ॥ १९ ॥

394) कर्माणि यानि लोके[2] दुःखनिमित्तानि लज्जनीयानि ।
सर्वाणि तानि कुरुते जठरनरेन्द्रस्य[3] वशमितो[4] जन्तुः ॥ २० ॥

395) अर्थः कामो धर्मो मोक्षः सर्वे भवन्ति पुरुषस्य ।
तावद्याव[5]त्पीडां जाठरवह्निर्न विदधाति ॥ २१ ॥

3 6) एवं सर्वजनानां दुःखकरं जठरशिखिनमतिविषमम्[6] ।
संतोषजलैरमलैः[7] शमयन्ति यतीश्वरा ये ते ॥ २२ ॥

397) ज्वलिते ऽपि जठरहुतभुजि कृतकारितमोदितैर्न [8]चाहारैः ।
कुर्वन्ति जठरपूर्तिं[9] मुनिवृषभा ये नमस्तेभ्यः ॥ २३ ॥

398) तावत्कुरुते पापं जाठरवह्निर्न शाम्यते यावत् ।
धृतिवारिणा शमित्वा तं यतयः पापतो विरताः ॥ २४ ॥

नीचकर्म विदधाति । चाटुशतानि च कुरुते ॥ १७ ॥ गतशुभ क्रीणाति खलति याचति गणयति विचित्रशिल्पानि रचयति । तदपि जठरपिठरी पूरयितुं न शक्त ॥ १८ ॥ उदरग्रहपीडित प्राणी वारिधिमध्यं प्रविशति, विषमां संग्रामभुवं गाहते, सकलधरित्री च लङ्घति ॥ १९ ॥ लोके दु खनिमित्तानि यानि लज्जनीयानि कर्माणि तानि सर्वाणि जठरनरेन्द्रस्य वशम् इत. जन्तु कुरुते ॥ २० ॥ यावत् जाठरवह्नि पीडा न विदधाति तावत् पुरुषस्य अर्थः काम धर्म मोक्ष सर्वे भवन्ति ॥ २१ ॥ ये यतीश्वरा ते एवं सर्वजनाना दुःखकरम् अतिविषमं जठरशिखिनं अमलै. संतोषजलै. शमयन्ति ॥ २२ ॥ जठरहुतभजि ज्वलिते अपि कृतकारितमोदितैः आहारै. ये मुनिवृषभा जठरपूर्तिं न कुर्वन्ति तेभ्यः नम ॥ २३ ॥ यावत् जाठर-

---

रूपी गढेको भरनेके लिये व्याकुल हुआ मनुष्य दास बनकर दूसरोंके घरोंमें नीच कर्म करता है। और सैकड़ों प्रकारसे चापलूसी करता है ॥ १७ ॥ अभागा मनुष्य व्यापार करता है,⋯⋯भीख माँगता है। गणनाका काम करता है। अनेक प्रकारके शिल्प रचता है। फिर भी पेटरूपी गढेको भरनेमे समर्थ नही होता। अर्थात् अनेक कार्य करके भी पेट नही भर सकता ॥ १८ ॥ पेटरूपी ग्रहसे पीड़ित प्राणी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करता है। गोताखोर लोग समुद्रमें डुबकी लगाकर मोती वगैरह चुनते हैं। भयकर युद्धभूमिमें जाकर युद्ध करता है। समस्त पृथ्वीको लांघता है। सर्वत्र आता जाता है ॥ १९ ॥ पेट राजाके अधीन हुआ प्राणी लोकमें जितने भी दुःख देने वाले और लज्जाके योग्य काम हैं वे सब करता है ॥ २० ॥ मनुष्य तभी तक धर्म अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थोंकी साधना करता है जब तक उदरकी आग उसे नही सताती है ॥ २१ ॥ इस प्रकार संसारके सब प्राणियोंको जो उदराग्नि अत्यन्त भयंकर दुःख देती है, उसे जो यतीश्वर होते हैं वे निर्मल सन्तोष जलसे शान्त करते हैं ॥ २२ ॥ उदरमें आगके प्रज्ज्वलित होने पर भी अर्थात् अति तीव्र भूखसे पीड़ित होने पर भी जो यतीश्वर कृत, कारित और अनुमोदित आहारसे पेट नही भरते उन मुनि श्रेष्ठोंको नमस्कार है। विशेषार्थ— जैन मुनि अपने उद्देशसे बनाये गये आहारको ग्रहण नही करते। तथा छियालीस दोषों और बत्तीस अन्तरायों

---

१ स विषमं । २ स लोक । ३ स °नरेंद्र । ४ स वशमेति । ५ स तावज्जाव° । ६ स जठरविषममतिशिखिनी । ७ स °जलैर्विमलैः । ८ स नवा°, न चा° । ९ स °पूर्णं ।

399) श्रीमदमितगतिसौख्यं परमं परिहरति मानमपहन्ति ।
विरमति वृषतस्तनुमानुदरदरीपूरणासक्त.[1] ॥ २५ ॥

400) शुभपरितोष[2]वारिपरिषेकबलेन यति· सुदु.सहं
शमयति य: कृतान्तसमचेष्टितमुत्थितमौदरानलम् ।
व्रजति स[3] रोगशोकमदमत्सरदु:खवियोगवर्जितं
विगलितमृत्युजन्म[4]मपविघ्नमन[4]र्घमनन्तमास्पदम् ॥ २६ ॥

इति जठरनिरू[5]पणषड्विंशति. ॥ १५ ॥

वह्निः न शाम्यते तावत् पापं कुरुते । यतयः धृतिवारिणा तं शमित्वा पापत· विरता· ॥ २४ ॥ उदरदरीपूरणासक्तः तनुभाग् परमं श्रीमदमितगतिसौख्यं परिहरति, मानम् अपहन्ति, वृषतः विरमति ॥ २५ ॥ य. यतिः शुभपरितोषवारिपरिषेकबलेन सुदु:सह कृतान्तसमचेष्टितम् उत्थितम् औदरानलं शमयति स· रोगशोकमदमत्सरदु:खवियोगवर्जितं विगलितमृत्युजन्मम् अपविघ्नम् अनर्घम् अनन्तम् आस्पदं व्रजति ॥ २६ ॥

इति जठरनिरूपणम् ॥ १५ ॥

को टालकर ही भोजन ग्रहण करते हैं ॥ २३ ॥ मनुष्य तभी तक पाप करता है जब तक उसकी उदराग्नि शान्त नही होती । अर्थात् उसको शान्त करनेके लिये ही मनुष्य पापाचरण करता है । इसलिये मुनीश्वर उस उदराग्निको धैर्यरूपी जलसे शान्त करके पापसे विरत रहते हैं ॥ २४ ॥ जो इस उदररूपी गढ़ेको ही भरनेमें लगे रहते हैं उसीके पीछे जीवन बिता देते हैं वे अमितगति–मोक्षगतिके उत्कृष्ट सुखसे वंचित रहते हैं, अपनी मान मर्यादाको नष्ट करते हैं और धर्मसे हाथ धो बैठते हैं ॥ २५ ॥ जो यति सन्तोषरूपी जलके सिंचनके बलसे अत्यन्त दु:सह और यमराजके समान चेष्टावाली प्रज्ज्वलित हुई पेटकी आगको शान्त करता है । वह अनन्त सुखके भण्डार ऐसे निर्विघ्न स्थानको प्राप्त होता है जहाँ रोग, शोक, मद, डाह, दु ख और वियोग नहीं होते तथा जन्म-मरण भी नहीं होता । अर्थात् मुक्तिपुरीको प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

इस प्रकार छब्बीस पद्यों से जठरका निरूपण समाप्त हुआ ।

---

१ स °शक्त· । २ स शुभसतो° । ३ स सरोग° । ४ स °जननमप°, °मनर्घम° । ५ स °निरूपणम् ।

[१६. जीवसंबोधनपञ्चविंशतिः

401) सर्पत्स्वान्त[1]प्रसूतप्रतत[2]तमतमः [3]स्तोममस्तं समस्तं
सावित्रीव प्रदीप्तिर्नयति वितनुते पुण्यमन्यद्धिनस्ति ।
सूते[4] संमो[5]दमैत्री[6]द्युतिसुगति[7]मतिश्रीश्रिता [8]कान्तिकीर्तिं
किं किं वा नो विधत्ते जिनपति[9]पदयोर्मुक्तिकर्त्री[10] च दृष्टिः ॥ १ ॥

402) शुश्रूषामाश्रय त्वं[11] बुधजनपदवीं याहि कोपं विमुञ्च
ज्ञानाभ्यासं कुरुष्व त्यज विषयरिपुं धर्ममित्रं भजात्मन् ।
निस्त्रिंशत्वं जहाहि[12] व्यसनविमुखतामेहि नीतिं विधेहि
श्रेयश्चेदस्ति पूतं परमसुखमयं लब्धुमिच्छास्तदोषम् ॥ २ ॥

जिनपतिपदयो· दृष्टिः सावित्री प्रदीप्ति· इव समस्तं सर्पत्स्वान्तप्रसूतप्रततततमतम:स्तोमम् अस्तं नयति,, पुण्यं वितनुते, अन्यत् हिनस्ति, संमोदमैत्रीद्युतिसुगतिमतिश्रीश्रिता सती कान्तिकीर्तिं सूते। मुक्तिकर्त्री च सा किं किं नो विधत्ते ॥ १ ॥ हे आत्मन्, अस्तदोषं परमसुखमयं पूत श्रेय लब्धुम् इच्छा अस्ति चेत् त्वं शुश्रूषाम् आश्रय, बुधजनपदवी याहि, कोपं विमुञ्च ज्ञानाभ्यासं कुरुष्व, विषयरिपुं त्यज, धर्ममित्रं भज, निस्त्रिंशत्वं जहीहि, व्यसनविमुखताम् एहि, नीतिं विधेहि ॥ २ ॥ हे हतात्मन्, तारुण्योद्रेकरम्या दृढकठिनकुचा पद्मपत्रायताक्षी स्थूलोपस्था शशिमुखी परस्त्री वीक्ष्य किमिति खेदं प्रयासि।

जिनेन्द्र देवके चरणोंका दर्शन (जिनभक्ति) अन्त.करणमें उत्पन्न होकर विस्तारको प्राप्त हुए समस्त अज्ञानको इस प्रकारसे नष्ट कर देता है जिस प्रकार कि इसलोकमें फैले हुए समस्त अन्धकारको सूर्यकी प्रभा नष्ट कर देती है। वह पुण्यको विस्तृत करता है, पापको नष्ट करता है, तथा प्रमोद, मैत्री, कान्ति, उत्तम गति, बुद्धि और लक्ष्मीका आश्रय लेकर कान्ति व कीर्ति को उत्पन्न करता है। ठीक है—जो जिनचरणोंका दर्शन मुक्तिको भी प्राप्त करा देता है वह अन्य क्या क्या नही कर सकता है ? सब कुछ कर सकता है ॥ १ ॥ हे आत्मन् ! यदि तुझे पवित्र, निर्दोष एवं उत्तम सुखस्वरूप मोक्षको प्राप्त करनेकी इच्छा है तो तू जिनदेवादि-की आराधना कर (अथवा जिनवाणीके सुननेकी इच्छा कर), विद्वानोके मार्गका अनुसरण कर, क्रोधको छोड़ दे, ज्ञानका अभ्यास कर, धर्मरूप मित्रकी सेवा कर, निर्दयताको छोड़ दे, विषयोंसे विरक्तिको प्राप्त हो, और न्याय मार्गका अनुसरण कर ॥ २ ॥ हे मूर्ख आत्मन् ! जो परस्त्री यौवनके प्रभावसे रमणीय दिखती है, जिसके स्तन दृढ एवं कठोर हैं, जिसके नेत्र पद्मपत्रके समान लम्बे है, जिसकी योनि स्थूल है, तथा जिसका मुख चन्द्रके समान आनन्द जनक है; उसको देखकर तू क्यो खेदको प्राप्त होता है। यदि तुझे सुन्दर शरीरको धारण करने वाली स्त्रियोंकी इच्छा है तो तू अन्य सब कार्यको छोड़कर पुण्यका उपार्जन कर। कारण यह कि

---

१ स सर्यत्कांतप्रसुता° । २ स om. °तम° । ३ स °तमस्तोम° । ४ स सूतं । ५ स संमोह । ६ स °मैत्रीमितिद्यु° । ७ स om. मति । ८ स °श्रिताकान्तिकीर्त्तिः । ९ स °पदपो । १० स पदयो मुक्तीकर्त्ती, [मुक्ति°], °मुदयोर्मुक्तीकर्तर, भक्तिवर्त्ती । ११ स °श्रयध्वं । १२ स जहीहि ।

403) तारुण्योद्रेकरम्यां दृढकठिन[1]कुचां पद्मपत्रायताक्षीं
स्थूलोपस्थां परस्त्रीं किमिति शशिमुखीं वीक्ष्य खेदं प्रयासि ।
त्यक्त्वा सर्वान्यकृत्यं कुरु सुकृतमहो कान्तमूर्त्यङ्गनानां
वाञ्छा चेत्ते हतात्मन्न हि सुकृतमृते वाञ्छितावाप्तिरस्ति ॥ ३ ॥

404) लक्ष्मीं प्राप्याप्य[2]नर्घ्यामखिलपरि[3]जनप्रीतिपुष्टिप्रदात्रीं
कान्तां कान्ताङ्गयष्टिं विकसितवदनां चिन्तय[4]स्यार्तचित्त ।
तस्याः पुत्रं पवित्रं प्रथितपृथुगुणं[5] तस्य भार्यां च तस्याः
पुत्रं तस्यापि कान्तामिति विहत[6]मतिः खिद्यसे[7] जीव मूढः ॥ ४ ॥

405) जन्मक्षेत्रे ऽपवित्रे[8] क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे
देहे व्याध्यादि[9]सिन्धुप्रपतन[10]जलधौ पापपानीयकुम्भे ।
कुर्वाणो बन्धुबुद्धिं विविधमलभृते[11] यासि[12] रे जीव नाशं
संचिन्त्यैवं शरीरे कुरु [13]हतममतो धर्मकर्माणि नित्यम् ॥ ५ ॥

कान्तमूर्त्यङ्गनाना ते वाञ्छा [अस्ति] चेत् अहो सर्वान्यकृत्य त्यक्त्वा सुकृतं कुरु । हि सुकृतम् ऋते वाञ्छितावाप्तिः न अस्ति ॥ ३ ॥ हे जीव, आर्तचित्त. त्व अखिलपरजनप्रीतिपुष्टिप्रदात्रीम् अनर्घ्यां लक्ष्मी प्राप्य अपि, विकसितवदना कान्ताङ्गयष्टि कान्ता चिन्तयसि । च तस्या प्रथितपृथुगुण पवित्रं पुत्रं चिन्तयसि । च तस्य भार्यां, तस्याः पुत्रं, तस्य अपि कान्तां चिन्तयसि । इति विहतमतिः मूढः त्वं खिद्यसे ॥ ४ ॥ रे जीव, अपवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे व्याध्यादि-सिन्धुप्रपतनजलधौ पापपानीयकुम्भे विविधमलभृते देहे बन्धुबुद्धिं कुर्वाण. नाश यासि । एवं संचिन्त्य शरीरे हतममतः नित्यं धर्मकर्माणि कुरु ॥ ५ ॥ स्मरशरनिहतः त्वं यद्वत् कामिनीसंगसौख्ये चित्तं करोषि तद्वत् जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे चित्तं

पुण्यके बिना प्राणीको अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती नही है ॥ ३ ॥ हे जीव ! तू मूढ बनकर समस्त कुटुम्बी जनको प्रीति एवं सन्तोषको देनेवाली अमूल्य सम्पत्तिको पा करके फिर सुन्दर शरीरको धारण करने वाली प्रसन्नमुख युक्त स्त्रीकी चिन्ता करता है । तत्पश्चात् व्याकुल मन होकर उससे प्रसिद्ध उत्तम गुणवाले निर्दोष पुत्रकी इच्छा करता है। इसके बाद भी उसकी पत्नी, उसके भी पुत्र और फिर उसकी भी पत्नीकी चिन्ता करता है। इस प्रकारसे नष्ट बुद्धि होकर तू खेदको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ हे जीव ! जो तेरा शरीर जन्मका स्थान है—अन्य जन्मका कारण है, अपवित्र है, बिजलीके समान नष्ट होने वाला है, दोषरूप सर्पोंका महाबिल है, व्याधियोरूप नदियोके गिरनेके लिये समुद्रके समान है—अनेक रोगोका कारण है, पापरूप पानीको भरनेके लिये घड़ेके सदृश है, तथा अनेक प्रकारके मलसे—मल, मूत्र एवं कफ आदिसे—परिपूर्ण हैं; उसको तू बन्धुके समान हितकारक मानकर नाशको प्राप्त होता है—दु:सह दुखको सहता है; ऐसा विचार करके तू उस शरीरसे ममताको छोड़ दे और निरन्तर धर्म कार्योंको कर ॥ ५ ॥ हे आत्मन् ! तू जिस प्रकार कामके बाणोंसे पीड़ित होकर स्त्रीके संयोगसे प्राप्त होनेवाले सुखके विषयमें अपने चित्तको करता है उसी प्रकार यदि मुक्तिके कारण-

---

१ स °कठिण° । २ स °नर्घामि°, °नर्घ्यामि° । ३ स °परजन° । ४ स चिंतयन्नार्त्त° । ५ स °गुणं । ६ स विहित° । ७ स खिद्यते । ८ स पवित्रे । ९ स व्याधादि° । १० स °प्रतपन° । ११ स मलभूते । १२ याशि । १३ स हृत ममतो ।

406) यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंगसौख्ये ।
तद्वत्त्वं चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्याः ।
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतभव[1]जरामृत्युदुःखप्रपञ्चं
संचिन्त्यैवं विधत्स्व[2] स्थिरपरमधिया तत्र चित्त[3]स्थिरत्वम् ॥ ६ ॥

407) सद्यः पातालमेति प्रविशति जलधिं गाहते देवगर्भं
भुङ्क्ते[4] भोगान्नराणाममरयुवतिभिः संगमं याचते च ।
वाञ्छत्यैश्वर्य[5]मार्यं रिपुसमितिहते[6] कीर्तिकान्तां ततश्च
धृत्वा त्वं जीव[7] चित्तं स्थिरमतिचपलं स्वस्य कृत्यं कुरुष्व ॥ ७ ॥

408) नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवन[8]प्राङ्गणे वर्तमानं
सर्वे नश्यन्ति[9] दोषा भवभयजनका रोधतो[10] यस्य पुंसाम् ।
जीवाजीवादित[11]त्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये[12] निवेश्य
तत्त्वे चेतो विदध्याः स्ववशसुखप्रदं स्वं[13] तदा त्वं प्रयासि ॥ ८ ॥

विदध्याः चेन् प्रगतभवजरामृत्युदुःखप्रपञ्चं किं किं सौख्यं न यासि । एवं संचिन्त्य स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वं विधत्स्व ॥ ६ ॥ हे जीव, तव चित्तं सद्यः पातालम् एति, जलधिं प्रविशति, देवगर्भं गाहते, नराणां भोगं भुङ्क्ते च अमरयुवतिभिः संगमं याचते । रिपुसमितिहतेः आर्यम् ऐश्वर्यं वाञ्छति । च ततः कीर्तिकान्तां वाञ्छति । त्वम् अतिचपलं चित्तं स्थिरं धृत्वा स्वस्य कृत्यं कुरुष्व ॥ ७ ॥ त्रिभुवनभवनप्राङ्गणे वर्तमानं यत् निषेद्धुं नो शक्यम्, यस्य रोधतः पुंसां भवभयजनकाः सर्वे दोषाः नश्यन्ति । चेतः जीवाजीवादितत्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य तत्त्वे विदध्याः तदा त्वं स्ववशसुखप्रदं स्वं प्रयासि ॥ ८ ॥ शत्रुः मित्रत्वं याति, कथमपि सुकृतम् अपहर्तुं समर्थः न, भविनाम् एकत्र जन्मनि दुःखं जनयति च अपघातुं शक्यते ।

भूत जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट मतके विषयमें उस चित्तको करता तो जन्म, जरा और मरणके दुःखसे छूटकर किस किस सुखको न प्राप्त होता—सब प्रकारके सुखको पा लेता; ऐसा उत्तम स्थिर बुद्धिसे विचार करके उक्त जिनेन्द्रके मतमें चित्तको स्थिर कर ॥ ६ ॥ यह चित्त बहुत चंचल है—वह कभी शीघ्र ही पातालमें जाता है, कभी समुद्रमें प्रविष्ट होता है, कभी देवोंके मध्यमें पहुँचता है, कभी मनुष्योंके भोगको भोगता है, कभी देवांगनाओंके संयोगकी प्रार्थना करता है, कभी श्रेष्ठ ऐश्वर्यकी इच्छा करता है, तत्पश्चात् कभी शत्रु समूहको नष्ट करके कीर्तिरूप कामिनीकी अभिलाषा करता है । हे जीव ! तू उस चंचल चित्तको स्थिर करके अपने कर्तव्य कार्यको कर ॥ ७ ॥ तीन लोकरूप घरके मध्यमें संचार करनेवाले जिस चित्तका रोकना शक्य नहीं है तथा जिसके रोकनेसे मनुष्योंके संसारके (जन्म-मरणके) भयको उत्पन्न करनेवाले सब दोष नष्ट हो जाते हैं, हे जीव ! उसको तू यदि जीवाजीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करने वाले जिनागममें स्थिर करके तत्त्व-चिन्तनमें लगाता है तो तू स्वाधीन सुखके देने वाले अपने पदको (मोक्षको) प्राप्त हो सकता है ॥ ८ ॥ कल्पित शत्रु कभी मित्रताको प्राप्त होता है, वह प्राणीके पुण्यको नष्ट करनेके लिये किसी भी प्रकारसे समर्थ

---

१ स नव for भव । २ स विधिस्त्वं । ३ स चित्त स्थि° । ४ स भुक्ते भोगीन्न° । ५ स °मर्यं, मर्थं । ६ स समिति हतेः । ७ स जीवि । ८ स om. भवन । ९ स मश्यन्ति । १० स रोधतो । ११ स °त्वत्व, °त त्वे । १२ स °वाक्ये । १३ स स्त्वं तदा ।

409) मित्रत्वं याति शत्रुः कथमपि सुकृतं[1] नापहर्तुं समर्थो[2]
जन्मन्येकत्र दुःखं जनयति भविनां शक्यते चापघातुम्[3] ।
नैवं[4] भोगो ऽथ वैरी मृति[5]जननजरादुःखतो[6] जीव शश्वत् ।
तस्मादेनं निहत्य प्रशमशितशरैर्मुक्तिभोगं भज त्वम् ॥ ९ ॥

410) रे जीव, त्वं विमुञ्च क्षणरुचिचपलानिन्द्रियार्थोपभोगा-
नेभिर्दुःखं न नीत किमिह भववने ऽत्यन्तरौद्रे हतात्मन् ।
तृष्णा[7]चित्ते न तेभ्यो विरमति विमते ऽद्यापि पापात्मकेभ्य-
संसारात्यन्तदुःखा[8]त्कथमपि न तदा मुग्ध मुक्तिं प्रयासि ॥ १० ॥

411) मत्तस्त्रीनेत्रलोलाद्विरम रति[9]सुखाद्योषिता[10]मन्तदुःखात्
प्राज्ञा[11]न्प्रेक्षातितिक्षामतिधृतिकरुणामित्रताश्रीगृहांश्च[12] ।
एता[13]स्तारुण्यरम्या न हि तरलदृशो मोहयित्वा[14] तरुण्यो
दुःखात्पातुं समर्था नरकगतिमितानङ्गिनो जीव जातु ॥ ११ ॥

अथ शश्वत् मृतिजननजरादुःखतः [द.] भोग. वैरी एवं न । तस्मात् प्रशमशितशरैः एनं निहत्य त्व मुक्तिभोगं भज ॥ ९ ॥ रे जीव, त्वं क्षणरुचिचपलान् इन्द्रियार्थोपभोगान् विमुञ्च । हे हतात्मन्, इह अत्यन्तरौद्रे भववने एभिः त्व दुःखं न नीतः किम् । हे विमते, अद्यापि पापात्मकेभ्यः तेभ्यः चित्ते तृष्णा न विरमति । हे मुग्ध, तदा ससारात्यन्तदुःखात् कथमपि मुक्तिं न प्रयासि ॥ १० ॥ हे जीव, योषिता मत्तस्त्रीनेत्रलोलात् अन्तदुःखात् रतिसुखात् विरम । एताः तारुण्यरम्याः तरल-दृशः तरुण्यः प्रेक्षातितिक्षामतिधृतिकरुणामित्रताश्रीगृहान् प्राज्ञान् मोहयित्वा नरकगतिम् इतान् अङ्गिनः जातु दुःखात् पातुं न समर्थाः ॥ ११ ॥ हे हतमते, परेषां लक्ष्मीं दृष्ट्वा अन्तः खेदं किमिति करोषि । एषा न, एते न, त्वं च न । येन कतिपय-

---

नहीं होता, वह एक ही जन्ममें प्राणियोके लिये दुःखको उत्पन्न करता है, तथा उसका नाश भी किया जा सकता है। परन्तु निरन्तर जन्म जरा और मरणके दुःखको देने वाला भोगरूप शत्रु ऐसा नही है—यह लौकिक शत्रुके समान कभी मित्रताको नही प्राप्त होता, पुण्यको नष्ट करनेमे समर्थ है, प्राणियोंको अनेक जन्मोंमें दुख देता है, तथा प्रतीकार करनेके लिये अशक्य है। इसीलिये हे जीव ! तू कषायोंके उपशमरूप तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा इसको नष्ट करके मुक्ति सुखका सेवन कर ॥ ९ ॥ हे जीव ! तू बिजलीके समान अस्थिर इन इन्द्रिय-विषयभोगोंको छोड़ दे। हे दुर्बुद्धि ? क्या तू इन विषयभोगोके द्वारा अतिशय भयानक इस संसाररूप वनमें दुखको नहीं प्राप्त हुआ है ? अवश्य प्राप्त हुआ है। हे मूर्ख ! अब भी यदि उन पापरूप विषय भोगोंकी ओरसे तेरी मनोगत तृष्णा नही हटती है तो फिर हे मूढ ! तू उस ससारके तीव्र दुःखसे किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं पा सकता है ॥ १० ॥ हे जीव ! तू मदोन्मत्त स्त्रीके नेत्रके समान चंचल और अन्तमें दुख देनेवाले स्त्रियों-के विषय सुखसे विरक्त हो जा। जवानीमे रमणीय दिखने वाली ये चंचल नेत्रोकी धारक युवतियाँ विवेक, क्षमा, बुद्धि, धैर्य, दया, मित्रता और लक्ष्मीके स्थानभूत विद्वानोंको मोहित करके नरक गतिको प्राप्त हुए प्राणियोंको वहाँके दुखसे बचानेके लिये कभी भी समर्थ नहीं हो सकती हैं ॥ ११ ॥ हे दुर्बुद्धि ! तू दूसरोंकी

---

१ स सुकृता । २ स समर्था, समर्थ । ३ स चापघातं, °घातुं । ४ स नैव भोगार्थ, नैव भोगोर्थ, भोगोप्य । ५ स मृत° । ६ स दुःखदो जीवसश्च । ७ स तृष्णा चेत्तेन । ८ स दुःखान्कथ° । ९ स विरमति च सु°, विरमतिसुखा° । १० स योषितान° । ११ स प्राज्ञो°; प्राज्ञान्प्रे° । १२ स °श्रीगृहाश्च । १३ स एता° । १४ स मोदयित्वा ।

412) दृष्ट्वा लक्ष्मीं परेषां किमिति हतमते खेदमन्तः करोषि
नैषा नैते[1] न च त्वं कतिपयदिवसैर्गत्वरं येन सर्वम् ।
तस्त्वं धर्मं विधेहि स्थिरविशदधिया जीव मुक्त्वान्यवाञ्छां
येन प्रध्वस्तबाधां विततसुखमयीं मुक्तिलक्ष्मीमुपैषि[2] ॥ १२ ॥

413) भोगा[3] नश्यन्ति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते[4] तत्र को ऽपि
तज्जीवैतान् विमुञ्च व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्ध्या ।
स्वातन्त्र्याद्येन याता[5] विदधति मनसस्तापमत्यन्तमुग्रं
तन्वन्त्येते तु[6] मुक्ताः स्वयमसमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यम् ॥ १३ ॥

414) धर्मे चित्तं निधेहि श्रुतकथितविधिं जीव भक्त्या[7] विधेहि
सम्यक्स्वान्तं पुनीहि व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि ।
पापे बुद्धिं धुनीहि प्रशमयमदमाञ्छिण्ढि पिण्ढि प्रमादं
छिन्द्धि क्रोधं विभिन्द्धि[9] प्रचुरमदगिरींस्ते[10] ऽस्ति चेन्मुक्तिवाञ्छा ॥ १४ ॥

दिवसैः सर्वं गत्वरं तत् हे जीव, त्वम् अन्यवाञ्छां मुक्त्वा स्थिरविशदधिया धर्मं विधेहि, येन प्रध्वस्तबाधां विततसुखमयीं मुक्तिलक्ष्मीम् उपैषि ॥ १२ ॥ भोगाः कालात् स्वयम् अपि नश्यन्ति, तत्र कः अपि गुणः न जायते । तत् हे जीव, व्यसनभयकरान् एतान् आत्मना धर्मबुद्ध्या विमुञ्च । येन स्वातन्त्र्यात् याताः मनसः अत्यन्तम् उग्रं तापं विदधति । तु स्वयं मुक्ताः एते स्वात्मजम् अर्च्यं नित्यम् असमसुखं तन्वन्ति ॥ १३ ॥ हे जीव, ते मुक्तिवाञ्छा अस्ति चेत् चित्तं धर्मे निधेहि । भक्त्या श्रुतकथितविधिं विधेहि । स्वान्तं सम्यक् पुनीहि । व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि । पापे बुद्धिं धुनीहि । प्रशमयमदमान् शिण्ढि । प्रमादं पिण्ढि । क्रोधं छिन्द्धि । प्रचुरमदगिरीन् विभिन्द्धि ॥१४॥ हे जीव, बाधाव्याधावकीर्णे विपुलभववने भ्राम्यता

सम्पत्तिको देखकर मनमें क्यों खेद करता है ? कारण कि न तो यह लक्ष्मी रहने वाली है, न वे लक्ष्मीपति रहने वाले हैं, और न तू भी रहने वाला है। यह सब चूँकि कुछ ही दिनमे नष्ट हो जाने वाला है इसीलिये हे जीव ! तू अन्य विषयादिकी इच्छाको छोड़कर स्थिर एव निर्मल बुद्धिसे धर्मका आचरण कर। इससे तू निर्बाध एव अनन्त सुखस्वरूप मुक्तिरूप लक्ष्मीको प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥ विषयभोग समयानुसार स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं और ऐसा होने पर उनमें कोई गुण नही उत्पन्न होता है—उनसे कुछ भी लाभ नही होता है। इसलिये हे जीव ! तू दुख और भयको उत्पन्न करने वाले इन विषय भोगोंको धर्म बुद्धिसे स्वय छोड़ दे। कारण यह कि यदि ये स्वयं ही स्वतन्त्रतासे नष्ट होते हैं तो मनमें अतिशय तीव्र सन्तापको करते है और यदि इनको तू स्वयं छोड़ देता है तो फिर वे उस अनुपम आत्मिक सुखको उत्पन्न करते हैं जो सदा स्थिर रहनेवाला एवं पूज्य है ॥ १३ ॥ हे जीव ! तुझे यदि मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा है तो तू अपने चित्तको धर्ममे लगा, आगममें कहे हुए अनुष्ठानको भक्ति पूर्वक कर, अपने अन्तःकरणको भले प्रकार पवित्र कर, दुखो रूप फूलोंसे व्याप्त कामरूप वृक्षको काट डाल, पापविषयक बुद्धिको नष्ट कर दे; प्रशम, यम एवं दमको विशिष्ट कर—वृद्धिगत कर; प्रमादको चूर्ण कर, क्रोधको दूर कर, और अतिशय गर्वरूप पर्वतोंको खण्डित कर ॥ १४ ॥ हे जीव ! बाधारूप भीलोंसे व्याप्त ऐसे विशाल संसाररूप वनमें परिभ्रमण करते हुए प्राणीके द्वारा संचित किये

---

१ स नैतेन । २ स उपैति, उपैसि, उपैहि । ३ स भोगान्न° । ४ स ज्ञायते । ५ स जाता । ६ स त्व for तु । ७ स भक्त । ८ स प्रशमदमयमान् । ९ स विभिन्ध । १० स °गिरिस्ते ।

415) बाधाव्याधावकीर्णे[1] विपुलभववने भ्राम्यता संचितानि
दग्ध्वा[2] कर्मेन्धनानि ज्वलितशिखिवदत्यन्तदुःखप्रदानि ।
यद्दत्ते[3] नित्यसौख्यं व्यपगतविपदं जीव मोक्षं समीक्ष्य
बाह्याभ्यन्तर्ग्रन्थमुक्ते तपसि जिनमते तत्र तोषं कुरुष्व ॥ १५ ॥

416) एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ।
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे
पर्यालोच्येति[4] जीव स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं[5] श्रय त्वम् ॥ १६ ॥

417) ये बुध्यन्ते ऽत्र तत्त्वं न प्रकृतिचपलं ते ऽपि शक्ता निरोद्धुं[6]
प्रोद्यत्कल्पान्तवातक्षुभितजलनिधिस्फीत[7]वीचिस्यदो वा ।
प्रागेवान्ये मनुष्यास्तरलतरमनोवृत्तयो दृष्टनष्टा-
स्त[8]च्चेतश्चेद्दृगेतत्स्थिरपरमसुखं त्वं तदा किं न यासि[9] ॥ १७ ॥

संचितानि ज्वलितशिखिवत् अत्यन्तदुःखप्रदानि कर्मेन्धनानि दग्ध्वा यत् समीक्ष्य व्यपगतविपदं नित्यसौख्यं मोक्षं दत्ते तत्र बाह्याभ्यन्तर्ग्रन्थमुक्ते जिनमते तपसि त्वं तोष कुरुष्व ॥ १५ ॥ असुखभुजः मे शाश्वतात्मा एकः सुखं ज्ञानदृष्टिस्वभावः तनुधन-करणभ्रातृभार्यासुखादि अन्यत् किंचित् मे निजं न समस्तं कर्मोद्भूतं चपलम् असुखदम् । तत्र मे मोहः मुधा । हे जीव, इति पर्यालोच्य त्वं स्वहितम् अवितथं मुक्तिमार्गं श्रय ॥ १६ ॥ अत्र ये तत्त्वं बुध्यन्ते, ते अपि प्रोद्यत्कल्पान्तवातक्षुभितजल-निधिस्फीतवीचिस्यदः वा प्रकृतिचपल (मनः) निरोद्धुं न शक्ताः । प्राक् एव तरलतरमनोवृत्तय अन्ये मनुष्याः दृष्टनष्टाः । तत् एतत् चेतः ईदृक् तदा त्व स्थिरपरमसुखं किं न यासि ॥ १७ ॥ रे पापिष्ठ, अतिदुष्ट, व्यसनगतमते, निन्द्यकर्मप्रसक्त,

---

गये एवं जलती हुई अग्निके समान भीषण दुःख देनेवाले कर्मोंरूप इन्धनोंको जला करके जो तप विघ्न-बाधाओं-से रहित एवं अविनश्वर सुखसे संयुक्त मोक्षको देता है उसका विचार करके तू बाह्य एवं अभ्यन्तर परिग्रहसे रहित ऐसे जिनसंमत उस तपमें सन्तुष्ट हो ॥ १५ ॥ मैं जो यह दुःखको भोग रहा हूँ सो मेरी आत्मा एक, नित्य, सुखस्वरूप एवं ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाली है । इसको छोड़कर अन्य मेरा अपना कुछ भी नहीं है । शरीर, धन, इन्द्रियाँ, भाई, स्त्री, और सुख आदि सब कर्मके अनुसार उत्पन्न हुआ है । यह सब अस्थिर एवं दुःखको देनेवाला है । उसके विषयमें मेरा मोह करना व्यर्थ है । इस प्रकार विचार करके हे जीव ! तू जो मोक्षका मार्ग सत्य एवं आत्माके लिये हितकर है उसका आश्रय ले ॥ १६ ॥ यहाँ जो जीव तत्त्वज्ञ हैं वे भी प्रगट हुई प्रलयकालीन वायुके द्वारा क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रकी विशाल तरंगोंके वर्गके समान स्वभावसे चंचल चित्तको रोकनेके लिये समर्थ नहीं हैं । जिनकी मनोवृत्ति अतिशय चंचल थी ऐसे दूसरे कितने ही मनुष्य पहले ही देखते देखते नष्ट हो चुके हैं । इसलिये जब यह चित्त ऐसा अस्थिर है तब हे जीव तू स्थिर उत्कृष्ट सुख (मोक्ष सुख) को क्यों नहीं प्राप्त होता है ? ॥ १७ ॥ हे अतिशय पापिन्, दुष्ट, व्यसनोंमें बुद्धिको लगानेवाले, नीच कार्यमें आसक्त, न्याय-अन्यायको न जाननेवाले, निर्दय व सन्मार्गसे भ्रष्ट बुद्धिवाले ! चूँकि इस पापके

---

१ स °कीर्णे, बाधा, व्याधा च कीर्णे । २ स दग्धा । ३ स यद्वत्ते, यद्वते, यद्वृत्ते । ४ स पर्यालोक्येति । ५ स °मार्गो । ६ स निरंद्धुं । ७ स °स्फीद्वि°, °स्फीटवीचिस्पदो वा । ८ स °स्तच्चेतश्च दृगे° । ९ स जासि ।

418) रे पापिष्ठातिदुष्ट[1] व्यसनगतमते निन्द्यकर्मप्रसक्त[2]
[3]न्यायान्यायानभिज्ञ प्रतिहतकरुण [4]व्यस्तसन्मार्गबुद्धे ।
किं किं दुःखं न यातो ऽविनय[5]वशगतो येन जीवो विषह्य[6]
त्वं तेनैनो निव[7]र्त्य प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ॥ १८ ॥

419) लज्जाहीनात्मशत्रो[9] कुमतगतमते त्यक्ततत्त्वप्रणीते
[10]धृष्टानुष्ठाननिष्ठ[11] स्थिरमदनरते मुक्ति[12]मार्गाप्रवृत्ते ।
संसारे दुःखमुग्रं सुखरहितगताविन्द्रियैः प्रापितो यै-
[13]स्तेषामद्यापि जीव[14] व्रजसि गतघृण ध्वस्तबुद्धे वशित्वम् ॥ १९ ॥

420) सर्पव्याघ्रेभवैरिज्वलनविषयमग्राहशत्रु[15]ग्रहाद्यान्
हित्वा [16]दुष्टस्वरूपान् ददति तनुभृतां ये व्यथां सर्वतोऽपि ।
तान्कोपादीन्निकृष्टानतिविषमरिपून्निर्जय[17] त्वं प्रवीणा-
ग्रे रे जीव प्रलीन[18]प्रशमगतिमते [19]ऽदग्धभग्नस्वशत्रो ॥ २० ॥

न्यायान्यायानभिज्ञ, प्रतिहतकरुण, व्यस्तसन्मार्गबुद्धे, येन अविनयवशगतः जीवः विषह्य किं किं दुःखं न यातः । तेन त्वम् एनः निवर्त्य इह जैनतत्त्वे मनः प्रसभं निधेहि ॥ १८ ॥ लज्जाहीन, आत्मशत्रो, कुमतगतमते, त्यक्ततत्त्वप्रणीते, धृष्टानुष्ठाननिष्ठ, स्थिरमदनरते, मुक्तिमार्गाप्रवृत्ते, गतघृण, ध्वस्तबुद्धे, जीव, सुखरहितगतौ संसारे त्वं यैः इन्द्रियैः उग्रं दुःखं प्रापितः तेषां वशित्वम् अद्यापि व्रजसि ॥ १९ ॥ रे रे प्रलीनप्रशमगतिमते, अदग्धभग्नस्वशत्रो, जीव, दुष्टस्वरूपान् सर्पव्याघ्रेभवैरिज्वलनविषयमग्राहशत्रुग्रहाद्यान् हित्वा ये तनुभृता सर्वतः अपि व्यथा ददति, अतिविषमरिपून् निकृष्टान् तान् प्रवीणान्

कारण जीव अविनयके वशीभूत होकर किस किस दुःसह दुखको नहीं प्राप्त हुआ है—सब प्रकार दुःसह दुखको प्राप्त हुआ है इसीलिये तू बलपूर्वक पापको छोड़कर यहां जैन तत्त्वमें मनको स्थिर कर ॥ १८ ॥ हे निर्लज्ज, अपने आपका शत्रु, एकान्त मतोंमें बुद्धिको लगानेवाले, तत्त्व रुचिसे रहित (मिथ्यादृष्टि), विनयहीन (निन्द्य) आचरणमें विश्वास करनेवाले, कामभोगमें आनन्द माननेवाले और मोक्ष मार्गमें न प्रवृत्त होने वाले ! तू जिन इन्द्रियोंके वशीभूत होकर संसारमें सुख रहित गति (नरकादि दुर्गति) में तीव्र दुखको प्राप्त हुआ है, हे निर्दय दुर्बुद्धि जीव ! आज भी तू उन्हीं इन्द्रियोंके वशीभूत हो रहा है ॥ १९ ॥ हे शान्तिरहित मार्गमें प्रवर्तमान एवं अपने क्रोधादि शत्रुओंको न नष्ट करनेवाले जीव ! सर्प, व्याघ्र, हाथी, वैरी, अग्नि, विष, यम, ग्राह (हिंसक जल-जन्तु), शत्रु और ग्रह (शनि आदि) आदिको छोड़कर तू जो क्रोधादि निकृष्ट शत्रु प्राणियोंको सब ओर से ही दुख देते हैं तथा जो स्वभावसे ही दुष्ट हैं ऐसे उन चतुर भयानक शत्रुओंको जीत ॥ २० ॥ विशेषार्थ— लोकमें सर्प आदिको शत्रु माना जाता है। परन्तु वे वास्तवमें ऐसे भयानक शत्रु नहीं है जैसे कि क्रोधादि भयानक शत्रु हैं। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त सर्प आदि तो प्राणियोंको एक ही जन्ममे कष्ट दे सकते हैं, परन्तु क्रोधादि कषायरूप शत्रु प्राणियोंको अनेक जन्मोमें दुख देने वाले हैं। इसीलिये जीवको सम्बोधित करके यहाँ यह उपदेश दिया है कि हे जीव ! तू जिन सर्पादिकोंसे भयभीत होता हैं वे तेरा उतना अहित करनेवाले

---

१ स °दुष्टव्यसन° । २ स °शक्त । ३ स न्यायान्यायानभवत प्र° । ४ स व्यास्त°, ध्वस्त° । ५ स विनय । ६ स विषज्यं । ७ स ऽतिवर्त्यं । ८ स लज्जादि° । ९ स शशे° for शत्रो । १० स ध्विष्टा° स्विष्टा°, धिष्टा° । ११ स °निष्टस्थिर° । १२ स °मार्ग° । १३ स स्तेषाम् । १४ स जीवो । १५ स om. शत्रुगृहाद्या° १६ स दुष्टरूपान् । १७ स °रिपूर्नि° । १८ स प्रलीनो । १९ स दग्ध° ।

421) मैत्रीं सत्त्वेषु मोदं गुणवति करुणां[1] क्लेशिते देहभाजि[2]
मध्यस्थत्वं प्रतीपे जिनवचसि रतिं निग्रहं क्रोधयोधे।
अक्षार्थेभ्यो निवृत्तिं मृतिजननभवाद्भीतिमत्यन्तदुःखाद्
रे जीव त्वं विधत्स्व च्युतनिखिलमले मोक्षसौख्येऽभिलाषम् ॥ २१ ॥

422) कर्मानिष्टं विधत्ते भवति परवशो लज्जते नो जनानां
धर्माधर्मौ न वेत्ति त्यजति गुरुकुलं सेवते नीचलोकम्।
भूत्वा प्राज्ञः कुलीनः[3] प्रथितपृथुगुणो माननीयो बुधो[4]ऽपि
ग्रस्तो येनात्र देही[5] नुद मदनरिपुं जीव[6] तं दुःखदक्षम् ॥ २२ ॥

423) रागोद्युक्तोऽपि देवो[7]ऽस्तरदितरजनग्रन्थसक्तो[8]ऽपि साधु[9]-
र्जीवध्वंसोऽपि धर्मस्तनुविभवसुखं स्थाण्णु मे[10] सर्ववेति।
संसारापातहेतुं मतिगतिदुरितं[11] कार्यते येन जीव-
स्तं मोहं मर्दय त्वं यदि सुखमतुलं वाञ्छसि त्यक्तबाधम् ॥ २३ ॥

कोपादीन् त्वं निर्जय ॥ २० ॥ रे जीव, त्वं सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणवति मोदं, क्लेशिते देहभाजि करुणां, प्रतीपे मध्यस्थत्वं, जिनवचसि रतिं, क्रोधयोधे निग्रहं, अक्षार्थेभ्यः निवृत्तिं, मृतिजननभवात् अत्यन्तदुःखात् भीतिं, च्युतनिखिलमले मोक्षसौख्ये अभिलाषं विधत्स्व ॥ २१ ॥ हे जीव, अत्र येन ग्रस्तः देही प्राज्ञः कुलीनः प्रथितपृथुगुणः माननीयः बुधः अपि भूत्वा अनिष्टं कर्म विधत्ते, परवशो भवति, जनानां नो लज्जते, धर्माधर्मौ न वेत्ति, गुरुकुलं त्यजति, नीचलोकं सेवते, तं दुःखदक्षं मदनरिपुं नुद ॥ २२ ॥ त्वं यदि अतुलं त्यक्तबाधं सुखं वाञ्छसि तर्हि तं मोहं मर्दय। येन रागोद्युक्तोऽपि देवः अतरत्, इतरजनग्रन्थसक्तः अपि साधुः, जीवध्वंसः अपि धर्मः, मे तनुविभवसुखं सर्वदा स्थास्नु इति जीवः [मन्यते] येन जीवः

नहीं हैं जितने कि क्रोधादि अहित करने वाले है। अतएव तू उक्त क्रोधादि शत्रुओंके ऊपर विजय प्राप्त करनेका प्रयत्न कर। ऐसा करने पर ही तुझे निराकुल सुखको प्राप्ति हो सकेगी, अन्यथा नही ॥ २० ॥ हे जीव ! तू सब प्राणियोंमें मित्रताका भाव रख—किसीको शत्रु न समझ, उक्त सब प्राणियोंमें भी जो विशेष गुणवान् हैं उनको देख कर हर्षको धारण कर, दुखी जनके प्रति दयाका व्यवहार कर, जिनका स्वभाव विपरीत है उनके विषयमें मध्यस्थताका भाव धारण कर, जिनवाणीके सुनने और तदनुसार प्रवृत्ति करनेमें अनुराग कर, क्रोधरूप सुभटको पराजित कर, इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त हो, मृत्यु एवं जन्मसे उत्पन्न होनेवाले अतिशय दुखसे भयभीत हो, और समस्त कर्म मलसे रहित मोक्ष सुखकी अभिलाषा कर ॥२१॥ जिस कामरूप शत्रुसे पीडित होकर प्राणी विद्वान्, कुलीन, प्रसिद्ध उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला, स्तुत्य एवं पण्डित होता हुआ भी यहाँ निन्द्य कार्यको करता है, दूसरोंके अधीन होता है, मनुष्योंमें लज्जित नही होता है—निर्लज्ज हो जाता है, धर्म व अधर्मका विचार नहीं करता है, उत्तम जनोको छोड़ देता है और नीच जनोंकी सेवा करता है; हे जीव ! तू उस दुखदायी कामरूप शत्रुको नष्ट कर दे ॥ २२ ॥ हे आत्मन् ! यदि तू निर्बाध अनुपम सुखको प्राप्त करना चाहता है तो उस मोहको नष्ट कर दे जिसके द्वारा जीव रागमें उद्युक्त प्राणीको देव, अभ्यन्तर व बाह्य परिग्रहमें आसक्त व्यक्तिको साधु, प्राणि हिंसाको धर्म तथा शरीर एवं सम्पत्तिसे उत्पन्न होने वाले सुखको सर्वदा स्थिर रहनेवाला मानकर अपनी संसार परिभ्रमणकी कारणभूत बुद्धि, प्रवृत्ति एवं पापको करता है ॥ २३ ॥ हे आत्मन् !

---

१ स करुणं। २ स °भाजे। ३ स om. कुलीनः। ४ स om. बुधो। ५ स देहोनुदमदन°। ६ स जीवि। ७ स ७ तरतदितरजग्रन्थ°, देवोत्तरतदि°। ८ स शक्तो। ९ स साधुजीव°। १० स स्थाण्णुमे, स्थाण्णुभे, स्थाण्णुमेतत्सर्व° ११ स दुरतं।

424) तीव्रत्रासप्रदायिप्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते
दुःखोर्वीजप्रपञ्चे भवगहनवने ऽनेकयोन्यद्रिरौद्रे[1]।
भ्राम्यन्न प्रापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणो दुष्कृतस्य
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वञ्चितस्त्वं तदात्मन् ॥ २४ ॥

425) ज्ञानं[2]तत्त्वप्रबोधो जिनवचन[3]रुचिर्दर्शनं धूतदोषं
चारित्रं पापमुक्तं त्रयमिदमुदितं मुक्तिहेतुं प्रधत्स्व ।
मुक्त्वा संसारहेतुत्रित[4]यमपि परं निन्द्यबोधा[5]द्यवद्यं[6]
रे रे जीवात्मवैरि[7]न्नमितगतिसुखे चेत्तवेच्छास्ति पूते ॥ २५ ॥
॥ इति जीवसंबोधनपञ्चविंशतिः ॥ १६ ॥

संसारापातहेतुं मतिगतिदुरितं कार्यते ॥ २३ ॥ तीव्रत्रास-प्रदायिप्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते दुःखोर्वीजप्रपञ्चे अनेक-योन्यद्रिरौद्रे भवगहनवने भ्राम्यन् त्वं दुष्कृतस्य कर्मणः शमतः कथमपि नृत्वं प्रापि । हे आत्मन्, स्थिरपरमधिया चेत् धर्मं न करोषि तदा त्वं वञ्चितः ॥ २४ ॥ रे रे आत्मवैरिन् जीव, तव पूते अमितगतिसुखे इच्छा अस्ति चेत् [तर्हि] परम् अवद्यं निन्द्यबोधादि संसारहेतुत्रितयमपि मुक्त्वा ज्ञानं तत्त्वप्रबोधं जिनवचनरुचिः धूतदोषं दर्शनं, पापमुक्तं चारित्रं [यत्] इदं त्रयं मुक्तिहेतु उदितं तत् त्वं प्रधत्स्व ॥ २५ ॥
इति जीवसंबोधनपञ्चविंशतिः ॥ १६ ॥

जो संसाररूपी भीषण वन तीव्र दुखको देनेवाले जन्म, मरण और जरारूप श्वापदों (हिंसक पशु विशेषों) के समूहसे परिपूर्ण है, दुःखोंरूप वृक्षोंसे घिरा हुआ है, तथा अनेक पर्यायरूप पर्वतोंसे भयानक है, उसमें परिभ्रमण करते हुए तूने पाप कर्मके शान्त होनेसे जिस किसी प्रकार यह मनुष्यभव पाया है। अब यदि तू स्थिर निर्मल बुद्धिसे धर्मको नहीं करता है तो फिर ठगा जाने वाला है। अभिप्राय यह है कि प्राणीने संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनादि कालसे अनेक दुःसह दुःखोंको सहा है। यदि पाप कर्मके उपशमसे उसे मनुष्य पर्याय प्राप्त हो जाती है तो संयमादि धारण करके उसे आत्महित सिद्ध करना चाहिये और यदि वैसा न किया तो फिर भी उन दुःसह दुःखोंको चिरकाल तक सहना पडेगा ॥ २४ ॥ हे अपने आपके शत्रुस्वरूप जीव ! यदि तुझे पवित्र मुक्ति सुखकी इच्छा है तो तू रत्नत्रयसे भिन्न जो निकृष्ट मिथ्यादर्शनादि तीन संसार परिभ्रमणके कारण हैं उनको छोड़ करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको धारण कर। इनमें जिनवचनके विषयमें-सर्वज्ञ देवके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वके विषयमें-रुचि रखना इसे निर्दोष सम्यग्दर्शन, वस्तु स्वरूपको यथार्थ जानना इसे सम्यग्ज्ञान और हिंसादि पापोंसे विरत हो जाना इसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीनो ही मोक्षके कारण कहे गये हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार पच्चीस श्लोकोंमें जीव संबोधन किया ॥ १६ ॥

●

---

१ स °यो ऽन्यद्रिरौद्रे । २ स ज्ञानं ते चप्र°, ज्ञानं ते ऽप्रबोधे । ३ स °वचनरुचि । ४ स °हेतुस्तृ°, °हेतुस्त्रि° । ५ स निन्द्यवध्या° । ६ स °वद्यान्, °वंद्यं । ७ स वैरीन्न ।

[१७. दुर्जननिरूपणचतुर्विंशतिः]

426) पापं वर्धयते चिनोति कुमतिं कीर्त्यङ्गनां[1] नश्यति
धर्मं ध्वंसयते[2] तनोति विपदं संपत्तिमुन्मर्दति[3] ।
नीतिं हन्ति विनीतिमत्र कुरुते कोपं धुनीते ऽसमं[4]
किं वा दुर्जनसंगतिर्न कुरुते लोकद्वय[5]ध्वंसिनी ॥ १ ॥

427) न व्याघ्रः क्षुध[6]यातुरो ऽपि कुपितो नाशीविषः पन्नगो
नारातिर्बलसत्त्वबुद्धिकलितो मत्तः करीन्द्रो न च ।
तं शक्नोति न कर्तुमत्र नृपतिः कण्ठीरवो नोद्धुरो
दोषं दुर्जनसंगतिर्वितनुते तं देहिनां निन्दिता ॥ २ ॥

428) व्याघ्र[7]व्यालभुजंगसंगभयकृत्कक्ष[8] वरं सेवितं
कल्पान्तोद्गतभीमवीचिनिचितो वार्धिर्वरं गाहितः ।
विश्वप्लोषकरोद्धतोज्ज्वलशिखो वह्निर्वरं चाश्रित-
स्त्रैलोक्योदरवर्तिदोषजनके[9] नासाधुमध्ये स्थितम् ॥ ३ ॥

अत्र लोकद्वयध्वंसिनी दुर्जनसंगतिः पापं वर्धयते, कुमतिं चिनोति, कीर्त्यङ्गना नश्यति, धर्मं ध्वंसयते, विपदं तनोति, संपत्तिं उन्मर्दति, नीतिं हन्ति, विनीतिं कुरुते, असमं कोपं धुनीते । किं वा न कुरुते ॥ १ ॥ अत्र निन्दिता दुर्जनसंगतिः देहिनां यं दोषं वितनुते, तं दोषं कर्तुं न क्षुधयातुरः व्याघ्रः न कुपितः आशीविषः पन्नगः, न बलसत्त्वबुद्धिकलितः अरातिः न च मत्तः करीन्द्रः, न नृपतिः, न उद्धुरः कण्ठीरवः शक्नोति ॥ २ ॥ व्याघ्रव्यालभुजङ्गसंगभयकृत्कक्षं सेवितं वरम् । कल्पान्तोद्गतभीमवीचिनिचितः वार्धिः गाहितः वरम् । विश्वप्लोषकरोद्धतोज्ज्वलशिखः वह्निः आश्रितः वरम् । परं त्रैलोक्योदरवर्तिदोषजनके असाधुमध्ये स्थितं वरं न स्यात् ॥ ३ ॥ यः कोमलं सुखकरं वाक्यं जल्पति, अन्यथा कृत्यं करोति, दुष्टधी

यहाँ दुष्ट जनकी संगति पापको बढाती है, दुर्बुद्धिको संचित करती है, कीर्तिरूप स्त्रीको नष्ट करती है, धर्मका विध्वंस करती है, विपत्तिका विस्तार करती है, सम्पत्तिका नाश करती है, न्यायमार्गसे भ्रष्ट करती है, अन्यायमे प्रवृत्त करती है, तथा असाधारण क्रोधको कम्पित करती है—बढ़ाती है । अथवा दोनों ही लोकोंको नष्ट करनेवाली वह दुर्जन संगति क्या नही करती है ? सब ही अनर्थोंको वह करती है ॥ १ ॥ यहाँ निन्दित दुर्जनसंगति प्राणियोंके जिस दोषको (अहितको) करती है उसको करनेके लिये न भूखसे पीड़ित व्याघ्र समर्थ है, न क्रोधको प्राप्त हुआ आशीविष सर्प समर्थ है, न बल वीर्य एवं बुद्धिसे सम्पन्न शत्रु समर्थ है, न उन्मत्त हाथी समर्थ है, न राजा समर्थ है, और न उद्धत सिंह भी समर्थ है ॥ २ ॥ व्याघ्र दुष्ट हाथी और सर्पोंके संयोगसे भयको उत्पन्न करनेवाले वनमे रहना अच्छा है, प्रलयकालीन वायुसे उठती हुई भयानक तरंगोंसे व्याप्त समुद्रमें डूब जाना अच्छा है, और समस्त संसारको जलानेवाली ज्वालायुक्त अग्निकी शरणमे जाना भी कहीं अच्छा है; परन्तु तीनों लोकके बीचमें रहनेवाले समस्त दोषोंके जनक दुर्जनोंके मध्यमें रहना अच्छा नहीं है ॥ ३ ॥ जो दुष्ट कोमल व प्रिय वचन बोलता है, परन्तु कार्य उसके विपरीत करता है, जो

---

१ स कीर्तिंगनां । २ स ध्वंसयति । ३ स °मुर्द्वति । ४ स शमं, समं । ५ स °द्वये°, °द्वयं° । ६ स क्षुधि° । ७ स व्याघ°, व्याघ° । ८ स काक्षं । ९ स °जनकेनासाधु° ।

429) वाक्यं जल्पति कोमलं सुखकरं कृत्यं करोत्यन्यथा
वक्रत्वं न जहाति[1] जातु मनसा सर्पो यथा दुष्टधीः ।
नो भूतिं सहते परस्य न गुणं जानाति कोपाकुलो[2]
यस्तं लोकविनिन्दितं[3] खलजनं कः सत्तमः सेवते ॥ ४ ॥

430) नीचोच्चादिविवेकनाशकुशलो बाधाकरो देहिना-
माशाभोगनिरासनो मलिनता[4]च्छन्नात्मनां वल्लभः ।
सद्दृष्टिप्रसरावरोधनपटुर्मित्रप्रतापाहतः[5]
कृत्याकृत्यविदा प्रदोषसदृशो वर्ज्यः सदा दुर्जनः ॥ ५ ॥

431) ध्वान्तध्वंसपरः कलङ्कितनुर्वृद्धिक्षयोत्पादकः
पद्माशी[6] कुमुदप्रकाशनिपुणो दोषाकरो यो जडः ।
कामोद्वेगरसः समस्तभविनां लोके निशानाथवत्
कस्तं नाम जनो महासुखकरं जानाति नो दुर्जनम् ॥ ६ ॥

सर्पः यथा मनसा वक्रत्वं जातु न जहाति, परस्य भूतिं नो सहते, कोपाकुलः गुणं न जानाति, तं लोकविनिन्दितं खलजनं कः सत्तमः सेवते ॥ ४ ॥ कृत्याकृत्यविदा नीचोच्चादिविवेकनाशकुशलः देहिना बाधाकरः, आशाभोगनिरासनः, मलिनताच्छन्नात्मनां वल्लभः, सद्दृष्टिप्रसरावरोधनपटुः, मित्रप्रतापाहतः, प्रदोषसदृशः दुर्जनः सदा वर्ज्यः ॥ ५ ॥ यः दुर्जनः निशानाथवत् ध्वान्तध्वंसपरः, कलङ्कितनुः, वृद्धिक्षयोत्पादकः पद्माशी, कुमुदप्रकाशनिपुणः, दोषाकरः जडः (अस्ति), लोके समस्तभविनां कामोद्वेगरसः तं महासुखकरं दुर्जनं कः नाम जनः नो जानाति ॥ ६ ॥ यः दुष्टः सुखेन अन्वितम् अपरं पश्यन् दुःखं

दुष्ट बुद्धि सर्पके समान मनसे कभी कुटिलताको नहीं छोड़ता है, जो दूसरेके वैभवको सहन नही करता है, तथा जो क्रोधसे व्याकुल होकर दूसरेके गुणको नहीं जानता है—कृतज्ञता नही प्रगट करता है; उस लोक निन्दित दुष्ट जनकी सेवा भला कौन-सा सज्जन करता है ? कोई नही करता ॥ ४ ॥ दुर्जन पुरुष प्रदोषकाल-रात्रिके पूर्व भागके समान है—जिस प्रकार प्रदोष कालमें कुछ अँधेरा रहनेसे नीचो ऊँची पृथिवीका बोध नही हो पाता है उसी प्रकार दुर्जनके ससर्गमें रहनेसे नीच-ऊँच जनका (अथवा भले-बुरे कार्यका) विवेक नही हो पाता है, जिस प्रकार ठीक-ठीक वस्तुओंको न देख सकनेके कारण प्रदोष काल प्राणियोंको बाधा पहुँचाता है उसी प्रकार कुमार्गमें प्रवृत्त करा कर वह दुर्जन भी प्राणियोंको बाधा पहुँचाता है, जिस प्रकार प्रदोप काल आशा भोगको—दिशाओंके उपभोगको—नष्ट करता है उसी प्रकार दुर्जन भी आशा भोगको—आशा (इच्छा) और भोग (सुख) को—नष्ट करता है, जिस प्रकार प्रदोष काल मलिन प्राणियोंको—चोर आदिको—अच्छा लगता है उसी प्रकार दुर्जन मनुष्य भी मलिन प्राणियोंको—पापाचारियोको अच्छा लगता है, जिस प्रकार समीचीन दृष्टि (निगाह) के विस्तारके रोकनेमें प्रदोष काल निपुण होता है उसी प्रकार दुर्जन भी समीचीन दृष्टि (सम्यग्दर्शन) के विस्तारके रोकनेमे निपुण होता है, तथा जिस प्रकार मित्र (सूर्य) के प्रतापसे प्रदोषकाल पीड़ित होता है—नष्ट होता है उसी प्रकार वह दुर्जन भी मित्र (बन्धु) के प्रभावसे पीड़ित होता है—दूर होता है। इसीलिये जिस प्रकार उत्तम कार्योंमें वह प्रदोष काल हेय माना जाता है उसी प्रकार इस दुष्टको भी हेय मानकर कार्य-अकार्यके जानकार सज्जन पुरुषों को उससे सदा दूर रहना चाहिये ॥ ५ ॥ जो जड़ दुर्जन चन्द्रमाके समान ध्वान्त ध्वंसपर, कलंकित शरीरवाला, वृद्धि हानिजनक, पद्माशी, कुमुद प्रकाशमें चतुर, दोषाकर और समस्त

---

१ स जहातु । २ स °कुले । ३ स लोकनिन्दितं । ४ स मलिनमा°, मलिनिमा° । ५ स °हृत । ६ स पद्मासी, पद्माश्री ।

432) दुष्टो यो विदधाति दुःखमपरं [1]पश्यन्सुखेनान्वितं
दृष्ट्वा तस्य विभूतिमस्तधिषणो हेतुं विना कुप्यति ।
वाक्यं[2] जल्पति किंचिदाकुलमना दुःखावहं [3]यन्नृणां
तस्माद्दुर्जनतो विशुद्धमतय काण्डा[4]द्यथा बिभ्यति ॥ ७ ॥

433) यस्त्यक्त्वा[5] गुणसंहतिं वितनुते गृह्णाति दोषान् परे
दोषानेव करोति जातु न गुणं त्रेधा[6] स्वयं दुष्टधीः ।
युक्तायुक्तविचारणाविरहितो विध्वस्त[7]धर्मक्रियो
लोकानन्दिगुणो ऽपि को ऽपि न खलं शक्नोति तं[8] बोधितुम् ॥ ८ ॥

विदधाति, तस्य विभूतिं दृष्ट्वा अस्तधिषण. हेतु विना कुप्यति, आकुलमनाः नृणा दुःखावहं यत् किञ्चित् वाक्यं जल्पति । विशुद्धमतयः तस्मात् दुर्जनत. काण्डात् यथा बिभ्यति ॥ ७ ॥ युक्तायुक्तविचारणाविरहितः विध्वस्तधर्मक्रिय· य· दुष्टधीः स्वयं गुणसहतिं त्यक्त्वा त्रेधा दोषान् वितनुते, गृह्णाति, परे दोषानेव करोति, गुणं जातु न । लोकानन्दिगुणोऽपि कोऽपि तं खलं बोधितुं न शक्नोति ॥ ८ ॥ दुष्टधिषणः य स्वयमेव दोषेषु सदा वर्तमान. तत्र अन्यान् त्रैलोक्यवर्त्यङ्गिन. अपि स्थिति-

---

प्राणियोको कामोद्वेगरस है उस महादुखदायी दुर्जनको लोकमें कौन मनुष्य नही जानता है ? अर्थात् सब ही जानते हैं ॥ ६ ॥ विशेषार्थ—यहाँ दुर्जनकी तुलना चन्द्रमासे की गई है। यथा—जिस प्रकार चन्द्रमा ध्वान्त-ध्वसपर अर्थात् अन्धकारके नष्ट करनेमें तल्लीन है उसी प्रकार दुर्जन भी ध्वान्तध्वंसपर अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले सज्जनोसे भिन्न है, जैसे कलंकयुक्त शरीरवाला चन्द्रमा है वैसे ही दुर्जन भी कलंकयुक्त (दोषयुक्त) शरीरवाला है, जिस प्रकार चन्द्रमा वृद्धि-क्षयका उत्पादक—अपनी कलाओं अथवा समुद्रकी वृद्धि और हानिका जनक है उसी प्रकार दुर्जन भी वृद्धिक्षयका उत्पादक—दूसरोंके अभ्युदयका नाशक—होता है, चन्द्रमा यदि पद्माशी—कमलोंको मुकुलित करनेवाला—है तो दुर्जन भी पद्माशी—पद्मा (लक्ष्मी) को नष्ट करनेवाला है, जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुद प्रकाश निपुण है—श्वेत कमलोंके विकसित करनेमे चतुर है—उसी प्रकार दुर्जन भी कुमुदप्रकाशनिपुण है—कुमुद (कुत्सित हर्ष) को प्रकाशित करनेमें चतुर है, जहाँ चन्द्रमा दोषाकर—रात्रिका करनेवाला है वहाँ दुर्जन दोषोंका आकर (खानि) है, चन्द्रमा यदि जड है—ड और ल मे भेद न रहनेसे जलस्वरूप है—तो दुर्जन भी जड़ (मूर्ख) है, तथा जैसे चन्द्रमा समस्त प्राणियोंके लिये कामके उद्वेगमें आनन्द उत्पन्न करता है वैसे ही दुर्जन भी कामके उद्वेगमे आनन्द मानता है। इस प्रकार जब वह दुर्जन प्रसिद्ध चन्द्रमाके समान है तब भला उससे कौन अपरिचित होगा ? कोई नहीं। अभिप्राय यही है कि विवेकी जनको अनेक दोषोके स्थानभूत एवं कुमार्गमें प्रवृत्त करनेवाले उस दुर्जनकी संगति-को अवश्य छोड़ना चाहिये ॥ ६ ॥ जो दुष्ट पुरुष दूसरेको सुखसे युक्त देखकर उसे दुखी करता है, जो उसकी विभूतिको देखकर विवेकसे रहित होता हुआ अकारण ही क्रोधको प्राप्त होता है, और जो व्याकुलचित्त होकर मनुष्योंके लिये दु ख पहुँचानेवाले जैसे तैसे वचन बोलता है; उस दुष्ट पुरुषसे निर्मल बुद्धि मनुष्य ऐसे डरते हैं जैसे कि लोग बाणसे डरते हैं ॥ ७ ॥ जो दुर्बुद्धि दुर्जन मनुष्य गुण समूहको छोड़ कर दोषोंका विस्तार करता है व उन्हीको ग्रहण करता है तथा जो दूसरेके विषयमें मन, वचन एवं कायसे दोषोंको ही करता है स्वयं कभी

---

१ स पश्यत्सु । २ स वाच्यं । ३ स तन्नृणां । ४ स काण्ड्या°, काडापधा । ४ स यस्त्यक्ता । ६ स त्रेधास्त्रयं । ७ स विध्वंस्तधर्मक्रिया । ८ स सं for तं ।

434) दोषेषु स्वयमेव दुष्टधिषणो यो वर्तमानः सदा
तत्रान्यानपि मन्यते स्थितिवतस्त्रैलोक्यवर्त्यङ्गिनः[1] ।
कृत्यं निन्दितमातनोति वचनं यो दुःश्रवं जल्पति
चापारोपितमार्गणादिव खलात् सन्तस्ततो बिभ्यति ॥ ९ ॥

435) यो ऽन्येषां[2] भषणोद्यतः श्वशिशुवच्छिद्रेक्षणः सर्पव-
दग्राह्यः[3] परमाणुवन्मुरजवद्वक्त्र[4]द्वयेनान्वितः ।
नानारूपसमन्वितः सरट[5]वद्वक्रो भुजंगेशवत्
कस्यासौ न करोति दोषनिलयश्चित्र[6]व्यथां दुर्जनः ॥ १० ॥

436) गाढं श्लिष्यति दूरतो ऽपि कुरुते ऽभ्युत्थानमार्द्रेक्षणो
दत्ते[7] ऽर्धासनमातनोति मधुरं वाक्यं प्रसन्नाननः ।
[8]चित्तान्तर्गतवञ्चनो विनयवान् मिथ्यावधिर्दुष्टधी-
र्यो दुःखामृतधर्मणा विषमयो मन्ये कृतो दुर्जनः ॥ ११ ॥

वतः मन्यते । यः निन्दितं कृत्यम् आतनोति, च दुःश्रवं वचः जल्पति, सन्तः चापारोपितमार्गणादिव ततः खलात् बिभ्यति ॥ ९ ॥ यः श्वशिशुवत् अन्येषां भषणोद्यतः, सर्पवत् छिद्रेक्षणः, परमाणुवत् अग्राह्यः, मुरजवत् वक्त्रद्वयेन अन्वितः, सरटवत् नानारूपसमन्वितः, भुजङ्गेशवत् वक्रः, दोषनिलयः, असौ दुर्जनः, कस्य चित्रव्यथां न करोति ॥ १० ॥ यः दूरतः अपि आर्द्रेक्षणः अभ्युत्थानं कुरुते, गाढं श्लिष्यति, अर्धासनं दत्ते, प्रसन्नाननः मधुरं वाक्यम् आतनोति । चित्तान्तर्गतवञ्चनः,

---

गुणको नहीं करता है, इसके अतिरिक्त जो योग्य-अयोग्यके विचारसे रहित होकर धर्म कार्योंको नष्ट करता है ऐसे उस दुर्जनको समस्त संसारको आनन्दित करनेवाले गुणोसे संयुक्त भी कोई मनुष्य समझानेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है ॥ ८ ॥ जो दुर्बुद्धि दुर्जन निरन्तर स्वयं ही दोषोंमे स्थित रहता है और दूसरे भी तीनों लोकोंके प्राणियोंको उक्त दोषोमें स्थित समझता है—अपने समान दूसरोंको भी दुष्ट मानता है, तथा जो घृणित कार्यको करता है और श्रवणकटु वचनको बोलता है, उस दुर्जन मनुष्यसे सज्जन मनुष्य धनुष पर चढ़ाए हुए बाणके समान डरते हैं ॥ ९ ॥ जो दुर्जन कुत्ताके बच्चे (पिल्ले) के समान दूसरोंके प्रति भौंकनेमें उद्यत होता है, सर्पके समान छिद्रको ढूँढता है, परमाणुके समान अग्राह्य है, मृदंगके समान दो मुखोंसे सहित है, सरड (गिरगिट) के समान अनेक रूपवाला है तथा सर्पराजके समान कुटिल है; वह अनेक दोषोंका स्थानभूत दुर्जन किसके चित्तको दुखी नहीं करता है—सभीके मनको खिन्न करता है ॥ १० ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार कुत्ता दूसरोंको देखकर भौंकता है—गुर्राता—उसी प्रकार दुर्जन भी दूसरोंको देखकर गुर्राता है—क्रोधित होता है, जिस प्रकार सर्प छिद्र (बिल) के खोजनेमें उद्यत रहता है उसी प्रकार दुर्जन भी छिद्र (दोष) के खोजनेमें उद्यत रहता है। जिस प्रकार परमाणु सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार दुर्जन भी गूढहृदय होनेसे दूसरोके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है—उसके अभिप्रायको दूसरे जन नहीं जान सकते हैं। जिस प्रकार मृदंग दो मुखवाला होता है—दोनों ओरसे शब्द करता है उसी प्रकार दुर्जन भी दो मुखवाला होता है—वह जो कुछ कहता है उसे बदल जाता है और फिर उससे विपरीत कहने लगता है, जिस प्रकार

---

१ स °ङ्गिना । २ स योनेषा । ३ स °ग्राह्यं । ४ स °द्वक° । ५ स शरद° । ६ स चित्त° । ७ स दत्वार्द्धा° ।
८ स चिन्ता° ।

437) यद्वच्चन्दनसंभवो ऽपि दहनो दाहात्मकः सर्वदा
संपन्नो ऽपि समुद्रवारिणि यथा प्राणान्तको दुन्दुभिः[1] ।
दिव्याहारसमुद्भवो ऽपि भवति व्याधिर्यथा बाधक-
स्तद्वद्दुःखकरः खलस्तनुमतां जातः कुले ऽप्युत्तमे ॥ १२ ॥

438) लब्धं जन्म यतो यतः पृथुगुणा जीवन्ति यत्राश्रिता
ये तत्रापि जने वने फलवति प्लोषं[2] पुलिन्दा[3] इव ।
निस्त्रिंशा वितरन्ति धूतमतयः शश्वत्खलाः पापिन-
स्ते मुञ्चन्ति कथं विचाररहिता जीवन्तमन्यं जनम् ॥ १३ ॥

विनयवान्, मिथ्यावचिः, दुष्टधीः, विषमयः, दुर्जनः अमृतभर्मणा दुःखाय कृतः [इति] मन्ये ॥ ११ ॥ यद्वत् चन्दनसंभवः अपि दहनः सर्वदा दाहात्मकः, यथा समुद्रवारिणि संपन्नः अपि दुन्दुभिः प्राणान्तकः, यथा दिव्याहारसमुद्भवः अपि व्याधिः बाधकः भवति, तद्वत् उत्तमे कुले अपि जातः खलः तनुमतां दुःखकरः ॥ १२ ॥ यतः जन्म लब्धं; यतः पृथुगुणाः, यत्र आश्रिताः जीवन्ति, तत्रापि फलवति वने पुलिन्दाः इव ये धूतमतयः निस्त्रिंशाः पापिनः खलाः जने शश्वत् प्लोषं वितरन्ति

गिरगिट लाल आदि अनेक रूपोंको धारण करता है उसी प्रकार दुर्जन भी अनेक रूपोंको धारण करता है— धोखा देनेके लिये अनेक आकारको ग्रहण करता है, तथा जिस प्रकार सर्प कुटिल गतिसे चलता है उसी प्रकार दुर्जन भी कुटिल चाल चलता है—कपटपूर्ण व्यवहार करता है । इस प्रकारसे वह दुर्जन मनुष्य चूँकि अनेक दोषोंसे सहित होकर दूसरोंको अकारण ही कष्ट दिया करता है अतएव उसके संसर्गसे सदा बचना चाहिये ॥१०॥ दुष्ट बुद्धिको धारण करनेवाला दुर्जन मनुष्य दूरसे ही आँखोंमें पानी भरकर खड़ा होता हुआ स्वागत करता है, गाढ़ आलिंगन करता है, आधा आसन देता है, प्रसन्नमुख होकर मधुर भाषण करता है, मनमे वचनाका भाव रखकर बाह्य मे नम्रता दिखलाता है, तथा मर्यादाका उल्लंघन करता है । इस विश्वरूप दुर्जनको ब्रह्म-देवने मानों दूसरे प्राणियोको दुःख देनेके लिए ही उत्पन्न किया है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ११ ॥ जिस प्रकार चन्दनसे उत्पन्न हुई भी अग्नि निरन्तर दाहस्वरूप ही होती है, समुद्रके जलमे प्राप्त भी विष जैसे प्राणघातक होता है, तथा दिव्य भोजनसे उत्पन्न भी रोग जैसे कष्टप्रद होता है; वैसे ही उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ दुष्ट पुरुष प्राणियों को दुखकारक होता है ॥ १२ ॥ विशेषार्थ—यद्यपि चन्दनका वृक्ष स्वभावसे शीतल होता है, परन्तु उससे उत्पन्न हुई अग्नि तद्गत शीतलताको छोड़कर दाहक स्वरूपको धारण करती हैं, इसी प्रकार विष यद्यपि समुद्रके शीतल जलमें—जिसे कि दूसरे शब्दसे जीवन भी कहा जाता है—उत्पन्न होकर भी जैसे प्राणनाशक होता है, तथा जिस प्रकार दिव्य (स्वास्थ्यप्रद) भोजनसे भी उत्पन्न हुआ रोग अपने दिव्य स्वरूपको छोड़कर अस्वास्थ्यप्रद एवं कष्टदायक होता है, उसी प्रकार उत्तम कुलमें भी उत्पन्न हुआ दुष्ट मनुष्य यदि कुलगत उत्तमताको छोड़कर नीच स्वभावको प्राप्त होता हुआ दूसरोंको दुख देता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥ १२ ॥ जिस प्रकार भील जिस वनमें जन्म लेते हैं, जिससे महागुणोंको (आजीविका आदिको) प्राप्त होते हैं तथा जिसका आश्रय पाकर जीवित भी रहते हैं उसी फलवाले वनमें निर्दय होकर आग लगा देते हैं; उसी प्रकार जो अविवेकी पापी दुष्ट जिससे जन्म लेते हैं, जिससे उत्तम गुणोंको प्राप्त

---

१ स दुंदुभिः, दुन्दुभि. । २ स प्लोषा । ३ स पुलीद्रा, पुलिंद्रा ।

439) यः[1] साधूदितमन्त्रगोचरमतिक्रान्तो द्विजिह्वाननः
क्रुद्धो रक्तविलोचनो ऽसिततमो मुञ्चत्यवाच्यं[2] विषम्[3] ।
रौद्रो दृष्टिविषो विभीषितजनो रन्ध्रावलोकोद्यतः[4]
कस्तं दुर्जनपन्नगं कुटिलगं शक्नोति कर्तुं वशम् ॥ १४ ॥

विचाररहिताः ते जीवन्तम् अन्यं जनं कथं मुञ्चन्ति ॥ १३ ॥ यः साधूदितमन्त्रगोचरम् अतिक्रान्तः, द्विजिह्वाननः, क्रुद्धः, रक्तविलोचन , असिततम., अवाच्यं विषं मुञ्चति, रौद्रः, विभीषितजन', रन्ध्रावलोकोद्यत'; दृष्टिविषः, तं कुटिलगं दुर्जनपन्नगं कः वशं कर्तुं शक्नोति ॥ १४ ॥ पयः पिबन् अपि पन्नगः निर्धूतविष' नो संपद्यते । पयोमधुघटैः सिक्तः अपि

करते हैं तथा जिसका सहारा पाकर जीवित रहते हैं उस उपकारी मनुष्यको भी जब वे योग्य-अयोग्यका विचार छोड़कर निरन्तर सन्तप्त करते हैं तब भला वे दूसरे किसी मनुष्यको कैसे जीवित छोड़ सकते हैं ? नही छोड़ सकते हैं । अभिप्राय यह कि दुष्ट मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह अन्य मनुष्योंकी तो बात क्या, किन्तु अपने उपकारीका भी उपकार नहीं मानता और उसे अनेक प्रकारसे कष्ट दिया करता है । अतएव उससे किसी प्रकार भलाईकी आशा करना व्यर्थ है ॥ १३ ॥ जो सज्जनोंके द्वारा उपदिष्ट योग्य शिक्षा-वचनका उल्लंघन करता है, दो जीभोंसे संयुक्त मुखको धारता है, क्रोधयुक्त है, लाल नेत्रोंसे सहित है, अतिशय काला है, विषके समान न बोलनेके योग्य वचनको बोलता है, भयको उत्पन्न करनेवाला है, दृष्टिमें विषको धारण करता है, प्राणियोंको भयभीत करता है, और छिद्रके देखनेमें उद्यत है; ऐसे उस कुटिल गतिवाले दुर्जनरूपी सर्पको वशमें करनेके लिये भला कौन समर्थ है ? कोई समर्थ नहीं है ॥ १४ ॥ विशेषार्थ—दुर्जनका स्वभाव ठीक सर्पके समान होता है । कारण कि जैसे दुष्ट सर्प योग्य रीतिसे उच्चारित मन्त्रका विषय नहीं होता है—उसके वश नही होता है वैसे ही दुर्जन भी सज्जन पुरुषोंके द्वारा कहे गये मन्त्रका विषय नहीं होता है—वह उनकी योग्य शिक्षाको नही मानता है, जिसप्रकार सर्पके मुखमें दो जिह्वायें होती हैं उसी प्रकार दुर्जनके भी मुखमें दो जिह्वायें होती हैं—वह अपने वचनके ऊपर स्थिर नही रहकर कभी कुछ कहता है और कभी कुछ, सर्प जैसे क्रोधित होता है वैसे ही दुर्जन भी क्रोधित होता है, क्रोधसे लाल नेत्र जैसे सर्पके होते हैं वैसे ही वे दुर्जनके भी होते है, सर्प यदि अतिशय काला होता है तो वह दुर्जन भी अतिशय काला होता है—हृदयमें अतिशय मलिनताको धारण करता है, सर्प जहाँ मुँहसे विषको उगलता है वहाँ दुर्जन भी मुँहसे विषको उगलता है—विषके समान भयानक कठोर वचन बोलता है, देखनेमें जेसे सर्प भयानक होता है वैसे ही वह दुर्जन भी भयानक होता है, सर्पकी दृष्टिमें यदि प्राणघातक विष विद्यमान रहता है तो वह दुर्जनकी भी दृष्टिमें विद्यमान रहता है—उसकी दृष्टि प्राणियोंको विषके समान भयको उत्पन्न करनेवाली होती है, मनुष्योंके लिये जैसे सर्पको देखकर भय उत्पन्न होता है वैसे ही उन्हें दुर्जनको भी देखकर भय उत्पन्न होता है, तथा जिस प्रकार सर्प छिद्र (बिल) के देखनेमें उद्यत होता है उसी प्रकार दुर्जन भी छिद्रके देखनेमें—दूसरोंके दोषोंके देखनेमें—उद्यत होता है । इस प्रकार दुर्जन जब कि सर्पके समान भयानक एवं कष्टदायक है तब विवेकी जनोंको उससे सदा दूर ही रहना चाहिये ॥१४॥ जिस प्रकार दूधको पीकर भी सर्प कभी विषसे रहित नहीं होता है,

---

१ स यस्साधू° । २ स °वाच्या°, °वाच । ३ स विषं । ४ स °लोकोदित , °लोकयोद्यत ।

440) नो निर्धूतविषं[1] पिबन्नपि पयः[2] संपद्यते पन्नगो
निम्बागः[3] कटुतां पयोमधुघटैः सिक्तोऽपि नो[4] मुञ्चति ।
नो क्षीरैरपि सर्वदा विलिखितं[5] धान्यं ददात्यूषरं[6]
नैवं मुञ्चति वक्रतां खलजनः संसेवितो[7]ऽप्युत्तमैः ॥ १५ ॥

441) वैरं यः कुरुते निमित्तरहितो मिथ्यावचो भाषते
नीचोक्तं वचनं शृणोति सहते[8] स्तौति स्वमन्यं जनम् ।
नित्यं निन्दति[9] गर्वितो ऽभिभवति स्पर्धां तनोत्यूर्जिता-
मेवं दुर्जनमस्तशुद्धधिषणं सन्तो वदन्त्यङ्गिनम्[10] ॥ १६ ॥

442) भानोः शीतमतिग्मगोरहि[11]मता शृङ्गात्पयो[12] धेनुतः
पीयूषं विषतो ऽमृताद्विषलता शुक्लत्वमङ्गारतः ।
वह्नेर्वारि ततो ऽनलः[13] सुरसजं निम्बाद् भवेज्जातु चि-
न्नो वाक्यं महितं सतां हतमतेरुत्पद्यते दुर्जनात् ॥ १७ ॥

निम्बागः कटुता नो मुञ्चति । सीरैः सर्वदा विलिखितम् अपि ऊषरं धान्यं नो ददाति । एवम् उत्तमजनैः संसेवितः अपि खलजनः वक्रता न मुञ्चति ॥ १५ ॥ य निमित्तरहित वैर कुरुते, मिथ्या वचः भाषते, नीचोक्त वचनं शृणोति, सहते, स्वं स्तौति, अन्य जन नित्य निन्दति, गर्वितः अभिभवति, ऊर्जिता स्पर्धां तनोति । सन्तः अस्तशुद्धधिषणम् अङ्गिन दुर्जनम् एवं वदन्ति ॥ १६ ॥ जातुचित् भानो शीतं, अतिग्मगो अहिमता, धेनुत शृङ्गात् पय, विषत पीयूषम्, अमृतात् विषलता अङ्गारतः शुक्लत्वं, वह्नेः वारि, तत. अनल, निम्बात् सुरसजं भवेत् । परं हतमते. दुर्जनात् सता महितं वाक्यं नो उत्पद्यते

जिस प्रकार दूध और शहदके घड़ोंसे सींचा गया भी नीमका वृक्ष कडुवेपनको नही छोड़ता है, तथा जिस प्रकार हलोंके द्वारा जोती गई भी ऊसर भूमि कभी अनाजको नही देती है; उसी प्रकार सज्जन पुरुषोके समागममें रहकर भी दुर्जन कभी अपनी कुटिलताको नही छोड़ता ॥ १५ ॥ विशेषार्थ—कितने ही भोले-भाले सज्जनोंका यह विश्वास होता है कि यदि दुर्जन मनुष्यको अपने समागममें रखा जाय तो वह अपनी दुष्टताको छोड़कर सज्जन बन सकता है। ऐसे भोले प्राणियोंको लक्ष्यमें रखकर यहाँ यह बतलाया है कि जैसे सर्प दूधको पी करके भी कभी अपने विषको नही छोड़ता है, जैसे दूध आदि मधुर द्रव द्रव्योंसे सींचा गया भी नीम कभी कडुवेपनको नही छोड़ता है, तथा जैसे अच्छी तरहसे जोती गई भी ऊसर भूमि अपने अनुत्पादन स्वभावको छोड़कर कभी अनाजको नही उत्पन्न करती है वैसे ही सज्जनोंके साथ रह करके भी दुर्जन अपनी दुष्टताको छोड़कर कभी सज्जन नही बन सकता है। इसीलिये तो यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'नीम न मीठा होय खाये गुड़ घीसे'। तात्पर्य यह है कि जिसका जैसा स्वभाव होता है वह कभी छूटता नही है। अतएव हमारे साथ रहनेसे दुर्जन अपनी दुष्टताको छोड़ देगा, इस उत्तम विचारसे भी कभी सज्जन पुरुषोंको दुर्जनकी संगति नहीं करनी चाहिये ॥ १५ ॥ जो प्राणी बिना किसी कारणके दूसरेसे वैर करता है, असत्य वचन बोलता है, नीच पुरुषोंके द्वारा कहे गये वचनको सुनता व सहन करता है, अपनी प्रशंसा करता है, दूसरे जनकी सदा निन्दा करता है, अभिमानको प्राप्त होकर दूसरोंका तिरस्कार करता है, और अन्यके वैभवको देखकर अत्यन्त ईर्ष्या करता है; उस दुष्टबुद्धि प्राणीको सज्जन मनुष्य दुर्जन बतलाते हैं ॥ १६ ॥ कदाचित् सूर्य शीतल हो जाय,

१ स °विषं । २ स यथ for पयः । ३ स निम्बाङ्गः । ४ स न । ५ स विलपितं, विलसितं । ६ स °त्यूषरे । ७ स संसेव्यते । ८ स हसते । ९ स मंदति, नंदवि । १० स त्यंगिना । ११ स °तिमगोवदिता, °हितता । १२ स °त्पयो ऽधेनुतः । १३ स ऽनिलः ।

443) सत्या योनि[1]रुजं वदन्ति यमिनो[2] दम्भं[3] शुचेर्धूर्ततां
लज्जालोर्जडतां पटोर्मुखरतां तेजस्विनो गर्वताम् ।
शान्तस्याक्षमतामृजोरमतितां[4] धर्माथिनो मूर्खता-
मित्येवं गुणिनां [5]गुणास्त्रिभुवने नो[6] दूषिता दुर्जनैः ॥ १८ ॥

444) प्रत्युत्थाति[7] समेति नौति[8] नमति प्रह्लादते सेवते
भुङ्क्ते भोजयते धिनोति वचनैर्गृह्णाति दत्ते पुनः ।
अङ्गं श्लिष्यति संतनोति वदनं विस्फारितार्द्रेक्षणं[9]
चित्तारोपितवक्रिमा[10]नुकुरुते कृत्यं यदिष्टं खलः[11] ॥ १९ ॥

445) सर्वोद्वेगविचक्षणः[12] प्रचुररु[13]मुञ्चन्नवाच्यं विषं
प्राणाकर्षपदोपदेशकुटिलस्वान्तो द्विजिह्वान्वितः ।
भीमभ्रान्तविलोचनो ऽसमगतिः शश्वद्दयावर्जित-
श्छिद्रान्वेषणतत्परो भुजगवद्वर्ज्यो बुधैर्दुर्जनः ॥ २० ॥

॥ १७ ॥ दुर्जना सत्याः योनिरुजं, यमिनः दम्भं, शुचें धूर्तता, लज्जालोः जडता, पटोः मुखरता, तेजस्विना गर्वतां, शान्तस्य अक्षमताम्, ऋजो अमतिता, धर्माथिनः मूर्खता वदन्ति । इत्येवं त्रिभुवने दुर्जनै गुणिना [के] गुणाः नो दूपिता. ॥ १८ ॥ चित्तारोपितवक्रिमा खल. प्रत्युत्थाति, समेति, नौति, प्रह्लादते, सेवते, भुङ्क्ते, भोजयते, वचनै धिनोति, गृह्णाति, पुन दत्ते, अङ्गं श्लिष्यति, वदनं विस्फारितार्द्रेक्षणं संतनोति । यत् इष्टं कृत्यं तदर्थम् अनुकुरुते ॥ १९ ॥ सर्वोद्वेगविचक्षण

चन्द्रमा उष्ण हो जाय, गायके सीगसे दूध निकलने लग जाय, विषसे अमृत हो जाय, अमृतसे विषबेल उत्पन्न हो जाय, अगारसे श्वेतता आविर्भूत हो जाय, अंगार जल करके श्वेत बन जाय, अग्निसे जल प्रगट हो जाय, जलसे अग्नि उत्पन्न हो जाय, और कदाचित् नीममे सुस्वादु रस भले ही प्रगट हो जाय; परन्तु दुष्टबुद्धि दुर्जनसे कभी सज्जन पुरुषोंको प्रशस्त वाक्य नही उपलब्ध हो सकता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सूर्य आदि कभी शीतलता आदिको नही प्राप्त हो सकते है उसीप्रकार दुर्जन मनुष्य कभी सज्जनके समान मधुरभाषी भी नही हो सकता है ॥ १७ ॥ दुर्जन मनुष्य सती (शीलवती) स्त्रीके योनिका रोग, व्रती जनके कपट, सदाचारीके धूर्तता, लज्जायुक्त मनुष्यके मूर्खता, चतुर वक्ताके वाचालता, पराक्रमी जनोके अभिमानता, शान्त (सहनशील) पुरुषके दुर्बलता, सरल (निष्कपट) मनुष्यके बुद्धिहीनता और धर्माभिलाषी जनके मूर्खता बतलाते हैं । इस प्रकारसे तीनों लोकोंमें गुणी जनोंके ऐसे कौनसे गुण शेष हैं जिन्हें कि दुर्जन मनुष्य दोषयुक्त न बतलाते हों ? अर्थात् वे गुणी जनोंके सबही गुणोंको सदोष बतलाया करते हैं ॥ १८ ॥ दुर्जन मनुष्य दूसरोंको देखकर उठ खड़ा होता है, आगे बढ़कर स्वागत करता है, स्तुति करता है, नमस्कार करता है, आनन्द प्रकट करता है, सेवा करता है, भोजन करता व कराता है, वचनों के द्वारा प्रसन्न करता है, ग्रहण करता है, दान देता है, शरीरका आलिंगन करता है, तथा आँखोंमें पानी भरकर उन्हें फाड़ता हुआ मुखसे हर्ष प्रकट करता है । इस प्रकार मनमें कुटिलताको धारण करके दुष्ट पुरुष अपनेको जो कार्य अभीष्ट है उसीके लिये सब करता है ॥ १९ ॥ जो दुर्जन सर्पके समान समस्त प्राणियोंको उद्विग्न करनेमें चतुर है, अतिशय क्रोधी है, विषके

---

१ स येनि°, सत्या (?) यो निरुजं । २ स यमनो, यमिनं । ३ स दंभे । ४ स °रमितता । ५ स गुण° । ६ स ना । ७ स प्रत्युच्छाति । ८ स स्तौति । ९ स विस्कारिताईक्षणां । १० स °वक्रिमो, चितांगेपिचक्रिमान° । ११ स जनः for खलः । १२ स °क्षणा । १३ स प्रचुररुन्मु° °रुण्मु° ।

446) धर्माधर्मविचारणा[1] विरहिताः सन्मार्गविद्वेषिणो
निन्द्याचारविधौ समुद्यतधियः [2]स्वार्थैकनिष्ठापरा. ।
दुःखोत्पादकवाक्य[3]भाषणरताः सर्वाप्रशंसाकरा
द्रष्टव्या अपरिग्रह[4]व्रतिसमा विद्वज्जनैर्दुर्जना ॥ २१ ॥

प्रचुररुक् [रुट्] अवाच्यं विषं मुञ्चन्, प्राणाकर्षपदोपदेशकुटिलस्वान्तः, द्विजिह्वान्वित. भीमभ्रान्तविलोचनः, असमगतिः, शश्वद्दयावर्जितः, छिद्रान्वेषणतत्पर', भुजगवत् दुर्जन बुधै. वर्ज्य. ॥ २० ॥ विद्वज्जनै. धर्माधर्मविचारणाविरहिताः, सन्मार्गविद्वेषिण., निन्द्याचारविधौ समुद्यतधिय , स्वार्थैकनिष्ठापराः, दुःखोत्पादकवाक्यभाषणरताः, सर्वाप्रशंसाकराः, दुर्जनाः अपरिग्रहव्रतिसमा द्रष्टव्या. ॥ २१ ॥ मार्दवत. मानं, प्रशमतः क्रुधं, संतोषतः लोभं, तु आर्जवतः माया, अवमते. जनो, जिह्वा-

---

समान कष्टदायक न कहने योग्य वचनको बोलता है; जिसका व्यवसाय, उपदेश और कुटिल मन दूसरोंके प्राणोंका घातक है—उन्हे कष्टमे डालता है, जो दो जीभोंसे सहित है—अपने कहे हुए वचनोंको बदलता रहता है, जिसके नेत्र भयानक एवं चंचल हैं, जिसकी प्रवृत्ति विषम है, जो निरन्तर दयासे रहित है, तथा दूसरोंके दोषोंके देखनेमें तत्पर रहता है; उससे विद्वानोको दूर ही रहना चाहिये ॥ २० ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार सर्प सब प्राणियोंको उद्विग्न करता है उसी प्रकार दुर्जन भी सब प्राणियोंको उद्विग्न करता है, अतिशय क्रोधी जैसे सर्प होता है वैसे ही वह दुर्जन भी अतिशय क्रोधी होता है, सर्प यदि मुँहसे प्राणघातक विषको उगलता है तो दुर्जन भी अपने मुँहसे विषके समान कष्टकारक निन्द्य वचनको निकालता है, सर्पका स्थान (स्थिति) जहाँ प्राणघातक व अन्तःकरण कुटिल होता है वहाँ दुर्जनका स्थान व उपदेश भी प्राणघातक तथा अन्तःकरण कुटिल होता है, सर्प यदि दो जीभोंसे सहित होता है तो दुर्जन भी दो जीभोंसे सहित होता है—वह पहले जिस बातको जिस रूपसे कहता है पीछे उसे बदल कर अन्यथा रूपसे कहता है तथा एकसे कुछ कहता है तो दूसरे कुछ और ही कहता है, दृष्टि जैसे भ्रान्त व भयानक सर्पकी होती है वैसे ही दुर्जनकी भी वह होती है, सर्प यदि असमगति है—कुटिल चालसे चलता है—तो दुर्जन भी असमगति है ही—वह कुटिल (मायापूर्ण) व्यवहार करता है, दयासे रहित जैसे सर्प होता है वैसे ही दुर्जन भी दयासे रहित होता है, तथा सर्प जहाँ छिद्र (बिल) के खोजनेमे उद्युक्त रहता है वहाँ दुर्जन भी छिद्र (दोष) के खोजनेमें उद्युक्त रहता है। इस प्रकारसे सर्पके सब ही गुण उस दुर्जनमें पाये जाते हैं। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य सर्पको प्राणघात जानकर जैसे उससे सदा दूर रहते हैं वैसे ही दुर्जनको भी अनेक भवमें कष्टप्रद जानकर उससे भी उन्हे सदा दूर रहना चाहिये ॥ २० ॥ जो दुर्जन धर्म-अधर्मके विचारसे रहित, समीचीन मार्गसे द्वेष करनेवाले, निन्दनीय आचरण करनेमें उद्यत, स्वार्थकी सिद्धिमें तत्पर, दुखको उत्पन्न करनेवाले वाक्योके बोलनेमें उद्यत और सबकी निन्दा करनेवाले हैं उन्हें विद्वान् मनुष्य परिग्रहके नियमसे रहित अव्रतियोके समान समझें ॥ २१ ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार अव्रती जन धर्म-अधर्मका विचार नहीं करते हैं उसी प्रकार दुर्जन भी धर्म-अधर्मका विचार नही करते हैं, समीचीन मार्ग मोक्षमार्गसे जैसे अव्रती द्वेष करते हैं—उससे विमुख रहते हैं—वैसे ही दुर्जन भी उससे (समीचीन मार्ग-सत्प्रवृत्तिसे) द्वेष करते हैं, निन्द्य आचरणमें जैसे अव्रती जनकी बुद्धि प्रवर्तमान होती है वैसे ही दुर्जनोंकी भी बुद्धि उसमें प्रवर्तमान रहती है, अपने स्वार्थकी सिद्धिका ध्यान जैसे अव्रती जनको रहता है वैसे ही वह दुर्जनोंको भी

---

१ स °विचारिणा°। २ स स्वार्थोक°। ३ स °वाच्य°। ४ स °ग्रहा° सम।

447) मानं मार्दवतः क्रुधं प्रशमतो लोभं तु संतोषतो
मायामार्जवतो[1] जनीमवमतेर्जिह्वाजयान्मन्मथम् ।
ध्वान्तं भास्करतो ऽनलं सलिलतो मन्त्रात्समीराशनं
नेतुं शान्तिमलं कुतो ऽपि न खलं मर्त्यो निमित्ताद्भुवि ॥ २२ ॥

448) वीक्ष्या[2]त्मीयगुणैर्मृणालधवलैर्वर्धमानं जनं
राहुर्वा सितदीधिति[3] सुखकरैरानन्दयन्तं जगत् ।
नो नीच. सहते निमित्तरहितो न्यक्कारबद्ध[4]स्पृहः
किंचिन्नात्र तदद्भुतं खलजने [5]येनेदृगेव स्थितिः ॥ २३ ॥

जयात् मन्मथं, भास्करतः ध्वान्तं, सलिलतः अनलं, मन्त्रात् समीराशन शान्ति नेतुम् अलम् । भुवि मर्त्य. कुतोऽपि निमित्तात् खलं (शान्ति नेतुं) न (अलम्) ॥ २२ ॥ मृणालधवलै· सुख-करै. जगत् आनन्दयन्तं सितदीधिति राहुर्वा आत्मीयगुणै: वर्धमानं जनं वीक्ष्य निमित्तरहित:, न्यक्कारबद्धस्पृहः नीच नो सहते । अत्र किंचित् तत् अद्भुतं न । येन खलजने ईदृगेव स्थितिः [भवति] ॥ २३ ॥ यद्वत् काका. करटिनः मौक्तिकसंहति त्यक्त्वा पलं गृह्णन्ति । मक्षिका: चन्दनं त्यक्त्वा कुथिते

रहता ही है, जिसप्रकार दूसरोंको दुख देनेवाला भाषण अव्रती करते हैं उसीप्रकार दुर्जन भी वह करते ही हैं, दूसरोंकी निन्दा जैसे अव्रती करते हैं वैसे ही दुर्जन भी दूसरोंकी निन्दा करते ही हैं। इसीलिये जिसप्रकार कोई भी विचारशील मनुष्य अव्रती जनके संसर्गमें नही रहना चाहता है उसीप्रकार उन्हे दुर्जनके भी संसर्गमें नहीं रहना चाहिये ॥ २१ ॥ मानवको मार्दव गुणसे शान्त किया जा सकता है, क्रोधको प्रशम (क्षमा) गुणसे शान्त किया जा सकता है, लोभको सन्तोषसे शान्त किया जा सकता है, मायाको आर्जवसे–मन वचन व कायकी सरलतासे शान्त किया जा सकता है, स्त्रीको अपमानित करके शान्त किया जा सकता है, कामको जिह्वा इन्द्रियके जीतनेसे–कामोद्दीपक गरिष्ठ भोजनके परित्यागसे–शान्त किया जा सकता है, अन्धकारको सूर्यसे शान्त किया जा सकता है, अग्निको पानीसे शान्त किया जा सकता है, तथा सर्पको भी मन्त्रसे शान्त किया जा सकता है, परन्तु मनुष्य पृथ्वी पर दुर्जनको किसी भी निमित्तसे शान्त नही कर सकता है ॥ २२ ॥ जिसप्रकार कमलनालके समान श्वेत एवं सुखकारक अपनी किरणोके द्वारा ससारको आनन्दित करनेवाले चन्द्रको देखकर उसे राहु सहन नही करता है–वह उसे ग्रस्त कर लेता है–उसीप्रकार कमलनालके समान श्वेत (प्रशस्त) एवं सुख कारक आत्मीय गुणोंसे–वृद्धिको प्राप्त होनेवाले मनुष्यको देखकर यदि–अकारण ही तिरस्कार करनेकी इच्छा रखनेवाला नीच (दुष्ट) पुरुष सहन नही करता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नही है। कारण यह कि दुष्ट मनुष्यकी ऐसी ही स्थिति है–उसका स्वभाव ही ऐसा है ॥ २३ ॥ जिसप्रकार कौवे हाथीके मुक्तासमूहको छोड़कर मांसको ग्रहण करते है, जिसप्रकार मक्खियाँ चन्दनको छोड़कर दुर्गन्धयुक्त सड़े गले पदार्थपर जाती हैं व वहाँ नाशको प्राप्त होती हैं, तथा जिसप्रकार कुत्ता मनोहर एवं सुस्वादु अनेक प्रकारके भोजनको

---

१ स °व्रतोजनी° । २ स वीक्षा° । ३ स ° दीधर्ति मुख । ४ स बद्धः स्पृहः । ५ स येन वृकेव, येन दृकेव ।

449) त्यक्त्वा[1] मौक्तिकसंहतिं करटिनो गृह्णन्ति काकाः पलं
त्यक्त्वा चन्दनमाश्रयन्ति [2]कुथिते ऽभ्येत्य क्षयं मक्षिकाः ।
हित्वान्नं विविधं मनोहररसं श्वानो मलं भुञ्जते
यद्वल्लान्ति[3] गुणं विहाय सततं दोषं तथा दुर्जनाः ॥ २४ ॥
इति दुर्जननिरूपण[4]चतुर्विंशतिः ॥ १७ ॥

अभ्येत्य क्षयम् आश्रयन्ति । श्वानः विविधं मनोहररसम् अन्नं हित्वा मलं भुञ्जते । तथा दुर्जनाः गुणं विहाय सततं दोषं लान्ति ॥ २४ ॥

इति दुर्जननिरूपणचतुर्विंशतिः ॥ १७ ॥

छोड़कर मलका भक्षण करता है; उसी प्रकार दुष्ट जन गुणको छोड़कर निरन्तर दोषको ग्रहण करते हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार चौबीस श्लोकोंमें दुर्जनका निरूपण हुआ ॥ १७ ॥

●

---

१ स मुक्ता । २ स कुपितेभ्यो ऽतिक्षयं, कुथितेभ्येति क्षयं । ३ स यद्वल्लाति । ४ स °निरूपणम् ।

[१८. सुजननिरूपणचतुर्विंशतिः]

450) ये जल्पन्ति व्यसनविमुखां भारतीमस्तदोषां
ये[1] श्रीनीतिद्युतिमतिधृतिप्रीतिशान्तीर्ददन्ते[2] ।
येभ्यः कीर्तिर्विगलितमला जायते जन्मभाजां
शश्वत्सन्तः कलिलहतये ते नरेणात्र सेव्याः ॥ १ ॥

451) नैतच्छ्यामा चकितहरिणीलोचना कीरनासा[3]
मृद्वालापा कमलवदना पक्वबिम्बाधरोष्ठी ।
मध्ये क्षामा विपुलजघना कामिनी कान्तरूपा
यन्निर्दोषं वितरति सुखं संगतिः सज्जनानाम् ॥ २ ॥

452) यो नाक्षिप्य प्रवदति कथां नाभ्यसूयां विधत्ते
न स्तौति स्वं हसति न परं वक्ति नान्यस्य मर्म[4] ।
हन्ति क्रोधं स्थिरयति शमं[5] प्रीतितो न व्यपैति[6]
सन्तः सन्तं व्यपगतमदं तं सदा वर्णयन्ति ॥ ३ ॥

ये व्यसनविमुखाम् अस्तदोषा भारती जल्पन्ति, ये श्रीनीतिद्युतिमतिधृतिप्रीतिशान्ती. ददन्ते । येभ्यः जन्मभाजा विगलितमला कीर्तिः जायते, ते सन्तः अत्र नरेण कलिलहतये शश्वत् सेव्या ॥ १ ॥ सज्जनाना संगतिः यत् निर्दोषं सुखं वितरति एतत् श्यामा, चकितहरिणीलोचना, कीरनासा, मृद्वालापा, कमलवदना, पक्वबिम्बाधरोष्ठी, मध्ये क्षामा, विपुलजघना कान्तरूपा कामिनी न वितरति ॥ २ ॥ यः आक्षिप्य कथा न प्रवदति, अभ्यसूया न विधत्ते, स्वं न स्तौति, परं न हसति, अन्यस्य मर्म न वक्ति, क्रोध हन्ति, शमं स्थिरयति, प्रीतित न व्यपैति । सन्त' व्यपगतमदं तं सदा सन्तं वर्णयन्ति ॥ ३ ॥

जो सज्जन व्यसनोसे विमुख करनेवालो निर्मल वाणोको बोलते हैं; जो लक्ष्मी, नीति, कान्ति, बुद्धि, धैर्य, प्रीति एवं शान्तिको प्रदान करते हैं; जिनकी संगतिसे प्राणियोंकी निर्मल कीर्ति फैलती है; मनुष्यको यहाँ अपने पापको नष्ट करनेके लिये निरन्तर उन सज्जन पुरुषोंकी सेवा करना चाहिये ॥ १ ॥ सज्जन पुरुषोंकी संगति जिस निर्दोष सुखको देती है उसे वह सुन्दर स्त्री नही देती जो कि श्याम वर्ण, भयभीत हिरणीके समान चंचल नेत्रों वाली, तोतेके समान नाकसे सहित, मृदुभाषिणी, कमलके समान सुन्दर मुखवाली, पके कुंदरु फलके समान लाल अधरोष्ठसे सुशोभित, मध्यमे कृश और विपुल जघनवाली है ॥ २ ॥ जो आक्षेप करके कथाको नही कहता है—किसी व्यक्ति विशेषको लक्ष्य करके प्रवचन नही करता है, जो ईर्ष्याको नहीं करता है, अपनी प्रशंसा नहीं करता है, दूसरेकी हँसी नही करता है—निन्दा नहीं करता है, दूसरेके रहस्यको नहीं कहता है, क्रोधको नष्ट करता है, शान्तिको स्थिर करता है, और प्रीतिसे च्युत नहीं होता है—उसे स्थिर रखता है; उस निरभिमानी मनुष्यको विद्वान् पुरुष सज्जन कहते हैं ॥ ३ ॥ वृक्ष फलोंको बार-बार धारण करके नम्रतापूर्वक दूसरोंको देते हैं, मेघ बार-बार जलको प्राप्त करके संसारका पोषण करनेके लिये वर्षा करते हैं, तथा सिंह

---

१ स यो प्री० । २ स शातिर्दहंते । ३ स °नाशा । ४ स मर्मं, मर्मां । ५ स समं । ६ स व्यपीति व्ययींति, व्ययींति, व्ययीनि ।

453) धृत्वा धृत्वा ददति तरवः सप्रणामं फलानि
प्राप्तं प्राप्तं भुवनभृतये वारि वार्दाः[1] क्षिपन्ति ।
हत्वा हत्वा वितरति हरिर्दन्तिनः संश्रितेभ्यो[2]
भो[3] साधूनां भवति भुवने[4] को ऽप्यपूर्वो ऽत्र पन्थाः ॥ ४ ॥

454) वार्धेश्चन्द्रः किमिह कुरुते नाकि[5]मार्गस्थितो ऽपि
वृद्धौ वृद्धिं श्रयति यदयं[6] तस्य[7] हानौ च हानिम् ।
अज्ञातो[8] वा भवति महतः को ऽप्यपूर्वस्वभावो
देहेनापि व्रजति[9] तनुतां येन दृष्ट्वान्यदुःखम् ॥ ५ ॥

455) सत्यां[10] वाचां[11] वदति कुरुते नात्मशंसान्यनिन्दे
नो मात्सर्यं श्रयति तनुते नापकारं[12] परेषाम् ।
नो[13] शप्तो ऽपि व्रजति विकृतिं नैति मन्युं[14] कदाचित्
केनाप्येतन्निगदितमहो चेष्टितं सज्जनस्य ॥ ६ ॥

तरव. फलानि धृत्वा धृत्वा सप्रणाम ददति । वार्दाः प्राप्तं प्राप्तं वारि भुवनभृतये क्षिपन्ति । हरिः दन्तिन. हत्वा हत्वा संश्रितेभ्यः वितरति । भो अत्र भुवने साधूना कः अपि अपूर्व. पन्थाः भवति ॥ ४ ॥ नाकिमार्गस्थितः अपि चन्द्रः इह वार्धेः किं करोति यत् अय तस्य वृद्धौ वृद्धिं हानौ च हानिं श्रयति । वा महतः अज्ञात. कः अपि अपूर्वस्वभाव. भवति, येन अन्य-दुःखं दृष्ट्वा देहेन अपि तनुता व्रजति ॥ ५ ॥ [सज्जनः] सत्यां वाचा वदति, आत्मशंसान्यनिन्दे न कुरुते, मात्सर्यं नो श्रयति, परेषाम् अपकार न तनुते, शप्तः अपि विकृतिं नो व्रजति, कदाचित् मन्युं न एति । अहो केन अपि सज्जनस्य एतत्

हाथियोंको बार-बार मार करके आश्रित अन्य प्राणियोंके लिये देते हैं। ठीक है, यहां लोकमें सज्जनोका मार्ग कुछ अपूर्व ही होता है—उनकी प्रवृत्ति अनोखी ही होती है ॥ ४ ॥ आकाशमार्गमें स्थित चन्द्र भला समुद्रका क्या करता है जिससे कि वह उसकी (चन्द्रको) वृद्धि होनेपर बढता है और हानिके होनेपर हानिको प्राप्त होता है। अथवा ठीक ही है-महापुरुषका कोई ऐसा अज्ञात अनुपम स्वभाव होता है कि जिससे वह दूसरोंके दुःखको देखकर शरीरसे भी कृशताको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ विशेषार्थ—सज्जन मनुष्यका ऐसा अनोखा स्वभाव होता है कि जिससे वह दूसरोंके दुखको देखकर दुखी और उनके सुखको देखकर सुखी होते हैं। यह उनका व्यवहार उनके शरीरसे प्रगट होता है। कारण कि जब वे दूसरोंको कष्टमें देखते हैं तो उनका शरीर कृश होने लगता है तथा जब वे अन्य जनको सुखी देखते हैं तो उनका वह शरीर स्वस्थ दिखने लगता है। उदाहरणके रूपमें देखिये कि चन्द्र आकाश में उतने ऊपर रहता है जो कि समुद्रका कुछ भी भला बुरा नहीं करता है, फिर भी उसकी वृद्धिको देखकर वह समुद्र तदनुसार शुक्ल पक्षमें वृद्धिको प्राप्त होता है और उसकी हानिको देखकर वह कृष्ण पक्षमें स्वयं भी हानिको प्राप्त होता है। सज्जनोंकी इस सज्जनताका परिचय अन्य मनुष्य उनके शरीरको देखकर भले ही प्राप्त कर लें, परन्तु वे स्वयं उसे कभी प्रगट नहीं करते हैं-अन्य जनोंका उपकार करके भी वे कभी उसे दूसरोंमें प्रगट नहीं होने देते ॥ ५ ॥ जो सज्जन सत्य वचन बोलता है, अपनी प्रशंसा व दूसरेकी निन्दा नहीं करता है, मत्सरताका आश्रय नहीं लेता है-कभी किसीसे इर्ष्या नहीं करता है,

---

१ स वार्द्धा । २ स सश्रुतेभ्यो, संशृतेभ्यो, संसृतेभ्यो, सशृतेभ्यो । ३ स om. भो, adds वा । ४ स भवने । ५ स °मार्गे° । ६ स यदियं । ७ स om तस्य । ८ स ज्ञातो । ९ स om. व्रजति to श्रयति in Verse 6 । १० स सत्यं । ११ स वाचं । १२ स तापकारं । १३ स नि for नो । १४ स मान्यं, मन्यं ।

456) नष्टतन्द्रो भुवनभवनो[1]द्भूततत्त्वप्रदर्शी
सम्यग्मार्गप्रकटनपरो ध्वस्तदोषाकरश्रीः ।
पुष्यत्पद्मो[2] गलिततिमिरो दत्तमित्रप्रतापो
राजत्तेजा दिवससदृशः सज्जनो भाति लोके ॥ ७ ॥

चेष्टितं निगदितं [किम्] ॥ ६ ॥ लोके नष्टतन्द्रः, भुवनभवनोद्भूततत्त्वप्रदर्शी, सम्यङ्मार्गप्रकटनपरः, ध्वस्तदोषाकरश्रीः, पुष्यत्पद्मः, गलिततिमिरः, दत्तमित्रप्रतापः, राजत्तेजा सज्जनः, दिवससदृशः भाति ॥ ७ ॥ जगति मान्याचाराः ये अनपेक्षाः सन्तः सापकारे जने कारुण्यं विदधति, धरित्र्याः मण्डनं ते जनाः विरलाः । ये स्वस्वकृत्यप्रसिद्ध्यै ध्रुवम् उपकृतिं कुर्वन्ति,

---

दूसरोंका अपकार नहीं करता है, कोई यदि शाप देता है—गाली देता है या दुष्ट वचन बोलता है—तो भी जो विकारको नहीं प्राप्त होता है और न कभी क्रोध करता है आश्चर्य है कि उस सज्जन पुरुषकी इस चेष्टाको किसीने कहा है क्या ? अर्थात् उसकी प्रवृत्ति अनिर्वचनीय है । अथवा आश्चर्य है कि उस सज्जनकी इस चेष्टाका सद्व्यवहारका किसीने निरूपण किया है ॥ ६ ॥ आलस्यसे रहित, लोकरूप घरमे उत्पन्न हुए तत्त्वोंको दिखलानेवाला, समीचीन मार्गको प्रगट करनेवाला, पद्मा (लक्ष्मी) को पुष्ट करनेवाला, अज्ञानरूप अन्धकारसे रहित, मित्रको प्रताप देनेवाला और तेजसे शोभायमान सज्जन लोकमें दिनके समान सुशोभित होता है ॥ ७ ॥ विशेषार्थ—यहाँ सज्जनकी शोभा दिनके समान बतलाई गई है । वह इस प्रकारसे—जिसप्रकार दिन दूसरोंकी तन्द्राको नष्ट करता है—उनकी निद्रा एव आलस्यको दूर करता है—उसी प्रकार सज्जन भी स्वयं निरालस होकर दूसरोंके भी आलस्यको दूर करता है, जिसप्रकार दिन अन्धकारके दूर हो जानेसे संसारकी समस्त वस्तुओंको दिखलाता है उसी प्रकार सज्जन भी लोककी समस्त वस्तुओंको दिखलाता है—अपने सदुपदेशके द्वारा समस्त वस्तुओके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करता है, दिन यदि रास्तागीरोके लिये जानेके योग्य मार्गको—रास्तेको—दिखलाता है तो सज्जन मनुष्य भी आत्महितैषी जनोके लिये योग्य मार्गको दिखलाता है—मोक्षके मार्गभूत सम्यग्दर्शनादिका उपदेश देता है, दिन जहाँ दोषाकरकी श्रीको नष्ट करता है—रात्रिको करनेवाले चन्द्रकी कान्तिको फीका करता है—वहाँ सज्जन भी उस दोषाकरकी श्रीको नष्ट करता है—दोषोंकी खानिभूत दुर्जनकी शोभा (प्रभाव) को नष्ट करता है, दिन यदि सूर्यका उदय हो जानेसे कमलोंको प्रफुल्लित करता है तो सज्जन पुरुष पद्माको प्रफुल्लित करता है—उसे पुष्ट करता है, दिन जैसे रात्रिके अन्धकारको नष्ट कर देता है वैसे ही सज्जन भी अन्धकारसे रहित होकर—अज्ञानसे स्वयं रहित होकर दूसरोके भी अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता है, दिन यदि मित्रको सूर्यको—प्रतापशाली करता है तो सज्जन भी मित्रको—स्नेही बन्धुजनको प्रतापशाली करता है, तथा जिसप्रकार दिन सूर्यके तेजसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह सज्जन भी अपने ज्ञानरूप तेजसे सुशोभित होता है । इसीलिये जिसप्रकार सब ही जन दिनसे प्रेम करते हैं उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्योंको सज्जनके प्रति भी प्रेमभाव रखकर सदा उसको ही संगतिमें रहना चाहिये ॥ ७ ॥ जो सज्जन सदाचरणसे संयुक्त होते हुए अपने अपकारी जनके प्रति भी किसी प्रकारके प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके दयाका व्यवहार करते हैं वे पृथ्वीके भूषणभूत सज्जन संसारमें विरले ही हैं—थोड़े-से ही हैं । किन्तु जो जन

---

१ स °भविनो°, °भवतो उद्भूत° । २ स पुष्पत्पद्मो ।

457) ये कारुण्यं विदधति[1] जने सापकारे ऽनपेक्षा[2]
मान्याचारा जगति विरला मण्डनं ते धरित्र्याः ।
ये कुर्वन्ति ध्रुवमुपकृतिं[3] स्वस्वकृत्यप्रसिद्ध्यै[4]
मर्त्याः सन्ति प्रतिगृह[5]ममी काश्यपीभारभूताः ॥ ८ ॥

458) सम्यग्धर्मव्यवसितपरः पापविध्वंसदक्षो[6]
मित्रामित्रस्थित[7]सममनाः सौख्यदुःखैकचेताः ।
ज्ञानाभ्यासात् प्रशमितमदक्रोधलोभप्रपञ्चः
सद्वृत्ताढ्यो मुनिरिव जने[8] सज्जनो राजते ऽत्र ॥ ९ ॥

459) यः[9] प्रोत्तुङ्गः परमगरिमा[10] स्थैर्यवान्वा नगेन्द्रः
पद्मानन्दी विहतजडिमा[11] भानुवद्धूतदोषः ।
शीतः सोमा[12]मृतमयवपुश्चन्द्रवद्ध्वान्तघाती
पूज्याचारो जगति सुजनो भात्यसौ ख्यातकीर्तिः ॥ १० ॥

अमी काश्यपीभारभूता. मर्त्याः प्रतिगृहं सन्ति ॥ ८ ॥ अत्र जने सम्यग्धर्मव्यवसितपर, पापविध्वंसदक्ष., मित्रामित्रस्थित-सममना', सौख्यदुःखैकचेता., ज्ञानाभ्यासात् प्रशमितमदक्रोधलोभप्रपञ्च, सद्वृत्ताढ्यः मुनिरिव सज्जन' राजते ॥ ९ ॥ नगेन्द्रो वा यः जगति स्थैर्यवान् प्रोत्तुङ्गः परमगरिमा, य. भानुवत् पद्मानन्दी, विहतजडिमा धूतदोष, यः चन्द्रवत् शीत.

निश्चयत. अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोका उपकार करते हैं वे पृथ्वीके भारभूत मनुष्य प्रत्येक घरमें विद्यमान हैं–बहुत हैं ॥ ८ ॥ यहाँ लोकमें सज्जन मनुष्य मुनिके समान शोभायमान होता है। कारण यह कि जैसे मुनि समीचीन धर्मके व्यवसाय (आचरण) में लीन रहता है वैसे ही सज्जन भी उसमे लीन रहता है, पापके नष्ट करनेमें जैसे मुनि समर्थ होता है वैसे ही उसमे सज्जन भी समर्थ होता है, मित्र और शत्रुकी स्थितिमें जिसप्रकार मुनिका मन समान रहता है–राग-द्वेषसे सहित नही होता है–उसी प्रकार सज्जनका मन भी उक्त शत्रु और मित्रकी स्थितिमे समान ही रहता है, यदि सुख और दुखमें मुनि एकचित्त–हर्ष-विषादसे रहित होता है तो सज्जन भी उनमे एकचित्त रहता है, जिसप्रकार ज्ञानके अभ्याससे मद (गर्व), क्रोध और लोभके विस्तार-को मुनि शान्त करता है उसी प्रकार सज्जन भी उन्हे शान्त करता है, तथा जिसप्रकार समीचीन आचरणसे सहित मुनि होता है उसी प्रकार उससे सहित सज्जन भी होता ही है ॥ ९ ॥ जो सुमेरुके समान उन्नत, अतिशय गुरुत्वको धारण करनेवाला एव स्थिर होता है; जो सूर्यके समान निर्दोष, पद्मानन्दी एवं जडिमाको नष्ट करने-वाला है; तथा जो चन्द्रमाके समान शीत, सोम व अमृतमय शरीरसे सहित और अन्धकारको नष्ट करनेवाला है; वह उत्तम आचारवाला सज्जन लोकमें सुशोभित होता है। उसकी प्रसिद्ध कीर्ति समस्त दिशाओको व्याप्त करती है ॥ १० ॥ विशेषार्थ—जिसप्रकार सुमेरु उन्नत (ऊँचा), अतिशय गरिमा (भारीपन) से सहित और स्थिर (अडिग) है उसी प्रकार सज्जन भी उन्नत–उत्तमोत्तम गुणोका धारक, गरिमा (आत्म गौरव) से सहित और स्थिर–सम्पत्ति व विपत्तिमें समान तथा योग्य मार्गसे विचलित न होनेवाला होता है; अतएव वह सुमेरुके समान है। जिसप्रकार सूर्य पद्मानन्दी-कमलोंको विकसित करनेवाला, जडिमा (शैत्य) का विघातक और धूत-

---

१ स विदधते । २ स सापकारिनपेक्षा, शाप° पेक्षा, °कारेणपेक्षा । ३ स °मपकृतिं । ४ स °सिद्धौ । ५ स प्रति-ग्रह° । ६ स °दक्षौ । ७ स °स्थिरसम° । ८ स जनो । ९ स यत्प्रो° । १० स °गरिमास्थै° । ११ स विहितजडिमो । १२ स सोमो ।

460) तृष्णां छिन्ते[1] शमयति मदं ज्ञानमाविष्करोति
नीतिं सूते हरति विपदं[2] संपदं संचिनोति ।
पुंसां लोकद्वितयशुभदा संगतिः सज्जनानां
किं वा कुर्यान्न फलममलं दुःखनिर्नाशदक्षा[3] ॥ ११ ॥

461) चित्ताह्लादि[4] व्यसनविमुखं[5] शोकतापापनोदि
प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि[6] ।
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमदं[7] सार्थकं मुक्त[8]बाधं
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः ॥ १२ ॥

462) कोपो विद्युत्स्फुरित[9]तरलो ग्रावरेखेव मैत्री
मेरुस्थैर्यं चरित[10]मचलः सर्वजन्तूपचारः ।
बुद्धिर्धर्मग्रहणचतुरा वाक्य[11]मस्तोपतापं[12]
किं[13] पर्याप्तं न सुजनगुणैरेभिरेवात्र लोके ॥ १३ ॥

सोमामृतमयवपुः, ध्वान्तघाती, ख्यातकीर्तिः, पूज्याचारः असौ सुजनः भाति ॥ १० ॥ लोकद्वितयशुभदा दुःखनिर्नाशदक्षा सज्जनानां संगतिः पुंसां तृष्णां छित्ते, मदं शमयति, ज्ञानम् आविष्करोति, नीतिं सूते, विपदं हरति, संपदं संचिनोति । किं वा अमलं फलं न कुर्यात् ॥ ११ ॥ यः चित्ताह्लादि, व्यसनविमुखं, शोकतापापनोदि, प्रज्ञोत्पादि, श्रवणसुभगं, न्यायमार्गानुयायि, तथ्यं, पथ्यं, व्यपगतमदं, सार्थकं, मुक्तबाधं निर्दोषं वचः रचयति, बुधाः तं सन्तम् आहुः ॥ १२ ॥ [सतां]

दोष–दोषा (रात्रि) के संयोगसे रहित होता है उसी प्रकार सज्जन भी पद्मानन्दी–पद्मा (लक्ष्मी) को आनन्दित करनेवाला, जडिमा (अज्ञानता) का विघातक और धूतदोष–दोषोसे रहित होता है; अतएव वह सूर्यके समान है। जिसप्रकार चन्द्रमा शीत (शीतल), सोम (अमृतको उत्पन्न करनेवाला), अमृतमय शरीरसे सहित और अन्धकारका विनाशक होता है उसी प्रकार सज्जन भी शीत–जीवको सन्तप्त करनेवाले क्रोधादिसे रहित, सोम व अमृतमय शरीरसे सहित प्राणियोको आह्लाद कारक शान्त शरीरसे सहित और अज्ञानरूप अन्धकारका विनाशक होता है, अतएव चन्द्रमाके भी समान है। इसीलिये उसका यश सब दिशाओंमे व्याप्त रहता है। उसकी सदाचारिताके कारण लोग उसकी पूजा करते है ॥ १० ॥ प्राणियोके लिये दोनों ही लोकोंमे उत्तम फल-को देनेवाली सज्जनोंकी सगति विषयतृष्णाको नष्ट करती है, गर्वको शान्त करती है, समीचीन ज्ञानको प्रगट करती है, नीति (न्याय आचरण) को उत्पन्न करती है, विपत्तिको हरती है और सम्पत्तिको संचित करती है। अथवा ठीक ही है–जो सज्जन संगति प्राणियोके समस्त दुःखोके नष्ट करनेमें समर्थ है वह कौन-से निर्दोष फल-को नही उत्पन्न कर सकती है ? अर्थात् वह सब ही उत्तम फलको उत्पन्न करती है ॥ ११ ॥ जो वचन मनको प्रमुदित करता है, द्यूतादि व्यसनोसे विमुख करता है, शोक व सन्तापको नष्ट करता है, बुद्धिको विकसित करता है, कानोंको प्रिय लगता है, न्यायमार्गका अनुसरण करता है, सत्य है, हितकारक है, अभिमानसे रहित है, सार्थक है और बाधासे रहित है, ऐसे निर्दोष वचनको जो रचता है–बोलता है–उसको पण्डित जन सज्जन बतलाते हैं ॥ १२ ॥ सज्जनोंका क्रोध बिजलीकी चमकके समान चंचल है–शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है, मित्रता

---

१ स तृष्णा चित्ते । २ स विपदा संपदा । ३ स °दक्ष्या, °दक्षाः । ४ स °ल्हादिव्यसन° । ५ स °मुख° । ६ स °नुजायि । ७ स °मल । ८ स मुक्ति° । ९ स °त्स्फुरति तरलो । १० स चरत°, चरति° । ११ स वाच्य° । १२ स °पपातं । १३ स om. किं ।

463) जातु स्थैर्याद्विचलति[1] गिरिः शीततां याति वह्नि-
र्यादोनाथः स्थितिविरहितो मारुतः स्तम्भमेति ।
तीव्रश्चन्द्रो भवति दिनपो जायते चाप्रतापः
कल्पान्ते ऽपि व्रजति विकृतिं सज्जनो न स्वभावात् ॥ १४ ॥

464) वृत्तत्यागं विदधति न ये नान्यदोषं वदन्ते[2]
नो याचन्ते सुहृदमधनं नाशतो नापि दीनम् ।
नो सेवन्ते विगतचरितं कुर्वते नाभिभूतिं[3]
नो लङ्घन्ते क्रममलिनं सज्जनास्ते भवन्ति ॥ १५ ॥

465) मातृस्वामिस्वजनजनकभ्रातृभार्याजनाद्या
दातुं शक्तास्तदिह न फलं सज्जना यद्ददन्ते ।
काचित्तेषां वचनरचना येन सा ध्वस्तदोषा
यां शृण्वन्तः शमितकलुषा निर्वृतिं यान्ति सत्त्वाः[4] ॥ १६ ॥

कोप. विद्युत्स्फुरिततरल., मैत्री ग्रावरेखेव, चरितं मेरुस्थैर्यं, सर्वजन्तूपचार. अचल , बुद्धि. धर्मग्रहणचतुरा, वाक्यम् अस्तोपतापम् । अत्र लोके एभिः एव सुजनगुणै किं न पर्याप्तम् ।। १३ ।। गिरि. स्थैर्यात् जातु विचलति, वह्नि. शीतता याति, यादोनाथ स्थितिविरहित भवति, मारुत. स्तम्भम् एति, चन्द्र तीव्रः भवति, च दिनपः अप्रताप जायते । कल्पान्ते अपि सज्जनः स्वभावात् विकृतिं न व्रजति ।। १४ ।। ये वृत्तत्याग न विदधति, अन्यदोष न वदन्ते, नाशत अपि अधनं सुहृद नो याचन्ते, दीनमपि न (याचन्ते), विगतचरितं नो सेवन्ते, अभिभूतिं न कुर्वते, अमलिनं क्रमं नो लङ्घन्ते, ते सज्जनाः भवन्ति ।। १५ ।। इह सज्जना. यत् फलं दातुं शक्ता , तत् मातृस्वामिस्वजनजनकभ्रातृभार्याजनाद्या न ददन्ते । येन तेषा

पत्थरकी रेखाके समान स्थिर रहनेवाली है, चरित्र मेरु पर्वतके समान निश्चल है, समस्त प्राणियोकी सेवा अचल है, बुद्धि धर्मके ग्रहणमें प्रवीण है, और सन्तापसे रहित है–दूसरोंको सन्ताप देनेवाला नही है; ये सब सज्जनके गुण क्या यहाँ लोकमे पर्याप्त नही है ? पर्याप्त है–बहुत है ॥ १३ ॥ कदाचित् पर्वत अपनी स्थिरतासे विचलित हो जावे–स्थिरताको भले ही छोड़ दे, अग्नि शीतलताका प्राप्त हो जावे, समुद्र स्थितिसे रहित हो जावे–अपनी सीमाको भले ही छोड़ दे, वायु निरोधको प्राप्त हो जावे–संचारसे रहित हो जावे, चन्द्रमा तीक्ष्णताको प्राप्त हो जावे, तथा सूर्य निस्तेज हो जावे, परन्तु सज्जन मनुष्य प्रलयकालके भी उपस्थिति हो जानेपर कभी अपने स्वभावसे विकारको प्राप्त नही होते । अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार उपर्युक्त पर्वत आदि कभी अपने स्वभावको नही छोड़ते है उसी प्रकार सज्जन भी चाहे कितना ही सकट क्यो न आ जावे, किन्तु वह अपने सज्जन स्वभावको नही छोड़ता है ॥ १४ ॥ जो चारित्रका परित्याग नहीं करते हैं, अन्यके दोषको नहीं कहते हैं–परनिन्दा नही करते हैं, सर्वनाशके होने पर भी न निर्धन मित्रसे और न अन्य किसी दीन पुरुषसे भी याचना करते हैं, हीन आचारवाले किसी नीच मनुष्यकी सेवा नही करते हैं, अन्यका तिरस्कार नही करते है, तथा निर्दोष परिपाटीका उल्लघन नही करते हैं वे सज्जन होते हैं–यह सज्जन मनुष्यकी पहिचान है ॥१५॥ यहाँ जिस अपूर्व फलको सज्जन मनुष्य देते हैं उसे माता, स्वामी, कुटुम्बीजन, पिता, माता और स्त्री आदि जन नही दे सकते हैं । उनकी वह वचन रचना कुछ ऐसी निर्दोष होती है कि जिसे सुनकर प्राणी पापसे रहित होते हुए मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥ अतिशय स्थिर बुद्धिवाले सज्जन मनुष्य वृक्षके समान प्रेमको बढ़ाते हैं–जिस

---

१ स विचलयति । २ स वहन्ते । ३ स °भुतं । ४ स सत्व., वाति सत्वा ।

466) नित्य[1]च्छायाः फलभरनताः[2] प्रीणितप्राणिसार्थाः
क्षिप्त्वापेक्षामु[3]पकृतिकृतो दत्तसत्त्वावकाशाः ।
शश्वत्तुङ्गा विपुलसुमनोभ्राजिनो ऽलङ्घनीयाः[4]
प्रीतिं सन्तः[5] स्थिरतरधियो[6] वृक्षवद्वर्धयन्ति ॥ १७ ॥

467) मुक्त्वा स्वार्थं[7] सकृपहृदयाः कुर्वते ये परार्थं
ये निर्व्याजां विजितकलुषां तन्वते धर्मबुद्धिम् ।
ये निर्गर्वा विदधति हितं गृह्णते नापवादं
ते पुंनागा जगति विरलाः पुण्यवन्तो[8] भवन्ति ॥ १८ ॥

468) हन्ति ध्वान्तं रहयति[9] रजः सत्त्वमाविष्करोति
प्रज्ञां सूते वितरति सुखं न्यायवृत्तिं तनोति ।
धर्मे बुद्धिं रचयतितरां[10] पापबुद्धिं धुनीते
पुंसां नो वा किमिह कुरुते संगतिः सज्जनानाम् ॥ १९ ॥

सा ध्वस्तदोषा काचित् वचनरचना, या शृण्वन्तः शमितकलुषाः सत्त्वा निर्वृतिं यान्ति ॥ १६ ॥ वृक्षवत् नित्यच्छायाः फलभरनताः, प्रीणितप्राणिसार्थाः, प्रेक्षा क्षिप्त्वा उपकृतिकृतः, दत्तसत्त्वावकाशाः, शश्वत्तुङ्गाः, विपुलसुमनोभ्राजिनः, अलङ्घनीयाः स्थिरतरधियः सन्तः प्रीतिं वर्धयन्ति ॥ १७ ॥ सकृपहृदया ये स्वार्थं मुक्त्वा परार्थं कुर्वते, ये विजितकलुषां निर्व्याजां धर्मबुद्धिं तन्वते, ये निर्गर्वाः हितं विदधति, अपवादं न गृह्णते, ते पुण्यवन्तः पुंनागाः जगति विरलाः भवन्ति ॥ १८ ॥ इह सज्जनानां संगतिः पुंसां किं वा न कुरुते । सा ध्वान्तं हन्ति, रजः रहयति, सत्त्वम् आविष्करोति, प्रज्ञां सूते,

---

प्रकार वृक्ष निरन्तर पथिक जनोंको छाया प्रदान करते हैं उसी प्रकार सज्जन भी शरणागत जनोंको छाया प्रदान करते हैं–आश्रय देते है, जैसे वृक्ष फलोंके बोझसे नत रहते हैं–झुके रहते हैं—वैसे ही सज्जन भी गुणोंके बोझसे नत रहते हैं, नम्रीभूत रहते है, यदि प्राणियोके समूहको वृक्ष प्रसन्न करते हैं तो वे सज्जन भी उसे प्रसन्न करते है, वृक्ष जैसे उपकृत जनसे किसी प्रकारके प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके प्राणीमात्रको आश्रय देते हैं वैसे ही सज्जन भी विना प्रत्युपकारकी अपेक्षा किये ही प्राणिमात्रको आश्रय देते हैं, जिसप्रकार वृक्ष निरन्तर ऊँचे होते हैं उसी प्रकार सज्जन निरन्तर ऊँचे रहते हैं—गुणोंसे वृद्धिगत होते हैं, वृक्ष यदि विपुल सुमनोंसे—प्रचुर फूलोंसे—सुशोभित होते है तो सज्जन भी विपुल सुमनसे—उदार विशुद्ध मनसे—सुशोभित होते है, तथा जिस प्रकार वृक्ष अतिशय ऊँचे होनेसे किसीके द्वारा लाँघे नहीं जा सकते है उसी प्रकार सज्जन भी उन्नत गुणोंसे परिपूर्ण होनेसे किसीके द्वारा लाँघे नही जा सकते हैं—कोई भी उनका तिरस्कार नहीं कर सकता है ॥ १७ ॥ जो सत्पुरुष हृदयमें दयाको धारण करते हुए स्वार्थको छोड़कर एक मात्र परोपकारको करते हैं, जो मायाचारको छोड़कर अपनी निर्मल बुद्धिको धर्ममें लगाते है, तथा जो गर्वसे रहित होकर दूसरोंके हितको तो करते हैं किन्तु उनके अपवाद (निन्दा या दोष) को नही ग्रहण करते हैं वे पुरुषश्रेष्ट संसारमे विरले हैं—थोड़े ही हैं—और वे ही पुण्यशाली हैं ॥ १८ ॥ सज्जनोकी संगति यहाँ पुरुषोंका क्या उपकार नही करती है ? सब कुछ करती है—वह अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करती है, पापको दूर करती है, सत्त्व गुणको प्रकट करती है, विवेक बुद्धिको उत्पन्न करती है, सुखको देती है, न्याय व्यव-

---

१ स नित्यं । २ स °णता. । ३ स प्रेक्षा° । ४ स लङ्घनीया । ५ स प्रीतिमंतः, प्रीतिः । ६ स °धियः, °धिया । ७ स सार्थं । ८ स पुण्यवंते । ९ स हरयति । १० स °परां ।

469) अस्यत्युच्चैः शकलितवपुश्चन्दनो नात्मगन्धं
नेक्षुर्यन्त्रैरपि मधुरतां पिड्यमानो जहाति ।
यद्वत्स्वर्णं न चलति हितं छिन्नघृष्टो[1]पतप्तं
तद्वत्साधुः कुजननिहतो ऽप्यन्यथात्वं न याति ॥ २० ॥

470) यद्वद्भानुर्वितरति करैर्मोद[2]मम्भोरुहाणां
शीतज्योतिः[3] सरिदधिपतिं लब्धवृद्धिं विधत्ते[4] ।
वार्दो लोकानुदकविसरैस्तर्पयत्यस्तहेतु-
स्तद्वत्तोषं[5] रचयति गुणैः सज्जनः प्राणभाजाम् ॥ २१ ॥

471) देवा धौतक्रमसरसिजाः सौख्यदाः स्वर्गलोके[6]
पृथ्वीपालाः प्रददति धनं कालतः सेव्यमानाः ।
[7]कीर्तिप्रीतिप्रशमपटुतापूज्यता[8]तत्त्वबोधाः
संपद्यन्ते झटिति कृतिनश्चैव पुंसः स्थिरस्य[9] ॥ २२ ॥

सुखं वितरति, न्यायवृत्तिं तनोति, धर्मे बुद्धिं रचयतितराम्, पापबुद्धिं धुनीते ॥ १९ ॥ उच्चैः शकलितवपु चन्दनः आत्मगन्धं न अस्यति । यन्त्रैः पीड्यमान. अपि इक्षु मधुरता न जहाति । यद्वत् छिन्नघृष्टोपतप्तं हित सुवर्णं न चलति; तद्वत् कुजननिहत अपि साधुः अन्यथात्व न याति ॥ २० ॥ यद्वत् अस्तहेतु. भानु करै अम्भोरुहाणा मोदं वितरति । शीतज्योतिः सरिदधिपतिं लब्धवृद्धिं विधत्ते । वार्दः लोकान् उदकविसरै. तर्पयति । तद्वत् सज्जन गुणै. प्राणभाजा तोप रचयति ॥ २१ ॥ धौतक्रमसरसिजाः देवाः स्वर्गलोके सौख्यदा. भवन्ति । सेव्यमाना. पृथ्वीपाला. कालत धनं प्रददति । स्थिरस्य कृतिन पुंसः

हारका विस्तार करती है, धर्ममें बुद्धिको अतिशय लगाती है, तथा पापबुद्धिको नष्ट करती है ॥ १९ ॥ जिस प्रकार चन्दन शरीरके अतिशय खण्डित किये जानेपर भी अपने गन्धको नही छोड़ता है—उसे अधिक ही फैलाता है, जिस प्रकार ईख (गन्ना) कोल्हू यन्त्रोके द्वारा पीड़ित होता हुआ भी अपनी मधुरताको (मिठासको) नही छोड़ता है, तथा जिस प्रकार हितकारक सुवर्ण छेदा जाकर घिसा जाकर एव अग्निसे सन्तप्त हो करके भी अपने स्वरूपसे विचलित नही होता है—उसे और अधिक उज्ज्वल करता है; उसी प्रकार सज्जन मनुष्य दुष्ट जनोंके द्वारा पीड़ित हो करके भी विपरीत स्वभावको (दुष्टताको) नही प्राप्त होता है ॥ २० ॥ जिस प्रकार निस्वार्थ होकर सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा कमलोके लिये मोदको देता है—उन्हें प्रफुल्लित करता है, जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्रको वृद्धिगत करता है, तथा जिस प्रकार मेघ लोगोंको पानीकी वर्षासे सन्तुष्ट करता है; उसी प्रकार सज्जन मनुष्य प्राणियोको अपने गुणोंके द्वारा सन्तुष्ट करता है ॥ २१ ॥ देव लोग चरण कमलोंके प्रक्षालित करने पर—उनकी सेवा करने पर —स्वर्ग लोकमें सुख देते हैं और राजा लोगोंकी सेवा करने पर वे समयानुसार ही धनको देते हैं । परन्तु सज्जन पुरुषके आश्रयमे गये हुए पुण्यशाली मनुष्यको कीर्ति, प्रीति, शान्ति, निपुणता, पूज्यपना और तत्त्वज्ञान ये सब शीघ्र ही प्राप्त होते हैं । अभिप्राय यह है कि देवोंकी आराधना करने पर वे केवल स्वर्गमें ही सुख दे सकते हैं, न कि सर्वत्र, इसी प्रकार राजाओंकी सेवा करने पर जब वे प्रसन्न होते हैं तब ही मनुष्यको धन देते हैं । परन्तु सज्जनकी संगति करने पर मनुष्यको सर्वत्र और सदा ही कीर्ति आदि

---

१ स °घृष्टो° । २ स °मंदमंभो° । ३ स शीतपोतिः । ४ स विदत्ते । ५ स °स्तद्वद्दोषं, °स्तद्वत्तेषा । ६ स स्वर्गलोके ७ स कीर्तिः । ८ स °पटुता पू° तत्त्वबोधा । ९ स श्रितस्य ।

472) यद्वद्वाचः प्रकृतिसुभगाः सज्जनानां प्रसूताः
शोकक्रोधप्रभृतिजवपुस्तापविध्वंसदक्षाः ।
पुंसां सौख्यं विदधतितरां शीतलाः सर्वकालं
तद्वच्छीतद्युतिरुचिलवा[1] नामृतस्यन्दिनो ऽपि ॥ २३ ॥

473) आक्रुष्टो[2] ऽपि व्रजति न रुषं भाषते नापभाष्यं[3]
नोत्कृष्टो[4] ऽपि प्रवहति मदं शौर्यधैर्यादिधर्मैः ।
यो यातो ऽपि व्यसनमनिशं कातरत्वं न याति
सन्तः प्राहुस्तमिह सुजनं तत्त्वबुद्ध्या विवेच्य ॥ २४ ॥

इति [5]सुजननिरूपणचतुर्विंशति १८ ॥

कीर्तिप्रीतिप्रशमपटुतापूज्यतातत्त्वबोधा झटिति सपद्यन्ते ॥ २२ ॥ यद्वत् सज्जनानां प्रसूताः प्रकृतिसुभगाः शोकक्रोधप्रभृतिजवपुस्तापविध्वंसदक्षाः शीतला वाच सर्वकालं पुंसा सौख्य विदधतितराम् । तद्वत् अमृतस्यन्दिनोऽपि शीतद्युतिरुचिलवाः न सन्ति ॥ २३ ॥ आक्रुष्टः अपि य रुषं न व्रजति, अपभाष्य न भाषते, शौर्यधैर्यादिधर्मैं उत्कृष्टः अपि मदं न प्रवहति । अनिशं व्यसनं यात अपि यः कातरत्वं न याति । इह सन्त तत्त्वबुध्द्या विवेच्य तं सुजनं प्राहुः ॥ २४ ॥

इति सुजननिरूपणचतुर्विंशति. ॥ १८ ॥

उपर्युक्त उत्तम गुण प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ जिस प्रकार सज्जनोके मुखसे उत्पन्न हुए शीतल वचन स्वभावसे सुन्दर तथा शोक व क्रोध आदिके कारण उत्पन्न हुए शरीरके सन्तापको दूर करते हुए निरन्तर प्राणियोंको अतिशय सुख देते हैं उस प्रकार अमृतको बहाने वाले चन्द्रमाके शीतल किरण भी नही देते हैं। तात्पर्य यह कि सज्जनोके वचन चन्द्रमाकी शीतल किरणोकी अपेक्षा भो अधिक शान्ति प्रदान करते हैं ॥ २३ ॥ जो गालियोंको सुन करके भी न तो क्रोध करता है और न उसके प्रतीकारके लिये अपशब्द ही बोलता है—गालियाँ ही देता है, जो शूर-वीरता एवं धीरता आदि धर्मोसे उत्कृष्ट हो करके भी कभी गर्वको धारण नही करता है, तथा जो निरन्तर पीड़ाको प्राप्त हो करके भी कभी कायरताको प्राप्त नहीं होता है; उसे यहाँ साधुजन यथार्थ दृष्टिसे देखकर सज्जन बतलाते हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार चौबीस श्लोकोंमें सुजनका निरूपण किया ॥ १८ ॥

●

---

१ स °लवानमृत° । २ स आकृष्टो, आक्रष्टो । ३ स नापभाषं । ४ स नो कृष्टो । ५ स सज्जननिरूपणम् ।

[१९. दाननिरूपणचतुर्विंशतिः]

474) तुष्टिश्रद्धाविनयभजना[1]लुब्धताक्षान्तिसत्त्व–
प्राणत्राणव्यवसिति[2]गुणज्ञानकालज्ञताढ्यः ।
दानासक्ति[3]र्जननमृतिभी[4]श्चास्तिको ऽमत्सरेर्ष्यो[5]
दक्षात्मा यो भवति स नरो दातृमुख्यो जिनोक्तः ॥ १ ॥

475) काले ऽन्नस्य[6] क्षुधमवहितो[7] दित्समानो विधृत्य
नो भोक्तव्यं प्रथममतिथेर्यं सदा तिष्ठतीति ।
तस्याप्राप्तावपि गतमलं पुण्यराशिं श्रयन्तं[8]
तं दातारं जिनपतिमते मुख्यमाहुर्जिनेन्द्राः ॥ २ ॥

476) सर्वाभीष्टा बुधजननुता धर्मकामार्थमोक्षाः
सत्सौख्यानां वितरणपरा दुःखविध्वंसदक्षाः ।
लब्धुं शक्या जगति न यतो[9] जीवितव्यं विनैव
तद्दानेन ध्रुवमसुभृतां किं न दत्तं ततो ऽत्र ॥ ३ ॥

यः नरः तुष्टिश्रद्धाविनयभजनालुब्धताक्षान्तिसत्त्वप्राणत्राणव्यवसितिगुणज्ञानकालज्ञताढ्यः दानासक्तिः जननमृतिभीः आस्तिकः अमत्सरेर्ष्यः च दक्षात्मा भवति स जिनोक्तः दातृमुख्यः भवति ॥ १ ॥ दित्समानः यः अन्नस्य काले अवहितः अतिथेः प्रथमं नो भोक्तव्यम् इति क्षुधं विधृत्य सदा तिष्ठति तस्य अप्राप्तौ अपि गतमलं पुण्यराशिं श्रयन्तं तं दातारं जिनेन्द्राः जिनपतिमते मुख्यम् आहुः ॥ २ ॥ यतः जगति सर्वाभीष्टाः बुधजननुताः दुःखविध्वंसदक्षाः सत्सौख्यानां वितरणपराः धर्मकामार्थमोक्षाः जीवितव्यं विना लब्धुं नैव शक्याः । ततः तद्दानेन ध्रुवम् अत्र असुभृतां किं न दत्तम् ॥ ३ ॥

जो मनुष्य सन्तोष, श्रद्धा, विनय, भक्ति, लोभ-हीनता, क्षमा, जीवरक्षानिरतता, गुणग्राहकता और कालज्ञता, इन गुणोंसे सम्पन्न है; दान देनेमें अनुराग रखता है, जन्म व मरणसे भयभीत है, तत्त्वश्रद्धानी है, मत्सरता और ईर्ष्यासे रहित है, तथा योग्यायोग्यके विचारमें दक्ष है वह श्रेष्ठ दाता होता है; ऐसा जिन देवने निर्दिष्ट किया है ॥ १ ॥ जो दान देनेका इच्छुक दाता आहारके समयमें सावधान रहकर 'अतिथिके पहले— मुनिको आहार देनेके पहले—भोजन करना योग्य नहीं है' ऐसा सोचकर भूखा रह करके निरन्तर स्थित रहता है वह अतिथिके अलाभमें भी निर्मल पुण्यराशिका संचय करता है। जिनेन्द्र भगवान् उस दाताको अपने मतमें मुख्य दाता बतलाते हैं ॥ २ ॥ जो धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ सब मनुष्योंके लिये प्रिय हैं, जिनकी पण्डित जन स्तुति करते हैं, जो समीचीन सुखके देनेमें तत्पर हैं और जो दुखके नष्ट करनेमें समर्थ हैं वे चूंकि जीवनके बिना संसारमें कभी प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं अतएव उस जीवनके दानसे यहाँ प्राणियोंको निश्चयसे क्या नहीं दिया गया है? अर्थात् सब कुछ ही दिया गया है ॥ ३ ॥ विशेषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषके प्रयोजनभूत चार पुरुषार्थ हैं। मनुष्य यदि जीवित है तो वह गृहस्थ अवस्थामें रहकर परस्परके

---

१ स °भजता°, °भजना लुब्धता क्षान्ति°। २ स °व्यवसति°, °व्यवसित°। ३ स °शक्ति°। ४ स °मृतिभि°। ५ स मत्परेर्ष्यो मत्स°। ६ स न्यस्य। ७ स °व्यवहितो। ८ स स्रयंते, श्रयंते। ९ स नयतो।

477) कृत्याकृत्ये कलयति यतः कामकोपौ लुनीते
धर्मे श्रद्धां रचयति परां पापबुद्धिं धुनीते ।
अक्षार्थेभ्यो विरमति रजो हन्ति चित्तं पुनीते
तद्दातव्यं भवति विदुषा शास्त्रमत्र व्रतिभ्यः ॥ ४ ॥

478) भार्याभ्रातृस्वजनतनयान्यन्निमित्तं त्यजन्ति
प्रज्ञासत्त्वव्रतसमितयो यद्विना यान्ति नाशम् ।
क्षुद्दुःखेन ग्लपितवपुषो भुञ्जते च त्वभक्ष्यं[1]
तद्दातव्यं भवति विदुषा संयतायान्नशुद्धम् ॥ ५ ॥

479) सम्यग्विद्याशमदमतपोध्यानमौनव्रताढ्यं[2]
श्रेयोहेतुर्गतरुजि[3] तनौ जायते येन सर्वम् ।
तत्साधूनां व्यथितवपुषां तीव्ररोगप्रपञ्चै-
स्तद्रक्षार्थं वितरत जनाः [4]प्रासुकान्यौषधानि ॥ ६ ॥

यतः कृत्याकृत्ये कलयति, कामकोपौ लुनीते, धर्मे परा श्रद्धां रचयति, पापबुद्धिं धुनीते, अक्षार्थेभ्यो विरमति, रजो हन्ति, चित्तं पुनीते, तत् शास्त्रम् अत्र विदुषा व्रतिभ्यः दातव्यं भवति ॥ ४ ॥ यन्निमित्तं भार्याभ्रातृस्वजनतनयान् त्यजन्ति, च यद्विना प्रज्ञासत्त्वव्रतसमितय नाश यान्ति, (च यद्विना) क्षुद्दुःखेन ग्लपितवपुष अभक्ष्यं भुञ्जते, तत् अन्नशुद्धं विदुषा सयताय दातव्यं भवति ॥ ५ ॥ येन तनौ गतरुजि सर्वं सम्यग्विद्याशमदमतपोध्यानमौनव्रताढ्यं श्रेयोहेतु. जायते तत् तीव्र-रोगप्रपञ्चैः व्यथितवपुषा साधूना तद्रक्षार्थं [हे] जनाः प्रासुकानि औषधानि वितरत ॥ ६ ॥ कन्यास्वर्णद्विपहयधरागो-

---

विरोधसे रहित धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंका सेवन करता हुआ अन्तमे समस्त परिग्रहको छोड़कर चतुर्थ मोक्ष पुरुषार्थको भी सिद्ध कर सकता है। किन्तु यदि उसका जीवन ही नष्ट हो जाता है तो फिर उक्त पुरुषार्थोंका सेवन करना असम्भव हो जाता है। इसीलिये जो दाता प्राणियोंके लिये जीवनदान देता है—सब प्रकारसे उनके प्राणोंकी रक्षा करके उन्हें अभयदान देता है—वह अतिशय प्रशंसाका पात्र है। कारण यह कि ऐसा करके उसने प्राणोको उक्त पुरुषार्थोंके साधनमे समर्थ कर दिया जो कि सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है ॥ ३ ॥ जिस शास्त्रकी सहायतासे प्राणी कार्य-अकार्यका निश्चय करता है, काम और क्रोधको नष्ट करता है, धर्मके विषयमें दृढ़ श्रद्धानको उत्पन्न करता है, पाप बुद्धिको दूर करता है, इन्द्रिय विषयोसे (भोगोंसे) विरक्त होता है, कर्म रूप धूलिको नष्ट करता है, और चित्तको पवित्र करता है; विद्वान् मनुष्यको यहाँ व्रती जनोके लिये उस शास्त्रका दान करना चाहिये—ज्ञानदान देना चाहिये ॥ ४ ॥ जिस भोजनके निमित्तसे मनुष्य स्त्री, भाई, कुटुम्बी जन और पुत्रको भी छोड देते हैं, जिसके बिना बुद्धि, बल, व्रत और समितियाँ नष्ट हो जाती हैं; तथा जिसके बिना मनुष्य भूखसे पीड़ित होकर अभक्ष्यका भक्षण करते हैं; विद्वान् मनुष्यको सयमी जनके लिये उस शुद्ध भोजनका दान करना चाहिये ॥ ५ ॥ शरीरके नीरोग रहने पर ही चूँकि समीचीन ज्ञान, शान्ति, दान्ति, तप, ध्यान, मौन और व्रतसे सम्पन्न सब ही कार्य कल्याणका कारण होता है; इसीलिये मनुष्योंको तीव्र रोगोंके विस्तारसे जिनका शरीर पीड़ित हो रहा है उन साधुओंके लिये निर्दोष औषधोको प्रदान करना चाहिये। कारण कि ऐसा करनेसे उनकी उक्त रोगोंसे रक्षा होती है और इससे वे यथार्थ सुखके साधनभूत उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानादि-

---

१ स त्वभक्षं । २ स °जताढ्यं । ३ स °रुचि । ४ स प्राशुका° ।

480) सावद्यत्वान्महदपि फलं न विधातुं समर्थं
कन्यास्वर्णद्विपहयधरागोमहिष्यादिदानम् ।
त्यक्त्वा[1] दद्याज्जिनमतदयाभेषजाहारदानं
भूत्वाप्यल्पं विपुलफलदं दोषमुक्तं [2]नियुक्तम् ॥ ७ ॥

481) नीतिश्रीतिश्रुतिमतिधृतिज्योतिभक्तिप्रतीति-
प्रीतिज्ञातिस्मृतिरतियतिख्यातिशक्तिप्रगीतीः[3] ।
यस्माद्देही जगति लभते नो विना भोजनेन
तस्माद्दानं स्युरिह ददता ताः समस्ताः प्रशस्ताः ॥ ८ ॥

482) दर्पोद्रेकव्यसनमथ[4]नक्रोधयुद्धप्रबाधा-
पापारम्भः[5] क्षितिहतधियां जायते यन्निमित्तम् ।
[6]यत्संगृह्य श्रयति[7] विषयान् दुःखितं यत्स्वयं स्या-
[8]द्यद्दुःखाढ्यं[9] प्रभवति न तच्छ्लाघ्यते ऽत्र प्रदेयम् ॥ ९ ॥

महिष्यादि दानं महदपि सावद्यत्वात् फलं विधातुं समर्थं नो भवति । तत् त्यक्त्वा दोषमुक्तम् अल्पं भूत्वापि विपुलफलद जिनमतदयाभेषजाहारदान नियुक्तं दद्यात् ॥ ७ ॥ यस्मात् देही जगति भोजनेन विना नीतिश्रीतिश्रुतिमतिधृतिज्योतिभक्ति-प्रतीति-प्रीतिज्ञातिस्मृतिरतियतिख्यातिशक्तिप्रगीती. नो लभते, तस्मात् इह दानं ददता [त] ता समस्ताः प्रशस्ताः स्यु. ॥ ८ ॥ यन्निमित्तं क्षितिहतधिया दर्पोद्रेकव्यसनमथनक्रोधयुद्धप्रबाधापापारम्भ जायते, यत्संगृह्य विषयान् श्रयति, यत्स्वयं दु खितं स्यात्, यत् दु खाढ्यं प्रभवति, अत्र तत् प्रदेयं न श्लाघ्यते ॥ ९ ॥ यद् गृहीत्वा साधु निर्जिताक्षः रत्न-

---

के धारण करनेमें समर्थ होते हैं ॥६॥ कन्या, सुवर्ण, हाथी, घोड़ा, पृथिवी, गाय और भैंस आदिका दान अधिक प्रमाणमें हो करके भी उत्तम फलके करनेमें समर्थ नही है; क्योंकि, वह पापोत्पादक है। इसलिये उपर्युक्त दान-को छोडकर जिन भगवान्के द्वारा निर्दिष्ट दया (अभयता) औषध और आहारका दान देना चाहिये। कारण कि जिनेन्द्रके द्वारा नियुक्त (आदिष्ट) यह दान अल्प मात्रामें भी होकर निर्दोष होनेसे महान् फलको देनेवाला है ॥ ७ ॥ चूँकि ससारमें प्राणी भोजनके बिना नीति, परिपक्वता श्रुत, बुद्धि, धैर्य, ज्योति, भक्ति, ज्ञान, प्रीति, ज्ञाति, स्मरण, रति, संयम, प्रसिद्धि, शक्ति और प्रगीति (गानप्रकर्षता) को नही प्राप्त कर सकता है अतएव उस भोजनका दान करना चाहिये। उक्त आहारके देनेसे प्राणीके वे सब प्रशस्त गुण प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ जिस देय वस्तुके निमित्तसे क्षयसे प्रतिबद्ध बुद्धिवाले पात्रोके अभिमानकी वृद्धि, कष्ट, आकुलता, क्रोध, युद्ध, प्रकृष्ट बाधा और पापका आरम्भ होता है; जिसका संग्रह करके जीव विषयोंका आश्रय लेता है, तथा जो स्वयं दुखित होता हुआ दुखसे व्याप्त जीवको प्रभावित करता है, उस देय वस्तुकी यहाँ प्रशसा नही की जाती है। अभिप्राय यह है कि जिस आहार आदिके ग्रहण करनेसे संयमी जनके आकुलता या अशान्ति उत्पन्न हो सकती है, विवेकी दाताको ऐसे किसी आहार आदिको दान नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥ जिस देय वस्तुको ग्रहण करके इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करता हुआ साधु रत्नत्रयमे लीन हो जाता है, समस्त कल्याणकी जड़स्वरूप निर्मल धर्मको धारण

---

१ स पूत्वा° । २ स वियुक्तं । ३ स °प्रगीतिः । ४ स °मथनं° । ५ स °रभ, °रंभा, °रम्भक्षितिहिति° । ६ स तत्संगृह्य । ७ स श्रव्यति । ८ स om. यद् । ९ स दुःखार्द्रं ।

483) साधू रत्नत्रितयनिरतो जायते निर्जिताक्षो
धर्मं धत्ते[1] व्यपगतमलं सर्वकल्याणमूलम् ।
रागद्वेषप्रभृतिमथनं[2] यद्गृहीत्वा विधत्ते
तद्दातव्यं भवति विदुषा देयमिष्टं सदैव[3] ॥ १० ॥

484) धर्मध्यानव्रतसमितिभृत्संयतश्चारु पात्रं
व्यावृत्तात्मा[4] त्रसहननतः श्रावको मध्यमं तु ।
सम्यग्दृष्टिर्व्रतविरहितः श्रावकः स्याज्जघन्य[5]-
मेवं[6] त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः श्रुतज्ञाः ॥ ११ ॥

485) यो जीवानां जनकसदृशः सत्यवाग्दत्तभोजी
सप्रेमस्त्रीनयनविशिखाभिन्नचित्तः स्थिरात्मा ।
द्वेधा ग्रन्थादुपरत[7]मनाः सर्वथा निर्जिताक्षो[8]
दातुं पात्रं व्रतपतिममुं [9]वर्यमाहुर्जिनेन्द्राः ॥ १२ ॥

486) यद्वत्तोयं निपतति घनादेकरूपं रसेन
प्राप्याधारं सगुणमगुणं याति नानाविधत्वम्[10]
तद्वद्दानं सफलमफलं [11]पात्रमाप्येति मत्वा
देयं[12] दानं [13]शमयमभृतां संयतानां यतीनाम् ॥ १३ ॥

त्रितयनिरत. जायते, सर्वकल्याणमूलं व्यपगतमल धर्म धत्ते, रागद्वेषप्रभृतिमथन विधत्ते, विदुषा सदैव इष्टं तत् देयं दातव्यं भवति ॥ १० ॥ धर्मध्यानव्रतसमितिभृत् संयत. चारु पात्रम् । तु त्रसहननत. व्यावृत्तात्मा श्रावक मध्यम पात्रम् । व्रतविरहित सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्रं स्यात् । श्रुतज्ञा जिनपतिमते एव त्रिधा पात्रं प्राहु ॥ ११ ॥ य जीवाना जनकसदृश., सत्यवाक्, दत्तभोजी, सप्रेमस्त्रीनयनविशिखाभिन्नचित्त , स्थिरात्मा, द्वेधा ग्रन्थादुपरतमना , सर्वथा निर्जिताक्षः अमुं व्रतपतिं जिनेन्द्रा दातुं वर्यं पात्रम् आहुः ॥ १२ ॥ यद्वत् घनात् रसेन एकरूप तोय निपतति,, सगुणम् आधारं प्राप्य नाना-

---

करता है, तथा राग-द्वेष आदिको नष्ट करता है विद्वान् मनुष्यको निरन्तर ऐसी हितकर वस्तुको देना चाहिये ॥ १० ॥ धर्मध्यान, व्रत (महाव्रत) एव पाच समितियोको धारण करनेवाला साधु उत्तम पात्र, त्रसहिंसासे रहित श्रावक मध्यम पात्र, और व्रतोसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पात्र होता है; इस प्रकार आगमके जानकार गणधरादि जिनेन्द्रके शासनमें पात्रको तीन प्रकार बतलाते है ॥ ११ ॥ जो पिताके समान जीवोंका रक्षण करता है—अहिंसा महाव्रतका पालन करता है, सत्य वचन बोलता है अर्थात् सत्यमहाव्रतको धारण करता है, दिये गये आहारको ग्रहण करता है—अदत्तग्रहणका सर्वथा त्याग करके अचौर्यमहाव्रतका परिपालन करता है, जिसका चित्त प्रेम करनेवाली स्त्रियोके नेत्र (कटाक्ष) रूप बाणोसे भेदा नही जाता है—जो ब्रह्मचर्य महाव्रतका धारी है, अपने कार्यमें दृढ है, जिसका मन दोनो प्रकारके परिग्रहसे सर्वथा विरक्त हो चुका है—जो अपरिग्रह महाव्रतका पालन करता है, तथा जिसने इन्द्रियोपर विजय प्राप्त कर ली है; उस व्रतपरिपालक मुनिको जिनेन्द्र भगवान् दान देनेके लिये उत्तम पात्र बतलाते हैं ॥ १२ ॥ जिस प्रकार जल मेघसे तो रसकी अपेक्षा एक रूप ही गिरता है, परन्तु वह गुणवान् और गुणहीन आधारको—ईख व सर्पके मुख आदि-

---

१ स दत्ते । २ स °प्रभृति मथन । ३ स तदेव, तर्देव, सदैव । ४ स °रमात्र सहननत. । ५ स स्याजघान° । ६ स °मेव । ७ स °दुपरम° । ८ स निर्ज्जिताख्यो । ९ स चर्य°, वर्ज्जं । १० स °विधित्वं । ११ स पात्रमपीति, पात्रमप्येति । १२ स तद्वद्दानं । १३ स सम° ।

487) यद्वत्क्षिप्तं गलति सकलं छिद्रयुक्ते घटेऽम्भ-
'स्तिक्तालाबूनिहितमहितं जायते दुग्धमुद्धम्'
आमे पात्रे³ रचयति भिदां तस्य नाशं च याति⁴
तद्वद्दत्तं⁵ विगततपसे केवलं ध्वंसमेति ॥ १४ ॥

488) शश्वच्छीलव्रतविरहिता क्रोधलोभादिवन्तो
नानारम्भप्रहितमनसो ये मदग्रन्थसक्ता.⁶ ।
ते दातारं कथमसुखतो रक्षितुं सन्ति शक्ता
नावा लोहं न हि जलनिधेस्तार्यते⁷ लोहमय्या ॥ १५ ॥

विषत्वं याति। तद्वत् दानं पात्रम् आप्य सफलम् अफलं भवति इति मत्वा शमयमभृता संयताना यतीना दानं देयम् ॥ १३ ॥ यद्वत् छिद्रयुक्ते घटे क्षिप्त सकलम् अम्भ गलति । तिक्तालाबूनिहितम् उद्घ दुग्धम् अहितं जायते । आमे पात्रे निहितं दुग्ध तस्य भिदा रचयति नाशं याति च । तद्वत् विगततपसे दत्तं केवलं ध्वंसम् एति ॥ १४ ॥ ये शश्वच्छीलव्रतविरहिताः क्रोधलोभादिवन्तः नानारम्भप्रहितमनस मदग्रन्थसक्ता ते दातारम् असुखतः रक्षितु कथं शक्ताः । हि लोहमय्या नावा जलनिधे लोह न तार्यते ॥ १५ ॥ यथा क्षेत्रद्रव्यप्रकृतिसमयान् वीक्ष्य उप्तं बीजं चारुसंस्कारयोगात्

को—पाकर अनेकरूपताको प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार दान भी पात्रको प्राप्त करके सफल अथवा निष्फल हो जाता है। यह विचार करके शान्ति एवं सयमको धारण करनेवाले संयमी मुनियोके लिये दान देना चाहिये ॥ १३ ॥ जिस प्रकार छिद्रयुक्त घड़ेमे रखा हुआ समस्त जल नष्ट हो जाता है, कड़ुवी तूंबड़ीमें रखा हुआ प्रशस्त (मधुर) दूध अहित कारक (कड़ुवा) हो जाता है, तथा कच्चे मिट्टीके पात्रमे रखा हुआ जल या दूध उसको नष्ट कर देता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार तपसे हीन मनुष्यको दिया गया दान केवल नाशको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार छिद्रयुक्त घड़ेमें रखा गया जल अथवा ऊसर भूमिमें बोया गया बीज व्यर्थ जाता है उसी प्रकार अपात्रके लिये दिया गया दान भी व्यर्थ ही जाता है—दाताको उसका कुछ भी फल प्राप्त नही होता, जिस प्रकार कड़ुवी तूँबड़ीमे रखा हुआ दूध अथवा सर्पके मुखमे गया हुआ दूध विकृत हो जाता है—कड़ुवा और विषैला हो जाता है—उसी प्रकार दुष्ट जनके लिये दिया गया दान भी विकृत हो जाता है—दाताके लिये अहितकर हो जाता है, तथा जिस प्रकार कच्चे मिट्टीके वर्तनमें रखा गया जल स्वयं तो नष्ट होता ही है साथमें वह उस वर्तनको भी नष्ट कर देता है उसी प्रकार अयोग्य पात्रके लिये दिया गया दान भी स्वयं नष्ट होकर उस पात्रको भी नष्ट कर देता है—उसे विषयव्यामुग्ध करके नरकादि दुर्गतिमें पहुँचाता है। इसीलिये बुद्धिमान् दाताको पात्रके योग्यायोग्यका विचार करके ही दान देना चाहिये ॥१४॥ जो मनुष्य निरन्तर शील व व्रतोसे रहित हैं, क्रोध व लोभ आदिसे कलुषित हैं, अनेक प्रकारके आरम्भमें मनको लगाते है, तथा मद व परिग्रहमें आसक्त है; वे भला उस दाताकी दुखसे रक्षा करनेके लिये कैसे समर्थ हो सकते है ? अर्थात् नही हो सकते हैं। ठीक है—लोहनिर्मित नाव समुद्रसे लोहेको पार नही पहुँचाती है। अभिप्राय यह कि जिसप्रकार लोहेकी नाव स्वयं तो समुद्रमें डूबती ही है, साथ ही वह उसमें रखे हुए लोहे आदि भारी द्रव्यको भी उसमे डुबा देती है, उसी प्रकार अयोग्य जनके लिये दिया हुआ दान यों ही

---

१ स °स्त्यक्त्वालाछू°, °लाबू° । २ स °मुद्धं, °मुग्धं, °मुद्यं, दुग्धमद्यम् । ३ स आमामत्रे । ४ स नाशत्वयात । ५ स तद्वदस्तं । ६ स °शक्ता. । ७ स °स्तोर्प्यते ।

489) क्षेत्रद्रव्यप्रकृति[1]समयान्वीक्ष्य[2] बीजं यथोप्तं
दत्ते सस्यं विपुलममलं चारुसंस्कारयोगात् ।
दत्तं पात्रे गुणवति तथा दानमुक्तं फलाय
सामग्रीतो भवति हि जने सर्वकार्यप्रसिद्धिः ॥ १६ ॥

490) नानादुःखव्यसननिपुणान्नाशिनो[3] ऽतृप्तिहेतून्
कर्मारातिप्रचयनपरांस्तत्त्वतो ऽवेत्य[4] भोगान् ।
मुक्त्वाकाङ्क्षां विषयविषयां कर्मनिर्नाशनेच्छो
दद्याद्दानं प्रगुणमनसा संयतायापि विद्वान् ॥ १७ ॥

491) यस्मै गत्वा विषयमपरं दीयते पुण्यवद्भिः[5]
पात्रे तस्मिन् गृहमुपगते संयमाधारभूते ।
नो यो मूढो वितरति धने विद्यमाने ऽप्यनल्पे
तेनात्मात्र स्वयमपधिया वञ्चितो मानवेन ॥ १८ ॥

विपुलम् अमलं सस्य दत्ते, तथा गुणवति पात्रे दत्त दान फलाय उक्तम् । हि जने सामग्रीतः सर्वकार्यप्रसिद्धिः ॥ १६ ॥ नानादुःखव्यसननिपुणान् नाशिनः अतृप्तिहेतून् कर्मारातिप्रचयनपरान् भोगान् तत्त्वतः अवेत्य विषयविषयां काङ्क्षा मुक्त्वा कर्मनिर्णाशनेच्छ. विद्वान् प्रगुणमनसा संयताय दानम् अपि दद्यात् ॥ १७ ॥ अपर विषयं गत्वा पुण्यवद्भिः यस्मै दीयते, संयमाधारभूते तस्मिन् पात्रे गृहम् उपगते सति अनल्पे धने विद्यमाने अपि यो मूढ नो वितरति तेन अपधिया मानवेन अत्र

जाकर उस पात्र और दाताको भी नष्ट कर देता है—उन्हें आपत्तिग्रस्त कर देता है ॥ १५ ॥ जिस प्रकार भूमि, द्रव्य, प्रकृति और कालको देखकर बोया गया बीज सुन्दर सस्कारके सम्बन्धसे—निराने गोड़ने आदिके निमित्त से—बहुत अधिक उत्तम अनाजको देता है उसी प्रकार गुणवान् पात्रके लिये दिया गया दान भी महान् फलको देता है—भोगभूमि या स्वर्गके अभ्युदयको प्राप्त कराता है, ऐसा आगममे निर्दिष्ट है। ठीक ही है—मनुष्यके लिये समस्त कार्यसिद्धि सामग्रीके निमित्तसे ही होती है ॥ १६ ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार यदि सुयोग्य किसान भूमि, बीज और ऋतु आदिकी योग्यताको देखकर खेतमें बीज बोता है तथा समयानुसार उसकी निराई आदि भी करता है तो उसे इसके फलस्वरूप निश्चयसे कई गुना अनाज प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकारसे जो विवेकी दाता दानकी विधि (नवधा भक्ति आदि), देने योग्य द्रव्य (आहार आदि), दाताके गुण और पात्रके भी गुणोंका विचार करके तदनुसार ही पात्रके लिये दान देता है तो वह यदि सम्यग्दृष्टि है तो नियमसे उत्तम देवोंमें उत्पन्न होता है और तत्पश्चात् मनुष्य होकर समयानुसार मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है। परन्तु यदि वह सम्यग्दृष्टि नही है—मिथ्यादृष्टि है—तो भी वह यथायोग्य उत्तम, मध्यम अथवा जघन्य भोगभूमिके भोगोंको भोगकर तत्पश्चात् देवोंमें उत्पन्न होता है। अन्ततः मोक्षमार्गमें स्थित होकर वह भी मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥ कर्मनाशका इच्छुक विद्वान् विषयभोगोंको यथार्थतः अनेक दुःखो एवं आपत्तियोंको प्राप्त करानेवाले, नश्वर, तृष्णाके बढ़ानेवाले और कर्मरूप शत्रुओंके सचयमे तत्पर जानकर तद्विषयक अभिलाषाको छोड़ता हुआ सयमी जनके लिये सरल चित्तसे दान देवे ॥ १७ ॥ पुण्यात्मा जन जिसके लिये दूसरे देशमे जाकर दान देते हैं संयमके आश्रयभूत (संयमी) उस पात्रके स्वयं ही घर आ जानेपर तथा बहुत धनके रहनेपर भी

---

१ स °प्रभृति° । २ स वीक्ष । ३ स वासिनो । ४ स वेत्यभोगान् । ५ स पुण्यविद्भिः, °विद्भि ।

492) श्रुत्वा दानं कथितमपरैर्दीयमानं परेण
श्रद्धां धत्ते व्रजति च परां तुष्टिमुत्कृष्टबुद्धिः ।
दृष्ट्वा दानं जनयति मुदं मध्यमो दीयमानं
दृष्ट्वा श्रुत्वा भजति मनुजो नानुरागं जघन्यः[1] ॥ १९ ॥

493) दीर्घायुष्कः शशिसितयशोव्या[2]प्तदिक्चक्रवालः
सद्विद्याश्रीकुलबलधनप्रीतिकीर्तिप्रतापः ।
शूरो धीरः[3] स्थिरतरमना निर्भयश्चारुरूप-
स्त्यागी भोगी भवति[4] भविनां देह्यभीतिप्रदायी ॥ २० ॥

494) कर्मारण्यं दहति शिखि[5]वन्मातृवत्पाति दुःखात्
सम्यग्नीतिं वदति गुरुवत्स्वामिवद्यद् बिभर्ति ।
तत्त्वातत्त्वप्रकटनपटु[6] स्पष्टमाप्नोति पूतं
तत्संज्ञानं विगलितमलं ज्ञानदानेन मर्त्यः ॥ २१ ॥

आत्मा स्वयं वञ्चित ॥ १८ ॥ उत्कृष्टबुद्धि परेण दीयमानम् अपरै कथितं दान श्रुत्वा श्रद्धां धत्ते च परा तुष्टिं व्रजति । मध्यम दीयमान दान दृष्ट्वा मुदं जनयति । जघन्य. मनुजः (दीयमान) दृष्ट्वा च श्रुत्वा अनुरागं न भजति ॥ १९ ॥ भविनाम् अभीतिप्रदायी देही दीर्घायुष्क शशिसितयशोव्याप्तदिक्चक्रवालः, सद्विद्याश्रीकुलबलधनप्रीतिकीर्तिप्रताप , शूर , धीरः, स्थिरतरमना , निर्भय. चारुरूप', त्यागी, भोगी भवति ॥ २० ॥ यत् शिखिवत् कर्मारण्य दहति, मातृवत् दुःखात् पाति, गुरुवत् सम्यक् नीतिं वदति, स्वामिवत् बिभर्ति, तत् स्पष्टं, पूत, विगलितमलं सज्ञान मर्त्यं तत्त्वातत्त्वप्रकटनपटु [सन्] आप्नोति ॥ २१ ॥ मर्त्य अन्नस्य दानात् दाता, भोक्ता, बहुधनयुत , सर्वसत्त्वानुकम्पी, सत्सौभाग्य , मधुरवचन',

---

जो मूर्ख दान नही देता है वह दुर्बुद्धि मनुष्य स्वयं अपने आपको ठगता है—दुर्गतिमें डालता है ॥ १८ ॥ उत्तम बुद्धिका धारक मनुष्य दूसरेके द्वारा दिये जानेवाले दानके विषयमे दूसरोसे की गई प्रशसाको सुनकर उत्कृष्ट श्रद्धाको धारण करता हुआ अतिशय सन्तोषको प्राप्त होता है। मध्यम बुद्धिका धारक मनुष्य स्वयं या दूसरेके द्वारा भी दिये जानेवाले दानको देखकर हर्षित होता है। परन्तु हीनबुद्धि मनुष्य दिये जानेवाले दानको देखकर और सुनकर भी अनुरागको नही प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ प्राणियोंके लिये अभयदान देनेवाला मनुष्य लम्बी आयुसे सहित, चन्द्रके समान धवल यशसे दिङ्मण्डलको व्याप्त करनेवाला; सम्यग्ज्ञान, उत्कृष्ट लक्ष्मी, उत्तमकुल, बल, धन, प्रीति, कीर्ति और प्रतापसे संयुक्त, पराक्रमी, धीर, अतिशय दृढ़चित्त, निर्भय, सुन्दर रूपवाला, त्यागी तथा भोगी होता है ॥ २० ॥ जो सम्यग्ज्ञान अग्निके समान कर्मरूपी वनको जलाता है, माताके समान दुःखसे रक्षा करता है, गुरुके समान समोचीन नीतिको बतलाता है, स्वामीके समान पोषण करता है, और तत्त्व-अतत्त्वके प्रगट करनेमे दक्ष होता है; उस स्पष्ट, पवित्र एवं निर्मल सम्यग्ज्ञानको मनुष्य ज्ञानदानके द्वारा प्राप्त करता है ॥ २१ ॥ मनुष्य आहारके देनेसे दाता, सुखका भोक्ता, बहुत धनसे सहित, समस्त जीवोंपर दया करनेवाला, पुण्यशाली, मिष्टभाषी, कामदेवसे भी अधिक सुन्दर, विद्वान् और अहंकारसे

---

१ स सानुराग जघन्या. । २ स °यशो व्याप्तं । ३ स वीरः । ४ स भवंति । ५ स सखि । ६ स °पटु ।

495) दाता भोक्ता बहुधनयुतः सर्वसत्त्वानुकम्पी
'सत्सौभाग्यो मधुरवचनः कामरूपातिशायी ।
शश्वद्भक्त्या[2] बुधजनशतैः सेवनीयाङ्घ्रि[3]युग्मो
मर्त्यः प्राज्ञो व्यपगतमदो जायतेऽन्नस्य दानात् ॥ २२ ॥

496) रोगैर्वातप्रभृतिजनितैर्वह्निभिर्वाम्बुमग्नः
सर्वाङ्गीणव्यथनपटुभिर्बाधितुं नो स शक्यः ।
आजन्मान्तः परमसुखिनां[4] जायते[5] चौषधानां
दाता यो निर्जर[6]कुलवपुःस्थानकान्तिप्रतापः ॥ २३ ॥

497) दत्त्वा दानं जिनमतरुचिः कर्मनिर्नाशनाय
भुक्त्वा[7] भोगांस्त्रिदशवसतौ दिव्यनारीसनाथः ।
मर्त्यावासे वरकुलवपुर्जैनधर्मं विधाय
हत्वा[8] कर्म स्थिरतररिपुं मुक्तिसौख्यं प्रयाति ॥ २४ ॥
इति दाननिरूपण[9]चतुर्विंशतिः ॥ १९ ॥

कामरूपातिशायी, भक्त्या बुधजनशतैः शश्वत् सेवनीयाङ्घ्रियुग्मः, व्यपगतमदः प्राज्ञः जायते ॥ २२ ॥ यः औषधानां दाता, सः वह्निभिः अम्बुमग्नः वा वातप्रभृतिजनितैः सर्वाङ्गीणव्यथनपटुभिः रोगैः बाधितुं न शक्यः । आजन्मान्तः परमसुखिनां [तः] निर्जरकुलवपुःस्थानकान्तिप्रतापः जायते ॥ २३ ॥ जिनमतरुचिः कर्मनिर्नाशनाय दानं दत्त्वा त्रिदशवसतौ दिव्यनारीसनाथः भोगान् भुक्त्वा मर्त्यावासे वरकुलवपुः जैनधर्मं विधाय, स्थिरतररिपुं कर्म हत्वा मुक्तिसौख्यं प्रयाति ॥ २४ ॥
इति दाननिरूपणचतुर्विंशतिः ॥ १९ ॥

रहित होता है। उसके चरणयुगलकी सेवा निरन्तर भक्तिपूर्वक सैकड़ों विद्वान् करते हैं ॥ २२ ॥ जो मनुष्य अतिशय सुखप्रद औषधियोंको देता है उसे जिस प्रकार जलमें डूबे हुए प्राणीको अग्नि बाधा नही पहुँचा सकती उसी प्रकार वात आदि (पित्त व कफ)से उत्पन्न होकर समस्त अंगोको पीडित करनेवाले रोग बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। वह जन्मसे मरण पर्यन्त अतिशय सुखी रहकर विशिष्ट कुल, शरीर, स्थान, कान्ति और प्रतापसे सयुक्त होता है ॥ २३ ॥ जिनमतमें रुचि रखनेवाला (सम्यग्दृष्टि) जो मनुष्य कर्मको नष्ट करनेके लिये दान देता है वह प्रथमत स्वर्गमे देवागनाओके साथ उत्तम भोगोंको भोगता है और फिर मनुष्यलोकमे उत्तम कुल एव शरीरको धारण करके जैन धर्मको ग्रहण करता हुआ कर्मरूप प्रबल शत्रुको नष्ट करता है। इस प्रकारसे वह मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

इस प्रकार चौबीस श्लोकोमें दानका निरूपण किया ॥ १९ ॥

●

---

१ स तत्सौ° । २ स °द्भक्ता । ३ स °यांह्नि° । ४ स °सुषितो, °सुखिता । ५ स जाये, जायता । ६ स निर्भर°, निर्झर° । ७ स भुक्ता । ८ स हत्वा कर्म स्थिर° । ९ स °निरूपणम् ।

[२०. मद्यनिषेधपञ्चविंशतिः]

498) भवति मद्यवशेन मनोभ्रमो[1] भजति कर्म मनोभ्रमतो यतः ।
व्रजति कर्मवशेन च दुर्गतिं त्यजत[2] मद्यमतस्त्रिविधेन भोः[3] ॥ १ ॥

499) हसति नृत्यति गायति वल्गति[4] भ्रमति धावति मूर्छति शोचते ।
पतति रोदिति[5] जल्पति गद्गदं धमति धाम्यति मद्यमदातुरः[6] ॥ २ ॥

500) स्वसृसुताजननीरपि मानवो व्रजति सेवितुमस्तमति[7]र्यतः ।
[8]सगुणलोकविनिन्दितमद्यतः किमपरं खलु कष्टतरं ततः ॥ ३ ॥

501) गलति वस्त्रमधस्तनमीक्ष्यते[9] सकलमन्यतया श्लथते तनुः ।
स्खलति पादयुगं पथि गच्छतः किमु न मद्यवशाच्छ्रयते जनः[10] ॥ ४ ॥

502) असुभृतां वधमाचरति क्षणाद्वदति वाक्य[11]मसह्यमसूनृतम् ।
परकलत्रधनान्यपि वाञ्छति न कुरुते किमु मद्यमदाकुलः ॥ ५ ॥

मद्यवशेन मनोभ्रमो भवति । यतः मनोभ्रमतः नरः कर्म भजति । कर्मवशेन च दुर्गतिं व्रजति । अतः भोः त्रिविधेन मद्यं त्यजत ॥ १ ॥ मद्यमदातुरः हसति, नृत्यति, गायति, वल्गति, भ्रमति, धावति, मूर्च्छति, शोचते, पतति, रोदिति, गद्गदं जल्पति, धमति, धाम्यति ॥ २ ॥ यतः सगुणलोकविनिन्दितमद्यतः अस्तमतिः मानवः स्वसृसुताजननीः अपि सेवितुं व्रजति । ततः खलु अपरं कष्टतरं किम् ॥ ३ ॥ मद्यवशात् जनः किमु न श्रयते । अधस्तनं वस्त्रं गलति । सकलमन्यतया ईक्ष्यते । तनुः श्लथते । पथि गच्छतः पादयुगं स्खलति ॥ ४ ॥ मद्यमदाकुलः असुभृतां क्षणात् वधमाचरति । असह्यम् असू-

---

चूंकि मद्यके प्रभावसे मनोभ्रम होता है—भले-बुरेका विचार नष्ट हो जाता है, इस मनोभ्रमसे प्राणी कर्मकी सेवा करता है—पापका संचय करता है, तथा उस कर्मके वश होकर वह नरकादि दुर्गतिको प्राप्त होता है; इसीलिये हे भव्य जीवो ! आपलोग उस मद्यका मन, वचन और कायसे परित्याग कर दें ॥ १ ॥ मद्यके नशेमें चूर होकर मनुष्य हँसता है, नाचता है, गाता है, चलता है, चक्कर काटता है, दौड़ता है, मूर्छित हो जाता है, शोक करता है, गिरता है, रोता है, गद्गद् होकर भाषण करता है, फूँकता है और ······है ॥ २ ॥ गुणवान् लोगोंके द्वारा निन्दित मद्यका पान करनेसे मनुष्य बुद्धिहीन होकर चूंकि बहिन, पुत्री और माताको भी भोगनेके लिये उद्यत हो जाता है; अतएव इससे और अधिक कष्टकी बात क्या हो सकती है ? अभिप्राय यह कि जिस मद्यके पीनेसे मनुष्य माता और पत्नी आदिके भी विवेकसे रहित हो जाता है उस मद्यका सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ ३ ॥ मद्यके प्रभावसे मनुष्यका वस्त्र गिर जाता है, मद्यपायी मनुष्य अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझकर दूसरोंको नीचा देखता है—उन्हे तुच्छ मानता है, उसका शरीर शिथिल हो जाता है और मार्गमें चलते हुए उसके पैर लड़खड़ाते हैं। ठीक है—उस मद्यके प्रभावसे मनुष्य भला किसका आश्रय नहीं लेता है ? अर्थात् वह सब अनर्थोंको करता है ॥ ४ ॥ मद्यके नशेसे व्याकुल मनुष्य क्या नही करता है ? अर्थात् वह सब ही अकार्यको करता है—वह क्षणभरमें प्राणियोंकी हिंसा करता है, असह्य असत्य वचनको बोलता है और

---

१ स मतिभ्रमो । २ स त्यजति । ३ स भो । ४ स चलाति, वलाति । ५ स रोदति । ६ स मद्यमुदारधी । ७ स °गति° । ८ स सगुणि° । ९ स °मीक्षते । १० स यतः for जनः । ११ स वाच्य° ।

503) व्यसनमेति जनैः परिभूयते गदमुपैति न सत्कृतिमश्नुते[1] ।
भजति नीचजनं व्रजति क्लमं[2] किमिह कष्टमियर्ति न मद्यपः ॥ ६ ॥

504) प्रियतमामिव पश्यति मातरं प्रियतमां जननीमिव मन्यते ।
प्रचुरमद्यविमोहितमानसस्तदिह नास्ति न यत्कुरुते जनः[3] ॥ ७ ॥

505) अहह कर्मकरीयति भूपतिं नरपतीयति कर्मकरं नरः ।
जलनिधीयति कूपमपां[4] निधिं गतजलीयति मद्यमदा[5]कुलः ॥ ८ ॥

506) निपतितो वदते[6] धरणीतले [7]वमति सर्वजनेन विनिन्द्यते ।
श्वशिशुभिर्वदने[8] परिचुम्बिते बत सुरासुरतस्य च मूत्र्यते[9] ॥ ९ ॥

507) भवति जन्तुगणो[10] मदिरारसे [11]तनुतनुर्विविधो रसकायिकः[12] ।
पिबति[13] तं मदिरारसलालसः श्रयति दुःखममुत्र ततो जनः ॥ १० ॥

नृत वाक्यं वदति । परकलत्रधनानि अपि वाञ्छति । किमु न कुरुते ॥ ५ ॥ मद्यपः व्यसनम् एति, जनैः परिभूयते, गदम् उपैति, सत्कृतिं न अश्नुते, नीचजनं भजति, क्लमं व्रजति । इह किं कष्टं न इयर्ति ॥ ६ ॥ प्रचुरमद्यविमोहितमानसः जनः मातरं प्रियतमाम् इव पश्यति । प्रियतमां जननीम् इव मन्यते । यत् [सः] न कुरुते, इह तत् नास्ति ॥ ७ ॥ मद्यमदाकुलः नरः अहह भूपतिं कर्मकरीयति, कर्मकरं नरपतीयति, कूपं जलनिधीयति, अपां निधिं गतजलीयति ॥ ८ ॥ सुरासुरतस्य श्वशिशुभिः परिचुम्बिते वदने मूत्र्यते । [सः] धरणीतले निपतितः वदते, वमति, सर्वजनेन विनिन्द्यते बत ॥ ९ ॥ मदिरा-रसे तनुतनुः विविधः रसकायिकः जन्तुगणः भवति । मदिरारसलालसः जनः तं पिबति, ततः अमुत्र दुःखं श्रयति ॥ १० ॥

परस्त्री एवं परधनकी इच्छा करता है ॥ ५ ॥ मद्यको पीनेवाला मनुष्य आपत्तिको प्राप्त होता है, वह मनुष्यों-के द्वारा तिरस्कृत किया जाता है, रोगको प्राप्त होता है, सत्कारको कभी नहीं पाता है, नीच जनकी सेवा करता है, और खेदका अनुभव करता है। ठीक है—वह यहाँ कौन-से कष्टको नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् मद्यपायी मनुष्य सब ही प्रकारके कष्टको सहता है ॥ ६ ॥ मद्यपायी मनुष्य माताको वल्लभाके समान और वल्लभाको माताके समान मानता है। ठीक है—जिस मनुष्यका मन मद्यकी अधिकतासे मोहको (अज्ञानताको) प्राप्त हुआ है वह यहाँ ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसे न करता हो। अभिप्राय यह कि मद्यको पीनेवाला मनुष्य सब ही अविवेकपूर्ण कार्योंको करता है ॥ ७ ॥ खेद है कि मद्यके नशेसे व्याकुल हुआ मनुष्य राजाको तो सेवकके समान समझ लेता है और सेवकको राजाके समान मान बैठता है। उसे कुआ तो समुद्रके समान विशाल दिखता है और अपार जलवाला समुद्र निर्जल प्रतीत होता है ॥ ८ ॥ जो मनुष्य मद्यपानमें आसक्त होता है वह पृथिवीके ऊपर गिरकर बकवाद करता है, वमन (उल्टी) करता है, तथा सब मनुष्योंके द्वारा निन्दित होता है। खेद है कि कुत्तेके बच्चे (पिल्ले) उसके मुँहको चूमकर उसमें मूत भी देते हैं ॥ ९ ॥ मद्यके रसमें रसरूप शरीरको धारण करनेवाले सूक्ष्म शरीरके धारक अनेक प्रकारके क्षुद्र जीवोंका समुदाय होता है। चूँकि मद्यके स्वादकी अभिलाषा रखनेवाला मनुष्य उस मद्यका पान करता है इसीलिये वह परलोकमे दुःखको सहता है ॥ १० ॥ मनुष्य मद्यको पी करके कष्टको (या विनाशको) प्राप्त होता है, धनका नाश करता है,

---

१ स °मश्नुते, °मश्नुतो । २ स क्षमं । ३ स जने, जन । ४ स कूपमा विधि । ५ स °महाकुलः । ६ स वदति । ७ स °तलं । ८ स वदनं परिचुम्ब्यते । ९ स मूत्रति, मूत्रते । १० स °गुणो । ११ स तनु तनु° । १२ स °कायकः । १३ स पिबति....मदिराशति° ।

508) व्यसनमेति करोति धनक्षयं मदमुपैति न वेत्ति हिताहितम् ।
क्रममतीत्य तनोति विचेष्टितं भजति मद्यवशेन न कां क्रियाम् ॥ ११ ॥

509) रटति रुष्यति [1]तुष्यति वेपते पतति मुह्यति दीव्यति खिद्यते[2] ।
नमति हन्ति जनं ग्रहिलो यथा यदपि किंचन जल्पति मद्यतः ॥ १२ ॥

510) व्रततपोयमसंयम[3]नाशिनीं निखिलदोषकरीं मदिरां पिबन् ।
वदति[4] मर्मवचो[5] गतचेतनः किमु परं पुरुषस्य विडम्बनम् ॥ १३ ॥

511) श्रयति पापमपाकुरुते वृषं त्यजति सद्गुणमन्यमुपार्जति[6] ।
व्रजति दुर्गतिमस्यति सद्गतिं किमथवा कुरुते न[7] सुरारतः ॥ १४ ॥

512) नरकसंगमनं सुखनाशनं व्रजति यः परिपीय[8] सुरारसम्[9] ।
बत[10] विदार्य मुखं परिपाय्यते[11] प्रचुरदुःखमयो ध्रुवमत्र सः ॥ १५ ॥

513) पिबति यो मदिरामथ लोलुपः श्रयति दुर्गतिदुःखमसौ जनः ।
इति विचिन्त्य महामतयस्त्रिधा परिहरन्ति सदा मदिरारसम् ॥ १६ ॥

मद्यवशेन व्यसनम् एति, धनक्षयं करोति, मदम् उपैति, हिताहितं न वेत्ति, क्रमम् अतीत्य विचेष्टितं तनोति कां क्रिया न भजति ॥ ११ मद्यतः ग्रहिलः यथा रटति, रुष्यति, तुष्यति, वेपते, पतति, मुह्यति, दीव्यति, खिद्यते, नमति, जनं हन्ति, यदपि किंचन जल्पति ॥ १२ ॥ व्रततपोयमसंयमनाशिनी निखिलदोषकरी मदिरा पिबन् गतचेतन: मर्मवच: वदति । पुरुषस्य परं विडम्बनं किमु ॥ १३ ॥ सुरारतः पापं श्रयति, वृषम् अपाकुरुते, सद्गुणं त्यजति,अन्यम् उपार्जति, दुर्गतिं व्रजति, सद्गतिम् अस्यति, अथवा किं न कुरुते ॥ १४ ॥ य: अत्र सुरारस परिपीय सुखनाशन नरकसगमनं व्रजति प्रचुरदु:खमयः स: मुखं विदार्य ध्रुव परिपाय्यते बत ॥ १५ ॥ अथ यः लोलुपः जन. मदिरां पिबति असौ दुर्गतिदुःख श्रयति । इति

गर्वको धारण करता है, हित और अहितको नहीं जानता है, और मर्यादाका उल्लंघन करके प्रवृत्ति करता है । ठीक है—मद्यके वशसे प्राणी कौन-से कार्यको नही करता है ? अर्थात् वह सब ही अहितकर कार्यको करता है ॥ ११ ॥ मनुष्य मद्यसे ग्रहपीड़ित प्राणीके समान भाषण करता है, क्रोधित होता है, सन्तुष्ट होता है, काँपता है, गिरता है, मोहको प्राप्त होता है, क्रीड़ा करता है, खिन्न होता है, नमस्कार करता है, प्राणीका घात करता है, तथा कुछ भी बोलता है ॥ १२ ॥ व्रत, तप, यम और संयमको नष्ट करके समस्त दोषोंको करनेवाली मदिराको पीनेवाला मनुष्य मूर्छित होकर मर्मवचन (मर्मभेदी वचन) को बोलता है । ठीक है—इससे अधिक पुरुषकी और विडम्बना क्या हो सकती है ? ॥ १३ ॥ मनुष्य मद्यको पीता हुआ धर्मको नष्ट करके पापका आश्रय लेता है, समीचीन गुणोंको छोड़कर दोषका संचय करता है, तथा सद्गतिको नष्ट करके दुर्गतिको प्राप्त होता है । अथवा मद्यपानमें आसक्त हुआ प्राणी क्या नही करता है ? सब कुछ करता है ॥ १४ ॥ जो प्राणी मद्यको पीकरके सुखका नाश करनेवाली नरककी संगतिको प्राप्त होता है—नरकमें जाता है उसे वहाँ नियमसे मुखको फाड़ करके अतिशय दुखदायक लोहा पिलाया जाता है, यह कष्टकी बात है ॥ १५ ॥ जो लोलुपी मनुष्य मद्यको पीता है वह नरकादि दुर्गतिके दुखको भोगता है, ऐसा सोचकरके विवेकी जीव निरन्तर उस मद्यका मन वचन कायसे परित्याग करते हैं ॥ १६ ॥ जिस प्रकार अग्नि प्रबल इन्धनको जला देती है उसी

---

१ स om. तुष्यति । २ स खिद्यति । ३ स om. संयम । ४ स वदत्यधर्म°, वदति धर्म°, वदत धर्म° । ५ स °वचा । ६ स °पार्जिते, °पार्जते । ७ स न कुरुते । ८ स परिपाय । ९ स सुधारसम् । १० स वद विवादर्य । ११ स परिपायते ।

514) मननदृष्टिचरित्रतपोगुणं दहति वह्निरिवेन्धनमूर्जितम् ।
यदिह मद्यमपाकृतमुत्तमैर्न परमस्ति ततो दुरितं महत् ॥ १७ ॥

515) त्यजति[1] शौचमियर्ति विनिन्द्यतां श्रयति दोषमपाकुरुते गुणम् ।
भजति गर्वमपास्यति सद्गुणं हृतमना मदिरारसलङ्घितः १८ ॥

516) प्रचुरदोषकरीमिह वारुणीं पिबति यः परिगृह्य धनेन ताम् ।
असुहरं विषमुग्रमसौ स्फुटं पिबति मूढमतिर्जननिन्दितम् ॥ १९ ॥

517) तदिह[2] दूषणमङ्गिगणस्य नो विषमरिर्भुजगो [3]धरणीपतिः ।
यदसुखं व्यसनभ्रमकारणं वितनुते मदिरा [4]गुणिनिन्दिता ॥ २० ॥

518) [5]मतिधृतिद्युतिकीर्तिकृपाङ्गनाः[6] परि[7]हरन्ति रुषेव जनार्चिताः[8] ।
नरमवेक्ष्य सुराङ्गनयाश्रितं न हि परां सहते वनिताङ्गनाम् ॥ २१ ॥

विचिन्त्य महामतय. सदा मदिरारसं त्रिधा परिहरन्ति ॥ १६ ॥ वह्नि· ऊर्जितम् इन्धनम् इव मद्यं मननदृष्टिचरित्रतपोगुणं दहति । यत् उत्तमैः अपाकृतम् । इह ततः महत् पर दुरितं न अस्ति ॥ १७ ॥ मदिरारसलङ्घितः हृतमना शौच त्यजति, विनिन्द्यताम् इयर्ति, दोषं श्रयति, गुणम् अपाकुरुते, गर्व भजति, सद्गुणम् अपास्यति ॥ १८ ॥ इह यः धनेन प्रचुरदोषकरी ता वारुणी परिगृह्य पिबति, असौ मूढमति स्फुट जननिन्दितम् उग्रम् असुहरं विषं पिबति ॥ १९ ॥ इह गुणिनिन्दिता मदिरा अङ्गिगणस्य व्यसनभ्रमकारण यत् असुख दूषण वितनुते तत् विषम् अरिः भुजग· धरणीपति· नो वितनुते ॥ २० ॥ जनार्चिता मतिधृतिद्युतिकीर्तिकृपाङ्गना· सुराङ्गनया श्रित नरम् अवेक्ष्य रुषा इव परिहरन्ति । हि वनिता पराम् अङ्गनां न सहते ॥ २१ ॥ इह मदिरावश त कलहम् आतनुते, येन जीवित निरस्यति, वृषम् अपास्यते, मल सचिनुते, धनम् अपैति,

---

प्रकार जो मद्य वृद्धिगत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप गुणोको भस्म कर देता है। उसका यहाँ उत्तम पुरुषोंने परित्याग किया है। उससे दूसरा और कोई महापाप नही है--वही सबसे बड़ा पाप है ॥ १७ ॥ मदिरासे आक्रान्त मनुष्य विमनस्क होकर--विवेकसे रहित होकर--पवित्र आचरणको छोड़ देता है और निन्द्य आचरणको करता है, गुणको नष्ट करके दोषका आश्रय लेता है, तथा समोचोन गुणका घात करके गर्वको धारण करता है ॥ १८ ॥ जो मनुष्य यहाँ अनेक दोषोको उत्पन्न करनेवाली उस मदिराको धनसे ग्रहण करके--खरीद करके--पीता है वह दुर्बुद्धि स्पष्टतया लोगोसे निन्दित, प्राण--घातक एव भयानक तीव्र विषको पीता है। तात्पर्य यह कि मदिरा प्राणीका विषसे अधिक अहित करनेवाली है ॥ १९ ॥ प्राणिसमूहके लिये कष्टकारक, ससार परिभ्रमणके कारणभूत जिस दुखदायक दोषको गुणो जनसे निन्दित वह मदिरा करती है उसको न तो विप करता है, न शत्रु करता है, न सर्प करता है, और न राजा भी करता है ॥ २० ॥ मनुष्योसे पूजित बुद्धि, धृति (धैर्य), कीर्ति और दया रूप स्त्रिया मनुष्यको मदिरारूप अन्य स्त्रीके वशोभूत देखकर मानो क्रोधसे ही उसे छोड़ देती हैं। ठीक है--एक स्त्री किसी दूसरी स्त्रीका रहना नही सहती है ॥ २१ ॥ विशेषार्थ—जो मद्यको पीता है उसकी बुद्धि, धैर्य, यश और दया आदि उत्तम गुण नष्ट हो जाते हैं। इसके ऊपर यहाँ यह उत्प्रेक्षा की गई है कि चूँकि पुरुष बुद्धि आदिरूप उन स्त्रियोंकी उपेक्षा करके मदिरारूप अन्य स्त्रीसे अनुराग करने लगता है इसीलिये हो मानों वे रुष्ट होकर उसे छोड़ देती है ॥ २१ ॥ मदिराके वशमें हुआ मनुष्य यहाँ दूसरोके

---

१ स त्यज्यति । २ स तदिय । ३ स धरिणी । ४ स गुण° । ५ स मृतिधृति° । ६ स °ङ्गना । ७ स परहरन्ति । ८ स °र्चितं ।

519) कलहमातनुते मदिरावशस्समिह येन निरस्यति जीवितम्[1] ।
वृषमपास्यति संचिनुते मलं धनमपैति[2] जनै. परिभूयते ॥ २२ ॥

520) स्वजनमन्यजनीयति मूढधी. परजनं स्वजनीयति मद्यप ।
किमथवा बहुना कथितेन भो द्वितयलोकविनाशकरी सुरा[3] ॥ २३ ॥

521) भवति मद्यवशेन मनोभव[4] "सकलदोषकरो ऽत्र शरीरिणः ।
भजति तेन विकारमनेकधा गुणयुतेन[6] सुरा परिवर्ज्यते ॥ २४ ॥

522) प्रचुरदोषकरी[7] मदिरामिति द्वितयजन्मविबाधविचक्षणाम्[8] ।
निखिलतत्त्वविवेचक[9] मानसा परिहरन्ति सदा गुणिनो जना. ॥ २५ ॥

इति मद्यनिषेध[10]पञ्चविंशतिः ॥ २० ॥

जनैः परिभूयते ॥ २२ ॥ मद्यप. मूढधी स्वजनम् अन्यजनीयति, परजनं स्वजनीयति । अथवा बहुना कथितेन किम् । भो:, सुरा द्वितयलोकविनाशकरी ॥ २३ ॥ अत्र मद्यवशेन शरीरिणः सकलदोषकर. मनोभव. भवति । तेन शरीरी अनेकधा विकारं भजति । [अत] गुणयुतेन सुरा परिवर्ज्यते ॥ २४ ॥ निखिलतत्त्वविवेचकमानसा. गुणिन: जनाः इति प्रचुरदोषकरी द्वितयजन्मविबाधविचक्षणा मदिरा सदा परिहरन्ति ॥ २५ ॥

इति मद्यनिषेधपञ्चविंशतिः ॥ २० ॥

साथ ऐसा लडाई-झगड़ा करता है जिससे कि वह अपने जीवनको नष्ट कर बैठता है। वह धर्मको नष्ट करके पापमलका संचय करता है, धनका नाश करता है, तथा दूसरे लोगोंके द्वारा तिरस्कृत होता है ॥ २२ ॥ मद्यको पीनेवाला मूर्ख मनुष्य अपने कुटुम्बी जनको अन्य समझने लगता है और अन्य जनको कुटुम्बी समझने लगता है। अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? हे भव्य जन ! वह मदिरा इस लोक और परलोक दोनोंको ही नष्ट करनेवाली है ॥ २३ ॥ मद्यके प्रभावसे प्राणीके यहाँ समस्त दोषोंको उत्पन्न करने वाला काम उद्दीप्त होता है और उससे वह अनेक प्रकारसे विकारको भजता है—स्वस्त्री और परस्त्री आदिका विवेक न रखकर जिस किसी भी स्त्रीके साथ रमण करता है तथा अन्यान्य व्यसनोंमें भी आसक्त होता है। इसीलिये गुणवान् मनुष्य उस मद्यका परित्याग करता है ॥ २४ ॥ अपने मनको समस्त तत्त्वोंके विचारमें लगानेवाले गुणवान् मनुष्य अनेक दोषोंको उत्पन्न करके दोनो ही लोकोमे दुख देनेवाली उस मदिराका निरन्तर त्याग करते हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार पच्चीस श्लोकोंमे मद्यका निषेध किया ॥ २० ॥

---

१ स जीविता । २ स °वैति । ३ स सुधा । ४ स मनोभक । ५ स सफल° । ६ स गुणवतेन । ७ स °करीं । ८ स विचक्षणम् । ९ स विवेकक । १० स-°निषेधनिरूपणम् ।

[२१. मांसनिरूपणषड्विंशतिः]

523) मांसाशनाज्जीववधानुमोदस्ततो भवेत् पापमनन्तमुग्रम् ।
ततो व्रजेद्दुर्गतिमुग्रदोषां मत्वेति मांसं परिवर्जनीयम् ॥ १ ॥

524) तनूद्भवं[1] मांसमदन्नमेध्यं कृम्यालयं साधुजनप्रनिन्द्यम् ।
[2]निस्त्रिंशचित्तो विनिकृष्टगन्धं शुनो[3] विशेषं लभते कथं ना[4] ॥ २ ॥

525) मांसाशिनो नास्ति दयासुभाजां दयां विना नास्ति जनस्य पुण्यम् ।
पुण्यं विना याति दुरन्तदुःखं संसारकान्तारमलभ्यपारम् ॥ ३ ॥

526) पलादिनो[5] नास्ति जनस्य पापं वाचेति मांसाशिजनप्रभुत्वम् ।
ततो [6]वधास्तित्वमतो[7]ऽधमस्मान्निःपापवादी नरकं प्रयाति ॥ ४ ॥

मांसाशनात् जीववधानुमोदः, ततः अनन्तम् उग्रं पापं भवेत् । ततः उग्रदोषां दुर्गतिं व्रजेत् । इति मत्वा मांसं परिवर्जनीयम् ॥ १ ॥ तनूद्भवम् अमेध्यं कृम्यालयं साधुजनप्रनिन्द्यं विनिकृष्टगन्धं मांसम् अदन् निस्त्रिंशचित्तः ना शुनः विशेषं कथं लभते ॥ २ ॥ मांसाशिनः असुभाजां दया नास्ति, दयां विना जनस्य पुण्यं नास्ति, पुण्यं विना अलभ्यपारं दुरन्तदुःखं संसारकान्तारं याति ॥ ३ ॥ पलादिनः जनस्य पापं नास्ति इति वाचा मांसाशिजनप्रभुत्वम् । ततः वधास्तित्वम्, अतः अधम् अस्मात् निःपापवादी नरकं प्रयाति ॥ ४ ॥ षट्कोटिशुद्धं पलम् अश्नतः दोषः नो अस्ति, इति ये नष्टधियः वदन्ति,

---

मांसके खानसे जीवहिंसाका अनुमोदन होता है, उससे अनन्त तीव्र पाप होता है, और उससे प्राणी बड़े भारी दोषोसे परिपूर्ण नरकादि दुर्गतिको प्राप्त होता है। यह सोचकर आत्महितैषी प्राणियोंको उस मांस-भक्षणका परित्याग करना चाहिये ॥ १ ॥ जो मांस प्राणीके शरीरसे उत्पन्न होता है, अपवित्र है, लट आदि क्षुद्र कीड़ोका स्थान है, सज्जनोके द्वारा निन्दनीय है तथा दुर्गन्धसे युक्त है उसको खानेवाला मनुष्य भला कुत्तेसे कैसे विशेषताको प्राप्त होता है ? नही होता—उसमे और कुत्ते मे कोई भेद नही रहता है ॥ २ ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार विवेकसे रहित कुत्ता मासके दोषो तथा उसके भक्षणसे उत्पन्न होनेवाले पापका विचार न करके उसको खाता है उसीप्रकार यदि अपनेको श्रेष्ठ समझनेवाला मनुष्य भी उस अनेक दोषोंसे परिपूर्ण पापोत्पादक मासको खाता है तो फिर उसे उसे कुत्ते के ही समान समझना चाहिये। कारण कि उसमें जो कुत्तेकी अपेक्षा कुछ ज्ञानकी मात्रा अधिक थी सो उसका वह उपयोग करता नहीं है ॥ २ ॥ जो मांसको खाता है उसे प्राणियोंके प्रति दया नही रहती, दयाके बिना मनुष्यके पुण्यका उपार्जन नही होता, इसीलिए उक्त पुण्यके बिना प्राणी उस संसार रूप वनमे परिभ्रमण करता है जो दुर्विनाश दुःखोंसे परिपूर्ण और अपार है ॥ ३ ॥ जो प्राणी मांसको खाता है उसके कोई पाप नही होता; इसप्रकारके वचनसे मांसभोजी मनुष्योंको प्रभुता प्राप्त होती है, उससे जीवहिंसा होती है, इससे पाप और इससे मांसभक्षी प्राणीको निष्पाप बतलानेवाला मनुष्य नरकको जाता है ॥ ४ ॥ षट्कोटिशुद्ध मांसको खानेवाले जीवके कोई दोष नही होता,

---

१ स तनूद्गवं । २ स निस्त्रश°, निस्तृश°, निस्तृश° । ३ स श्वनो, शुनी° । ४ स न । ५ स °दिना । ६ स वध्या°, ७ स °मतोघमस्मा° ।

527) षट्कोटिशुद्धं पलमश्नतो नो दोषो ऽस्ति ये नष्टधियो वदन्ति।
नरादिमांसं प्रतिषिद्धमेतैः किं किं न षोढास्ति विशुद्धिरत्र ॥ ५ ॥

528) अश्नाति यो मांसमसौ विधत्ते वधानुमोदं त्रसदेहभाजाम्।
गृह्णाति रेपांसि[1] ततस्तपस्वी तेभ्यो दुरन्तं भवमेति जन्तुः ॥ ६ ॥

529) आहारभोजी कुरुते ऽनुमोदं[2] नरो वधे [3]स्थावरजङ्गमानाम्।
तस्यापि तस्माद्दुरितानुषङ्गमित्याह यस्तं प्रति वच्मि[4] किंचित् ॥ ७ ॥

530) ये[5] ऽन्नाशिनः स्थावरजन्तुघातान्मांसाशिनो ये[6] त्रसजीवघातात्।
दोषस्तयोः स्यात्परमाणुमेर्वोर्यथान्तरं बुद्धिमतेति वेद्यम् ॥ ८ ॥

531) अन्नाशने स्यात्परमाणुमात्रः प्रशक्यते शोधयितुं तपोभिः।
मांसाशने पर्वतराजमात्रो नो[7] शक्यते शोधयितुं महत्त्वात्[8] ॥ ९ ॥

532) मांसं यथा देहभृतः शरीरं तथान्नमप्यङ्गि[9]शरीरतातः[10]।
ततस्तयोर्दोषगुणौ समानावेतद्वचो युक्तिविमुक्तमत्र ॥ १० ॥

एतैः नरादिमांसं किं प्रतिषिद्धम्। अत्र षोढा विशुद्धिः न अस्ति किम् ॥ ५ ॥ यः मांसम् अश्नाति असौ त्रसदेहभाजाम् वधानुमोदं विधत्ते। ततः रेपांसि गृह्णाति। तेभ्य तपस्वी जन्तुः दुरन्त भवम् एति ॥ ६ ॥ आहारभोजी नर· स्थावरजन्मभाजा वधे अनुमोद कुरुते। तस्मात् तस्यापि दुरितानुषङ्गं य· आह, त प्रति किंचित् प्रतिवच्मि ॥ ७ ॥ ये अन्नाशिनः [तेषा] स्थावरजन्तुघातात्, ये मासाशिनः [तेषा] त्रसजीवघातात् दोष· स्यात्। इति बुद्धिमता तयोः परमाणुमेर्वोः यथा अन्तरं वेद्यम् ॥ ८ ॥ अन्नाशने परमाणुमात्र [दोष·] स्यात्। [सः] तपोभि. शोधयितु प्रशक्यते। मासाशने पर्वतराजमात्रः [सः] महत्त्वात् शोधयितु नो शक्यते ॥ ९ ॥ यथा मांस देहभृतः शरीर तथा अन्नम् अपि अङ्गिशरीरतातः।

ऐसा जो दुर्बुद्धि मनुष्य कहते हैं वे मनुष्य आदिके मासका निषेध क्यों करते हैं, क्या इसमें छह प्रकारकी विशुद्धि नही है ? अर्थात् यदि हिरण आदिके मासमे छह प्रकारकी विशुद्धि है तो फिर वह मनुष्यके मासमें भी होनी चाहिये, अतएव उसके खानेमें भी फिर कोई दोष नही समझा जाना चाहिये ॥ ५ ॥ जो जीव मांसको खाता है वह त्रस जीवोकी हिंसाका अनुमोदन करता है—उसको प्रोत्साहन देता है। इससे वह बेचारा निन्दित पापोको ग्रहण करता है जिससे कि दुर्विनाश संसारको प्राप्त होता है—अनन्त संसार परिभ्रमणके दुःखको सहता है ॥ ६ ॥ अन्नका भोजन करनेवाला मनुष्य स्थावर प्राणियोंकी हिंसाका अनुमोदन करता है, अतएव उसके पापका प्रसग प्राप्त होता है; ऐसी जो आशंका करता है उसके प्रति उत्तररूपमे कुछ कहता हूँ—उसके लिए निम्न प्रकारसे उत्तर दिया जाता है ॥ ७ ॥ जो मनुष्य अन्नको खाते हैं उनके स्थावर जीवोंकी हिंसासे पाप होता है, किन्तु जो मांसको खाते हैं उनके त्रस जीवोंकी हिंसासे पाप होता है। इस प्रकारसे यद्यपि पापके भागी वे दोनों ही प्राणी होते है, फिर भी बुद्धिमान् मनुष्यको उनके पापमें परमाणु और मेरुपर्वतके समान अन्तर समझना चाहिये ॥ ८ ॥ अन्नके खानेमें जो परमाणु प्रमाण स्वल्प पाप होता है उसको तपोंके द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। परन्तु मांसके खानेमे जो मेरुके समान भारी पाप होता है उसको अतिशय महान् होनेसे शुद्ध नही किया जा सकता है ॥ ९ ॥ जिस प्रकार मांस प्राणीका शरीर है उसी प्रकार अन्न भी प्राणीका शरीर है। इसलिये उन दोनोमें गुण और दोष समान हैं। इस प्रकारकी जो यहाँ यह

---

१ स रेफांसि। २ स न मोदं। ३ स om. स्थावर to येन्नाशिनः। ४ स वचि, प्रतिवच्मि। ५ स यो। ६ स यस्त्र, ये ऽत्र सजीवघातान्। ७ स न। ८ स महत्वात्। ९ स °प्यङ्ग, °प्यङ्गि श°। १० स °तप्तः।

533) मांसं शरीरं भवतीह जन्तोर्जन्तोः शरीरं न तु मांसमेव ।
यथा तमालो नियमेन वृक्षो वृक्षस्तमालो[1] न तु सर्वथापि ॥ ११ ॥
534) रसोत्कटत्वेन करोति गृद्धिं मांसं यथान्नं न[2] तथात्र जातु ।
ज्ञात्वेति मांसं परिवर्ज्य साधुराहारमश्नातु विशोध्य[3] पूतम् ॥ १२ ॥
535) करोति मांसं बलमिन्द्रियाणां ततो ऽभिवृद्धिं मदनस्य तस्मात् ।
करोत्ययुक्तिं प्रविचिन्त्य बुद्ध्या[4] त्यजन्ति मांसं त्रिविधेन सन्तः ॥ १३ ॥
536) गृद्धिं विना भक्षयतो न दोषो मांसं नरस्यान्नवदस्तदोषम् ।
एवं वचः केचिदुदाहरन्ति युक्त्या विरुद्धं तदपीह लोके ॥ १४ ॥

ततः तयो. दोषगुणौ समानौ । अत्र एतद्वचः युक्तिविमुक्तम् ॥ १० ॥ इह मासं जन्तो शरीरं भवति । तु जन्तोः शरीरं मांसम् एव न । यथा तमालः नियमेन वृक्षः । तु वृक्षः सर्वथा अपि तमालः न ॥ ११ ॥ यथा रसोत्कटत्वेन मांसं गृद्धिं करोति, तथा अत्र अन्नं जातु न । इति ज्ञात्वा मासं परिवर्ज्य साधु. विशोध्य पूतम् आहारम् अश्नातु ॥ १२ ॥ मांसम् इन्द्रियाणां बलं करोति । ततः मदनस्य अभिवृद्धिं (करोति) । तस्मात् अयुक्तिं करोति । इति बुध्या प्रविचिन्त्य सन्तः त्रिविधेन मांसं त्यजन्ति ॥ १३ ॥ अन्नवत् अस्तदोषं मासं गृद्धिं विना भक्षयत नरस्य न दोष , एव वचः केचित् उदाहरन्ति

आशंका की जाती है वह युक्तिसे रहित है ॥ १० ॥ उक्त शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँ मांस प्राणीका शरीर है, परन्तु प्राणीका शरीर मांस ही नही है। जैसे—तमाल नियमसे वृक्ष ही होता है, किन्तु वृक्ष सर्वथा तमाल ही नही होता है ॥ ११ ॥ विशेषार्थ—ऊपर श्लोक १०मे यह शका की गयी थी कि जिस प्रकार मांस मृग आदि प्राणियोका शरीर है उसी प्रकार अन्न भी तो वनस्पति कायिक प्राणियोका शरीर है फिर क्या कारण है जो अन्नके भोजनमें तो परमाणुके बराबर ही पाप हो और मांसके खानेमें मेरुके बराबर महान् पाप हो—वह दोनोंके खानेमे समान ही होना चाहिये, न कि हीनाधिक। इस आशंकाके उत्तरमें यह बतलाया है कि मांस प्राणीका शरीर अवश्य है, परन्तु सब ही प्राणियोका शरीर मांस नही होता है। उन दोनोमे तमाल और वृक्षके समान व्याप्य-व्यापकभाव है—जिस प्रकार जो तमाल होगा वह वृक्ष अवश्य होगा, किन्तु जो वृक्ष होगा वह तमाल ही नही होगा, वह तमाल भी हो सकता है और नीम आदि अन्य भी हो सकता है। उसी प्रकार जो मांस होगा, वह प्राणीका शरीर अवश्य होगा किन्तु जो प्राणीका शरीर होगा वह मास ही नही होगा—वह कदाचित् मांस भी हो सकता है और कदाचित् गेहूँ व चावल आदि रूप अन्य भी हो सकता है। इसीलिये मासमे जिस प्रकार अन्य त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती देखी जाती है उस प्रकार गेहूँ आदिमें वह निरन्तर नही देखी जाती है। अतएव मासके खानेमें जो महान् पाप होता है वह अन्नके खानेमें समानरूपसे नही हो सकता है—उसकी अपेक्षा अत्यल्प होता है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको निरन्तर मासका परित्याग करके अन्नका ही भोजन करना चाहिये ॥११॥ जिस प्रकार यहाँ स्वादिष्ट रसकी अधिकतासे मांस लोलुपताको उत्पन्न करता है उस प्रकार अन्न कभी नहीं उत्पन्न करता, ऐसा जान करके सज्जन मनुष्यके लिए मासका परित्याग करके सशोधन पूर्वक पवित्र आहारको खाना चाहिये ॥ १२ ॥ मांस इन्द्रियोंके बलको करता है—उन्हे बल प्रदान करता है, इससे कामकी वृद्धि होती है, और उससे फिर प्राणी अयोग्य आचरणको करता है, इस प्रकार बुद्धिसे विचार करके सज्जन मनुष्य उस मांस का मन, वचन और कायसे परित्याग करते हैं ॥ १३ ॥ अन्नके समान निर्दोष

१ स वृक्षस्तनुमालो न । २ स om. न, यथान्नेन न । ३ स संशोध्य । ४ स सर्वं for बुध्या ।

537) आहारवर्गे[1] सुलभे विचित्रे विमुक्तपापे भुवि विद्यमाने ।
प्रारम्भदुःखं विविधं प्रपोष्य[2] चेदस्ति[3] गृद्धिर्न किमत्ति[4] मांसम् ॥ १५ ॥
538) वरं विषं भक्षितमुग्रदोषं यदेकवारं कुरुते ऽसुनाशम् ।
मांसं महादुःखमनेकवारं ददाति जग्धं मनसापि पुंसाम् ॥ १६ ॥
539) अश्नाति यः संस्कुरुते निहन्ति ददाति[5] गृह्णात्यनुमन्यते च ।
एते षडप्यत्र विनिन्दनीया भ्रमन्ति संसारवने निरन्तम्[6] ॥ १७ ॥
540) चिरायुरारोग्यसुरू[7]पकान्तिप्रीतिप्रतापप्रिय[8]वादिताद्याः ।
गुणा विनिन्द्यस्य सतां[9] नरस्य मांसाशिनः सन्ति परत्र नेमे ॥ १८ ॥

इह लोके तत् अपि युक्त्या विरुद्धम् ॥ १४ ॥ गृद्धिः न अस्ति चेत् भुवि विमुक्तपापे विचित्रे सुलभे आहारवर्गे विद्यमाने विविधं प्रारम्भदुःखं प्रपोष्य मांसं किम् अत्ति ॥ १५ ॥ उग्रदोषं विष भक्षितं वरम् । यत् एकवारम् असुनाशं कुरुते । मनसा अपि जग्धं मासं पुसाम् अनेकवारं महादुःखं ददाति ॥ १६ ॥ अत्र य. [मांसम्] अश्नाति, संस्कुरुते, निहन्ति, ददाति, गृह्णाति, अनुमन्यते च । एते षट् अपि विनिन्दनीयाः संसारवने निरन्तरं भ्रमन्ति ॥ १७ ॥ सता विनिन्द्यस्य मांसाशिन. नरस्य परत्र चिरायुरारोग्यसुरूपकान्तिप्रीतिप्रतापप्रियवादिताद्याः इमे गुणाः न सन्ति ॥ १८ ॥ विद्यादयासंयमसत्यशौचध्या-

---

मांसको यदि मनुष्य लोलुपतासे रहित होकर खाता है तो उसके कोई दोष उत्पन्न नही होता, ऐसा कितने ही जन कहते है । उनका यह कथन भी युक्तिके विरुद्ध है । कारण यह कि यदि मासके खानेमें लोलुपता न होती तो फिर पृथ्वीपर विद्यमान अनेक प्रकारके निर्दोष आहारसमूह (गेहूँ, चावल आदि धान्य)के सुलभ होनेपर भी प्रारम्भमें बहुत प्रकारके दुःखको पुष्ट करके मनुष्य उस मासको क्यों खाता है ॥ १४-१५ ॥ विशेषार्थ— ऊपर कहा गया है कि मांस चूंकि गृद्धिको उत्पन्न करके इन्द्रियोंको उद्धत करता है जिससे कि मनुष्य कामके अधीन होकर असदाचरण करने लगता है, अतएव वह मांस हेय है । इसके ऊपर यह शका हो सकती थी कि मनुष्य यदि लोलुपतासे रहित होकर उसे खाता है तो उसमे अन्नाहारके समान कोई दोष नही होना चाहिये । इस शंकाके उत्तरस्वरूप यहाँ यह बतलाया है कि मांसके खानेमें जब लोलुपता होती है तब ही मनुष्य कष्ट-पूर्वक उसे प्राप्त करके खाता है । यदि उसे उसके खानेमे अतिशय अनुराग न होता तो फिर जब अनेक प्रकारका निर्दोष अन्नाहार यहाँ विद्यमान है और वह सुलभ भी है तब मनुष्य हिंसाजनक उस दुर्लभ मांसके खानेमें क्यों उद्यत होता है ? इससे उसकी तद्विषयक लोलुपता ही सिद्ध है । तीव्र दोषको उत्पन्न करनेवाले विषका भक्षण करना अच्छा है, क्योंकि वह केवल एक बार ही प्राणोंको नष्ट करता है । परन्तु मासका मनसे भी भक्षण करना—उसके खानेका विचार मात्र करना—अच्छा नही है, क्योकि वह अनेक बार प्राणोंका घात आदि करके मनुष्योंको महान् दुःख देता है ॥ १६ ॥ जो मनुष्य यहाँ मासको खाता है, उसे पकाता है, उसके लिए जीवघात करता है, उसे दूसरेको देता है, स्वयं ग्रहण करता है, और उसका अनुमोदन करता है, ये छहों प्रकारके मनुष्य निन्दाके पात्र होकर अनन्त ससारमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १७ ॥ जो मनुष्य मांसको खाता है उसकी इस लोकमें तो सत्पुरुष निन्दा किया करते हैं तथा परलोकमें उन्हें दीर्घ आयु, नीरोगता, सुन्दर रूप, कान्ति, प्रीति, प्रताप और प्रियवादित्व आदि गुण नही प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥ जो मनुष्य मांसका भक्षण

---

१ स °वर्गं । २ स प्रपोष्यं । ३ स प्रपो [ज्य यत्नतः] चेदस्त । ४ स किमत्त, किमस्ति । ५ स ददात्य । ६ स निरन्तरम् निरन्तरे । ७ स °स्वरूप° । ८ स °प्रेय° । ९ स सता, सतानुकंपा ।

541) विद्यादयासंयमसत्यशौचध्यानव्रतज्ञानदमक्ष[1]माद्याः ।
संसारनिस्तारनिमित्तभूताः पलाशिनः सन्ति गुणाः न सर्वे ॥ १९ ॥

542) मृगान्वरा[2]कांश्चलतो ऽपि [3]तूर्णं निरागसो ऽत्यन्तविभीतचित्तान्[4] ।
ये ऽश्नन्ति मांसानि निहत्य पापास्तेभ्यो निकृष्टा अपरे[5]न सन्ति ॥ २० ॥

543) मांसान्यशित्वा विविधानि मर्त्यो यो निर्दयात्मा नरकं प्रयाति ।
निकृत्य शस्त्रेण परैर्निकृष्टैः प्रखाद्यते[6] मांसमसौ स्वकीयम् ॥ २१ ॥

544) निवेद्य [7]सत्त्वेष्वपदोषभावं ये ऽश्नन्ति पापाः पिशितानि गृध्राः ।
तैः कारितो ऽतीव वधः समस्तस्तेभ्य[8]ष्ठको नास्ति च[9] हिंसको हि ॥ २२ ॥

545) शास्त्रेषु येष्वङ्गिवधः प्रवृत्तः [10]ठकोक्तशास्त्राणि यथा न तानि ।
प्रमाणमिच्छन्ति विबुद्धतत्त्वाः संसारकान्तारम[11]निन्दनीयाः ॥ २३ ॥

546) यद्रक्तरेतोमल[12]वीर्यमङ्गं मांसं [13]तदुद्भूतमनिष्टगन्धम् ।
यद्यश्नतो[14] ऽमेध्य[15]समं न दोष[16]स्तर्हि [17]श्वचण्डालवृका न दुष्टाः ॥ २४ ॥

व्रतज्ञानदमक्षमाद्याः संसारनिस्तारनिमित्तभूताः सर्वे गुणाः पलाशिनः न सन्ति ॥ १९ ॥ निरागसः अत्यन्तविभीतचित्तान् तूर्णं चलतः अपि वराकान् मृगान् निहत्य ये पापाः मांसानि अश्नन्ति तेभ्यः अपरे निकृष्टाः न सन्ति ॥ २० ॥ यः निर्दयात्मा मर्त्यः विविधानि मांसानि अशित्वा नरकं प्रयाति असौ परैः निकृष्टैः शस्त्रेण निकृत्य स्वकीयं मांसं प्रखाद्यते ॥ २१ ॥ ये पापाः गृध्राः सत्त्वेषु अपदोषभावं निवेद्य पिशितानि अश्नन्ति, तैः अतीव समस्तः वधः कारितः । हि तेभ्यः ठकः हिंसकः च नास्ति ॥ २२ ॥ येषु शास्त्रेषु अङ्गिवधः प्रवृत्तः तानि ठकोक्तशास्त्राणि, विबुद्धतत्त्वाः अनिन्दनीयाः, प्रमाणं यथा न इच्छन्ति । [यतः ते] संसारकान्तारं न इच्छन्ति ॥ २३ ॥ यत् अङ्गं रक्तरेतोमलवीर्यं तदुद्भूतम् अनिष्टगन्धं मांसम् ।

करता है उसके संसारनाशके कारणभूत विद्या, दया, संयम, सत्य, शौच, ध्यान, व्रत, ज्ञान, दया, क्षमा आदि ये सब गुण नहीं होते हैं ॥ १९ ॥ जो मृग बेचारे तीव्र वेगसे भी चलते हैं—दौड़ते हैं, किसीका कुछ अपराध नहीं करते हैं तथा जिनका चित्त अतिशय भयभीत है उनको मारकर जो पापी मांसको खाते हैं उनसे निकृष्ट और दूसरे कोई नहीं हैं—वे सबसे अधम हैं ॥ २० ॥ जो क्रूर मनुष्य अनेक प्रकारके मांसको खाकर नरकमें जाता है उसे दूसरे निकृष्ट प्राणी शस्त्रसे उसका ही मांस काटकर खिलाते हैं ॥ २१ ॥ जो मांसके लोलुपी पापी प्राणी लोगोंमे निर्दोषता प्रगट करके मांसको खाते हैं उन्होने समस्त ही वधको अत्यधिक रूपसे किया है अर्थात् वे सबसे अधिक पापको करते हैं। उनसे अधिक दूसरा कोई ठग और हिंसक नहीं है—वे सबसे अधिक धूर्त (आत्म-परवंचक) और पापी हैं ॥ २२ ॥ जिन शास्त्रोंमें प्राणिहिंसा प्रवृत्त है अर्थात् जो शास्त्र जीवोंको प्राणिहिंसामें प्रवृत्त करनेवाले हैं उन्हे तत्त्वके जानकार अनिन्दनीय सत्पुरुष धूर्तोंसे रचे गये शास्त्रोंके समान प्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि वे संसाररूप वनमें परिभ्रमण करनेवाले हैं ॥ २३ ॥ जो शरीर रुधिर, शुक्र, मल एवं वीर्य स्वरूप है उससे उत्पन्न हुआ मांस दुर्गन्धसे युक्त होता है। यदि उसे खानेवाले मनुष्यके पवित्र अन्नाहारको खानेवालेके समान कोई दोष न हो तो फिर कुत्ता, चाण्डाल और भेड़िया भी दुष्ट नहीं कहे जा

१ स °क्षमाद्याः । २ स वराकयंश्चलिते । ३ स पर्णान् for तूर्णं, तूर्णान्नि° । ४ स °चित्ता । ५ स अपरेण । ६ स प्रखाद्यते । ७ स सत्त्वभूयदोष° । ८ स तेभ्यो वको, तेभ्यो बको । ९ स व for च । १० स वकोक्त°, येकोकशास्त्राणि, बकोक्त° । ११ स °निनिंद्यनीयः, °विनिन्दनीयः । १२ स °वार्षमंगं, °रेतो मलवार्य° । १३ स तदोद्भूत° । १४ स यद्यश्नते, यद्यश्नुते, यद्यस्नुते । १५ स मेध्य° । १६ स दोषं । १७ स स्ववाण्डाल ।

547) धर्मद्रुमस्यास्तमलस्य मूलं निर्मूलमुन्मूलितमङ्गभाजाम् ।
शिवादिकल्याणफलप्रदस्य मांसाशिना स्यान्न कथं नरेण ॥ २५ ॥
548) दुःखानि यान्यत्र[1] कुयोनिजानि[2] भवन्ति सर्वाणि नरस्य तानि ।
पलाशनेनेति विचिन्त्य सन्तस्त्यजन्ति मांसं त्रिविधेन नित्यम् ॥ २६ ॥
॥ इति मांस[3]निरूपणषड्विंशतिः ॥ २१ ॥

यदि अमेध्यसमम् अश्नतः न दोषः तर्हि चाण्डालवृकाः न दुष्टाः ॥ २४ ॥ अङ्गभाजा शिवादिकल्याणफलप्रदस्य अस्तमलस्य धर्मद्रुमस्य मूलं मासाशिना नरेण निर्मूलं कथम् उन्मीलितं न स्यात् ॥ २५ ॥ अत्र नरस्य यानि सर्वाणि कुयोनिजानि दुःखानि भवन्ति, तानि पलाशनेन इति विचिन्त्य सन्तः मासं नित्यं त्रिविधेन त्यजन्ति ॥ २६ ॥
इति मासनिरूपणषड्विंशतिः ॥ २१ ॥

सकेंगे ॥ २४ ॥ विशेषार्थ--लोकमें कुत्ता, चाण्डाल और भेड़िया आदि मांसभोजी हिंसक प्राणी इसीलिये तो दुष्ट समझे जाते हैं कि वे अन्य प्राणियोंको मारकर उनके अपवित्र मांसको खाते हैं। यदि मनुष्य भी उस अपवित्र मांसको खाता हुआ अपनेको अन्नभोजीके समान निर्दोष मानने लग जावे तो फिर उक्त कुत्ते आदिको भी क्यों दुष्ट समझा जायगा ? तात्पर्य यह है कि विवेकी कहलानेवाले जो मनुष्य उस घृणित एवं पापोत्पादक मांसका भक्षण करते हैं उन्हें कुत्ता और भेड़िया आदि पशुओसे भी निकृष्ट समझना चाहिये ॥ २४ ॥ जो मनुष्य मांसको खाता है वह प्राणियोंके लिये मोक्ष आदिके सुखरूप फलको देनेवाले निर्मल धर्मरूप वृक्षकी जड़को पूर्णतया कैसे नहीं नष्ट करता है ? अर्थात् वह धर्मरूप वृक्षको जड़-मूलसे ही उखाडता है ॥ २५ ॥ संसारमें नरकादि दुर्गतिसे उत्पन्न होनेवाले जो भी दुख हैं वे सब ही मनुष्यको मांसके खानेसे प्राप्त होते हैं; यह विचार करके सज्जन पुरुष उस मांसका निरन्तर मन, वचन और कायसे त्याग करते हैं ॥ २६ ॥
इसप्रकार छब्बीस श्लोकोंमें मासका निरूपण किया ।

●

---

१ स यानत्र । २ स °योनियानि । ३ स. °निषेध.निरूपणम् ।

[२२. मधुनिषेधद्वाविंशतिः]

549) मध्वस्यतः[1] कृपा नास्ति पुण्यं नास्ति कृपां विना।
विना पुण्यं नरो दुःखी[2] पर्यटेद् भवसागरे[3] ॥ १ ॥

550) एकैको ऽसंख्यजीवानां घाततो[4] मधुनः कणः।
निष्पद्यते यतस्तेन मध्वस्यति[5] कथं बुधः ॥ २ ॥

551) ग्रामाणां सप्तके[6] दग्धे यद्भवेत्सर्वथा नृणाम्।
पापं तदेव निर्दिष्टं भक्षिते[7] मधुनः कणे ॥ ३ ॥

552) एकैकस्य यदादाय पुष्पस्य मधु संचितम्।
किंचिन्मधुकरीवर्गै[8]स्तदप्यश्नन्ति निर्घृणाः[9] ॥ ४ ॥

553) अनेकजीवघातोत्थं म्लेच्छोच्छिष्टं मलाविलम्।
मलाक्तपात्रनिक्षिप्तं[10] किं शौचं लिहतो[11] मधु ॥ ५ ॥

554) वरं हालाहलं पीतं सद्यः प्राणहरं विषम्।
न[12] पुनर्भक्षितं[13] शश्वद् दुःखदं मधु देहिनाम् ॥ ६ ॥

मधु अस्यतः कृपा नास्ति। कृपा विना पुण्यं नास्ति। पुण्यं विना दुःखी नरः भवसागरे पर्यटेत् ॥ १ ॥ यतः असंख्य-जीवानां घाततः मधुनः एकैकः कणः निष्पद्यते, तेन बुधः कथं मधु अस्यति ॥ २ ॥ ग्रामाणां सप्तके दग्धे नृणां यत्पापं सर्वथा भवेत्, तदेव मधुनः कणे भक्षिते निर्दिष्टम् ॥ ३ ॥ मधुकरीवर्गैः एकैकस्य पुष्पस्य किंचित् मधु आदाय संचितं तदपि निर्घृणाः अश्नन्ति ॥ ४ ॥ अनेकजीवघातोत्थं म्लेच्छोच्छिष्टं मलाविलं मलाक्तपात्रनिक्षिप्तं मधु लिहतः शौचं भवेत् किम् ॥ ५ ॥ सद्यः प्राणहरं हालाहलं विषं पीतं वरम्। पुनः देहिनां शश्वत् दुःखदं मधु भक्षितं न वरम् ॥ ६ ॥ संसारे

जो मनुष्य मधु (शहद) को खाता है उसके दया नहीं रहती है, दयाके बिना पुण्यका उपार्जन नहीं होता, और पुण्यके बिना मनुष्य दुखी होकर संसाररूप समुद्रमें गोता खाता है ॥ १ ॥ मधुका एक-एक कण चूँकि असंख्यात जीवोंके घातसे उत्पन्न होता है इसीलिये विद्वान् मनुष्य उसे कैसे खाता है ? अर्थात् उसे विवेकी मनुष्य कभी नहीं खाता है ॥ २ ॥ सात गाँवोंके भस्म होने पर मनुष्योंके जो सर्वथा पाप होता है वही पाप मधु-के एक कणके खाने पर होता है; ऐसा आगममें कहा गया है ॥ ३ ॥ मक्खियोंके समूहने एक-एक फूलसे कुछ थोड़ा-थोड़ा लेकर जिस मधुको संचित किया है उसे भी निर्दय मनुष्य खा जाते है, यह खेदकी बात है ॥ ४ ॥ जो मधु अनेक जीवोंके घातसे उत्पन्न हुआ है, म्लेच्छोंके द्वारा जूठा किया गया है, मलसे परिपूर्ण है, और मल-से लिप्त पात्रमें रखा गया है उसको खानेवाले मनुष्यके भला पवित्रता कैसे रह सकती है ? नहीं रह सकती ॥५॥ जो हलाहल विष शीघ्र ही प्राणोंको हरनेवाला है उसका पी लेना कहीं अच्छा है, परन्तु प्राणियों-को निरन्तर दुख देनेवाले मधुका भक्षण करना योग्य नहीं है ॥ ६ ॥ संसारमें जो भी अनेक प्रकारके दुख विद्य-

---

१ स मध्वश्यतः। २ स पर्यटति। ३ स °सागरः। ४ स घातितो। ५ स मध्वश्यति। ६ स सप्तको। ७ स भक्षतः, भक्षते। ८ स °वर्गे। ९ स निर्घणाः, निघृणा, निघृणः। १० स °पात्रं निक्षिप्तं। ११ स लिहते। १२ स ·। १३ स भक्षतं, भक्षतः।

555) दुःखानि यानि[1] संसारे विद्यन्ते ऽनेकभेदतः।
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते जीवेन मधुभक्षणात्[2] ॥ ७ ॥
556) शमो दमो दया धर्मः संयमः शौचमार्जवम्।
पुंसस्तस्य न विद्यन्ते यो लेढि मधु लालसः ॥ ८ ॥
557) औषधायापि यो मर्त्यो मध्वस्यति विचेतनः।
कुयोनौ जायते सो ऽपि किं पुनस्तत्र लोलुप. ॥ ९ ॥
558) प्रमादेनापि यत्पीतं[3] भवभ्रमणकारणम्।
तदश्नाति कथं विद्वान् भीतचित्तो भवान्मधु ॥ १० ॥
559) एकमप्यत्र यो बिन्दुं[4] भक्षयेन्मधुनो नरः।
सो ऽपि दुःखवृषा[5]कीर्णे पतते भवसागरे[6] ॥ ११ ॥
560) ददाति लाति यो भुङ्क्ते निर्दिशत्यनुमन्यते।
गृह्णाति माक्षिकं पाप. षडेते समभागिनः[7] ॥ १२ ॥
561) एकत्रापि हृते जन्तौ पापं भवति दारुणम्।
न सूक्ष्मानेकजन्तूनां घातिनो मधुपस्य किम् ॥ १३ ॥

अनेकभेदत. यानि दुःखानि विद्यन्ते जीवेन मधुभक्षणात् तानि सर्वाणि लभ्यन्ते ॥ ७ ॥ लालस. य मधु लेढि तस्य पुंस शम. दम दया, धर्मः, सयम , शौचम् आर्जव न विद्यन्ते ॥ ८ ॥ विचेतन. य मर्त्य औषधाय अपि मधु अस्यति सः अपि कुयोनौ जायते तत्र लोलुप· पुन. किम् ॥ ९ ॥ प्रमोदनापि यत् पीतं भवभ्रमणकारणं भवति तत् मधु भवात् भीतचित्तः विद्वान् कथम् अश्नाति ॥ १० ॥ अत्र य· नर मधुन एकं बिन्दुम् अपि भक्षयेत् सः अपि दुःखवृषाकीर्णे भवसागरे पतते ॥ ११ ॥ य पाप. माक्षिक ददाति, यः लाति, य· भुङ्क्ते, य. निर्दिशति, य. अनुमन्यते, य. गृह्णाति, एते षट् समभागिन. ॥ १२ ॥ एकत्र जन्तौ अपि हृते दारुणं पापं भवति। सूक्ष्मानेकजन्तूना घातिनः मधुपस्य [पुनः] किम् ॥ १३ ॥

मान हैं वे सब जीवको मधुके खानेसे प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ मधुमें आसक्ति रखनेवाला जो पुरुष उसका स्वाद लेता है उसके शम, दम, दया, धर्म, सयम, शौच और आर्जव ये गुण नही होते हैं ॥ ८ ॥ जो मूर्ख मनुष्य औषधिके लिये भी मधुको खाता है वह भी जब दुर्गतिको प्राप्त होता है तब भला उसमें आसक्ति रखनेवाले मनुष्यके विषयमें क्या कहा जाय ? अर्थात् उसे तो दुर्गतिका महान् दुख सहना ही पड़ेगा ॥ ९ ॥ प्रमादसे भी पिया गया जो मधु ससार परिभ्रमणका कारण होता है उसको संसारसे भयभीत विद्वान् मनुष्य कैसे खाता है ? अर्थात् नही खाता है ॥ १० ॥ जो मनुष्य यहाँ एक ही मधुकी बूंदको खाता है वह भी दुखरूप मछलियोंसे व्याप्त ससाररूप समुद्रमें गिरता है। अभिप्राय यह कि जब एक बिन्दु मात्र मधुको खानेवाला मनुष्य संसार-परिभ्रमणके दुखको भोगता है तब उसे निरन्तर आसक्तिपूर्वक अधिक मात्रामें खानेवाला मनुष्य तो नियमसे उस ससारपरिभ्रमणके दुःसह दुखको भोगेगा ही, इसमें सन्देह ही क्या है ? ॥ ११ ॥ जो पापी मनुष्य मक्खियों-के मधुको देता है, ग्रहण करता है, खाता है, निर्देश करता है, अनुमोदन करता है और लेता है; ये छहों प्राणी समान पापके भागी होते है ॥ १२ ॥ एक ही जीवका घात होने पर जब भयानक दुख होता है तब सूक्ष्म अनेक जीवोंका घात करनेवाले मधुपायी मनुष्यके क्या वह भयानक दुख न होगा ? अवश्य होगा ॥ १३ ॥ जो निर्दय

---

[1] स om. यानि। [2] स मधूलालसः। [3] स यत्पापं। [4] स विंदं। [5] स °झषा°, °तृषाकीर्णः। [6] स °सागरः। [7] स °भागिव।

562) यो ऽश्नाति मधु निस्त्रिंशस्तज्जीवास्तेन मारिताः ।
चेन्नास्ति खादकः[1] कश्चिद्वधकः स्यात्तदा[2] कथम् ॥ १४ ॥
563) एकत्र मधुनो बिन्दौ भक्षते[3] ऽसंख्यदेहिनः
यो हि न स्यात्कृपा तस्य तस्मान्मधुः न भक्षयेत्[4] ॥ १५ ॥
564) अनेकदोषदुष्टस्य मधुनो[5] ऽपास्तदोषताम् ।
यो[6] ब्रूते तद्रसासक्तः[7] सो ऽसत्याम्बुधिरस्तधीः ॥ १६ ॥
565) यद्यल्पे ऽपि[8] हृते द्रव्ये लभन्ते व्यसनं जनाः ।
निःशेषं मधुकर्यर्थं[10] मुष्णन्तो[11] न कथं व्यधुः ॥ १७ ॥
566) मधुप्रयोगतो[12] वृद्धिर्मदनस्य ततो जनः ।
संचिनोति [13]महत्पापं यात्यतो नरकावनिम् ॥ १८ ॥
567) दीनैर्मधुकरैर्वर्गैः संचितं मधु कृच्छ्रतः ।
यः स्वीकरोति निस्त्रिंशः सो ऽन्यत्त्यजति किं नरः ॥ १९ ॥

यः निस्त्रिंश मधु अश्नाति तेन तज्जीवा मारिता । चेत् कश्चित् खादकः नास्ति तदा वधक कथं स्यात् ॥ १४ ॥ हि यः मधुन बिन्दौ असंख्यदेहिन. भक्षते, तस्य कृपा न स्यात् । तस्मात् मधु न भक्षयेत् ॥ १५ ॥ तद्रसासक्त य अनेकदोष-दुष्टस्य मधुन॰ अपास्तदोषता ब्रूते स अस्तधी. असत्याम्बुधि ॥ १६ ॥ यदि अल्पे अपि द्रव्ये हृते जना॰ व्यसनं लभन्ते [तर्हि] नि.शेष मधुकर्यर्थं मुष्णन्त. कथ न व्यधु ॥ १७ ॥ मधुप्रयोगतः मदनस्य वृद्धिः । तत. जनः महत्पापं सचिनोति । अतः (जन.) नरकावनिं याति ॥ १८ ॥ य॰ निस्त्रिंश॰ नर. दीनैः मधुकरै. वर्गैः कृच्छ्रतः संचितं मधु स्वीकरोति स. अन्यत्

प्राणी मधुको खाता है वह तद्‌गत जीवोंको मारता है। ठीक है—यदि खानेवाला न हो तो जीववध करनेवाला कैसे होगा ? नही होगा ॥ १४ ॥ विशेषार्थ—जो यह विचार करता है कि स्वयं जीववध न करके यदि वह मधु दूसरेके पाससे प्राप्त होता है तो उसके खानेमे कोई हानि नहीं है। कारण कि उसके लिये जो जीववध किया गया है वह अपने निमित्तसे नही किया गया है। ऐसा विचार करनेवालेको लक्ष्य करके यहाँ यह बतलाया है कि जब मधुके ग्राहक रहते हैं तब ही घातक मनुष्य निरपराध प्राणियोका बध करके मधुको प्राप्त करता है, न कि ग्राहकोके अभावमें। अतएव वैसी अवस्थामे भी मधुभोजी मनुष्य प्राणिहिंसाके पापसे मुक्त नही हो सकता है ।। १४ ॥ जो मनुष्य मधुकी एक बूंदमें असंख्यात जीवोको खाता है—उनका नाश करता है—उसके हृदयमें दया नही रह सकती है। इसलिये मधुके खानेका त्याग करना चाहिये ॥ १५ ॥ जो मनुष्य मधुके स्वाद-में आसक्त होकर अनेक दोषोसे दूषित उस मधुको निर्दोष बतलाता है वह मूर्ख असत्यका समुद्र है—अतिशय झूठ बोलता है ॥ १६ ॥ यदि थोड़ा-सा भी धन हरा जाता है तो मनुष्य दुखको प्राप्त होते हैं। फिर भला जो मनुष्य मधुमक्खियोके सब ही धन (मधु) को अपहरण करते हैं वे उन्हे कैसे दुखी नहीं करते है ? अवश्य ही दुखी करते हैं ।।१७।। मधुके उपयोगसे कामकी वृद्धि होती है, उससे मनुष्य पापका संचय करता है, और फिर इससे वह नरक भूमिको प्राप्त होता है—नरक गतिके दुःसह दुखको सहता है ॥ १८ ॥ जिस मधुको बेचारी मक्खियोंके समूहोंने बड़े कष्टसे संचित किया है उसको जो निर्दय मनुष्य स्वीकार करता है—खाता है—वह भला और

---

१ स खादिक. । २ स तथा । ३ स भक्षिते, भक्ष्यते । ४ स भक्षते । ५ स मधुनोपास्त° । ६ स om. यो । ७ स तद्रसयोशक्तः । ८ स °शक्तः सो ऽसत्यां बुधिरस्तधीः । ९ स ति for पि । १० स °कर्य्यर्थं, °कार्यार्थं । ११ स मुष्णतो, मुष्णंति । १२ स मधुनो यो° । १३ स महापापं ।

568) पञ्चाप्येवं[1] महादोषान्यो धत्ते मधुलम्पटः ।
संसारकूपतस्तस्य नोत्तारो जातु जायते ॥ २० ॥
569) संसारभीरुभिः सद्भिर्जिनाज्ञां परिपालितुम्[2] ।
यावज्जीवं परित्याज्यं सर्वथा मधु मानवैः ॥ २१ ॥
570) विज्ञायेति महादोषं मधुनो बुधसत्तमाः[3] ।
संसारासारतस्त्रस्ता विमुञ्चन्ति मधु त्रिधा ॥ २२ ॥
इति मधुनिषेध[4]द्वाविंशतिः २२ ॥

किं त्यजति ॥ १९ ॥ यः मधुलम्पटः एव पञ्च अपि महादोषान् धत्ते तस्य संसारकूपतः जातु उत्तारः न जायते ॥ २० ॥ संसारभीरुभिः सद्भिः मानवैः जिनाज्ञा परिपालितुं यावज्जीवं सर्वथा मधु परित्याज्यम् ॥ २१ ॥ संसारासारतः त्रस्ताः बुधसत्तमाः इति मधुनः महादोषं विज्ञाय त्रिधा मधु विमुञ्चन्ति ॥ २२ ॥
इति मधुनिषेधद्वाविंशतिः ॥ २२ ॥

क्या छोड़ सकता है ? कुछ भी नहीं—सब ही अभक्ष्य वस्तुओंको खाता है ॥ १९ ॥ इसप्रकार जो मधुलोलुपी मनुष्य पाँचों ही महापापोंको धारण करता है उसका उद्धार संसाररूप कुएँके भीतरसे कभी भी नहीं हो सकता है ॥ २० ॥ जो मनुष्य ससारके दुखसे भयभीत हैं वे जिन देवकी आज्ञाका परिपालन करनेके लिये जीवन पर्यन्त उस मधुका सर्वथा परित्याग कर दें ॥ २१ ॥ इसप्रकार मधुके महान् दोषको जानकर जो श्रेष्ठ विद्वान् संसारकी असारतासे दुखी हैं वे उस मधुको तीन प्रकारसे—मन, वचन व कायसे छोड़ देते है ॥ २२ ॥
इसप्रकार बाईस श्लोकोंमें मधुका निषेध किया।

●

---

१ स °प्येव । २ स °पालतुं । ३ स मधु त्यजत सतमा । ४ स °निषेधनिरूपणम् ।

[२३. कामनिषेधपञ्चविंशतिः]

571) यानि[1] मनस्तनुजानि[2] जनानां सन्ति जगत्त्रितये ऽप्यसुखानि ।
कामपिशाचवशीकृतचेतास्तानि नरो लभते सकलानि ॥ १ ॥

572) ध्यायति धावति कम्पमियर्ति श्राम्यति[3] ताम्यति नश्यति नित्यम् ।
रोदिति[4] सीदति जल्पति दीनं[5] गायति नृत्यति मूर्छति कामी ॥ २ ॥

573) रुष्यति तुष्यति दास्यमुपैति कर्षति दीव्यति सीव्यति वस्त्रम् ।
किं न करोत्यथवा हृतबुद्धिः कामवश[6] पुरुषो जननिन्द्यम् ॥ ३ ॥

574) वेत्ति न धर्ममध[7]र्ममियर्ति म्लायति शोचति[8] याति कृशत्वम् ।
नीचजनं भजते [9]व्रजतीर्ष्यां मन्मथराजविमर्दितचित्तः ॥ ४ ॥

575) नैति रतिं गृहपत्तनमध्ये ग्रामधनस्वजनान्यजनेषु ।
वर्षसमं क्षणमेकमवैति पुष्पधनुर्वशतामुपयातः ॥ ५ ॥

जगत्त्रितये अपि जनानां यानि मनस्तनुजानि असुखानि सन्ति कामपिशाचवशीकृतचेता. नर तानि सकलानि लभते ॥ १ ॥ कामी नित्यं ध्यायति, धावति, कम्पम् इयर्ति श्राम्यति, ताम्यति, नश्यति, रोदिति, सीदति, दीन जल्पति, गायति, नृत्यति, मूर्च्छति ॥ २ ॥ कामवश. हृतबुद्धि पुरुषः रुष्यति, तुष्यति, दास्यम् उपैति, कर्षति, दीव्यति, वस्त्रं सीव्यति । अथवा जननिन्द्यं किं न करोति ॥ ३ ॥ मन्मथराजविमर्दितचित्त धर्मं न वेत्ति, अधर्मम् इयर्ति, म्लायति, शोचति कृशत्वं याति, नीचजनं भजते, ईर्ष्यां व्रजति ॥ ४ ॥ पुष्पधनुर्वशताम् उपयातः गृहपत्तनमध्ये ग्रामधनस्वजनान्यजनेषु रतिं

तीनों लोकोंमें प्राणियोंके मानसिक व शारीरिक जो भी दुःख हैं उन सबको कामरूप पिशाचसे पीड़ित हुआ मनुष्य प्राप्त करता है ॥ १ ॥ कामी मनुष्य निरन्तर कामके विषयमें चिंतन करता है, इसके लिये दौड़ता है, कम्पनको प्राप्त होता है, परिश्रम करता है, सन्तप्त होता है, नष्ट होता है, रोता है, विषाद करता है, दीन वचन बोलता है, गाना गाता है, और मूर्च्छाको प्राप्त होता है ॥ २ ॥ वह क्रोधको प्राप्त होता है, सन्तुष्ट होता है, सेवा करता है, खेती करता है, जुआ आदि खेलता है और वस्त्रको सीता है । अथवा ठीक है—कामके वशीभूत हुआ दुर्बुद्धि मनुष्य कौन-से लोकनिन्द्य कार्यको नहीं करता है ? अर्थात् वह सब ही लोकनिन्द्य कार्यों-को करता है ॥ ३ ॥ जिस मनुष्यका मन कामसे पीड़ित होता है वह धर्मके स्वरूपको नहीं जानता है, अधर्मको प्राप्त होता है, खिन्न होता है, शोक करता है, दुर्बलताको प्राप्त होता है, नीच जनकी सेवा करता है, और ईर्ष्याको धारण करता है ॥ ४ ॥ जो मनुष्य कामकी पराधीनताको प्राप्त हुआ है वह घर और नगरके भीतर स्थित होकर गाँव, धन, कुटुम्बी जन तथा अन्य मनुष्योंके विषयमें अनुराग नहीं करता है । वह एक क्षणको वर्षके समान समझता है, अर्थात् उसका एक-एक क्षण बड़े कष्टसे बीतता है ॥ ५ ॥ कामके वशीभूत हुए

---

१ स जानि । २ स आतिजनानां । ३ स श्रामति । ४ स रोदति । ५ स दानं । ६ स °वशो । ७ स om. °मधर्म° । ८ स शोचयति । ९ स व्रजत्पुर्ष्यां ।

576) सर्वजनेन विनिन्दितमूर्तिः सर्वविचारबहिर्भवबुद्धिः[1] ।
सर्वजनप्रथितां निजकीर्तिं[2] मुञ्चति कन्तुवशो गतकान्तिः[3] ॥ ६ ॥

577) भोजनशान्ति[4]विहाररतानां सज्जन[5]साधुवतां श्रमणानाम्[6] ।
आममपा[7]मिव पात्रमपात्रं ध्वस्तसमस्तसुखो मदनार्तः ॥ ७ ॥

578) चारुगुणो विदिताखिलशास्त्रः कर्म करोति कुलीनविनिन्द्यम् ।
मातृपितृस्वजनान्यजनानां नैति वशं मदनस्य वशो ना[8] ॥ ८ ॥

579) तावदशेषविचारसमर्थस्तावदखण्डितमृच्छति[9] मानम् ।
तावदपास्तमलो मननीयो यावदनङ्गवशो न मनुष्यः ॥ ९ ॥

580) शोचति विश्वमभीच्छति[10] द्रष्टुमाश्रयति ज्वरमृच्छति[11] दाहम् ।
मुञ्चति [12]भक्तमुपैति विमोहं माद्यति वेपति याति मृतिं च ॥ १० ॥

581) एवमपास्तमतिः क्रमतोऽत्र पुष्पधनुर्दशवेगविधूतः ।
किं न जनो लभते जननिन्द्यो[13] दुःखमसह्यमनन्तमवाच्यम् ॥ ११ ॥

नैति । एकं क्षणं वर्षसमम् अवैति ॥ ५ ॥ सर्वजनेन विनिन्दितमूर्ति· सर्वविचारबहिर्भवबुद्धि. गतकान्तिः कन्तुवशः सर्वजन-प्रथिता निजकीर्तिं मुञ्चति ॥ ६ ॥ आमं पात्रम् अपाम् इव ध्वस्तसमस्तसुख. मदनार्तः भोजनशान्तिविहाररताना सज्जन-साधुवतां श्रमणानाम् अपात्रं भवति ॥ ७ ॥ चारुगुणः विदिताखिलशास्त्र. ना मदनस्य वश. कुलीनविनिन्द्यं कर्म करोति च मातृपितृस्वजनान्यजनाना वशं न एति ॥ ८ । यावत् मनुष्यः अनङ्गवशी न [भवति] तावत् अशेषविचारसमर्थः तावत् अखण्डितं मानं ऋच्छति तावत् अपास्तमल मननीय· भवति ॥ ९ ॥ [अनङ्गवशी नर.] शोचति, विश्व द्रष्टुम् अभीच्छति, ज्वरम् आश्रयति, दाहम् ऋच्छति, भक्तं मुञ्चति, विमोहम् उपैति, माद्यति, वेपति, मृतिं च याति ॥ १० ॥ एव पुष्पधनुर्द-

---

मनुष्यको सबलोग निन्दा करते हैं, उसकी बुद्धि सब योग्यायोग्यके विचारसे बहिर्भूत होती है, तथा वह दीप्तिसे रहित होकर समस्त जनमे प्रसिद्ध अपनी कीर्तिको छोड़ता है—नष्ट करता है ॥ ६ ॥ जिस प्रकार कच्चा मिट्टी-का बर्तन जल रखनेके योग्य नही होता है उसी प्रकार कामसे पीड़ित मनुष्य समस्त सुखसे रहित होकर उन मुनियोंके अथवा उनके धर्म (मुनिधर्म) के योग्य नही होता है जो कि भोजन, शान्ति एवं विहारमें तत्पर रहते हुए सज्जन व कुलीन जनोसे सहित होते हैं ॥ ७ ॥ जो मनुष्य कामके वशीभूत हुआ है वह उत्तम गुणोसे सहित और समस्त शास्त्रोंका जानकार हो करके भी ऐसे अयोग्य कार्यको करता है जिसकी कि कुलीन जन निन्दा किया करते हैं। वह माता, पिता, कुटुम्बी जन और अन्य जनोंके वशमें नहीं होता है ॥ ८ ॥ मनुष्य जब तक कामके वशमें नही होता है तब तक ही वह समस्त योग्यायोग्यके विचारमे समर्थ होता है, तब तक ही उसकी अखण्डित प्रतिष्ठा रह सकती है, और तब तक ही वह निर्दोष होकर मननीय भी होता है ॥ ९ ॥ कामके वशमें हुआ निर्बुद्धि मनुष्य शोक करता है—चिन्तन करता है, विश्वको देखनेकी इच्छा करता है, [दीर्घ निःश्वासोंको छोड़ता है,] ज्वरका आश्रय लेता है, दाहको प्राप्त होता है, भोजनका त्याग करता है, मूर्च्छाको प्राप्त होता है, उन्मादसे युक्त होता है, काँपता है, और अन्तमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है; इस-प्रकार क्रमसे इन कामके दश वेगोंसे पीड़ित होता है। ठीक है—कामान्ध मनुष्य लोगोंके द्वारा निन्दित होकर

---

१ स °सुद्धिः । २ स °कीर्ति । ३ स om. °निन्दित°-°कान्तिः । ४ स °शाति°, °सीति°, °शीति°, °शील° । ५ स सज्जन सा° । ६ स सज्जनँ°, श्रमणानां, श्रवणानां । ७ स आममया° । ८ स भा for ना । ९ स °मूर्च्छति, °खण्डित मूर्छति । १० स °मभीष्टति, °भतिछति । ११ स ज्वरमिछति । १२ स भक्तु°, भक्ति° । १३ स °निंद्यो ।

582) चिन्तनकीर्तन[1]भाषणकेलिस्पर्शनदर्शनविभ्रमहास्यैः ।
अष्टविधं[2] निगदन्ति[3] मुनीन्द्राः काममपाकृतकामविबाधाः ॥ १२ ॥

583) सर्वजनैः कुलजो जनमान्यः सर्वपदार्थविचारणदक्षः ।
मन्मथबाण[4]विभिन्नशरीरः किं न नरः कुरुते जननिन्द्यम् ॥ १३ ॥

584) अह्नि[5] रविर्दहति [6]त्वचि वृद्धः पुष्पधनुर्दहति प्रबलोढम् ।
रात्रिदिनं पुनरन्तरमन्तः संवृतिरस्ति रवेर्न तु कन्तोः ॥ १४ ॥

585) स्थावरजङ्गमभेदविभिन्नं जीवगणं विनिहन्ति समस्तम् ।
निष्करुणं कृतपात[7]कचेष्टः कामवशः पुरुषोऽतिनिकृष्टः ॥ १५ ॥

586) निष्ठुरमश्रवणीयमनिष्टं वाक्यमसह्यमवद्यमहृद्यम् ।
जल्पति [8]वक्रमवाच्यमपूज्यं मद्यमदाकुलवन्मदनार्तः ॥ १६ ॥

587) स्वार्थपरः परदुःखमविद्वा[9]न्प्राणसमा[10]न्यपरस्य धनानि ।
संसृतिदुःखविधावविदित्वा पापमनङ्गवशो हरते ऽङ्गी ॥ १७ ॥

शवेगविधूत॰ जननिन्द्यः अपास्तमतिः जनः असह्यम् अनन्तम् अवाच्यं दुःखं न लभते किम् ॥ ११ ॥ अपाकृतकामविबाधाः मुनीन्द्राः चिन्तनकीर्तनभाषणकेलिस्पर्शनदर्शनविभ्रमहास्यैः अष्टविधं कामं निगदन्ति ॥ १२ ॥ कुलजः सर्वजनैः जनमान्यः सर्वपदार्थविचारणदक्षः मन्मथबाणविभिन्नशरीरः नरः जननिन्द्यं किं न कुरुते ॥ १३ ॥ अह्नि वृद्धः रविः त्वचि दहति । पुनः पुष्पधनुः रात्रिदिनं प्रबलोढम् अन्तरम् अन्तः दहति । रवेः संवृतिः अस्ति तु कन्तोः न ॥ १४ ॥ कामवशः अतिनिकृष्टः पुरुषः कृतपातकचेष्टः स्थावरजङ्गमभेदविभिन्नं समस्तं जीवगणं निष्करुणं निहन्ति ॥ १५ ॥ मदनार्तः मद्यमदाकुलवत् निष्ठुरम् अश्रवणीयम् अनिष्टम् असह्यम् अवद्यम् अहृद्यं वक्रम् अवाच्यम् अपूज्यं वाक्यं जल्पति ॥ १६ ॥ अनङ्गवशः स्वार्थ-

किस असह्य, अनन्त एवं अनिर्वचनीय दुखको नही प्राप्त होता है ? अर्थात् वह सब ही दुःसह दुःखोंको भोगता है ॥ १०-११ ॥ जो मुनीन्द्र कामकी बाधासे रहित हो चुके हैं वे चिन्तन, कीर्तन, भाषण, केलि, स्पर्शन, दर्शन, विभ्रम और हास्य इसप्रकारसे कामके आठ प्रकार बतलाते हैं ॥ १२ ॥ जो मनुष्य सब जनोसे आदरणीय, कुलीन और समस्त पदार्थोंका विचार करनेमें समर्थ हो करके भी कामके बाणोंसे छेदा-भेदा गया है वह कौन-से लोकनिन्द्य कार्यको नहीं करता है ? अर्थात् वह निन्द्य कार्यको करता ही है ॥ १३ ॥ सूर्य उदयको प्राप्त होकर दिनमें बाह्य चमड़ेके भीतर दाह उत्पन्न करता है, परन्तु कामदेव प्रबलतासे धारण किये गये (या विवाहित) पुरुषको रात-दिन भीतर जलाता है—उसके अन्तःकरणको सन्तप्त करता है । सूर्यका आवरण हो सकता है—छत्री आदिके द्वारा उसके तापको रोका जा सकता है, परन्तु कामका आवरण नही है—उसके वेगको नही रोका जा सकता है ॥ १४ ॥ कामके वशीभूत हुआ अतिशय हीन पुरुष पाप चेष्टाओंको करके निर्दयतापूर्वक स्थावर और त्रसके भेदोमे विभक्त समस्त प्राणिसमूहको नष्ट करता है ॥१५॥ कामसे पीड़ित मनुष्य मद्यको पीकर उसके नशेसे उन्मत्त हुए पुरुषके समान कठोर, श्रवणकटु, अनिष्ट, असह्य, पापस्वरूप, अमनोहर; कुटिल, निन्द्य एवं न कहने योग्य वाक्यको बोलता है ॥ १६ ॥ कामके वशीभूत हुआ प्राणी दूसरोंके दुखका अनुभव न करके स्वार्थमें लीन होता हुआ उनके प्राणोंके समान प्रिय धनको हरता है । इससे जो उसके संसार दुखको बढ़ाने वाला पाप होता है उसकी भी वह परवाह नही करता है ॥ १७ ॥ जो

१ स °कीर्त्तिन° । २ स °विधि । ३ स भिगदंति । ४ स °वाणभिन्न° । ५ स अंह्नि । ६ स त्वचवृद्धं, शुचिवृद्ध । ७ स °पापक° । ८ स वक्तुं for वक्रं । ९ स °विद्वान्प्राण° । १० स °समान° ।

588) यो[1] ऽपरिचिन्त्य भवार्णवदुःखमन्यकलत्रमभीप्सति[2] कामी ।
साधुजनेन विनिन्द्यमगम्यं तस्य किमत्र परं परिहार्यम्[3] ॥ १८ ॥

589) तापकरं पुरुपातकमूलं दुःखशतार्थमनर्थनिमित्तम् ।
लाति वशः पुरुषः [4]कुसुमेषोर्ग्रन्थमनेकविधं बुधनिन्द्यम् ॥ १९ ॥

590) एवमनेकविधं[5] विदधाति यो जननार्णवपातनिमित्तम् ।
चेष्टितमङ्ग[6]बाणविभिन्नो नेह सुखी[7] न परत्र सुखी सः ॥ २० ॥

591) दृष्टिचरित्रतपोगुणविद्याशीलदयादमशौचशमाद्यान् ।
कामशिखी दहति क्षणतो नुर्वह्निरिवेन्धनमूर्जितमत्र ॥ २१ ॥

592) किं बहुना कथितेन नरस्य कामवशस्य न किंचिदकृत्यम् ।
एवमवेत्य सदा मतिमन्तः[8] कामरिपुं [9]क्षयमत्र नयन्ति ॥ २२ ॥

593) नारिरिमं विदधाति नराणां रौद्रमना नृपतिर्न करीन्द्रः ।
दोषमहिर्न न तीव्रविषं वा यं वितनोति मनोभववैरी ॥ २३ ॥

परः परदुःखम् अविद्यम् अङ्गी संसृतिदुःखविधो पापम् अविदित्वा अपरस्य प्राणसमानि धनानि हरते ॥ १७ ॥ यः कामी भवार्णवदुःखम् अपरिचिन्त्य साधुजनेन विनिन्द्यम् अगम्यम् अन्यकलत्रम् अभीक्षति । तस्य अत्र परं परिहार्यं किम् ॥ १८ ॥ कुसुमेषोः वशः पुरुषः तापकरं पुरुपातकमूलं दुःखशतार्थम् अनर्थनिमित्तं बुधनिन्द्यम् अनेकविध ग्रन्थं लाति ॥ १९ ॥ अङ्गजबाणविभिन्नः यः एवं जननार्णवपातनिमित्तम् अनेकविध चेष्टितं विदधाति स इह न सुखी परत्र न सुखी ॥ २० ॥ वह्निः ऊर्जितम् इन्धनम् इव अत्र नुः कामशिखी दृष्टिचरित्रतपोगुणविद्याशीलदयादमशौचशमाद्यान् क्षणतः दहति ॥ २१ ॥ बहुना कथितेन किम् । कामवशस्य नरस्य किंचित् अकृत्यं न । एवम् अवेत्य अत्र मतिमन्तः कामरिपुं सदा क्षयं नयन्ति ॥ २२ ॥ मनोभववैरी नराणां यं दोषं वितनोति, इमम् अरिः न विदधाति । रौद्रमनाः नृपतिः न, करीन्द्रः न, अहिः न, तीव्रविषं

कामी पुरुष संसाररूप समुद्रके दुखका विचार न करके सज्जनोंके द्वारा निन्दनीय, अगम्य (अनुराग के अयोग्य) परस्त्रीकी इच्छा करता है वह यहाँ अन्य किस पापको छोड़ सकता है ? अर्थात् वह सब पापोंके करनेमें उद्यत रहता है ॥ १८ ॥ कामके बाणके वशीभूत हुआ मनुष्य उस अनेक प्रकारके परिग्रहको ग्रहण करता है जो कि संतापको उत्पन्न करता है, महापापका कारण है, सैकड़ों दुःखोंको देनेवाला है, अनर्थका कारण है, और विद्वानोंके द्वारा निन्दनीय है ॥ १९ ॥ जो प्राणी कामके बाणोसे भेदा गया है वह संसाररूप समुद्रमें गिरानेवाली अनेक प्रकारकी चेष्टाको करता है इससे वह न इस लोकमें सुखी होता है और न पर लोकमें भी । तात्पर्य यह कि वह दोनों ही लोकोंमें दुखी होता है ॥ २० ॥ जिसप्रकार यहाँ अग्नि प्रबल इन्धनको क्षणभरमें जला देती है उसीप्रकार कामरूप अग्नि भी मनुष्यके सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, ज्ञान, शील, दया, दम, शौच और शम आदि गुणोंको क्षण भरमें जला देती हैं—उन्हें नष्ट कर देती है ॥ २१ ॥ बहुत कहनेसे क्या ? कामके वशीभूत हुए मनुष्यके लिये न करनेके योग्य कुछ भी नहीं रहता—वह सब ही अकार्यको करता है, इसप्रकार जान करके यहाँ बुद्धिमान् मनुष्य उस कामरूप शत्रुको नष्ट करते हैं ॥ २२ ॥ मनुष्योंके जिस दोषको कामरूप शत्रु करता है उसको न शत्रु करता है, न मनमें रुद्रताको धारण करनेवाला राजा करता है, न मदोन्मत्त हाथी करता है, न सर्प करता है, और न तीव्र विष भी करता है ॥ २३ ॥ शत्रु और सर्पका दुख एक भवमें होता है, किन्तु

---

[1] स यो परि । [2] स °भीप्सति । [3] स °हार्य्यं । [4] स कुसुमेषु [र्] [5] स °विधि । [6] स °मंगि° । [7] स सुखं । [8] स मतिवंतः । [9] स रिपुतयमत्र ।

594) **एकभवे[1] रिपुपन्नगदुःखं जन्मशतेषु मनोभवदुःखम् ।**
चारुधियेति विचिन्त्य[2] महान्तः कामरिपुं क्षणतः क्षपयन्ति ॥ २४ ॥

595) **संयमधर्मविबद्ध[3]शरीराः साधुभटाः [4]स्मरवैरिणमुग्रम् ।**
शीलतपःशितशस्त्रनिपातैर्दर्शनबोध[5]बलाद्विधु[6]नन्ति ॥ २५ ॥

इति कामनिषेध[7]पञ्चविंशतिः ॥ २३ ॥

वा न ॥ २३ ॥ एकभवे रिपुपन्नगदुःखं, जन्मशतेषु मनोभवदुःखम् । इति चारुधिया विचिन्त्य महान्तः कामरिपुं क्षणतः क्षपयन्ति ॥ २४ ॥ संयमधर्मविबद्धशरीराः साधुभटाः दर्शनबोधबलात् शीलतपःशितशस्त्रनिपातैः उग्रं स्मरवैरिणं विधुर्नान्ति ॥ २५ ॥

इति कामनिषेधपञ्चविंशतिः ॥ २३ ॥

कामजनित दुख प्राणियोंके लिये सैकड़ों भवोंमें सहना पड़ता है; ऐसा निर्मल बुद्धिसे विचार करके महापुरुष उस कामरूप शत्रुको क्षणभरमें ही नष्ट कर डालते हैं ॥ २४ ॥ जिनका शरीर संयमरूप धर्मसे विशेष संबद्ध है वे साधुरूप योद्धा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानकी सहायतासे शील एवं तपरूप तीक्ष्ण शस्त्रोंके प्रहारसे उस भयानक कामरूप शत्रुको नष्ट करते हैं ॥ २५ ॥

इसप्रकार पच्चीस श्लोकोंमें कामका निरूपण हुआ ।

●

---

१ स एकत्रभवे । २ स विचिंति । ३ स 'विवर्द्ध° । ४ स शन°, शरवैरि', सम° । ५ स °योध° । ६ स विधुनोति । ७ स °निषेधनिरूपणम् ।

[२४. वेश्यासंगनिषेधपञ्चविंशतिः]

596) सत्यशौचशमसंयमविद्याशीलवृत्त[1]गुणसत्कृतिलज्जाः ।
याः क्षयन्ति[2] पुरुषस्य [3]समस्तास्ता बुधः कथमिहेच्छति वेश्याः ॥ १ ॥

597) यासु सक्त[4]मनस क्षयमेति द्रव्यमापदुपयाति समृद्धिम् ।
निन्द्यता भवति नश्यति कीर्तिस्ता[5] भजन्ति गणिका[6] किमु मान्याः ॥ २ ॥

598) धर्ममत्ति तनुते पुरु[7] पापं या[8] निरस्यति गुणं कुरुते ऽन्यम् ।
सौख्यमस्यति ददाति च दुःखं तां धिगस्तु गणिकां बहुदोषाम्[9] ॥ ३ ॥

599) जल्पनं च[10] जघनं च यदीयं निन्द्यलोकमलदिग्ध[11]मवाच्यम् ।
पण्ययोषितम[12]नर्थनिमित्तां तां नरस्य भजत किमु शौचम् ॥ ४ ॥

600) संदधाति हृदये ऽन्यमनुष्यं यान्यमाह्वयति दृष्टिविशेषैः ।
अन्यमर्थिनमतो भजते तां को[13] बुधः श्रयति पण्य[14]पुरंध्रीम् ॥ ५ ॥

याः पुरुषस्य समस्ता. सत्यशौचशमसंयमविद्याशीलवृत्तगुणसत्कृतिलज्जा: क्षयन्ति ता वेश्या इह बुध कथम् इच्छति ॥ १ ॥ यासु सक्तमनसः द्रव्य क्षयम् एति, आपत् समृद्धिम् उपयाति, निन्द्यता भवति, कीर्ति: नश्यति ताः गणिका. मान्या भजन्ति किमु ॥ २ ॥ या धर्मम् अत्ति, पुरु पाप तनुते, गुण निरस्यति, अन्य कुरुते, सौख्यम् अस्यति, दुःखं च ददाति, ता बहुदोषा गणिका धिक् अस्तु ॥ ३ ॥ यदीयं जल्पन च जघन च निन्द्यलोकमलदिग्धम् अवाच्यम् । अनर्थनिमित्ता ता पण्ययोषितं भजतः नरस्य शौच किमु ॥ ४ ॥ या हृदये अन्यमनुष्यं संदधाति, अन्य दृष्टिविशेषै आह्वयति, अत: अन्यम् अर्थिनं भजते । क. बुधः ता पण्यपुरन्ध्री श्रयति ॥ ५ ॥ पण्ययोषिति विषक्तमनस्कान् श्रीकृपामतिधृतिद्युतिकीर्तिप्रीतिकान्तिसमतापटुताद्याः

जो वेश्यायें यहाँ पुरुषके सत्य, शौच, शम, संयम, विद्या, शील, चारित्र, गुण, सत्कार और लज्जा इन सब गुणोंको नष्ट कर देती है उन वेश्याओंकी विद्वान मनुष्य कैसे इच्छा करता है ? नही करता है—उनकी अभिलाषा अविवेकी जन ही किया करते हैं ॥ १ ॥ जिन वेश्यओंके विषयमे आसक्तचित्त मनुष्यका धन नाशको प्राप्त होता है, विपत्ति वृद्धिगत होती है, निन्दा होती है, और कीर्ति नष्ट होती है उन वेश्याओंका सेवन क्या कभी मान्य (प्रतिष्ठित) पुरुष करते हैं ? नही करते ॥ २ ॥ जो धर्मको खा जाती है—नष्टकर डालती है, महापापको विस्तृत करती है, गुणको नष्ट करती है, दोषको उत्पन्न करती है, सुखका विघात करती है, और और दुखको देती है, उस अनेक दोषोंसे परिपूर्ण वेश्याको धिक्कार हो ॥ ३ ॥ जिसका मुख और जघन नीच लोगोंके मलसे लिप्त और अवाच्य होता है उस अनर्थकी कारणभूत वेश्याका सेवन करनेवाले मनुष्यके क्या पवित्रता रह सकती है ? नही रह सकती ॥ ४ ॥ जो वेश्या मनमे अन्य मनुष्यको लक्ष्य करती है—मनसे किसी अन्य पुरुषका विचार करती है, कटाक्षोंके द्वारा दूसरेको बुलाती है, तथा इससे भिन्न दूसरे धनी मनुष्यका सेवन करती है; उस वेश्याका आश्रय कौन-सा विद्वान् करता है ? कोई नही ॥ ५ ॥ जिन मनुष्योंका मन

---

१ स °वृत्ति°, °व्रत° । २ स क्षिपंति । ३ स समस्तो को वुध कथ° । ४ स शक्त° । ५ स तां । ६ स गणिकां । ७ स गुरु । ८ स सा for या । ९ स गणिकावहुदोषं । १० स om. च । ११ स °दग्ध° । १२ स °योषितमर्थ° । १३ स को बुधा, बुधै. । १४ स पुण्य° ।

601) श्रीकृपामतिधृतिद्युतिकीर्तिप्रीतिकान्तिसम[1]तापटुताद्याः ।
योषितः परिहरन्ति रुषेव पण्ययोषिति विषक्तमनस्कान् ॥ ६ ॥

602) या करोति बहुचाटु[2]शतानि द्रव्यदातरि जने ऽप्यकुलीने[3] ।
निर्धनं त्यजति काममपि स्त्री[4] तां विशुद्धधिषणा न भजन्ति ॥ ७ ॥

603) उत्तमो ऽपि कुलजो ऽपि मनुष्य सर्वलोकमहितो ऽपि बुधो ऽपि ।
दासतां भजति यां भजमानस्तां भजन्ति गणिकां किमु सन्तः ॥ ८ ॥

604) या विचित्रविटकोटिनिघृष्टा मद्यमांसनिरतातिनिकृष्टा ।
कोमला[5] वचसि चेतसि दुष्टा[6] तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः ॥ ९ ॥

605) यार्थसंग्रहपरातिनिघृष्टा[7]सत्यशौचशमधर्मबहिष्ठाः[8] ।
सर्वदोषनिलयातिनिकृष्टा[9] तां श्रयन्ति गणिकां किमु शिष्टा ॥ १० ॥

606) या कुलीनमकुलीनममान्यं[10] मान्यमाश्रितगुणं गुणहीनम् ।
वेत्ति नो कपटसंकटचेष्टा[11] तां व्रजन्ति गणिकां किमु शिष्टा ११ ॥

योषित रुषेव परिहरन्ति ॥ ६ ॥ या स्त्री अकुलीने अपि द्रव्यदातरि जने बहु चाटुशतानि करोति । निर्धनं कामम् अपि त्यजति । तां विशुद्धधिषणा. न भजन्ति ॥ ७ ॥ या भजमान मनुष्य उत्तमोऽपि कुलज. अपि सर्वलोकमहित अपि बुधः अपि दासता भजति । सन्त ता गणिका भजन्ति किमु ॥ ८ ॥ या विचित्रविटकोटिनिघृष्टा, मद्यमासनिरता, अतिनिकृष्टा, वचसि कोमला, चेतसि दुष्टा, ता गणिका विशिष्टा. न भजन्ति ॥ ९ ॥ या अर्थसंग्रहपरा अतिनिघृष्टा, सत्यशौचशमधर्मबहिष्ठा, सर्वदोषनिलया, अतिनिकृष्टा ता गणिका शिष्टा श्रयन्ति किमु ॥ १० ॥ या कुलीनम् अकुलीनम्, मान्यम् अमान्यम्, आश्रितगुण गुणहीनं नो वेत्ति, या कपटसकटचेष्टा, ता गणिका शिष्टा. व्रजन्ति किमु ॥ ११ ॥ कुलजोऽपि यावत्

वेश्यामें आसक्त है, उनको लक्ष्मी, दया, बुद्धि, धृति (धैर्य) द्यु ति, कीर्ति, प्रीति, कान्ति, समता और निपुणता आदि स्त्रियाँ मानो क्रोधसे ही छोड़ देती है। अभिप्राय यह है कि वेश्यासक्त पुरुषकी लक्ष्मी, दया एवं बुद्धि आदि सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥ जो स्त्री (वेश्या) धन देनेवाले नीच पुरुषकी भी सैकड़ों प्रकारसे खुशामद करती है तथा कामके समान सुन्दर भी निर्धन मनुष्यको छोड़ देती है उस वेश्याका निर्मलबुद्धि मनुष्य सेवन नहीं करते हैं ॥ ७ ॥ जिस वेश्याको सेवन करनेवाला मनुष्य उत्तम, कुलीन, सब लोगोंसे पूजित और विद्वान् हो करके भी सेवकके समान बन जाता है उस वेश्याका क्या सज्जन मनुष्य सेवन करते हैं ? नही करते ॥ ८ ॥ जो वेश्या अनेक प्रकारके करोड़ों व्यभिचारियोंके द्वारा सेवित होती है, मद्य और मांसमें अनुरक्त होती है, अतिशय निकृष्ट होती है, तथा वचनमें कोमल व मनमें दुष्ट होती है; उसको सज्जन मनुष्य कभी सेवन नही करते हैं ॥ ९ ॥ जो वेश्या धनके सग्रहमे लीन होती है, व्यभिचारी जनसे अतिशय सेवित होती है; शौच, शम और धर्मसे बहिर्भू त होती है, शमस्त दोषोंसे सहित होती है; तथा इसीलिये जो अतिशय निन्द्य समझी जाती है; उसका क्या कभी शिष्ट जन आश्रय लेते हैं ? नही लेते ॥ १० ॥ जो वेश्या कुलीन और अकुलीन, मान्य और अमान्य तथा गुणवान् और गुणहीन पुरुषोंमें विवेक नही रखती है; उस कपटपूर्ण आचरण करनेवाली वेश्याका क्या सज्जन पुरुष सेवन करते हैं ? नही करते ॥ ११ ॥ कुलीन भी मनुष्य वेश्याको

---

१ स °शम° । २ स बहुधादुशतानि । ३ स °कुलेने । ४ स स्त्री । ५ स कोमलां, कोमलं । ६ स दुष्टां । ७ स °कृष्टा । ८ स °बहिष्टा । ९ स °कष्टा, निलयादिनिष्टा । १० स °मान्यमन्यमा° । ११ स °चेष्टा ।

607) तावदेव दयितः कुलजो ऽपि यावदर्पयति भूरिधनानि ।
येक्षु[1]वत्त्यजति निर्गतसारं तत्र ही[2] किमु सुखं गणिकायाम् ॥ १२ ॥

608) तावदेव पुरुषो जनमान्यस्तावदाश्रयति चारुगुणश्रीः ।
तावदामनति धर्मवचांसि यावदेति न वशं गणिकायाः ॥ १३ ॥

609) मन्यते न धनसौख्यविनाशं नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्यम्[3] ।
नेक्षते भवसमुद्रमपारं दारिकार्पितमना [4]गतबुद्धिः ॥ १४ ॥

610) वारिराशिसिकतापरिमाणं[5] सर्परात्रिजलमध्यगमार्गः ।
ज्ञायते च निखिलं ग्रहचक्रं नो मनस्तु चपलं गणिकायाः ॥ १५ ॥

611) या शुनीव बहुचाटुशतानि दानतो[6] वितनुते मलभक्षा ।
पापकर्मजनिता कपटेष्टा[7] यान्ति पण्यवनितां न बुधास्ताम् ॥ १६ ॥

612) मद्यमांसमलदिग्धमशौचं नीचलोकमुखचुम्बनदक्षम् ।
यो हि[8] चुम्बति[9] मुखं गणिकाया नास्ति तस्य[10] सदृशो ऽतिनिकृष्टः[11] ॥ १७ ॥

भूरिधनानि अर्पयति तावत् एव स दयितः । ही, या निर्गतसारम् इक्षुवत् त्यजति, तत्र गणिकाया सुख स्यात् किमु ॥ १२ ॥ पुरुषः यावत् गणिकाया वशं न एति, तावदेव जनमान्य. । तावत् चारुगुणश्रीः [तम्] आश्रयति । तावत् [सः] धर्मवचांसि आमनति ॥ १३ ॥ दारिकार्पितमना गतबुद्धि धनसौख्यविनाशं न मन्यते, गुरुसज्जनवाक्य न अभ्युपैति, अपारं भवसमुद्र न ईक्षते ॥ १४ ॥ वारिराशिसिकतापरिमाणं, सर्परात्रिजलमध्यगमार्गः, निखिलं ग्रहचक्रं च ज्ञायते । तु गणिकाया. चपलं मन. नो ज्ञायते ॥ १५ ॥ मलभक्षा शुनीव या दानतः बहुचाटुशताति वितनुते, या पापकर्मजनिता कपटेष्टा, तां पण्यवनितां बुधाः न यान्ति ॥ १६ ॥ हि य मद्यमासमलदिग्धम् अशौचं नीचलोकमुखचुम्बनदक्षं गणिकायाः मुखं चुम्बति, तस्य सदृशः अतिनिकृष्टः न अस्ति ॥ १७ ॥ निकृतिज्ञा या नरस्य जातु न विश्वसिति, तु प्रत्ययं कुरुते । कृतघ्नी उपकारम्

तब तक ही प्रिय लगता है जब तक कि वह उसे बहुत-सा धन देता रहता है । जो वेश्या धनसे रहित हो जानेपर उसे रसहीन ईखके समान छोड़ देती है उस वेश्याके सेवनमें सुख हो सकता है क्या ? नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥ पुरुष जब तक वेश्याके वशमें नहीं होता है तब तक ही उसका मनुष्य सम्मान करते हैं, तब तक ही उत्तम गुणरूप लक्ष्मी उसका आश्रय लेती है, और तब तक ही वह धर्मवचनोंको मानता है—धर्मोपदेशको सुनता और तदनुसार आचरण करता है ॥ १३ ॥ जिस बुद्धिहीन मनुष्यका मन वेश्यामें आसक्त है वह अपने धन और सुखके नाशको नहीं देखता है, गुरु और सज्जनके वचनको नहीं प्राप्त होता है—नहीं सुनता है, तथा अपार संसाररूप समुद्रको भी नहीं देखता है ॥ १४ ॥ समुद्रकी बालुका प्रमाण जाना जा सकता है; सर्प, रात्रि और जलके मध्यसे जानेवाले मार्गको जाना जा सकता है, तथा समस्त ग्रहमण्डलको भी जाना जा सकता है । परन्तु वेश्याके चंचल चित्तको नहीं जाना जा सकता है ॥ १५ ॥ जो वेश्या मलको खानेवाली कुत्तीके समान धनके निमित्त सैकड़ों प्रकारसे बहुत खुशामद करती है, पाप कर्मसे वेश्या हुई है, तथा जिसे कपटाचरण ही प्रिय रहता है उसे ज्ञानी जन स्वीकार नहीं करते हैं ॥ १६ ॥ जो वेश्याका मुख मद्य व मांससे लिप्त, अपवित्र एवं नीच जनके चूमनेमें तत्पर रहता है उस मुखका जो मनुष्य चुम्बन करता है उसके समान नीच दूसरा कोई नहीं है ॥ १७ ॥ कपटाचरणमें चतुर जो वेश्या मनुष्यका कभी विश्वास नहीं करती है, परन्तु उसे विश्वासका

---

१ स ध्येक्षुव । २ स हो । ३ स °वाच्यं । ४ स °मना गपिबु° । ५ स °परिपाणा । ६ स दामतो । ७ स कपटेष्टा । ८ स येन for यो हि । ९ स चुंबित, चुंवितं । १० स तेन for तस्य । ११ स पि नकृष्टः, न्य for °ति ।

613) या न[1] विश्वसिति जातु नरस्य प्रत्ययं तु कुरुते निकृतिज्ञा[2] ।
नोपकारमपि वेत्ति कृतघ्नी दूरत[3]स्त्यजत तां खलु वेश्याम् ॥ १८ ॥

614) रागमीक्षणयुगे[4] तनुकम्पं बुद्धिसत्त्व[5]धनवीर्यविनाशम् ।
या करोति कुशला त्रिविधेन तां त्यजन्ति गणिकां[6] मदिरां वा[7] ॥ १९ ॥

615) योपतापनपराग्निशिखेव चित्तमोहनकरी मदिरेव ।
देहदारण[8]पटुश्छुरिकेव तां भजन्ति कथमापणयोषाम् ॥ २० ॥

616) सर्वसौख्यदतपोधनचौरी[9] सर्वदुःखनिपुणा जनमारी ।
[10]मर्त्यमत्तकरिबन्धनवारी निर्मितात्र विधिना पण[11]नारी ॥ २१ ॥

617) श्वभ्र[12]वर्त्म सुरसद्म[13]कपाटं यात्र मुक्तिसुखकाननवह्निः ।
तत्र दोषवसतौ गुणशत्रौ किं श्रयन्ति सुखमापणनार्याम् ॥ २२ ॥

618) यन्निमित्तमुपयाति मनुष्यो दास्यमस्यति कुलं विदधाति ।
[14]कर्म निन्दितमनेकमलज्ज-[15] सा न पण्यवनिता श्रयणीया ॥ २३ ॥

अपि न वेत्ति, ता वेश्या खलु दूरत त्यजत ॥ १८ ॥ कुशला या मदिरा वा ईक्षणयुगे रागं, तनुकम्पं, बुद्धिसत्त्वधनवीर्य-विनाशं करोति, ता गणिका मदिरां वा त्रिविधेन त्यजन्ति ॥ १९ ॥ या अग्निशिखा इव उपतापनपरा, मदिरा इव चित्त-मोहनकरी, छुरिका इव देहदारणपटु । ताम् आपणयोषा कथ भजन्ति ॥ २० ॥ अत्र विधिना आपणनारी सर्वसौख्यदत-पोधनचौरी, सर्वदु खनिपुणा जनमारी, मर्त्यमत्तकरिबन्धनवारी निर्मिता ॥ २१ ॥ अत्र या श्वभ्रवर्त्म, सुरसद्मकपाटं, मुक्ति-सुखकाननवह्नि । दोषवसतौ गुणशत्रौ तत्र आपणनार्यां [जना·] सुखं श्रयन्ति किम् ॥ २२ ॥ अलज्ज· मनुष्यः यन्निमित्तं दास्यम् उपयाति, कुलम् अस्यति, अनेकं निन्दित कर्म विदधाति, सा पण्यवनिता न श्रयणीया ॥ २३ ॥ जगति दुःखदान-

---

ज्ञान कराती है; तथा जो कृतघ्न होकर दूसरोके द्वारा किये गये उपकारको भी नही जानती है—उसको भूल जाती है, उसको आप लोग दूरसे ही छोड़ दें ॥ १८ ॥ जो चतुर वेश्या मदिराके समान दोनों नेत्रोंमें लालिमा-को शरीरमें कम्पको करती है तथा बुद्धि, बल, धन एव वीर्यका विनाश करती है उसका सज्जन मनुष्य मन, वचन और कायसे परित्याग करते हैं ॥ १९ ॥ जो वेश्या अग्निकी ज्वालाके समान सतापको उत्पन्न करती है, मदिराके समान मनको मुग्ध करती है, तथा छुरीके समान शरीरको विदीर्ण करती है उस वेश्याका भला विद्वान् मनुष्य कैसे सेवन करते हैं ? अर्थात् उसका सेवन विद्वान् मनुष्य कभी नही करते है, किन्तु अविवेकी जन ही उसका सेवन करते हैं ॥ २० ॥ यहाँ ब्रह्माने वेश्याको सब प्रकारके सुखको देनेवाले तपरूप धनको चुराने-वाली, सब दु खोंके देनेमें दक्ष, मनुष्योंको नष्ट करनेके लिये मारि (प्लेग आदि सक्रामक बीमारी) के समान तथा मनुष्यरूप मदोन्मत्त हाथीको बाँधनेके लिये वारी (गजबन्धनी) के समान बनाया है ॥ २१ ॥ जो वेश्या यहाँ नरकका मार्ग है—नरकगतिको प्राप्त करानेवाली है, स्वर्ग प्रवेशके लिये कपाटके समान है—स्वर्ग प्राप्ति-में अतिशय बाधक है, मोक्ष सुखरूप वनको भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, दोषोका घर है, तथा गुणोंका शत्रु है— उनको नष्ट करनेवाली है; उस वेश्याके सगसे क्या सुख मिल सकता है ? कभी नही ॥ २२ ॥ मनुष्य जिस वेश्याके निमित्तसे दासताको प्राप्त होता है, कुलको नष्ट करता है, तथा निर्लज्ज होकर अनेक निन्द्य

---

१ स जा नि । २ स निकृतज्ञा । ३ स दूरतस्तां त्यजत । ४ स °युते । ५ स बुद्धिस्तवजन°, °जनवीर्यं । ६ स गणिका । ७ स मदिरेव, मदिरे वा, मदिरा वा । ८ स °दारुण°, °दारुणदु छु° । ९ स °चोरी । १० स om. मर्त्य । ११ स विधिनापननारी, विधिना परनारी । १२ स स्वभ्रवर्त्मं । १३ स °सुरलक्ष्म° । १४ स घर्म [घर्मनि°] । १५ स °लज्जं ।

619) चेन्न पण्यवनिता जगति स्याद्दुःखदाननिपुणा[1] कथमेते ।
प्राणिनो जननदुःखमपारं प्राप्नुवन्ति पुरु[2] सोढु[3]मशक्यम् ॥ २४ ॥
620) दोषमेवमव[4]गम्य मनुष्यः शुद्धबोधजलधौतमनस्कः ।
तत्त्वतस्त्यजति पण्यपुरन्ध्रीं जन्मसागरनिपातनदक्षाम्[5] ॥ २५ ॥
इति वेश्यासंगनिषेध[6]पञ्चविंशतिः ॥ २४ ॥

निपुण पण्यवनिता न स्यात् चेत् एते प्राणिनः अपारं पुरु सोढुम् अशक्यं जननदुःखं कथं प्राप्नुवन्ति ॥ २४ ॥ शुद्धबोधजल-धौतमनस्क. मनुष्य. एवं दोषम् अवगम्य जन्मसागरनिपातनदक्षा पण्यपुरन्ध्री तत्त्वतः त्यजति ॥ २५ ॥
इति वेश्यासंगनिषेधपञ्चविंशति ॥ २४ ॥

कार्योंको करता है; वह वेश्या आश्रयके योग्य नहीं है—उसकी संगितिसे सदा ही बचना चाहिये ॥ २३ ॥ यदि संसारके भीतर दुख देनेमे चतुर वह वेश्या न हो तो ये प्राणी जन्म-मरणरूप संसारके अपार एवं असह्य महान् दुखको कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? नही हो सकते है। अभिप्राय यह है कि वेश्याके निमित्तसे असह्य संसारके दुखको भोगना पड़ता है, अतः विवेको जनको उससे सदा दूर रहना चाहिये ॥ २४ ॥ जिस मनुष्यका मन सम्यग्ज्ञानरूप जलसे निर्मल हो चुका है वह इस प्रकार वेश्याके संगसे होनेवाले दोषको जान करके संसाररूप समुद्रमे डुबाने वाली उस वेश्याका वास्तवमें त्याग कर देता है ॥ २५ ॥
इसप्रकार पच्चीस श्लोकोंमें वेश्याकी संगतिका निषेध किया।

●

---

[1] स °निपुणाः । [2] स गुरु for पुरु । [3] स पुरुषोग्दुं । [4] स om. °मव । [5] स °दक्षं, °दक्षा, °दक्षीं, पुरन्ध्री-जन्म० दक्षम् । [6] स °निषेधनिरूपणम् ।

[२५. द्यूतनिषेधैकविंशतिः]

621) यानि कानिचिदनर्थवीचिके जन्मसागरजले[1] निमज्जताम् ।
सन्ति दुःखनिल[2]यानि देहिनां तानि चाक्षरमणेन निश्चितम् ॥ १ ॥

622) तावदत्र पुरुषा विवेकिनस्तावदेति[3] सुजनेषु पूज्यताम् ।
तावदुत्तमगुणा भवन्ति च यावदक्षरमणं न कुर्वते ॥ २ ॥

623) सत्यशौचशमशर्मवर्जिता धर्मकामधनतो बहिष्कृताः ।
द्यूतदोषमलिना[4] विचेतनाः कं[5] न दोषमुपचिन्वते जनाः ॥ ३ ॥

624) सत्यमस्यति करोत्यसत्यतां दुर्गतिं नयति हन्ति सद्गतिम् ।
धर्ममस्ति वितनोति पातकं द्यूतमत्र कुरुते ऽथवा न किम् ॥ ४ ॥

625) द्यूततो ऽपि कुपितो विकम्पते विग्रहं भजति तन्नरो यत ।
जायते मरणमारणक्रिया तेन तच्छुभमतिर्न दीव्यति ॥ ५॥

626) द्यूतदेवनरतस्य[6] विद्यते[7] देहिनां[8] न करुणा[9] विना तया[10] ।
पापमेति [11]पुरुदुःखकारणं श्वभ्र[12]वासमुपयाति तेन स ॥ ६ ॥

अनर्थवीचिके जन्मसागरजले निमज्जता देहिनां यानि कानिचिद् दुःखनिलयानि सन्ति तानि अक्षरमणेन निश्चितं भवन्ति ॥ १ ॥ यावत् अत्र पुरुषा अक्षरमणं न कुर्वते तावत् विवेकिनः, तावत् सुजनेषु पूज्यताम् एति, च तावत् उत्तम-गुणाः भवन्ति ॥ २ ॥ द्यूतदोषमलिना विचेतनाः जना. सत्यशौचशमशर्मवर्जिता धर्मकामधनतो बहिष्कृता. [सन्तः] कं दोषं न उपचिन्वते ॥ ३ ॥ द्यूत सत्यम् अस्यति, असत्यता करोति, दुर्गतिं नयति, सद्गतिं हन्ति, धर्मम् अस्ति, पातकं वितनोति । अथवा अत्र किं न कुरुते ॥ ४ ॥ यत नरः द्यूततः कुपितः विकम्पते, विग्रहम् अपि भजति । तेन मरणमारणक्रिया च जायते । तच्छुभमति. न दीव्यति ॥ ५ ॥ द्यूतदेवनरतस्य देहिना करुणा न विद्यते । तया विना पुरुदुःखकारणं पापम्

अनर्थरूप लहरोंसे परिपूर्ण ससाररूप समुद्रमे डूबनेवाले प्राणियोंके लिये जितने कुछ भी दुखके स्थान हैं वे सब निश्चयसे जुआ खेलनेसे प्राप्त होते हैं ॥१॥ पुरुष जब तक यहाँ द्यूतक्रीड़ा नही करते हैं—जुआ नही खेलते हैं तब तक ही विवेकी रह सकते है, तब तक ही सज्जनोंके बीचमें पूजाके योग्य रह सकते हैं, और तब तक ही उत्तम गुणोंसे सहित रहते हैं ॥ २ ॥ जो अविवेकी प्राणी द्यूतक्रीडाके दोषसे मलिन होते है—जुआ खेलते हैं वे सत्य, शौच, शम और सुखसे रहित तथा धर्म, काम और धन इन तीन पुरुषार्थोंसे विमुख होकर किस दोषको संचित नही करते हैं ? अर्थात् वे सब ही दोषोंको सचित करते हैं ॥ ३ ॥ द्यूत सत्यको नष्ट करके असत्यताको करता है, उत्तम गतिको नष्ट करके दुर्गतिको ले जाता है, तथा धर्मका भक्षण करके पापको उत्पन्न करता है । अथवा ठीक ही है—द्यूत यहाँ क्या नहीं करता है ? वह सब ही अनर्थको करता है ॥ ४ ॥ द्यूतसे चूँकि मनुष्य-के क्रोध उत्पन्न होता है, इससे उसका शरीर काँपने लगता है, वह लड़नेके लिये उद्यत हो जाता है, तथा इससे मरने या मारनेकी क्रिया उत्पन्न होती है; इसीलिये निर्मलबुद्धि मनुष्य उस द्यूतको नही खेलता है ॥ ५ ॥ जो

---

१ स °जने । २ स दुःखलयानि । ३ स अतावति [om अ] प्रतिजनेषु, स्तावदप्रति, om. सु । ४ स °मतिना । ५ स किं for कं । ६ स द्यूतदेवनर तस्य । ७ स om. विद्य° । ८ स देहिनो । ९ स करुणा । १० स तये । ११ स पर° । १२ स शुभ्र° ।

627) पैशुनं[1] कटुकमश्रवः[2]सुखं वक्ति वाक्य[3]मनृतं विनिन्दितम् ।
वञ्चनाय कितवो विचेतनस्तेन तिर्यगति[4]मात्रमेति स ॥ ७ ॥
628) अन्यदीयमविचिन्त्य पातकं निघृणो हरति जीवितोपमम् ।
द्रव्यमत्र कितवो विचेतनस्तेन गच्छति कदर्थनां चिरम् ॥ ८ ॥
629) श्वभ्र[5]दुःखपटुकर्मकारिणीं कामिनीमपि परस्य दुःखदाम् ।
द्यूतदोषमलिनोऽभिलष्यति संसृतावटति तेन दुःखितः ॥ ९ ॥
630) जीवनाशनमनेकधा[6] दधद् ग्रन्थमक्षरमणोद्यतो नरः ।
स्वीकरोति [7]बहुदुःखमस्तधीस्तत्प्रयाति भवकाननं यतः ॥ १० ॥
631) साधुबन्धुपितृमातृसज्जनान्मन्यते[9] न न बिभेति दुःखतः ।
लज्जते न तनुते मलं कुले द्यूतरोपितमना निरस्तधीः ॥ ११ ॥
632) द्यूतनाशितधनो गताशयो मातृवस्त्रमपि यो ऽपकर्षति ।
शीलवृत्तिकुलजातिदूषणः[10] किं न कर्म कुरुते स मानवः ॥ १२ ॥

एति । तेन सः श्वभ्रवासम् उपयाति ॥ ६ ॥ विचेतन कितवः वञ्चनाय पैशुन कटुकम् अश्रव. सुखं विनिन्दितम् अनृतं वाक्यं वक्ति । तेन स अतिमात्रं तिर्यक् एति ॥ ७ ॥ अत्र विचेतनः कितवः पातकम् अविचिन्त्य अन्यदीयं जीवितोपमं द्रव्यं निघृणं हरति । तेन चिरं कदर्थना गच्छति ॥ ८ ॥ द्यूतदोषमलिनः परस्य दु.खदां श्वभ्रदु.खपटुकर्मकारिणी कामिनीम् अपि अभिलष्यति । तेन दुःखितः ससृतौ अटति ॥ ९ ॥ अक्षरमणोद्यत अस्तधी. नर. जीवनाशनम् अनेकधा ग्रन्थं दधत् बहुदुःखं स्वीकरोति । यत. तत् भवकानन प्रयाति ॥ १० ॥ द्यूतरोपितमना निरस्तधीः साधुबन्धुपितृमातृसज्जनान् न मन्यते । दुःखतः न बिभेति, न लज्जते, कुले मल तनुते ॥ ११ ॥ द्यूतनाशितधन गताशयः यः मानवः मातृवस्त्रमपि

जो मनुष्य द्यूतक्रीड़ामें आसक्त है उसके जीवोंके प्रति दया नही रहती है, उस दयाके बिना महादुखके कारण-भूत पापका संचय होता है, और उससे वह नरकवासको प्राप्त होता है—नरकके दुःसह दुखको सहता है ॥६॥ मूर्ख जुवारी मनुष्य दूसरोंको ठगनेके लिये ऐसे निन्दित असत्य वचनको बोलता है जो दुष्टतासे परिपूर्ण, कडुवा और कानोंको दुखप्रद होता है तथा इससे वह अतिशय तिरछा जाता है—तिर्यंगतिको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ मूर्ख जुवारी मनुष्य पापका विचार न करके यहाँ निर्दयता पूर्वक दूसरेके प्राणोंके समान प्रिय धनको हरता है और उससे चिरकाल तक पीड़ाको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ जो मनुष्य द्यूतके दोषसे मलिन होता है वह नरक-गतिके दुखको उत्पन्न करनेवाले कार्यको करानेवाली दुखप्रद परस्त्रीकी भी अभिलाषा करता है और उससे दुखित होकर संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ ९ ॥ द्यूतक्रीड़ामें उद्यत मनुष्य अज्ञानतासे जीव घातके कारणभूत अनेक प्रकारके परिग्रहको धारण करता हुआ बहुत दुखको देनेवाले पाप कर्मको स्वीकार करता है, जिससे कि संसाररूप वनमें परिभ्रमण करता है ॥ १० ॥ जो दुर्बुद्धि मनुष्य द्यूतमे मनको लगाता है वह साधु, बन्धु, पिता, माता और सज्जनका सम्मान नहीं करता है; दुखसे डरता नही है, लज्जाको छोड़कर निर्लज्ज हो जाता है, तथा कुलमें दाग लगाता है ॥ ११ ॥ जिस मनुष्यका धन द्यूतसे नष्ट किया जा चुका है तथा इसीलिये जो हतबुद्धि होकर माताके वस्त्रको भी खींच लेता है वह शील, संयम कुल और जातिको मलिन करके कौन-से

---

१ स पैशुकं । २ स °श्रवा°, श्रुवा° । ३ स वाच्य° । ४ स तेन तिर्यगतिमेति [तिर्ज°, तिर्यग्ग°] तेन सः । ५ स शुभ्र । ६ स °नेकधावध° । ७ स बहुदोषम् । ८ स °मिस्तधि° । ९ स °मन्यते न तनुते मलं कुले द्यूत° °धीः शुभ्र-वासमुपयात्यसौ यतः । १० स °कुलनीतिदू° ।

633) घ्राणकर्णकरपादकर्तनं[1] यद्वशेन लभते शरीरवान् ।
तत्समस्तसुखधर्मनाशनं द्यूतमाश्रयति कः सचेतनः ॥ १३ ॥
634) धर्मकामधनसौख्यनाशिना[2] [3]वैरिणाक्षरमणेन देहिनाम् ।
सर्वदोषनिलयेन सर्वदा संपदा[4] खलु सहाश्वमाहिषम् ॥ १४ ॥
635) यद्वशा[5]द्द्वितयजन्मनाशनं युद्ध[6]राटिकलहादि कुर्वते ।
तेन शुद्धधिषणा[7] न तन्वते[8] द्यूतमत्र मनसापि मानवाः ॥ १५ ॥
636) द्यूतनाशितसमस्तभूतिको[9] बम्भ्रमीति सकलां भुवं नरः ।
जीर्णवस्त्रकृतदेहसंवृति[10]र्मस्तकाहितभरः क्षुधातुरः ॥ १६ ॥
637) याचते नटति याति दीनतां लज्जते न कुरुते विडम्बनाम् ।
सेवते नमति याति दासतां द्यूतसेवनपरो नरो ऽधम[11] ॥ १७ ॥
638) रुध्यते[12] ऽन्यकितवैर्निषेध्यते बध्यते[13] वचनमुच्यते कटु ।
नोद्यते ऽत्र परिभूयते नरो हन्यते च कितवो विनिन्द्यते ॥ १८ ॥

अपकर्षति सः शीलवृत्ति-कुलजातिदूषणं किं कर्म न कुरुते ॥ १२ ॥ यद्वशेन शरीरवान् घ्राणकर्णकरपादकर्तनं लभते तत् समस्तसुखधर्मनाशनं द्यूतं कः सचेतनः आश्रयति ॥ १३ ॥ धर्मकर्मधनसौख्यनाशिना सर्वदोषनिलयेन देहिनां वैरिणा अक्षरमणेन संपदा सह खलु सर्वदा अश्वमाहिषं [विद्यते] ॥ १४ ॥ यद्वशात् मानवाः द्वितयजन्मनाशनं युद्धराटिकलहादि कुर्वते । तेन अत्र शुद्धधिषणाः मनसा अपि द्यूतं न तन्वते ॥१५॥ द्यूतनाशितसमस्तभूतिकः, जीर्णवस्त्रकृतदेहसंहृतिः, मस्तकाहितभरः क्षुधातुरः नरः सकलां भुवं बम्भ्रमीति ॥ १६ ॥ द्यूतसेवनपरः अधमः नरः याचते, नटति, दीनतां याति, न लज्जते, विडम्बनां कुरुते, सेवते, नमति, दासतां याति ॥ १७ ॥ अत्र कितवः नरः अन्यकितवैः रुध्यते, निषेध्यते, बध्यते, कटु

कार्यको नहीं करता है ? अर्थात् जुवारी मनुष्य जुएमें धनको गमाकर सब कुछ करने लगता है ॥ १२ ॥ जिस द्यूतके वशमें होकर मनुष्यको नासिका, कान, हाथ और पैरके काटे जानेके दुखको सहना पड़ता है उस समस्त सुख और धर्मको नष्ट करनेवाले द्यूतका कौन-सा सचेतन प्राणी आश्रय लेता है ? कोई नहीं लेता । तात्पर्य यह कि जो इसप्रकारसे दुख देनेवाले द्यूतमें आसक्त होता है उसे जड ही समझना चाहिये ॥ १३ ॥ जो द्यूतरूप शत्रु प्राणियोंके धर्मकर्म, धन और सुखको नष्ट करनेवाला तथा सब दोषोंका स्थान है उसके साथ सम्पत्तियोंका सदा अश्व और भैंसके समान वैर रहता है । अभिप्राय यह कि जुवारी पुरुषकी सब सम्पत्ति नष्ट हो जाती है जिससे कि वह अतिशय दुखी होता है ॥ १४ ॥ चूँकि द्यूतके वशमें होकर मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों ही लोकोंको नष्ट करता है तथा युद्ध, राटि और कलह आदिमें प्रवृत्त होता है इसीलिये यहाँ निर्मलबुद्धि मनुष्य मनसे भी उस द्यूतको नहीं स्वीकार करता है ॥ १५ ॥ जिस मनुष्यकी विभूति द्यूतके द्वारा नष्ट हो चुकी है वह जीर्ण वस्त्रसे शरीरको आच्छादित करके भूखसे पीड़ित होता हुआ मस्तक पर बोझको धारण करता है और समस्त पृथिवीपर घूमता है ॥ १६ ॥ जो नीच मनुष्य द्यूतकी सेवामें तत्पर है वह भीख माँगता है, नाचता है, दीनताको प्राप्त होता है, लज्जाको छोड़ देता है, विडम्बना करता है, सेवा करता है, नमस्कार करता है और दासताको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ जुआरी मनुष्यको यहाँ दूसरे जुआरी जन रोकते है, निषेध करते है बध करते

१ स कर्तनं यद्वशेन, यद्वशे न । २ स °नाशिनी, °नाशिनी, om. १/२ चरणौ । ३ स वैरिणी° । ४ स संपदा । ५ स °शाद्द्वितय । ६ स युद्धराद्रि°, °राटि कलह । ७ स °धिषणो । ८ स तन्यते । ९ स °भूतिके । १० स °संहृति°, °संवति° । ११ स [ऽ] धमो नरः । १२ स शुध्यते न । १३ स वध्यते ।

639) हन्ति ताडयति भाषते वचः कर्कशं रटति खिद्यते[1] व्यथाम् ।
संतनोति विदधाति रोधनं द्यूततो ऽथ कुरुते न किं नरः ॥ १९ ॥

640) जल्पितेन बहुना किमत्र भो द्यूततो न परमस्ति दुःखदम् ।
चेतसेति परिचिन्त्य सज्जनाः कुर्वते न रतिमत्र सर्वथा ॥ २० ॥

641) शीलवृत्तगुणधर्मरक्षणं स्वर्गमोक्षसुखदा[2]नपेशलम् ।
कुर्वताक्षरमणं न तत्त्वतः सेव्यते सकलदोषकारणम् ॥ २१ ॥

इति द्यूतनिषेधैक[3]विंशतिः ॥ २५ ॥

वचनम् उच्यते, नोद्यते, परिभूयते हन्यते, विनिन्द्यते च ॥ १८ ॥ द्यूततः नरः हन्ति, ताडयति, कर्कशं वचः भाषते, रटति, खिद्यते, व्यथां संतनोति, रोधनं विदधाति । अथ किं न कुरुते ॥ १९ ॥ भोः अत्र बहु जल्पितेन किम् । द्यूततः परं दुःखदं न अस्ति । सज्जनाः इति चेतसा परिचिन्त्य अत्र सर्वथा रतिं न कुरुते ॥ २० ॥ स्वर्गमोक्षसुखदानपेशलं शीलवृत्तगुणधर्मरक्षणं कुर्वता तत्त्वतः सकलदोषकारणम् अक्षरमणं न सेव्यते ॥ २१ ॥

इति द्यूतनिषेधैकविंशतिः ॥ २५ ॥

हैं, कटु वचन बोलते है, पीड़ा देते हैं, तिरस्कृत करते हैं, मारते है, और निन्दा करते हैं ॥ १८ ॥ मनुष्य जुआके निमित्तसे दूसरेका घात करता है, उसे ताड़ित करता है, कठोर वचन बोलता है, परिभाषण करता है, दीन बनाता है, कष्ट पहुँचाता है, और निरोध करता है। अथवा ठीक है—द्यूतसे यहाँ मनुष्य क्या नहीं करता है ? सब ही निन्द्य कार्यको वह करता है ॥ १९ ॥ भो भव्य जन ! बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? द्यूतसे अन्य और कोई भी कार्य दुख देनेवाला नही है—द्यूत ही प्राणियोंके लिये सबसे अधिक दुख देता है। यही मनसे विचार करके सज्जन पुरुष यहाँ जुआमें अनुराग नही करते हैं—उससे वे सर्वथा दूर ही रहते हैं ॥ २० ॥ जो स्वर्ग और मोक्षके सुखके देनेमें दक्ष शील, संयम, गुण एवं धर्मकी रक्षा करता है वह समस्त दोषोंके कारणभूत द्यूतका वास्तवमें सेवन नही करता है ॥ २१ ॥

इसप्रकार इक्कीस श्लोकोंमें द्यूतका निषेध किया।

●

---

१ स विद्यते । २ स om. दान । ३ स °निषेधनिरूपणम् ।

[२६. आप्तविचारद्वात्रिंशतिः]

642) वाञ्छत्यङ्गी समस्तः[1] सुखमनवरतं कर्मविध्वंसतस्त-
[2]च्चारित्रात्स प्रबोधाद्भवति तदमलं स[3] श्रुतादाप्ततस्तत् ।
निर्दोषात्मा स[4] दोषा जगति निगदिता द्वेषरागादयो ऽत्र
ज्ञात्वा मुक्त्यै[5] तु दोषान्विकलितविपदो[6] नाश्रयन्त्य[7]स्ततन्द्राः ॥ १ ॥

643) जन्माकूपारमध्यं मृतिजननजरावर्तम[8]त्यन्तभीमं
नानादुःखोग्रनक्रभ्रमणकलुषितं व्याधिसिन्धुप्रवाहम् ।
नीयन्ते प्राणिवर्गा [9]गुरुदुरितभरं यैर्निरूप्यारसन्त-
स्ते रागद्वेषमोहा रिपुवदसुखदा येन धूताः स आप्तः ॥ २ ॥

समस्त. अङ्गी अनवरतं सुखं वाञ्छति । तत् कर्मविध्वंसतः, स चारित्रात्, अमलं तत् प्रबोधात् भवति । स श्रुतात्, तत् आप्ततः, स निर्दोषात्मा । दोषा तु अत्र जगति द्वेषरागादयः निगदिताः । विकलितविपदः अस्तनिद्राः [इति] ज्ञात्वा मुक्त्यै दोषान् न आश्रयन्ति ॥ १ ॥ यैः गुरुदुरितभर निरूप्य आरसन्त प्राणिवर्गा. मृतिजननजरावर्तम्, अत्यन्तभीमम्; नानादुःखोग्रनक्रभ्रमणकलुषित, व्याधिसिन्धुप्रवाहं, जन्माकूपारमध्यं नीयन्ते, ते रिपुवत् असुखदा. रागद्वेषमोहाः येन धूताः सः आप्तः ॥ २ ॥ येन अस्तधैर्य. शम्भुः गिरिपतितनया देहार्धे नीतवान् । मुरद्विट् लक्ष्मी वक्ष (नीतवान्) । पयसिज-

---

समस्त प्राणिसमूह निरन्तर सुखकी अभिलाषा करता है, वह सुख कर्मोंके क्षयसे होता है, कर्मोंका क्षय चारित्रसे होता है, वह निर्मल चारित्र सम्यग्ज्ञानसे होता है, सम्यग्ज्ञान श्रुतके अभ्याससे होता है, उस श्रुतकी उत्पत्ति आप्तसे होती है, आप्त निर्दोष होता है, और दोष यहाँ रागद्वेषादि कहे गये हैं; यह जानकर सावधान सज्जन विपत्तियोंसे रहित होकर मुक्तिके निमित्त उक्त रागादि दोषोंका कभी आश्रय नहीं करते हैं ॥ १ ॥ जो राग द्वेष व मोह भारी पापके बोझको देखकर शब्द करते हुए प्राणियोंके समूहको उस संसाररूप समुद्रके मध्यमें ले जाते हैं जो कि मृत्यु, जन्म और जरा रूप भँवरोसे सहित है, अतिशय भयानक है, अनेक दुखरूप भयानक मगरोके घूमनेसे कलुषित है, तथा व्याधिरूप नदियोके प्रवाहसे सहित हैं; उन शत्रुके समान दुख देनेवाले राग, द्वेष व मोहको जो नष्ट कर चुका है वह आप्त है ॥ २ ॥ विशेषार्थ—आप्त शब्दका अर्थ विश्वस्त है। जो राग द्वेष व मोह आदि अठारह दोषोंसे रहित, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है वह आप्त कहलाता है। जो व्यक्ति राग व द्वेष आदिसे कलुषित होता है वह यथार्थवक्ता नही हो सकता है। कारण कि वह उन राग-द्वेषादिसे प्रेरित होकर कदाचित् असत्य भाषण भी कर सकता है। प्राणीके राग-द्वेष आदि ही वास्तविक शत्रु हैं, क्योंकि इन्हींके निमित्तसे वह गुरुतर पाप कर्मको उपार्जित करता है और फिर उसीके वश होकर ससाररूप समुद्रमें गोते खाता हुआ अनेक प्रकारके दु.सह दुखको सहता है। यह जान करके ही मुमुक्षु जन उन रागद्वेषादिको ध्वस्त करके शाश्वतिक सुखको प्राप्त करते हैं ।। २ ॥ जिस कामदेवके वशमें होकर अधीर होते हुए

---

१ स समस्तं । २ स चारित्रात्स्यात्प्र° । ३ स सं, सश्रुता° । ४ स सदोषा । ५ स मुक्ते, मुक्त्यै सदोषा° । ६ स °विपदे । ७ स °श्रयंत्व°, वाश्रयंत्व° । ८ स °वर्त्य°, °वर्त्यर्म° । ९ स पुरु for गुरु ।

644) [1]देहार्धे येन शम्भुर्गिरिपतितनयां नीत[2]वान् ध्वस्तधैर्यो
वक्षो[3] लक्ष्मीं मुरद्विट्[4] पयसिजनिलयो ऽष्टार्धवक्त्रो बभूव ।
गीर्वाणानामधीशो दशशतभगतामस्तबुद्धिः प्रयातः
प्रध्वस्तो येन सो ऽपि कुसुमशररिपुर्देवमाप्तं तमाहुः ॥ ३ ॥

645) पृथ्वीमुद्धर्तुमीशाः सलिलधिसलिलं पातुमद्रिं प्रवेष्टुं[5]
ज्योतिश्चक्रं निरोद्धुं [6]प्रचलितमनिलं ये ऽशितुं[7] सत्त्ववन्तः ।
निर्जेतुं ते ऽपि यानि प्रथितपृथुगुणाः शक्नुवन्ति स्म नेन्द्रा
यो ऽत्रामूनीन्द्रियाणि त्रिजगति जितवानाप्तमाहुस्तमीशम् ॥ ४ ॥

646) वर्णोष्ठ[8]स्पन्दमुक्ता सकृदखिलजनान्[9] बोधयन्ति विबाधा
[10]निर्वाञ्छोच्छ्वासदोषा मनसि निदधती[11] साम्यमानन्दधात्री ।
ध्रौव्योत्पादव्ययात्म्यं त्रिभुवनमखिलं भाषते[12] यस्य वाणी
तं मोक्षाय श्रयन्तु स्थिरतरधिषणा देवमाप्तं मुनीन्द्राः ॥ ५ ॥

निलय' अष्टार्धवक्त्र बभूव । गीर्वाणानाम् अधीश अस्तबुद्धि. [सन्] दशशतभगता प्रयातः । सोऽपि कुसुमशररिपु. येन प्रध्वस्त. तं देवम् आप्तम् आहु. ॥ ३ ॥ ये पृथ्वीम् उद्धर्तुं, सलिलधिसलिलं पातुम्, अद्रिं प्रवेष्टुं, ज्योतिश्चक्रं निरोद्धुं, प्रचलितम् अनिलम् अशितुम् ईशा., ते प्रथितपृथुगुणा सत्त्ववन्त इन्द्रा अपि अत्र यानि निर्जेतुं न शक्नुवन्ति स्म, अमूनि इन्द्रियाणि त्रिजगति य. जितवान् तम् ईशम् आप्तम् आहु ॥ ४ ॥ यस्य वर्णोष्ठस्पन्दमुक्ता, अखिलजनान् सकृत् बोधयन्ती, विबाधा, निर्वाञ्छोच्छ्वासदोषा, मनसि साम्य निदधती, आनन्दधात्री, वाणी ध्रौव्योत्पादव्ययात्म्यम् अखिलं त्रिभुवन भाषते, तम् आप्तं देवं स्थिरतरधिषणा. मुनीन्द्रा. मोक्षाय श्रयन्तु ॥ ५ ॥ यस्य लोकालोकावलोकी बोधः त्रिभुवनभवनाभ्यन्तरे वर्त-

---

महादेवने पार्वतीको अपने आधे शरीरमे धारण किया, कृष्णने लक्ष्मीको वक्षस्थल पर धारण किया, ब्रह्मा चार मुखोंसे सयुक्त हुआ, तथा देवराज (इन्द्र) बुद्धिहीन होकर एक हजार योनियोको प्राप्त हुआ; उस सुभट कामदेवको भी जिसने नष्ट कर दिया है—जो कभी उसके वशमें नही हुआ है उस कामदेवके शत्रु स्वरूप देव-को आप्त कहते हैं ॥ ३ ॥ तीनो लोकोंमे जो इन्द्र आदि पृथ्वीका उद्धार करनेमें समर्थ थे, जो समुद्रके समस्त जलके पीनेमे समर्थ थे, जो पर्वतमे प्रवेश करनेके लिये समर्थ थे, जो ज्योतिषियोंके समूहको रोकनेके लिये समर्थ थे, तथा जो चलती हुई वायुके खानेमे समर्थ थे, प्रसिद्ध महागुणोंको धारण करनेवाले वे भी जिन इन्द्रियोंको नहीं जीत सके उन इन्द्रियोंको जो जीत चुका है उस ईश्वरको आप्त कहते हैं ॥ ४ ॥ जिसकी वाणी वर्ण (अकरादि) और ओठोंके हलन-चलनसे रहित है, एक साथ सब ही प्राणियोंको वस्तु स्वरूपका बोध कराती है, बाधासे रहित है, इच्छा एवं उच्छ्वासके दोषसे दूर हैं, मनमें समताभावको करनेवाली है, आनन्दको उत्पन्न करती है; तथा ध्रौव्य उत्पाद व व्यय स्वरूप समस्त लोकका निरूपण करती हैं; अतिशय स्थिर बुद्धि-के धारक मुनिजन मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त उस आप्त देवका आश्रय लें—उसको ही यथार्थ देव समझकर उसके सदुपदेशको सुनें जिससे कि निर्बाध मोक्षसुख प्राप्त हो सके ॥ ५ ॥ लोक और अलोकको देखनेवाला

---

१ स देहार्ध । २ स नीति° । ३ स वक्षोलक्ष्मी । ४ स मुर्रद्वि°, मुरुद्विट्, मुरद्विद्वयसि°, मुरद्विषयसि° । ५ स प्रवेष्टुं । ६ स प्रचलत°, प्रचित । ७ स ये शिशु सत्ववंता । ८ स वर्णोष्टस्यन्द मुक्त्वा । ९ स °जना शोधयंति । १० स निर्वांछोछास°, निवांछे । ११ स विदधती । १२ स भाष्यते ।

647) भावाभावस्वरूपं सकलमसकलं द्रव्यपर्याय[1]तत्त्वं
भेदाभेदावलीढं त्रिभुवनभवना[2]भ्यन्तरे वर्तमानम् ।
लोकालोकावलोकी [3]गतनिखिल[4]मलं लोकते यस्य बोध-
स्तं देवं[5] मुक्तिकामा[6] भवभवनभिदे भावयन्त्वाप्तमत्र ॥ ६ ॥

648) स्याच्चेन्नित्यं समस्तं परिणतिरहितं कर्तृकर्मव्युदासा-
त्संबन्धस्तत्र दृश्येन्न फल[7]फलवतोर्नाप्यनित्ये समस्ते ।
पर्यालोच्येति येन प्रकटितमुभयं ध्वस्तदोषप्रपञ्चं
तं[8] सेवध्वं विमुक्त्यै जननिगलिता[9] भक्तितो देवमाप्तम् ॥ ७ ॥

मानं भावाभावस्वरूप, सकलम् असकलम्, भेदाभेदावलीढं, द्रव्यपर्यायतत्त्वं गतनिखिलमलम् आलोकते, तम् आप्तं देवम् अत्र मुक्तिकामाः भवभवनभिदे भावयन्तु ॥ ६ ॥ समस्तं परिणतिरहित नित्यं स्यात् चेत् तत्र कर्तृकर्मव्युदासात् फलफलवतोः संबन्धः न दृश्येत् । समस्ते अनित्येऽपि (स सबन्ध·) न (दृश्येत्) । इति पर्यालोच्य येन ध्वस्तदोषप्रपञ्चम् उभयं प्रकटितम् तम् आप्त देवं जननिगलिताः विमुक्त्यै भक्तित सेवध्वम् ॥ ७ ॥ कर्ता नो चेत् भोक्ता न । यदि विभु· भवति वियोगेन

जिसका ज्ञान तीन लोकरूप गृहके भीतर स्थित भाव व अभाव स्वरूप, समस्त व असमस्त स्वरूप तथा भेद व अभेद स्वरूप (अनेकान्तात्मक) द्रव्य एव पर्याय तत्त्वको स्पष्टतया देखता है—जानता है—मुक्तिके अभिलाषी भव्य जोव ससाररूप गृहको नष्ट करनेके लिये यहाँ उसी आप्त देवका चिन्तन करें ॥ ६ ॥ यदि समस्त वस्तु-समूह सर्वथा नित्य व परिणमनसे रहित हो तो कर्ता व कर्म आदिका अभाव हो जानेसे उसमे कार्य-कारणभाव भी न दिख सकेगा उसके भी अभावका प्रसग प्राप्त होगा । इसी प्रकार उक्त समस्त वस्तुसमूहके अनित्य होनेपर भी उक्त कार्य-कारणभाव न बन सकेगा । यही विचार करके जिसने उक्त वस्तु तत्त्वको सब दोषोंसे रहित उभयस्वरूप—कथचित् नित्यानित्य—बतलाया है । जन्मरूप साकलसे बँधे हुए ससारो प्राणी उक्त बन्धन-से छुटकारा पानेके लिये उस आप्त देवका भक्तिपूर्वक आराधन करे ॥ ७ ॥ विशेषार्थ—वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य भी, किन्तु वह कथंचित् नित्य और कथचित् अनित्य है । यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो उसमे किसी भी प्रकारका परिणमन नही हो सकता है और उस परिणमनके अभावमे फिर 'यह कुम्भकार घटका कर्ता और वह घट कर्म है इस प्रकारकी कर्ता और कर्म आदिकी भी व्यवस्था नही बन सकता है । ऐसी अवस्थामे लोगोको सर्वदा अनुभवमें आनेवाले कार्यकारणभावके भी अभावका प्रसग अनिवार्य होगा । इससे सिद्ध है कि वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु परिणमन स्वभाववाली हे इसी प्रकार वह सर्वथा अनित्य भी नही हो सकती है, क्योकि वस्तुका प्रतिक्षण निरन्वय विनाश मानने पर पूर्वोक्त कार्य-कारणभावके अभावका प्रसग ही तदवस्थ रहेगा । इसका कारण यह है कि वस्तुकी उत्तरोत्तर होनेवाली पर्यायोमे यदि सामान्य स्वरूपसे द्रव्यका अवस्थान न माना जायगा तो प्रतिक्षण विनष्ट होनेवाली पर्यायोमें कर्ता व कर्म आदिकी व्यवस्था नही रह सकती है । इससे सिद्ध है कि जिसप्रकार वस्तु सर्वथा नित्य नही हो सकती है उसीप्रकार वह सर्वथा अनित्य भी नहीं हो सकती है । किन्तु वह द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य भी है । व्यवहारमें देखा भी जाता है कि जब घट विनष्ट होता है तो उसका सर्वथा अभाव नही हो जाता है, किन्तु ठीकरों-

---

१ स °पर्यायि° । २ स °भुवना° । ३ स om. गत, गति° । ४ स निखिलं लोकते, लोकने । ५ स वंदे for देवं । ६ स °कामो, भवनवन° । ७ स om. फल । ८ स तत् । ९ स °गलितो ।

649) नो चेत्कर्ता न भोक्ता यदि भवति [1]विभुर्नो वियोगे[2] न दुःखी
स्याच्चेदेकः शरीरी प्रतितनु[3] स तदान्यस्य दुःखे [4]न दुःखी।
स्याद्विज्ञायेति जन्तुर्गत[5]निखिलमलं यो [6]ऽभ्यधत्तेद्धबोधं
तं[7] पूज्याः पूजयन्तु [8]प्रशमितविपदं देवमाप्तं विमुक्त्यै[9] ॥ ८ ॥

दुःखी नो स्यात्। प्रतितनु एकः शरीरी स्यात् चेत् तदा सः जन्तुः अन्यस्य दुःखेन दुःखी स्यात्। इति विज्ञाय यः गतनिखिलमलम् इद्धबोधम् अभ्यधत्त, तं प्रशमितविपदम् आप्तं देवं पूज्याः विमुक्त्यै पूजयन्तु ॥ ८ ॥ या रागद्वेषमोहान् जनयति,

---

के रूपमें उसका अस्तित्व पूर्वके समान बना ही रहता है। अतएव उक्त द्रव्यका अस्तित्व समस्त पर्यायोंमें विद्यमान रहनेसे उसकी अपेक्षा वस्तु नित्य है। किन्तु साथ ही चूँकि यह घट फूट गया है, इत्यादि पर्याय निमित्तक नाशका भी व्यवहार देखनेमें आता है अतएव पर्यायकी अपेक्षा उसे अनित्य मानना भी युक्तियुक्त ही है। इसप्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तुका जो विवेचन करता है वह वीतराग सर्वज्ञ ही यथार्थ देव हो सकता है, अन्य नहीं। अतएव वही एक सत्पुरुषोंका आराधनीय होता है ॥ ७ ॥ यदि पुरुष कर्ता नहीं है तो वह भोक्ता भी नहीं हो सकता है। जीव यदि व्यापक है तो उसे इष्ट वस्तुके वियोगसे दुखी नहीं होना चाहिये था। यदि प्रत्येक शरीरमें एक ही जीव होता तो फिर उसे दूसरेके दुखसे दुखी होना चाहिये था। इसप्रकार जान करके जिसने निर्दोष वस्तु स्वरूपका व्याख्यान किया है उस विपत्तियोंको शान्त करके केवलज्ञानरूप प्रदीप्त ज्योतिको धारण करनेवाले आप्त देवकी पूज्य पुरुष मुक्ति प्राप्तिके निमित्त पूजा करें ॥ ८ ॥ विशेषार्थ—सांख्य सिद्धान्तमें प्रकृतिको कर्ता और पुरुषको भोक्ता स्वीकार किया गया है। इसको लक्ष्यमें रखकर यहाँ यह बतलाया है कि यदि पुरुष कर्ता नही है तो फिर उसे भोक्ता स्वीकार करना योग्य नहीं है कारण यह कि जो जिसका कर्ता होता है वही उसके फलका भोक्ता देखा जाता है। लोक व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि जो हत्या या चोरी आदि करता है वही दण्डित होकर उसके फलको भोगता है। इसीलिये एकको कर्ता और दूसरेको भोक्ता मानना युक्तियुक्त नही प्रतीत होता। नैयायिक व वैशेषिक आदि कितने ही प्रवादी आत्माको व्यापक मानते हैं। इस सम्बन्धमें यहाँ यह निर्देश किया है कि यदि आत्मा सर्वत्र व्यापक है तो फिर उसे कभी इष्टका वियोग तो हो नहीं सकता है, क्योंकि जहाँ कहीं भी वह इष्ट वस्तु रहेगी वहाँ वह व्यापक होनेसे विद्यमान ही है। ऐसी अवस्थामें भला उसे इष्टवियोगजनित दुख क्यों होना चाहिये? नही होना चाहिये था। परन्तु वह होता अवश्य है। अतएव उसे सर्वथा व्यापक मानना भी उचित नहीं है। इसीप्रकार यदि अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरोंके भीतर एक ही आत्मा मानी जाती है तो वैसी अवस्थामें जब किसी एकको दुख होता है तब अन्य सब ही प्राणियोंको भी दुख होना चाहिये, क्योंकि जीव तो सब शरीरोंमें एक ही है। परन्तु एकके दुखित होने पर भी चूँकि दूसरे दुखी नहीं देखे जाते हैं इसीलिये सिद्ध है कि प्रत्येक शरीरमें आत्मा भिन्न-भिन्न ही है, न कि एक। और वह भी प्राप्त शरीरके ही प्रमाण है, न कि व्यापक अथवा अणुके प्रमाण। इसप्रकारसे जिसने जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ व्याख्यान किया है वही वास्तविक देव है जो पूज्य जनके द्वारा भी पूजनेके योग्य है ॥ ८ ॥ जो स्त्री राग, द्वेष एवं मोहको उत्पन्न करती है;

---

१ स विभो°। २ स वियोगेन। ३ स °प्रतिदिनु°। ४ स दुःखेन। ५ स गति°। ६ स योन्यधत्ते, योम्यधत्त, ऽद्धबोधं। ७ स सं for तं। ८ स प्रशसित°। ९ क विमुक्ती।

650) या रागद्वेषमोहा[1]ञ्जनयति हरते चारुचारित्ररत्नं
भिन्त्ते[2] मानोच्चशैलं [3]मलिनयति कुलं कीर्तिवल्लीं लुनीते ।
तस्यां ये यान्ति नार्यामुपहृतमनसा [4]सक्तिमत्यन्तमूढा
देवाः कन्दर्पतप्ता[5] ददति तनुमतां ते कथं मोक्षलक्ष्मीम् ॥ ९ ॥
651) पीन[6]श्रोणीनितम्बस्तनजघनभराक्रान्तमन्दप्रयाणा–
स्तारुण्योद्रेकरम्या मदनशरहताः कामिनीर्ये भजन्ते ।
स्थूलोपस्थस्थलीनां कुशलकरतलास्फाललीलाकुलास्ते
देवाः स्युश्चेज्जगत्यामिह वदत[7] विद[8] कीदृशाः सन्त्यसन्तः ॥ १० ॥
652) ये संगृह्यायुधानि क्षतरिपुरुधिरैः[9] पिञ्जराण्याप्तरेखा
वज्रेष्वासासिचक्र[10]क्रकचहलगदाशूलपाशादिकानि ।
रौद्रभ्रूभङ्गवक्त्राः सकलभवभृतां भीति[11]मुत्पादयन्ते
ते चेद्देवा भवन्ति [12]प्रणिगदत बुधा लुब्धकाः के भवेयुः ॥ ११ ॥

चारुचारित्ररत्नं हरते, मानोच्चशैलं भिन्त्ते, कुलं मलिनयति, कीर्तिवल्ली लुनीते, तस्या नार्यां उपहृतमनसा कन्दर्पतप्ता. अत्यन्तमूढाः ये देवाः आसक्ति यान्ति, ते तनुमता मोक्षलक्ष्मी कथं ददति ॥ ९ ॥ ये पीनश्रोणीनितम्बस्तनजघनभराक्रान्त-मन्दप्रयाणा तारुण्योद्रेकरम्या मदनशरहता कामिनी भजन्ते, (ये) स्थूलोपस्थस्थलीना कुशलकरतलास्फाललीलाकुला., ते इह जगत्या देवा स्यु चेत् [हे] विद. असन्त. कीदृशा सन्ति वदत ॥ १० ॥ ये क्षतरिपुरुधिरैः पिञ्जराणि वज्रेष्वासा-सिचक्रक्रकचहलगदाशूलपाशादिकानि आयुधानि संगृह्य आप्तरेखा रौद्रभ्रूभङ्गवक्त्रा. सकलभवभृता भीतिम् उत्पादयन्ते, ते चेत् देवा भवन्ति, [भो] बुधा प्रणिगदत, लुब्धकाः के भवेयुः ॥ ११ ॥ *येन व्याध्याधिव्याधकीर्णे विषयमृगगणे कामको-*

निर्मल चारित्ररूप रत्नको नष्ट करती है, स्वाभिमानरूप उन्नत पर्वतको भेदती है, कुलको मलिन करती है और कीर्तिरूप लताको छेदती है; उस स्त्रीके विषयमे अतिशय मुग्ध होकर जो विवेकसे रहित होते हुए आसक्तिको प्राप्त होते हैं वे कामसे सतप्त रहनेवाले प्राणियोके लिये मोक्ष लक्ष्मीको कैसे दे सकते हैं ? नहीं दे सकते हैं ॥ ९ ॥ जो स्त्रियाँ पुष्ट श्रोणी, नितम्ब, स्तन और जघनके बोझसे दब करके मंद गतिसे चलती हैं; यौवनके प्रभावसे रमणीय दिखती है, तथा कामके बाणोसे विद्ध रहती है उनके स्थूल योनिस्थलको जो कुशल हाथोंसे थपथपानेकी क्रीड़ामे व्याकुल होकर उनका सेवन करते है वे यदि इस ससारमे देव हो सकते हैं तो फिर हे विद्वज्जन ! यह कहिये कि असज्जन कैसे होते हैं। अभिप्राय यह है कि ऐसे कामासक्त प्राणी कभी देव नहीं हो सकते हैं। कारण कि यदि ऐसे हीन मनुष्य भी देव होने लगे तो फिर इस संसारमें सब ही देव बन जावेंगे, हीन कोई भी न रहेगा ॥ १० ॥ जो कपटको प्राप्त होते हुए आहत (घायल) शत्रुओंके रक्तसे पीतवर्ण हुए वज्र, धनुष, तलवार, चक्र, करौंत, हल, गदा, शूल और पाश आदि अस्त्र-शस्त्रोंका सग्रह करके समस्त प्राणियोंको भय उत्पन्न करते हैं तथा जिनकी भृकुटि तिरच्छी व मुख भयानक रहता है वे यदि देव हो सकते हैं तो हे विद्वज्जनो ! यह कहिये कि व्याध कौन हैं। अभिप्राय यह है कि जिनका भयावह वेष है तथा जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करते हैं वे कभी देव नहीं हो सकते हैं। कारण कि वे उन व्याधोंके ही समान हैं जो निरन्तर प्राणिबध किया करते हैं ॥ ११ ॥ जिन स्त्री, मांस और मद्य इन तीनके कारण जीव उस संसार-

---

१ स °मोहानल ज° । २ स भित्ते, नित्ये for भिन्त्ते । ३ स मलन° । ४ स शक्ति° । ५ स °तप्ता: । ६ स °श्रेणी° । ७ स विदत । ८ स विह, विदाः । ९ स °रुचिरैः । १० स वध्रु for चक्र । ११ स नीति° । १२ स प्रणिगदित ।

653) व्याध्याधिव्याधकीर्णे विषयमृगगणे कामकोपादिसर्पे
दुःखक्षोणी[1]रुहाढ्ये भवगहनवने भ्राम्यते येन जीवः ।
ये तत्स्त्रीमद्यमांसत्रयमिदमधिपा निन्दनीयं भजन्ते
देवाश्चेत्ते ऽपि पूज्या निगदत[2] सुधियो निन्दिताः के भवेयुः ॥ १२ ॥

654) निद्राचिन्ताविषादश्रममदन[3]मदस्वेदखेदप्रमाद[4]-
क्षुद्रागद्वेषतृष्णामृतिजननजराव्याधिशोकस्वरूपाः ।
यस्यैते ऽष्टादशापि त्रिभुवनभवभृद्व्यापिनः सन्ति दोषा-
स्तं[5] देवं नाप्तमाहुर्नयनिपुणधियो मुक्तिमार्गाभिधाने ॥ १३ ॥

655) [6]रक्तार्द्रेभेन्द्रकृत्तिं नटति[7] गणवृतो यः श्मशाने गृहीत्वा
निस्त्रिंशो मांसमत्ति त्रिभुवनभविनां दक्षिणे[8]नाननेन ।
गौरीगङ्गाङ्गसङ्गी त्रिपुरदहनकृद्दैत्यविध्वंसदक्ष-
स्तं रुद्रं रौद्ररूपं कथममलधियो निन्द्यमाप्तं वदन्ति ॥ १४ ॥

पादिसर्पे दुःखक्षोणीरुहाढ्ये भवगहनवने जीवः भ्राम्यते, तद् इदं निन्दनीयं स्त्रीमद्यमांसत्रयं ये अधिपाः भजन्ते, ते देवाः अपि पूज्याः चेत् [हे] सुधियः निगदत, निन्दिताः के भवेयुः ॥ १२ ॥ यस्य निद्राचिन्ताविषादश्रममदनमदस्वेदखेदप्रमाद-क्षुद्रागद्वेषतृष्णामृतिजननजराव्याधिशोकस्वरूपाः त्रिभुवनभवभृद्व्यापिनः एते अष्टादश अपि दोषाः सन्ति, तं देवं नयनिपुण-धियः मुक्तिमार्गाभिधाने आप्तं न आहुः ॥ १३ ॥ यः गणवृतः रक्तार्द्रेभेन्द्रकृत्तिं गृहीत्वा श्मशाने नटति, निस्त्रिंशः त्रिभु-वनभविनां मांसं दक्षिणेन आननेन अत्ति, गौरीगङ्गाङ्गसंगी, त्रिपुरदहनकृत्, दैत्यविध्वंसदक्षः, तं रौद्ररूपं निन्द्यं रुद्रम् अमल-

---

रूप गहन वनमें परिभ्रमण करता है जो कि व्याधि (शारीरिक पीड़ा) व आधि (मानसिक पीडा) रूप भीलोंसे व्याप्त, इन्द्रियविषयरूप मृगोंके समूहसे सहित, काम एवं क्रोध आदिरूप सर्पोंसे परिपूर्ण तथा दुःखोंरूप वृक्षोंसे सघन रहता है; उन निन्दनीय तीनोंका जो स्वामी बनकर सेवन करते है वे यदि देव होकर पूज्य बन सकते हैं तो हे सद्बुद्धि मनुष्यो ! यह कहिये कि फिर निन्दित प्राणी कौन होंगे। तात्पर्य यह है कि जो नीच जनके समान स्त्री, मांस एवं मद्यका सेवन किया करते हैं वे देव कभी नही हो सकते, अन्यथा देव और निन्दित जनोंमें कोई भेद ही नही रहेगा ॥ १२ ॥ जिसके निद्रा, चिन्ता, विषाद, श्रम, काम, मद, स्वेद, खेद, प्रमाद, क्षुधा, राग, द्वेष, तृष्णा, मरण, जन्म, जरा, रोग, और शोक; ये तीनों लोकोंके प्राणियोंको व्याप्त करनेवाले अठारह भी दोष नही होते हैं उसे नयके ज्ञाता मोक्षमार्गके निरूपणमें देव बतलाते हैं, इसके विपरीत जो उन अठारह दोषोसे रहित नही होता है वह आप्त नही हो सकता है, इसीलिये उसे मोक्षमार्गके प्रणेता होनेका अधिकार नहीं है ॥ १३ ॥ जो निर्दय रुद्र (शिव) रुधिरसे गीले गजराजके चर्मको ग्रहण करके प्रमथादि गणोंसे वेष्टित होता हुआ श्मशानमें नाचता है, जो दक्षिण मुखसे तीनो लोकोंके प्राणियोंके मांसको खाता है—प्रलय करता है, जो पार्वती एवं गंगाके अंगसे संगत है—उन्हें अपने शरीरपर धारण करता है, तीन पुरोको दग्ध करनेवाला है, तथा दैत्योंके विनाशमे दक्ष है; उस भयानक वेषके धारक निन्द्य रुद्रको निर्मलबुद्धि मनुष्य कैसे आप्त कहते हैं ? अर्थात् वह कभी आप्त नही हो सकता है ॥ १४ ॥ विशेषार्थ—यहाँ महादेवको त्रिपुरका

---

१ स दुःखद्रोणी° । २ स निगदित । ३ स °मदाश्वेद° । ४ स °प्रमादा° । ५ स ते । ६ स रक्तांद्रे°, रक्ताद्रेभद्र-कृति, रक्तार्देवेंद्र, रक्ताद्रे, । ७ स नटयति । ८ दक्षणेन°, दक्षिणो नाननेन ।

656) त्यक्त्वा पद्मामनिन्द्यां मदनशरहतो गोपनारीं [1]सिषेवे
निद्राविद्राणचित्त. कपटशतमयो दानवारातिघाती ।
रागद्वेषावधूतो द्युपतिसुतरथे सारथिर्यो ऽभवत्तं
कुर्वाणं प्रेम नार्यां[2] विटवदतिशयं नाप्तमाहुर्मुरारिम् ॥ १५ ॥
657) यः कन्तूत्तप्तचित्तो विकलितचरणो ऽष्टार्धवक्त्रत्वमाप
नाना[3]नाट्यप्रयोगे त्रिदशपतिवधू[4]दत्तवीक्षा[5]कुलाक्षः ।
क्रुद्धश्चिच्छेद शम्भुर्वितथवचनतः पञ्चमं यस्य वक्त्रं
स [6]ब्रह्माप्तो ऽतिनीचः प्रणिगदत[7] कथं कथ्यते तत्त्वबोधैः ॥ १६ ॥

धिय:आप्तं कथं वदन्ति ।। १४ ।। यः अनिन्द्या पद्मां त्यक्त्वा मदनशरहत. गोपनारी सिषेवे । निद्राविद्राणचित्त. कपटशतमय' दानवारातिघाती रागद्वेषावधूतः य द्युपतिसुतरथे सारथि' अभवत् । विटवत् नार्याम् अतिशयं प्रेम कुर्वाणं तं मुरारिम् आप्त न आहु' ।। १५ ।। य नानानाट्यप्रयोगे त्रिदशपतिवधूदत्तवीक्षाकुलाक्ष' कन्तूत्तप्तचित्त. क्रुद्ध शम्भु' यस्य पञ्चमं वक्त्रं चिच्छेद । स. अतिनीच. ब्रह्मा तत्त्वबोधै' कथम् आप्त' कथ्यते, प्राणिगदत ।। १६ ।। य प्रतिदिन भ्रान्त्वा असुरैः

दाहक निर्दिष्ट किया गया है । उसके सम्बन्धमे श्रीभागवत आदिमे निम्न प्रकार कथानक पाया जाता है— पूर्वकालमे देवोंने जब असुरोको जीत लिया था तब वे मायावियोके उत्कृष्ट आचार्य मयके पास पहुँचे । उसने सुवर्ण, रजत एवं लोहमय तीन अदृश्य पुरोका निर्माण करके उनके लिये दिये । उन्होने उक्त पुरोंसे अलक्षित रहकर पूर्व वैरके कारण स्वामियोके साथ तीन लोकोको नष्ट कर दिया । तब स्वामियोके साथ लोकोने महादेवकी उपासना की । महादेवने देवोंको 'तुम डरो मत' कहकर धनुषपर बाणोंको चढ़ाया और उन पुरोंके ऊपर छोड़ दिया । उक्त बाणोसे विद्ध होकर उन पुरोमे रहनेवाले वे दैत्य गतप्राण होकर गिर गये । महायोगी मयने उन असुरोंको लाकर पुरत्रयमें स्थित सिद्ध अमृतरसके कूपमे रख दिया । वे उस रसको छूकर दृढ़ शरीरको प्राप्त होते हुए उठकर खड़े हो गये । तब विष्णु, गाय और ब्रह्मा वत्स होकर पुरत्रयमे प्रविष्ट हुए । वहाँ उन्होंने रसकूपके अमृतका पान किया । असुरोंने विष्णुकी मायासे मोहित होकर उन्हे नही रोका । तब विष्णुने अपनी शक्तियोंसे शिवके लिये युद्धके उपकरण-स्वरूप रथ, सारथि और धनुष-बाण आदिको किया । महादेव सुसज्जित होकर रथपर बैठ गये । उन्होने धनुषपर बाणको आरोपित करके मध्याह्नकालमें उक्त पुरत्रयको भस्म कर दिया ।। १४ ।। जिसने निर्दोष लक्ष्मीको छोड़कर कामके बाणोंसे पीड़ित होते हुए ग्वाल स्त्रीका सेवन किया है, जिसका चित्त निद्रासे विद्राण (सुप्त) है, जो सैकड़ो कपटस्वरूप है, दैत्यरूप शत्रुओका नाश करनेवाला है, राग-द्वेषसे कलुषित है, इन्द्रके पुत्र अर्जुनके रथपर सारथिका काम करता रहा है तथा जो स्त्रीके साथ जारके समान अतिशय प्रेम करता है उस विष्णुको विद्वान् आप्त नही कहते है ।। १५ ।। जो ब्रह्मा अनेक नाट्योके प्रयोगमे इन्द्रकी पत्नियोके देखनेमे नेत्रोको देता हुआ व्याकुल रहा है, जो कामसे सन्तप्त होकर सयमसे रहित होता हुआ चार मुखोंको प्राप्त हुआ है तथा महादेवने असत्यभाषणके कारण क्रुद्ध होकर जिसके पाँचवें मुखको काट डाला है; उस अतिशय नीच ब्रह्माको तत्वज्ञ जन आप्त कैसे कहते है, यह बतलाइये ।।१६।।

---

१ स °नारी शिखेव । २ स नार्यां । ३ स °ज्ञानानाढ्य°, °द्य°, °नाट्यप्रयोग । ४ स °वधू° । ५ स °वीक्ष्याकुलाक्ष्यः । ६ स ब्रह्माप्नोतिवीन:, °प्तातिवीजः । ७ स प्रणिगदित ।

658) यो भ्रान्त्वोदेति कृत्वा प्रतिदिनमसुरैर्विग्रहं व्याधिविद्धो
यो दुर्वारेण दीनो भयचकितमना ग्रस्यते राहुणा च ।
मूढो विध्वस्तबोधः कुसुमशरहतः सेवते कामिनीं यः
सन्तस्तं भानुमाप्तं भवगहनवनच्छित्तये[1] नाश्रयन्ति ॥ १७ ॥

659) मूढ कन्दर्पतप्तो वनचरयुवतौ भग्नवृत्तः षडास्य-
स्तद्भार्यासक्त[2]चित्तस्त्रिदशपतिरभूद् गौतमेनाभिशप्तः[3] ।
वह्निर्निःशेषभक्षी[4] विगतकृपमना लाङ्गली मद्यलोलो
नैको ऽप्येतेषु देवो विगलितकलिलो दृश्यते तत्त्वरूपः[5] ।

660) रागान्धा पीनयोनिस्तनजघनभरा[6]क्रान्तनारीप्रसंगात्[7]
कोपादारातिघाताः प्रहरणधरणाद्[8] द्वेषिणो भीतिमन्तः ।
आत्मीयानेकदोषाद्व्यवसितविरहाः स्नेहतो[9] दुःखिनश्च
ये देवास्ते कथं वः शमयमनियमान् दातुमीशा विमुक्त्यै ॥ १९ ॥

विग्रहं कृत्वा उदेति । च व्याधिविद्धः दीनः भयचकितमनाः दुर्वारेण राहुणा ग्रस्यते । विध्वस्तबोध मूढ यः कुसुमशरहत कामिनी सेवते । सन्तः भवगहनवनच्छित्तये तं भानुम् आप्तम् [इति] न आश्रयन्ति ॥ १७ ॥ कन्दर्पतप्त मूढ षडास्य वनचरयुवतौ भग्नवृत्त । गौतमेन तद्भार्यासक्तचित्त त्रिदशपतिः अभिशप्त अभवत् । वह्नि निःशेषभक्षी विगतकृपमनाः । लाङ्गली मद्यलोल । एतेषु विगलितकलिल तत्त्वरूप एक अपि देव न दृश्यते ॥ १८ ॥ ये देवाः पीनयोनिस्तनजघन-भराक्रान्तनारीप्रसगात् रागान्धाः, कोपात् आरातिघाताः, प्रहरणधरणात् द्वेषिणः भीतिमन्तः, आत्मीयानेकदोषात् व्यवसित-

---

जो सूर्य असुरोके साथ युद्ध करके भ्रमण करता हुआ प्रतिदिन उदयको प्राप्त होता है, जो व्याधि (कोढ)से पीड़ित है, जो बेचारा मनमे भयभीत होकर दुर्निवार राहुके द्वारा ग्रस्त किया जाता है, तथा जो मूर्ख अज्ञानतावश कामबाणसे पीडित होकर स्त्री (कुन्ती)का सेवन करता है; उस सूर्यको आप्त मानकर सज्जन पुरुष संसाररूप वनका विध्वस करनेके लिये कभी आश्रय नही लेते हैं ॥ १७ ॥ मूर्ख कार्तिकेयने कामसे संतप्त होकर भील युवतिके विषयमें अपने चारित्रको नष्ट किया है, इन्द्र गौतम ऋषिकी पत्नीमे आसक्त होकर उसके द्वारा अभिशापको—सौ योनियोको—प्राप्त हुआ है, अग्नि निर्दयचित्त होकर समस्त प्राणियोंको भक्षित करनेवाला है, और बलदेव मद्यके लोलुपी हैं । इस प्रकार इनमेंसे एक भी कोई निष्पाप (निर्दोष) यथार्थ देव नही दिखता है ॥ १८ ॥ जो देव पुष्ट योनि, स्तन और जघनके भारसे अभिभूत स्त्रीके प्रसगसे रागमे अन्ध हैं; क्रोधके कारण शत्रुको नष्ट करनेवाले है, आयुधोंके धारक होनेसे द्वेषी एवं भयभीत हैं, अपने अनेक दोषोंके कारण निश्चित विरहसे सयुक्त हैं, तथा स्नेहके कारण दुखी भी है वे देव आपलोगोंको मुक्तिके निमित्त शम, यम और नियमको देनेके लिये कैसे समर्थ हो सकते हैं ? नही हो सकते ॥ १९ ॥ विशेषार्थ—यथार्थ देव (आप्त) वही हो सकता है जो कि रागादि दोषोंसे रहित हो । लोकमें जो ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदिको देव माना जाता है वे वास्तवमें देव नहीं हो सकते हैं । कारण यह कि वे उपर्युक्त रागादि दोषोंसे सहित ही हैं, न कि रहित । वे रागी तो इसलिये हैं कि स्त्रियोंमें आसक्त हैं । यथा—ब्रह्मा यदि इन्द्रके द्वारा भेजी गई

---

१ स °स्थित्तये ? । २ स °शक्त° । ३ स °भिशक्तः । ४ स °भक्षं । ४a स °कृपमना, °कृतमनां । ४b स लांगलिः । ४c स °लोभो । ५ स तत्र रूपं । ६ स °धराक्रान्त° । ७ स °प्रसंगा । ८ स °धरणाः । ९ स °विरहास्नेहतो, °स्नेहिनो ।

661) पर्यालोच्यै[1]वमत्र स्थिरपरमधियस्तत्त्वतो देहभाजः
संत्यज्यैतान् कुदेवांस्त्रिविधमलभृतो दीर्घसंसारहेतून् ।
विध्वस्ताशेषदोषं जिनपतिमखिल[2]प्राणिनामापद[3]न्तं
ये वन्दन्ते ऽनवद्यं मदनमदनुदं ते लभन्ते सुखानि ॥ २० ॥

662) दृष्टं नम्रेन्द्रमन्दश्लथमुकुटतटीकोटिविश्लिष्टपुष्प[4]-
भ्राम्यद्भृङ्गौघघोषैर्जिनपतिनुतये[5] ह्यादरा[6]द्यैर्जिनस्य ।
पादद्वंद्वं तं प्रभूत[7]प्रसभभवभय[8]भ्रंशि भक्त्या[9]त्तचित्तै-
स्तैराप्तोक्तं विमुक्त्यै पदमपदमथ व्यापदा[10]माप्तमाप्तम् ॥ २१ ॥

विरहाः, स्नेहत दुःखिनः च । ते व विमुक्त्यै शमयमनियमान् दातुं कथम् ईशा ॥ १९ ॥ एवमत्र तत्त्वतः पर्यालोच्य ये स्थिरपरमधियः देहभाजः त्रिविधमलभृत दीर्घसंसारहेतून् एतान् कुदेवान् संत्यज्य विध्वस्ताशेषदोष मदनमदनुदम् अखिल-प्राणिनाम् आपदन्तम् अनवद्य जिनपति वन्दन्ते, ते सुखानि लभन्ते ॥ २० ॥ भक्त्यात्तचित्तैः यैः आदरात् नम्रेन्द्रमन्दश्लथ-मुकुटतटीकोटिविश्लिष्टपुष्पभ्राम्यद्भृङ्गौघघोषैः जिनपतिनुतये प्रभूतप्रसभभवभयभ्रंशि पादद्वंद्वं तं दृष्टम् । अथ तैः व्यापदाम् अपदम् आप्तोक्तम् आप्तं पद विमुक्त्यै आप्तम् ॥ २१ ॥ मया एषा दोषा वचनपटुतया द्वेषत रागत. वा न उक्ताः ।

तिलोत्तमा अप्सरामें आसक्त हुआ है तो विष्णु सदा लक्ष्मीको वक्षस्थलमे धारण करता हुआ ग्वाल स्त्रियोके साथ क्रीड़ा करता है और शिवने तो कामातुर होकर पार्वतीको अपने आधे शरीरमे ही धारण कर लिया है। इससे उनका रागान्ध होना निश्चित है। वे क्रोधी भी हैं, क्योकि अनेक शत्रुओंका—त्रिपुर, नरकासुर एवं मुरासुर आदिका—उन्होंने घात किया है। इसके अतिरिक्त चूँकि वे गदा एवं त्रिशूल आदि आयुधोंको धारण करते हैं अतएव वे निश्चित ही भयभीत एव विद्वेषी प्रतीत होते है। इस प्रकार जो स्वय रागी, द्वेषी एवं कामी हैं वे अन्य मुमुक्षु जनके लिये शम-यमादिको प्रदान करके मोक्षमार्गमे कभी प्रवृत्त नही कर सकते हैं। इसलिये उनको देव समझना योग्य नही है ॥ १९ ॥ स्थिर एवं उत्कृष्ट बुद्धिके धारक जो प्राणी यहाँ उक्त प्रकारसे देव एवं कुदेवका वस्तुत विचार करके तीन प्रकारके मलको धारण करनेवाले—द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म रूप तीन प्रकारके मलसे मलिन—तथा अनन्त संसारके कारणभूत इन कुदेवोंको—शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, कार्त्तिकेय, इन्द्र और अग्नि आदिको—छोड़ देते है तथा रागादि समस्त दोषोंसे रहित, सब प्राणियो-के कष्टको दूर करनेवाले एव कामके विजेता निर्दोष जिनेन्द्र देवकी वन्दना करते है वे यथार्थ सुखोको प्राप्त करते है ॥ २० ॥ जिन भव्य जीवोंने भक्तिमें चित्त देकर जिनेन्द्रको नमस्कार करनेमें नम्रीभूत हुए इन्द्रके मन्द व शिथिल मुकुटतटके अग्रभागसे पृथक् हुए पुष्पोके ऊपर घूमते हुए भ्रमरसमूहके गुंजारके साथ प्रचुर ससारके भयको बलपूर्वक नष्ट करनेवाले जिन भगवान्के चरणयुगलका विनयपूर्वक दर्शन किया है उन्होंने मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये समस्त आपत्तियोके हरनेवाले जिनोपदिष्ट आप्तके पदको ही पा लिया है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥ मैने इन उपर्युक्त कुदेवोके दोषोको वचनकी निपुणता (कवित्वशक्ति)से, द्वेषसे अथवा राग-से—जिनानुरागसे—नही दिखलाया है। किन्तु मेरा यह प्रयत्न यहाँ केवल सर्वज्ञ एवं वीतराग आप्तका बोध करानेके लिये है। इसका कारण यह है कि परके रहनेपर—रागादि दोषोसे कलुषित कुदेवके विद्यमान होने-

---

१ स °लोच्येव° । २ स °मखिलं । ३ स °पदं तं । ४ स °पुष्पद्भ्रा° । ५ स °नुतयो । ६ स व्याहराद्यै° व्याहराद्यै° । ७ स प्रभूतं । ८ स °भयाभ्रंशि । ९ स °भ्रंसि भक्त्यात्त° । १० स व्यापदप्राप्त° ।

663) नैषां[1] दोषा मयोक्ता वचनपटुतया[2] द्वेषतो रागतो वा
किं त्वेषो ऽत्र प्रयासो मम सकलविदं ज्ञातुमाप्तं विदोषम् ।
शक्तो बोद्धुं न चात्र त्रिभुवनहितकृद्विद्यमानः[3] परत्र
भानुर्नोदेति यावन्निखिलमपि तमो नावधूतं हि तावत् ॥ २२ ॥
इत्याप्तविचार[4]द्वाविंशतिः ॥ २२ ॥

किंतु विदोषं सकलविदम् आप्तं ज्ञातुम् अत्र एष मम प्रयास । परत्र विद्यमानः त्रिभुवनहितकृत् अत्र बोद्धुं न च शक्त. । यावत् निखिलम् अपि तमः न अवधूतं तावत् भानु. न उदेति ॥ २२ ॥

इत्याप्तविचारद्वाविंशतिः ॥ २६ ॥

पर—तीनो लोकोंके समस्त प्राणियोंका हित करनेवाले यथार्थ देवका बोध नही हो सकता है। ठीक है—जब तक सूर्य समस्त अन्धकारको नष्ट नही कर देता है तब तक वह उदयको प्राप्त नही होता है ॥ २२ ॥
विशेषार्थ—यहाँ ग्रन्थकर्ता श्री अमितगति आचार्य यह बतलाते हैं कि मैंने यहाँपर जो देवस्वरूपसे माने जाने-वाले ब्रह्मा व विष्णु आदिके कुछ दोषोंका निर्देश किया है वह न तो अपनी कवित्व शक्तिको प्रगट करनेके लिये किया है और न किसी राग-द्वेषके वश होकर ही किया है। इसका उद्देश्य केवल यही रहा कि उपर्युक्त दोषों और गुणोंको देखकर मुमुक्षु जीव यथार्थ देवकी पहिचान कर सकें। उदाहरणके रूपमें जब रात्रिका अन्धकार नष्ट हो जाता है तब ही सूर्यका उदय देखा जाता है। इसी प्रकार अन्य ब्रह्मा आदिमें जो दोष देखे जाते हैं उन सबसे रहित हो जानेपर ही जीव यथार्थ आप्त (मोक्षमार्गका प्रणेता) हो सकता है।

इस प्रकार बाईस श्लोकोंमें आप्तका विचार किया।

●

---

१ स नैते । २ स °पटु तथा । ३ स विद्यमाने, विद्यमानो । ४ स इत्याप्तविवेचनम् ।

[२७. गुरुस्वरूपनिरूपणषड्विंशतिः]

664) जिनेश्वरक्रमयुगभक्तिभाविता विलोकि[1]तत्रिभुवनवस्तु[2]विस्तराः ।
द्विषड्ढ[3]तान्(?)षडिह गुणांश्चरन्ति ये नमामि तान् भवरिपुभित्तये[4] गुरून् ॥ १ ॥
665) समुद्यतास्तपसि जिनेश्वरोदिते वितन्वते निखिलहितानि निःस्पृहाः ।
सदा [5]न ये मदनमदैरपाकृता. सुदुर्लभा जगति मुनीशिनो ऽत्र ते ॥ २ ॥
666) वचांसि ये[6] शिवसुखदानि तन्वते [7]न कुर्वते स्वपरपरिग्रहग्रहम् ।
विवर्जिताः सकलममत्वदूषणैः श्रयामि[8] तानमलपदाप्तये यतीन् ॥ ३ ॥
667) न बान्धवस्वजनसुतप्रियादयो वितन्वते[9] तमिह गुणं शरीरिणाम् ।
विभित्तितो[10] भवभयभूरिभूभृतां[11] मुनीश्वरा विदधाति यं कृपालव [12] ॥ ४ ॥
668) शरीरिण.[13] कुलगुणमार्गणादितो विबुध्य ये[14] विदधाति निर्मलां दयाम् ।
विभीरवो जननदुरन्तदु खतो भजामि ताञ्जनकसमान् गुरून् सदा ॥ ५ ॥

जिनेश्वरक्रमयुगभक्तिभाविता विलोकितत्रिभुवनवस्तुविस्तराः ये इह द्विषड्हतान् षट्गुणान् चरन्ति तान् गुरून् भवरिपुभित्तये नमामि ।' १ ॥ ये जिनेश्वरोदिते तपसि समुद्यता' नि स्पृहा निखिलहितानि वितन्वते, ये सदा मदनमदैः न अपाकृता., ते मुनीशिन' अत्र जगति सुदुर्लभा. ॥ २ ॥ ये मकलममत्वदूपणै विवर्जिता' शिवसुखदानि वचासि तन्वते, स्वपरपरिग्रहग्रहं न कुर्वते, तान् यतीन् अमलपदाप्तये श्रयामि ॥ ३ ॥ कृपालव मुनीश्वराः भवभयभूरिभूभृता विभित्तित यं गुणं विदधति इह बान्धवस्वजनसुतप्रियादयः शरीरिणा त गुणं न वितन्वते ॥ ४ ॥ कुलगुणमार्गणादितः शरीरिणः विबुद्ध्य ये

जो जिनेश्वरके चरणयुगलमें अनुराग रखते है, तीनो लोकोंकी वस्तुओंके विस्तारको देखते-जानते हैं और···· गुणोंका परिपालन करते है उन गुरुओको मै संसाररूप शत्रुको नष्ट कग्नेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ जो मुनिराज जिन भगवान्‌के द्वारा प्ररूपित तपश्चरणमें उद्यत हैं, निःस्वार्थ होकर समस्त प्राणियोंका कल्याण करते हैं, तथा जो निरन्तर कामके मदसे तिरस्कृत नही किये जाते हैं—कामविकारसे सदा रहित होते हैं वे मुनिराज यहाँ संसारमें अतिशय दुर्लभ है ॥ २ ॥ जो मोक्षसुखके देनेवाले वचनोका विस्तार करते हैं—हितकारक वचन बोलते है, अभ्यन्तर व बाह्य दोनो प्रकारके परिग्रहरूप पिशाचको ग्रहण नही करते हैं, तथा समस्त राग-द्वेषरूप दोषोंसे दूर रहते हैं उन मुनियोका मै निर्मल पद (मोक्ष)के प्राप्त्यर्थ आश्रय लेता हूँ ॥३॥ मित्र, कुटुम्बी जन, पुत्र और प्रियतमा आदि यहाँ प्राणियोके उस उपकारको नही करते है जिसे कि दयालु मुनिराज संसारके भयरूप प्रचुर पर्वतोंके भेदनेसे करते हैं। अभिप्राय यह है कि मुनिजन अपने सदुपदेशके द्वारा प्राणियोंको संसारके दुखरूप पर्वतके भेदनेमे प्रवृत्त करके जिस महान् उपकारको करते है उसको बन्धु-बान्धव आदि कभी भी नही कर सकते हैं। अतएव कुटुम्ब आदिके मोहको छोड़कर उन सद्‌गुरुओंकी उपासना करना चाहिये ॥ ४ ॥ जो संसारके दुःसह दुखसे भयभीत होकर कुल, गुणस्थान एव मार्गणा आदिसे जीवोको जान-

---

१ स विलोकिता°, विलोकितस्त्रि° । २ स तत्व, वस्त for वस्तु । ३ स षट् हतान्, षटहतान् । ४ स °निक्षये, भित्तयो° । ५ स नये । ६ स ये तिशिव° । ७ स प्रकुर्वते । ८ स श्रयाणि । ९ स वितन्वंते । १० स विभिदितो, विभिन्दतो । ११ स °भृतो । १२ स कृपालया । १३ स शरीरिणा । १४ स विबुद्धये ।

669) वदन्ति ये वचनमनिन्दितं बुधैरपीडकं सकलशरीरधारिणाम् ।
मनोहरं रहितकषायदूषणं भवन्तु ते मम गुरवो [1]विमुक्तये ॥ ६ ॥
670) न लाति यः[2] स्थितपतितादिकं धनं पुराकरक्षिति[3]धरकाननादिषु ।
त्रिधा तृणप्रमुखमदत्तमुत्तमो नमामि तं जननविनाशिनं गुरुम् ॥ ७ ॥
671) त्रिधा स्त्रियः स्वसृजननीसुतासमा[4] विलोक्य ये[5] कथनविलोकनादितः[6] ।
पराङ्मुखाः शमितकषायशत्रवो यजामि[7] तान्विषयविनाशिनो[8] गुरून् ॥ ८ ॥
672) परिग्रहं द्विविधमपि[9] त्रिधापि ये न गृह्णते तनुममताविवर्जिता ।
विनिर्मलस्थिरशिवसौख्यकाङ्क्षिणो भवन्तु ते मम गुरवो भवच्छिदः ॥ ९ ॥
673) विजन्तुके दिनकररश्मिभासिते[10] व्रजन्ति ये पथि दिवसे युगेक्षणाः ।
स्वकार्यतः सकलशरीरधारिणां दयालवो ददति सुखानि तेऽङ्गिनाम् ॥ १० ॥

जननदुरन्तदुःखत. विभीरव. निर्मलां दयां विदधति तान् जनकसमान् गुरून् सदा भजामि ॥ ५ ॥ ये सकलशरीरधारिणाम् अपीडकं बुधै अनिन्दितं रहितकषायदूषणं मनोहरं वचनं वदन्ति ते गुरवः मम विमुक्तये भवन्तु ॥ ६ ॥ उत्तमो यः पुराकरक्षितिधरकाननादिषु स्थितपतितादिकम् अदत्तं तृणप्रमुखं धन न लाति तं जननविनाशिनं गुरु त्रिधा नमामि ॥ ७ ॥ ये स्वसृजननीसुतासमा त्रिधा स्त्रिय विलोक्य कथनविलोकनादित: पराङ्मुखाः शमितकषायशत्रवः तान् विषयविनाशिन. गुरून् यजामि ॥ ८ ॥ तनुममताविवर्जिताः विनिर्मलस्थिरशिवसौख्यकाङ्क्षिणः ये द्विविधम् अपि परिग्रहं त्रिधापि न गृह्णते ते गुरवः मम भवच्छिदः भवन्तु ॥ ९ ॥ सकलशरीरधारिणा दयालव. ये युगेक्षणाः दिवसे विजन्तुके दिनकररश्मिभासिते पथि स्वकार्यतः व्रजन्ति ते अङ्गिना सुखानि ददति ॥ १० ॥ ये दिगम्बराः श्रुतोदित मधुर अपैशुन स्वपरहितावहं गृहिजन-

---

कर निर्मल दयाको करते हैं, अर्थात् अहिंसा महाव्रतका परिपालन करते है उन पिताके समान गुरुओंकी मैं निरन्तर भक्ति करता हूं ॥ ५ ॥ जो विद्वानोंके द्वारा अनिन्दित—उनके द्वारा प्रशंसनीय, समस्त प्राणियोंके लिये सुखकर, मनोहर और कषायरूप दूषणसे रहित वचनको बोलते हैं वे सत्यमहाव्रतके धारी गुरु मेरे लिये मुक्तिके कारण होवें ॥ ६ ॥ जो उत्तम गुरु नगर, खानि, पर्वत और वन आदिमें स्थित अथवा गिरे हुए आदि तृणप्रभृति धनको बिना दिये मन, वचन एवं कायसे नही ग्रहण करता है; जन्म-मरणरूप संसारका विनाश करनेवाले उस अचौर्यमहाव्रतके धारक गुरुके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ ७ ॥ जो गुरु तीन प्रकारकी (युवति, वृद्धा एवं बाला) स्त्रियोंको बहिन, माता और पुत्रीके समान मानकर उनके साथ सम्भाषण एवं अवलोकन आदिसे विमुख रहते हुए कषायरूप शत्रुको शान्त करते हैं; विषयभोगोंके विनाशक उन ब्रह्मचर्यमहाव्रतधारी गुरुओंकी मै पूजा करता हूं ॥ ८ ॥ शरीरमें भी ममत्वबुद्धि न रखनेवाले जो गुरु बाह्य व अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके परिग्रहको मन, वचन व कायसे नहीं ग्रहण करते हैं तथा जो निर्मल एवं शाश्वतिक मोक्षसुखकी अभिलाषा करते हैं वे अपरिग्रहमहाव्रतके परिपालक गुरु मेरे ससारका नाश करनेवाले हों ॥ ९ ॥ जो गुरु सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशित निर्जन्तु मार्गमें स्वकार्यवश—चर्या आदिके निमित्त—दिनमें युगप्रमाण (चार हाथ) देखकर गमन करते हैं; समस्त प्राणियोंके ऊपर दया करनेवाले वे ईर्यासमितिका पालन करनेवाले गुरु जीवोंको सुख देते हैं ॥ १० ॥ जो नग्न दिगम्बर गुरु मधुर (मिष्ट), दुष्टता व परनिन्दासे रहित, आगमसे अविरुद्ध, स्व व

---

१ स om वि । २ स जः । ३ स °क्षति° । ४ स °सुतादयो । ५ स विलोक्यते, जे for ये । ६ स कथमविलोकनाहित. । ७ स ययामि । ८ सताननाशिनो । ९ स परिग्रहं····द्विविधं त्रिधापि ये न गृह्यते च तनुमता वि° । १० स °भाषिते ।

674) दिगंबरा मधुरमपैशुनं वचः [1]श्रुतोचितं स्वपरहितावहं मितम् ।
ब्रुवन्ति ये गृहिजनजल्पनोज्झितं भवारितः शरणमितो[2]ऽस्मि तान् गुरून् ॥ ११ ॥

675) स्वतो मनोवचनशरीरनिर्मितं समाशया:[3] कटुकरसादिकेषु ये ।
न भुञ्जते परमसुखैषिणो ऽशनं मुनीश्वराः मम गुरवो भवन्तु ते ॥ १२ ॥

676) शनैः पुराः विकृतिपुरःसरस्य ये[4] विमोक्षणग्रहणविधी[5]न्वितन्वते ।
कृपापरा जगति [6]समस्तदेहिनां धुनन्ति ते जननजराविपर्ययान् ॥ १३ ॥

677) सविस्तरे धरणितले ऽविरोधके[7] ऽनिरीक्षिते[8] परजनताविनाकृते[9] ।
त्यजन्ति ये तनुमलमङ्गिवर्जिते[10] यतीश्वरा मम गुरवो भवन्तु ते ॥ १४ ॥

678) मनःकरी विषयवनाभिलाषुको[11] नियम्य यैः [12]शमयमशृंखलैर्दृढम् ।
वशीकृतो मन[13]नशिताङ्कुशैः सदा तपोधना मम गुरवो भवन्तु ते ॥ १५ ॥

कल्पनोज्झितं मितं वचः ब्रुवन्ति तान् गुरून् भवारितः शरणम् इतः अस्मि ॥ ११ ॥ कटुकरसादिकेषु समाशयाः परम-सुखैषिणः ये मुनीश्वराः स्वतः मनोवचनशरीरनिर्मितम् अशनं न भुञ्जते ते मम गुरवः भवन्तु ॥ १२ ॥ ये विकृतिपुरःसरस्य शनैः पुराः विमोक्षणग्रहणविधीन् वितन्वते, जगति समस्तदेहिना कृपापरा ते जननजराविपर्ययान् धुनन्ति ॥ १३ ॥ ये यतीश्वरा सविस्तरे अविरोधके निरीक्षिते परजनताविनाकृते अङ्गिवर्जिते धरणितले तनुमलं त्यजन्ति, ते मम गुरवः भवन्तु ॥ १४ ॥ यैः विषयवनाभिलाषुकः मनःकरी शमयमशृङ्खलैः दृढं नियम्य मननशिताङ्कुशैः वशीकृतः ते तपोधनाः सदा मम गुरवो भवन्तु ॥ १५ ॥ ये जिनवचनेषु समुद्यताः मौनिनः निष्ठुरं कटुकं अवद्यवर्द्धनम् अनर्थम् अप्रियं वचनं न

पर दोनोके लिये हितकारक, परिमित और गृहस्थ जनके भाषणसे रहित—आरम्भ व परिग्रहके सम्बन्धसे रहित—ऐसे वचनको बोलते है; मैं संसाररूप शत्रुसे भयभीत होकर उन भाषासमितिके परिपालक गुरुओंकी शरणमें प्राप्त हुआ हूँ ॥ ११ ॥ उत्कृष्ट सुख (मोक्षसुख) की अभिलाषासे कटुक व मधुर आदि रसोंमें समान अभिप्राय रखनेवाले (राग-द्वेषसे रहित) जो मुनीन्द्र अपने आप मन, वचन, कायसे तैयार किये गये भोजनको नहीं ग्रहण करते हैं—भिक्षावृत्तिसे श्रावकके घर जाकर आगमोक्त विधिसे आहारको ग्रहण करते हैं—वे एषणासमितिके धारी मुनीन्द्र मेरे गुरु होवें—मेरे लिये मोक्षमार्गदर्शक होवें ॥ १२ ॥ ससारमे सब प्राणियोंके ऊपर दयाभाव रखनेवाले जो गुरु निकटमें स्थित विकारस्वरूप राख, मिट्टी व कमण्डलु आदिको धीरेसे छोड़ने और ग्रहण करनेरूप कार्योंको करते हैं वे आदान निक्षेप समितिके धारक गुरु जीवोंके जन्म, जरा और मिथ्या-बुद्धिको नष्ट करें ॥ १३ ॥ जो मुनीश्वर विस्तृत, विरोधसे रहित (जहांपर किसीको विरोध नही है), भले प्रकार देखे शोधे गये, अन्य जनके सचारसे रहित और निर्जन्तु पृथिवीतलपर शरीरके मल (विष्ठा, मूत्र व कफ आदि) को छोड़ते हैं वे प्रतिष्ठापन समितिके परिपालक मुनीश्वर मेरे गुरु होवें ॥ १४ ॥ जिन तप-स्वियोंने विषरूप वनमे परिभ्रमणकी इच्छा रखनेवाले मनरूप हाथीको शम और सयमरूप साकलोंके द्वारा दृढ़तापूर्वक नियंत्रित करके ज्ञान-ध्यानरूप तीक्ष्ण अंकुशोके द्वारा वशमे कर लिया है वे तपरूप धनके धारक साधु सदा मेरे गुरु होवें ॥ १५ ॥ जिन वचनोमें उद्यत जो साधु कठोर; श्रवणकटु, पापवर्धक, निरर्थक और

---

१ स श्रुता° । २ स शरणमत्र च्छिदोदतः । ३ स शमाश्रिया, समाश्रयाः, शमाश्रया । ४ स ते for ये । ५ स °विधि । ६ स समस्ति दे° । ७ स विरोधके । ८ स निरीक्ष्यते । ९ स °जनता विनाकृत । १० स °वर्ज्जिता । ११ स °लाषको, °वनानि लाषुको । १२ स शममय° । १३ स मननि° ।

679) न निष्ठुरं कटुक[1]मवद्यवर्धनं वदन्ति ये वचनमनर्थमप्रियम् ।
समुद्यता जिनवचनेषु मौनिनो गुणैर्गुरून् प्रणमत तान् गुरून् सदा ॥ १६ ॥

680) न कुर्वते कलिलवि[2]वर्धकक्रिया: सदोद्यताः शमयमसंयमादिषु ।
रता न ये निखिलजनक्रियाविधौ भवन्तु ते मम हृदये कृतास्पदाः ॥ १७ ॥

681) शरीरिणामसुखशतस्य कारणं तपोदयाशमगुणशीलनाशनम् ।
जयन्ति ये धृतिबलतो ऽक्षवैरिणं भवन्तु ते यतिवृषभा मुदे मम ॥ १८ ॥

682) वृषं चित्तं व्रतनियमैरनेकधा विनिर्मलस्थिरसुखहेतुमुत्तमम् ।
विधुन्वतो[3] झटिति कषायवैरिणो विनाशकानमलधियः स्तुवे गुरून् ॥ १९ ॥

683) विनिर्जिता हरिहरवह्निजादयो विभिन्दता युवतिकटाक्षतोमरैः ।
मनोभुवा परमबलेन येन तं विभिन्दतो[4] नमत गुरून् शमेषुभिः ॥ २० ॥

684) न रागिणः क्वचन न रोषदूषिता न मोहिनो भवभय[5]भेदनोद्यताः ।
गृहीतसन्मननचरित्रदृष्टयो भवन्तु मे मनसि मुदे[6] तपोधनाः ॥ २१ ॥

वदन्ति, गुणैः गुरून् तान् गुरून् सदा प्रणमत ॥ १६ ॥ शमयमसंयमादिषु सदा उद्यता., निखिलजनक्रियाविधौ न रताः, ये कलिलवर्धकक्रिया न कुर्वते, ते मम हृदये कृतास्पदा भवन्तु ॥ १७ ॥ ये शरीरिणाम् असुखशतस्य कारणं, तपोदया-शमगुणशीलनाशनम् अक्षवैरिणं धृतिबलतः जयन्ति ते यतिवृषभा मम मुदे भवन्तु ॥ १८ ॥ व्रतनियमैः अनेकधा चित्तं विनिर्मलस्थिरसुखहेतुम् उत्तमं वृषं झटिति विधुन्वत कषायवैरिणः विनाशकान् अमलधिय गुरून् स्तुवे ॥ १९ ॥ युवति-कटाक्षतोमरैः विभिन्दता येन मनोभुवा परमबलेन हरिहरवह्निजादय विनिर्जिता. त शमेषुभि· विभिन्दत. गुरून् नमत ॥२०॥ [ये] क्वचन रागिण· न, रोषदूषिता. न, मोहिन न, भवभयभेदनोद्यता गृहीतसन्मननचरित्रदृष्टय· [ते] तपोधना मे मनसि मुदे भवन्तु ॥ २१ ॥ ये तपोधना सुखासुखस्वपरवियोगयोगिताप्रियाप्रियव्यपगतजीवितादिभि सममनसः भवन्ति ते

अप्रिय वचनको नही बोलते है; तथा प्रतिकूलताके होनेपर जो मौनका अवलम्बन करते है उन गुणोंमे महान् गुरुओंको सदा नमस्कार करना चाहिये ॥ १६ ॥ जो मुनि शम, यम और सयम आदिमे निरन्तर उद्यत रहकर पापके बढ़ानेवाले कार्योंको नही करते हैं तथा जो समस्त जनसाधारणकी ससारवर्धक क्रियाओसे विरत रहते हैं वे मेरे हृदय मे निवास करें ॥ १७ ॥ जो इन्द्रियरूप शत्रु प्राणियोंके लिये सैकड़ों दुःखोंका कारण है; तप, दया, दम; गुण व शीलको नष्ट करनेवाला है उसके ऊपर जो श्रेष्ठ मुनि धैर्यके बलसे विजय प्राप्त करते हैं वे मेरे लिये आनन्दके कारण होवें ॥ १८ ॥ जो कषायरूप शत्रु व्रत व नियमोके द्वारा अनेक प्रकारसे सचित तथा निर्मल व स्थिर सुखके कारणभूत उत्तम धर्मको शीघ्र ही नष्ट कर देता है उसका विनाश करनेवाले निर्मल-बुद्धि गुरुओंकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ १९ ॥ जिस अतिशय बलवान् कामदेवने युवतियोंके कटाक्षरूप बाणोंके द्वारा भेदकर विष्णु, शिव और कार्तिकेय आदिको जीत लिया है उस सुभट कामदेवको भी शमरूप बाणोंसे विद्ध करनेवाले गुरुओंको नमस्कार करना चाहिये ॥ २० ॥ सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले जो तपस्वी संसारभयके नष्ट करनेमें उद्यत होकर न किन्ही इष्ट पदार्थोंमें राग करते हैं, न अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष करते हैं, और न कही पर मोहको भी प्राप्त होते है वे तपस्वी मेरे मनमे आनन्दके लिये होवें ॥ २१ ॥ जो तपस्वी सुख और दुख, स्व और पर, वियोग और संयोग, इष्ट और अनिष्ट तथा विनाश

१ स कटुमनव° । २ स विवर्द्धन° । ३ स विधुन्वते, वितन्वते । ४ स विभिन्दिता, विभिंदितो । ५ स °भये° । ६ स नुदे ।

685) सुखासुखस्वपरवियोगयोगि[1]ताप्रियाप्रियव्यपगतजीविताविभिः ।
भवन्ति ये [2]सममनसस्तपोधना भवन्तु ते मम गुरवो भवच्छिदः ॥ २२ ॥
686) जिनोदिते वचसि रता वितन्वते तपांसि ये कलिलकलङ्कमुक्तये ।
विवेचकाः स्वपरमतस्य तत्त्वतो हरन्तु ते मम दुरितं मुमुक्षवः ॥ २३ ॥
687) अवन्ति ये जनकसमा मुनिश्वराश्चतुर्विधं गणमनवद्यवृत्तयः ।
स्वदेहवद्दलितमदाष्टकारयो भवन्ति ते मम गुरवो भवान्तकाः ॥ २४ ॥
688) वदन्ति[3] ये जिनपतिभाषितं वृषं वृषेश्वराः सकलशरीरिणां हितम् ।
भवाब्धितस्तरणमनर्थनाशनं नयन्ति ते शिवपदमाश्रितं जनम् ॥ २५ ॥
689) तनूभृतां नियमतपोव्रतानि ये दयान्विता ददति समस्तलब्धये[4] ।
चतुर्विधे[5] विनयपरा[6] गणे सदा दहन्ति ते दुरितवनानि साधवः ॥ २६ ॥
इति गुरुस्वरूपनिरूपण[7]षड्विंशति ॥ २७ ॥

गुरवः मम भवच्छिदः भवन्तु. ॥ २२ ॥ जिनोदिते वचसि रताः ये कलिलकलङ्कमुक्तये तपांसि वितन्वते । स्वपरमतस्य [मतस्य] तत्त्वतः ये विवेचकाः ते मुमुक्षवः मम दुरितं हरन्तु ॥ २३ ॥ अनवद्यवृत्तयः ये मुनीश्वराः चतुर्विधं गणं जनकसमाः अवन्ति । स्वदेहवत् दलितमदाष्टकारयः ते गुरवः मम भवान्तकाः भवन्तु ॥ २४ ॥ ये वृषेश्वराः सकलशरीरिणां हितं, भवाब्धितः तरणम्, अनर्थनाशनं जिनपतिभाषितं वृषं वदन्ति, ते आश्रितं जनं शिवपदं नयन्ति ॥ २५ ॥ दयान्विताः ये समस्तलब्धये तनूभृतां नियमतपोव्रतानि ददति, चतुर्विधे गणे सदा विनयपराः ते साधवः दुरितवनानि दहन्ति ॥ २६ ॥
इति गुरुस्वरूपनिरूपणषड्विंशतिः ॥ २७ ॥

और जीवन इनमे समबुद्धि रहते हैं—न सुख आदिमे हर्षको प्राप्त होते हैं और न दुख आदिमे विषादको प्राप्त होते हैं—वे तपरूप धनको धारण करनेवाले गुरु मेरे संसारका नाश करनेवाले होवें ॥ २२ ॥ जो जिन भगवान्के द्वारा कहे गये वचनमें—जिनागममे—अनुरागको प्राप्त होकर पापरूप मैलको नष्ट करनेके लिये तपोंको करते हैं तथा प्रयोजनीभूत स्व-पर तत्त्वका [मतका] यथार्थ विवेचन करते हैं वे मुमुक्षु गुरु मेरे पापको नष्ट करे ॥ २३ ॥ निष्पाप आचरण करनेवाले जो मुनीन्द्र चार प्रकारके गणकी—अनगार, यति, मुनि और ऋषि अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका सघकी—पिताके समान रक्षा करते हैं तथा जिन्होंने अपने शरीरके समान आठ मदरूप शत्रुओको नष्ट कर दिया है वे गुरु मेरे ससारका अन्त करनेवाले होवें ॥ २४ ॥ जो जिन देवके द्वारा प्ररूपित धर्म समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला है, उन्हे ससाररूप समुद्रसे पार उतारता है, तथा अनर्थको नष्ट करता है उस धर्मका जो धर्मेश्वर गुरु व्याख्यान करते है व शरणमे आये हुए जनको मोक्षपदमें ले जाते है ॥ २५ ॥ जो दयालु होकर प्राणियोंका समस्त अभीष्टकी प्राप्तिके लिये (मुक्तिलाभार्थ) नियम, तप और व्रतको प्रदान करते हैं तथा जो अनगार, यति, मुनि और ऋषिरूप चार प्रकारके सघकी विनय करनेमे सदा तत्पर रहते हैं वे साधु पापरूप वनोंको भस्म करते है ॥ २६ ॥

इस प्रकार छब्बीस श्लोकोमे गुरुका निरूपण किया ।

●

---

१ स °योगिनो; वियोगवियोगता°, °योगिता प्रिया । २ स शम° । ३ वंदंति के । ४ स °लब्धय. । ५ स °विधो°, विधेर्वि° । ६ स °परागणे । ७ स °निरूपणम् ।

[२८. धर्मनिरूपणाद्वाविंशतिः]

690) अवति निखिललोकं य. पितेवाहृतात्मा
दहति दुरितराशिं पावको[1] वेन्धनौघम् ।
वितरति शिवसौख्यं हन्ति संसारशत्रुं
विदधतु[2] शुभबुद्ध्या तं बुधा धर्ममत्र ॥ १ ॥

691) जनन[3]जलधिमज्जज्जन्तुनिर्व्याजमित्रं
विदधति जिनधर्मं ये नरा नादरेण ।
कथमपि नरजन्म प्राप्य पापोपशान्ते-
र्विमलमणिमनर्घ्यं प्राप्य ते वर्जयन्ति ॥ २ ॥

692) वदति निखिललोकः शब्दमात्रेण धर्मं
विरचयति विचारं जातु नो को ऽपि तस्य ।
व्रजति विविधभेदं शब्दसाम्ये[4] ऽपि धर्मो
जगति हि गुणतो ऽयं[5] क्षीरवत्तत्त्वतो[6] ऽत्र ॥ ३ ॥

य. अत्र पितेव आदृतात्मा निखिललोकम् अवति। पावक इन्धनौघं वा दुरितराशिं दहति। शिवसौख्य वितरति संसारशत्रुं हन्ति। बुधाः शुभबुध्या तं धर्म विदधतु ॥ १ ॥ ये नरा. पापोपशान्तेः कथमपि नरजन्म प्राप्य जननजलधिमज्जज्जन्तुनिर्व्याजमित्रं जिनधर्मम् आदरेण न विदधति, ते अनर्घ्यं विमलमणिं प्राप्य वर्जयन्ति ॥ २ ॥ निखिललोकः शब्दमात्रेण धर्मं वदति। जातु तस्य कोऽपि विचारं नो विरचयति। अत्र जगति अयं धर्म. शब्दसाम्येऽपि गुणतः तत्त्वतः क्षीरवत्

जो विशुद्ध धर्म यहाँ समस्त प्राणियोंकी पिताके समान रक्षा करता है, जिस प्रकार अग्नि इन्धनके समूहको जला देती है उसी प्रकार जो पापके समूहको जला देता है, जो मोक्ष सुखको देता है, तथा जो ससाररूप शत्रुका घात करता है उस धर्मको विद्वान् पुरुष निर्मल बुद्धिसे धारण करें ॥ १ ॥ जो मनुष्य जिस किसी प्रकार तीव्र पापके उपशान्त होनेसे मनुष्य जन्मको पा करके भी ससाररूप समुद्रमे डूबते हुए प्राणियोंका उससे निष्कपट मित्रके समान उद्धार करनेवाले जिनधर्मको आदरपूर्वक नही धारण करते है वे अमूल्य निर्दोष मणिको पा करके भी छोड़ देते है। अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य दुर्लभ मनुष्य पर्यायको प्राप्त करके धर्मको नहीं धारण करते हैं वे अनन्त संसारमें परिभ्रमण करते हुए दुःसह दुखको सहते है। उन्हें वह मनुष्य पर्याय फिरसे बड़ी कठिनतासे प्राप्त हो सकेगी ॥ २ ॥ संसारमें समस्त जन शब्द मात्रसे धर्मको कहता है, परन्तु कोई उसका विचार कभी भी नही करता है। यह धर्म शब्दकी समानता होने पर भी गुणकी अपेक्षासे वास्तवमें दूधके समान अनेक भेदको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ *विशेषार्थ*—जिसप्रकार गाय, भैंस और बकरी आदिका दूध 'दूध' इस नामसे समान हो करके भी सुपाच्यत्व आदि गुणकी अपेक्षा अनेक प्रकारका होता है उसी प्रकार वैदिक, बौद्ध एवं जैन आदि धर्म 'धर्म' इस नामसे समान होने पर भी फलदानकी अपेक्षा अनेक प्रकारका है—कोई धर्म यदि स्वर्ग-मोक्षका देनेवाला है तो कोई नरकादि दुःखका भी कारण है। इसलिये जिस प्रकार अपनी-अपनी प्रकृति

---

१ स पावकेवे° । २ स विदधति । ३ स जननि° । ४ स °शाम्ये । ५ स गुणतोयं । ६ स °तत्वतात्रे ।

693) सततविषयसेवाविह्वलीभूतचित्तः
शिवसुखफलदात्रीं[1] प्राण्यहिंसां विहाय ।
श्रयति पशुवधादिं[2] यो नरो धर्ममज्ञः
प्रपिबति विषमुग्रं सो ऽमृतं वै [3]विहाय ॥ ४ ॥
694) पशुवधपरयोषिन्मद्यमांसादिसेवा[4]
वितरति यदि धर्मं सर्वकल्याणमूलम् ।
निगदत[5] मतिमन्तो जायते केन पुंसां
विविधजनन[6]दुःखश्वभ्रभूर्निन्दनीया ॥ ५ ॥
695) विचलति[7] गिरिराजो जायते शीतलो ऽग्नि-
स्तरति पयसि शैलः स्याच्छशी तीव्रतेजाः ।
उदयति दिशि भानुः पश्चिमायां कदाचित्
न तु भवति कदाचिज्जीवघातेन धर्मः ॥ ६ ॥

विविधभेद व्रजति ॥ ३ ॥ सततविषयसेवाविह्वलीभूतचित्तः य अज्ञ. नर. प्राण्यहिंसा विहाय पशुवधादिं धर्मं श्रयति स. वै अमृतं विहाय उग्रं विषं प्रपिबति ॥ ४ ॥ पशुवधपरयोषिन्मद्यमासादिसेवा यदि सर्वकल्याणमूल धर्मं वितरति [तर्हि] हे मतिमन्तः पुंसां विविधजननदुःखा निन्दनीया श्वभ्रभू. केन जायते निगदत ॥ ५ ॥ कदाचित् गिरिराजः विचलति, अग्निः शीतल· जायते, पयसि शैलः तरति, शशी तीव्रतेजा· स्यात्, भानु. पश्चिमाया दिशि उदयति । तु जीवघातेन कदाचित् धर्मः

अथवा आवश्यकताके अनुसार कोई मनुष्य गायका और कोई भैंस आदिका दूध लेते है उस प्रकार कितने ही विवेकी मुमुक्षु जीव यदि जैन धर्मको धारण करते हैं तो दूसरे कितने ही मनुष्य अज्ञानतासे अन्य धर्मका भी आश्रय लेते हैं । तात्पर्य यह है कि संसारमें धर्म नामसे अनेक पंथभेदके प्रचलित रहने पर भी बुद्धिमान मनुष्य-को परीक्षा करके उस धर्मको स्वीकार करना चाहिये जो वास्तविक सुखका कारण हो ॥ ३ ॥ जिस मनुष्यका चित्त निरन्तर विषय भोगोके सेवनसे विकलताको प्राप्त हुआ है, इसीलिये जो मोक्ष सुखको देनेवाली जीवोंकी अहिंसा (जीवदया) को छोड़कर जीवबध आदि रूप कल्पित धर्मका आश्रय लेता है वह अज्ञानी निश्चयसे अमृतको छोड़कर तीव्र विषको पीता है ॥ ४ ॥ विशेषार्थ—जो प्राणियोंको यथार्थ सुखमे धारण कराता है वह धर्म कहलाता है । ऐसा धर्म जीव दया व सम्यग्दर्शन आदि ही हो सकता है । जो अज्ञानी मनुष्य पशुबधको धर्म समझ उसमें प्रवृत्त होते हैं वे उस मूर्ख मनुष्यके समान अपना अहित करते है जो कि प्राप्त अमृतको छोड़-कर अज्ञानतासे विषको पीता है । पशुओंकी हिंसा, परस्त्री विषयक अनुराग एव मद्य-मांस आदिका सेवन यदि समस्त कल्याणके कारणभूत धर्मको देता है—इन निन्द्य क्रियाओंसे यदि धर्म व सुख हो सकता है—तो बुद्धि-मान मनुष्य यह बतलावें कि जीवोंके लिये अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली निन्द्य नरक भूमि किस कार्यसे प्राप्त होती है । अभिप्राय यह है कि पशुहिंसनादि कार्य कभी सुखप्रद नही हो सकते हैं, अत· उनको धर्म समझना उचित नही है ॥ ५ ॥ कदाचित मेरु पर्वत अपने स्थानसे विचलित हो जाय, अग्नि शीतल हो जाय, पर्वत जल-के ऊपर तैरने लग जाय, चन्द्रमा सन्ताप जनक हो जाय; और सूर्य कदाचित् पश्चिम दिशामे उदित हो जाय; किन्तु जीवहिंसासे धर्म कभी भी सम्भव नही हो सकता है ॥ ६ ॥ जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है वह यदि एक

---

१ स °दात्री, °दातृ° । २ स °वधादि । ३ स om. वै । ४ स °सर्वा । ५ स निगदित । ६ स °जनित दुःखा-श्वभ्र° । ७ स विचरति ।

696) विगलितधिषणो ऽसावेकदा[1] हन्ति जीवान्[2]
वदति[3] वितथवाक्यं[4] द्रव्यमन्यस्य लाति ।
परयुवतिमुपास्ते[5] संगमङ्गीकरोति
भवति न वृषमात्रो[6] ऽप्यत्र सन्तो वदन्ति ॥ ७ ॥

697) अति[7]कुपितमनस्के को[8]पनिष्पत्तिहेतुं
विदधति सति[9] शत्रौ[10] विक्रियां चित्ररूपाम् ।
वदति वचनमुच्चैर्दुःश्रवं कर्कशादि
कलुषविकलता या तां[11] क्षमां वर्णयन्ति ॥ ८ ॥

698) व्रतकुलबलजातिज्ञानविज्ञानरूप-
प्रभृतिजमदमुक्तिर्या विनीतस्य साधोः ।
अनुपमगुणराशेः शील[12]चारित्रभाजः
प्रणिगदत[13] विनीता मार्दवत्वं मुनीन्द्राः ॥ ९ ॥

699) कपटशतनदीष्णैर्वैरिभिर्वञ्चितो ऽपि
निकृतिकरणदक्षो ऽप्यत्र संसारभीरुः[14] ।
तनुवचनमनोभिर्वक्रतां यो न याति
गतमलमृजु[15]मानं तस्य साधोर्वदन्ति ॥ १० ॥

न भवति ॥ ६ ॥ विगलितधिषणः असौ एकदा जीवान् हन्ति, वितथवाक्यं वदति, अन्यस्य द्रव्यं लाति, परयुवतिम् उपास्ते, संगम् अङ्गीकरोति। अत्र वृषमात्रोऽपि न भवति, [इति] सन्त वदन्ति ॥ ७ ॥ अतिकुपितमनस्के शत्रौ कोपनिष्पत्तिहेतुं चित्ररूपा विक्रिया विदधति सति, उच्चै दुश्रवं कर्कशादिवचन वदति सति या कलुषविकलता, ता क्षमा वर्णयन्ति ॥ ८ ॥ अनुपमगुणराशेः शीलचारित्रभाज विनीतस्य साधो. या व्रतकुलबलजातिज्ञानविज्ञानरूपप्रभृतिजमदमुक्ति ता हे विनीता मुनीन्द्राः मार्दवत्वं प्रणिगदत ॥ ९ ॥ कपटशतनदीष्णै. वैरिभि. वञ्चितः अपि निकृतिकरणदक्ष. अपि अत्र संसारभीरुः य

बार जीवोंका घात करता है, असत्य भाषण करता है, अन्यके धनको ग्रहण करता है चोरी करता है परस्त्रीका सेवन करता है, तथा परिग्रहको स्वीकार करता है तो इसमे उसे लेशमात्र भी धर्म नही होता है; ऐसा सज्जन बतलाते है ॥ ७ ॥ जिसके मनमे अतिशय क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे किसी शत्रुके द्वारा क्रोधके उत्पादक अनेक प्रकारके विकारके करनेपर तथा अतिशय श्रवण कटु एवं कठोर आदि वचनके बोलने पर भी कलुषताको प्राप्त न होना, इसे क्षमा कहते हैं ॥ ८ ॥ अनुपम गुणोंके समूहसे सहित तथा शील व चरित्रका आराधक विनयवान् साधु जो व्रत, कुल, बल, जाति, ज्ञान, विज्ञान और रूप आदिका अभिमान नही करता है; इसे नम्र गणधरादि मार्दव कहते हैं ॥ ९ ॥ जो संसारसे भयभीत साधु सैकड़ों कपटों रूप नदियोंमे स्नान करनेवाले—अतिशय मायाचारी—शत्रुओंके द्वारा ठगा जा करके भी तथा स्वय माया व्यवहारमे कुशल हो करके भी यहाँ शरीर, वचन और मनसे कुटिलताको नहीं प्राप्त होता है; उसके निर्मल आर्जव धर्म होता है, ऐसा गणधर आदि बत-लाते हैं ॥ १० ॥ अभिमान, काम, कषाय, प्रेम और सम्पत्ति आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ वचन चाहे झूठ हो

---

१ स [ऽ] सौ चैकदा । २ स जीवा । ३ स तवति । ४ स °वाच्यं । ५ स °मपास्थे । ६ स विषामत्रो । ७ स अपि कुपित°, अतिकुपितकृत्तस्ते । ८ स कोपि°, को ऽपि नि° । ९ स शति । १० स शत्रोः, शत्रो, शत्रोर्वि । ११ स °तां या, °विकलतायां । १२ स शीलि° । १३ स °गदति । १४ स °भीतः । १५ स °मृजिमानं, °मृजु मानं ।

700) मदनमदनकषायप्रीतिभूत्यादिभूतं
वितथमवितथं च प्राणिवर्गोपतापि ।
श्रवणकटु विमुच्य स्वापरेभ्यो[1] हितं यद्
वचनमवितथं तत्कथ्यते तथ्यबोधैः[2] ॥ ११ ॥

701) दहति झटिति लोभो लाभतो वर्धमान-
स्तृणचयमिव वह्निर्यः [3]सुखं देहभाजाम् ।
व्रतगुणशमशीलध्वंसिनस्तस्य नाशं[4]
प्रणिगदत[5] मुमुक्षोः साधवः साधु[6] शौचम् ॥ १२ ॥

702) विषयविरतियुक्तिर्या[7] जिताक्षस्य साधो-
र्निखिलतनुमतां यद्रक्षणं[8] स्यात् त्रिधापि ।
तदुभयमनवद्यं[9] संयमं वर्णयन्ते
मननरविमरीचिध्वस्तमोहान्धकाराः[10] ॥ १३ ॥

703) गलितनिखिलसंगो ऽनङ्गसंगे[11] ऽप्रवीणो[12]
विमलमननपूतं[13] कर्मनिर्नाशनाय ।
चरति चरितमर्च्यं संयतो यन्मुमुक्षु-
र्मथितसुकृतमान्द्या[14]स्तत्तपो वर्णयन्ति ॥ १४ ॥

तनुमनवचोभि वक्रता न याति, तस्य साधो· ऋजुमान गतमल वदन्ति ॥ १० ॥ मदनमदकषायप्रीतिभूत्यादिभूतं प्राणिवर्गोपतापि, श्रवणकटु, वितथम् अवितथ च वचन विमुच्य स्वापरेभ्यो हित यद्वचन तत् तत्त्वबोधै अवितथ कथ्यते ॥ ११ ॥ वर्धमानः वह्निः तृणचयम् इव लाभतो वर्धमान य लोभ· देहभाजा सुखं झटिति दहति । [भो] साधव व्रतगुणशमशीलध्वसिन· तस्य नाशं मुमुक्षो साधु शौचं प्रणिगदत ॥ १२ ॥ मननरविमरीचिध्वस्तमोहान्धकारा· जिताक्षस्य साधोः या विषयविरतियुक्ति·, निखिलतनुमता त्रिधा यत् रक्षणमपि तत् उभयम् अनवद्य संयम वर्णयन्ते ॥ १३ ॥ गलितनिखिलसंग· अनङ्गभङ्गप्रवीणः मुमुक्षु संयतः कर्मनिर्नाशनाय विमलमनसि पूतम् अर्च्यं यत् चरित चरति मथितसुकृतमान्द्याः तत् तपः

चाहे सत्य भी हो; किन्तु यदि वह प्राणि समूहके लिये संतापजनक एव कर्ण कटु है तो उसका छोडकर जो वचन अपने लिये व अन्य प्राणियोके लिये हितकारक है उसको तत्त्वके जानकार सत्य वचन बतलाते हैं ॥ ११ ॥ जिस प्रकार तृण समूहको पाकर अग्नि वृद्धिगत होती है उसी प्रकार जो लोभ इष्ट वस्तुओके लाभसे वृद्धिगत होकर प्राणियोके सुखको शीघ्र भस्म कर देता है; हे सज्जनो ! उस व्रत, गुण, शम और शीलके नाशक लोभके अभावको मुमुक्षुका निर्मल शौच कहा जाता है ॥ १२ ॥ जितेन्द्रिय साधु जो पाँचो इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त होता है तथा मन, वचन और कायसे समस्त प्राणियोकी रक्षा करता है, इसे ज्ञानरूप सूर्यकी किरणोसे मोहरूप अन्धकारको नष्ट कर देनेवाले सर्वज्ञ देव दो प्रकारका (इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम) निर्दोष सयम बतलाते हैं ॥ १३ ॥ समस्त परिग्रहसे ममत्वको छोड़कर कामकी वासनाको नष्ट कर देनेवाला जो मुमुक्षु साधु अपने निर्मल मनमे पूजाके योग्य पवित्र आचरणको करता है उसे पुण्यविषयक अविवेकको नष्ट कर देनेवाले गणधरादि तप बतलाते हैं । अभिप्राय यह है कि इच्छाओको रोककर जो अनशन आदि रूप पवित्र अनुष्ठान

---

१ स स्वापदेभ्यो । २ स °बोधौ । ३ स यत्सुखं । ४ स नाश· । ५ स °गदति । ६ स साधुशौचम् । ७ स °र्यांजिता° । ८ स भक्षणं । ९ स मनिद्यं सयमं वर्णयन्ति । १० स °कारः । ११ स °संगा, °सगः । १२ स प्रवीणो । १३ स °मनसिपूतं । १४ स °माद्यास्तभयो, °माद्यंस्ततपो, °माद्यस्त°, °माद्या° ।

704) जिनगदितमनर्थध्वंसि शास्त्रं विचित्रं
परममृतसमं यत् सर्वसत्त्वोपकारि[1]।
प्रक[2]टनमिह तस्य प्राणिनां यद् वृषाय
तद[3]भिदधति शान्तास्त्यागधर्मं यतीन्द्राः ॥ १५ ॥

705) यदिह जहति जीवा[4]जीवजीवोत्थभेदात्
त्रिविधमपि मुनीन्द्राः संगमङ्गे ऽप्यसंगाः।
जनन[5]मरणभीता जन्तुरक्षा[6]नदीष्णा
गतमलमनसस्तत् स्यात्सदाकिंचनत्वम् ॥ १६ ॥

706) वरतनुरति[7]मुक्तेर्वीक्ष्[8]माणस्य नारीः
स्वसृदुहितृसवित्रीसंनिभाः सर्वदैव।
जननमरणभीतेः कूर्मवत्संवृतस्य
गुरुकुलवसतिर्या ब्रह्मचर्यं तदाहुः ॥ १७ ॥

707) जननमरणभीतिध्यान[9]विध्वंसदक्षं
कथित[10]निखिलदोषं भूषणं देहभाजाम्।
इति दशविधमेनं धर्ममेनोविमुक्ता[11]
विदितभुवनतत्त्वा वर्णयन्ते जिनेन्द्राः ॥ १८ ॥

वर्णयन्ति ॥ १४ ॥ इह अनर्थध्वंसि, विचित्रम्, अमृतसमं, सर्वसत्त्वोपकारि, परं, जिनगदितं यत् शास्त्र, तस्य प्राणिनां वृषाय यत् प्रकटनं तत् शान्ता यतीन्द्रा त्यागधर्मम् अभिदधति ॥ १५ ॥ इह जननमरणभीता· जन्तुरक्षानदीष्णा. गतमलमनसः अङ्गे अपि असगा मुनीन्द्रा. जीवाजीवजीवोत्थभेदात् त्रिविधम् अपि संगं यत् सदा जहति तत् अकिञ्चनत्वं स्यात् ॥ १६ ॥ *सर्वदैव नारी· स्वसृदुहितृसवित्रीसंनिभाः वीक्षमाणस्य वरतनुरतिमुक्ते जननमरणभीतेः कूर्मवत् संवृतस्य* [मुने·] या गुरुकुलवसति· तत् ब्रह्मचर्यम् आहु· ॥ १७ ॥ एनोविमुक्ता· विदितभुवनतत्त्वा जिनेन्द्रा· जननमरणभीतिध्यान-

---

किया जाता है इसे तप कहते हैं ॥ १४ ॥ जो शास्त्र जिन देवके द्वारा प्ररूपित है, अनर्थका नाशक है, विचित्र है, उत्कृष्ट है तथा अमृत के समान समस्त प्राणियोका उपकार करनेवाला है उसको यहाँ प्राणियोंको धर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये जो प्रगट करना है; इसे शान्त मुनीन्द्र त्याग धर्म कहते है ॥ १५ ॥ जो मुनीन्द्र जन्म और मरणसे भयभीत जीवदयारूप नदीमें स्नान करनेवाले, निर्मल मनसे सहित तथा अपने शरीरमें भी निर्ममत्व होकर जीव, अजीव और जीवाजीवके भेदसे तीन प्रकारके परिग्रहका निरन्तर त्याग करते हैं उनके आकिंचन्य धर्म होता है। अभिप्राय यह कि परिग्रहका पूर्णतया परित्याग कर देनेका नाम आकिंचन्य धर्म है ॥ १६ ॥ जो अपने उत्तम शरीरमें अनुराग नही करता है; स्त्रियोको सदा बहिन, बेटी और माताके समान देखता है; जन्म व मरणसे भयभीत है, तथा कछुएके समान इन्द्रियको आवृत रखता है उसका जो गुरुकुलमें निवास करना है; यह ब्रह्मचर्य कहलाता है ॥ १७ ॥ जो धर्म जन्म, मरण, भय और चिन्ताको नष्ट करके समस्त दोषोंका घात करता है वह प्राणियोंके लिये भूषणस्वरूप है। उसको पापसे रहित और समस्त तत्त्वोंके जानकार जिनेन्द्र

---

१ स °कारी। २ स वितरति धुतदोषं प्राणिनां सर्वदा ये निगदति गुणिनस्तं त्यागकं मुनींद्रा om. प्रकटन°– यतीद्राः। ३ स तमभिदधति। ४ स जीवा जी° वो ऽत्यभे°। ५ स जननजलतरंड दुःखकंद [त] रदावंगत° [तम- मलमनस°। ६ स दीक्षा for रक्षा। ७ स °मुक्ते। ८ स वीक्ष्य°, °मुक्तेवीक्ष्यमाणस्य। ९ स °ध्याति°। १० स कथित°। ११ स °विमुक्त–।

708) हरति जननदुःखं मुक्तिसौख्यं विधत्ते
रचयति शुभबुद्धिं पापबुद्धिं धुनीते ।
अवति सकलजन्तून् कर्मशत्रून्निहन्ति
प्रशमयति मनो[1] यस्तं बुधा धर्ममाहुः ॥ १९ ॥

709) विषयरतिविमुक्तिर्यत्र दानानुरक्तिः
शमयमदम[2]सक्तिर्मन्मथारातिभक्तिः ।
जननमरणभीतिर्द्वेषरागावधूति-
र्भजत[3] तमिह धर्मं कर्मनिर्मूलनाय ॥ २० ॥

710) गुणितनुमति[4]तुष्टिं मित्रतां शत्रुवर्गे
गुरुचरणविनीतिं[5] तत्त्वमार्गप्रणीतिम् ।
जिनपति[6]पदभक्तिं [7]दूषणानां तु मुक्तिं
विदधति सति जन्तौ धर्ममुत्कृष्टमाहुः ॥ २१ ॥

विध्वंसदक्षं कषितनिखिलदोषम् इति दशविधम् एनं धर्मं देहभाजा भूषणं वर्णयन्ते ॥ १८ ॥ यः जननदुःख हरति, मुक्तिसौख्यं विधत्ते, शुभबुद्धिं रचयति, पापबुद्धिं धुनीते, सकलजन्तून् अवति, कर्मशत्रून् निहन्ति, मनः प्रशमयति, तं बुधाः धर्मम् आहुः ॥ १९ ॥ यत्र विषयरतिविमुक्तिः, दानानुरक्तिः, शमयमदमसक्तिः, मन्मथारातिभक्तिः, जननमरणभीतिः, द्वेषरागावधूतिः, तं धर्मम् इह कर्मनिर्मूलनाय भजत ॥ २० ॥ जन्तौ गुणितनुमति तुष्टिं, शत्रुवर्गे मित्रता, गुरुचरणविनीतिं, तत्त्वमार्गप्रणीतिं, जिनपतिपदभक्तिं तु दूषणाना मुक्तिं विदधति सति जन्तौ धर्मम् उत्कृष्टम् आहुः ॥ २१ ॥ यः शिवपद-

---

देव उपर्युक्त प्रकारसे दस प्रकारका बतलाते हैं ॥ १८ ॥ जो जन्म-मरणरूप संसारके दुखको नष्ट करता है, मुक्तिके सुखको करता है, उत्तम बुद्धिको उत्पन्न करता है, पाप बुद्धिको नष्ट करता है, समस्त प्राणियोंकी रक्षा करता है, कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट करता है, तथा मनको शान्त करता है; उसे पण्डित जन धर्म कहते हैं ॥ १९ ॥ जिस धर्मके होनेपर यहाँ विषयोंसे विरक्ति होती है, दानमें अनुराग होता है; शम, यम और दममें आसक्ति होती है; कामरूप शत्रुका नाश होता है, जन्म और मरणसे भय उत्पन्न होता है, तथा राग और द्वेषका विनाश होता है; उस धर्मका कर्मनाशके लिये आराधन करें ॥२०॥ जो प्राणी गुणी जनको देखकर सन्तुष्ट होता है, शत्रु समूहमें मित्रताका भाव रखता है, गुरुके चरणोमें नत होता है अथवा गुरु और चारित्रकी विनय करता है, तत्त्वमार्गका प्रणयन करता है—वस्तुस्वरूपका यथार्थ उपदेश करता है, जिनेन्द्रके चरणोंकी भक्ति करता है तथा दोषोंको नष्ट करता है; उसके उत्कृष्ट धर्म होता है, ऐसा गणधरादि बतलाते हैं ॥ २१ ॥ जो मनुष्य मनमें मोक्ष सुखके कारणभूत तथा दीर्घ संसाररूप समुद्रसे पार होनेके लिये पुलस्वरूप सम्यग्ज्ञान,

---

१ स मनोर्यस्तं । २ स °शक्ति°, °भक्तिः । ३ स भजति । ४ स गुणिनुत्ति° वुष्टि । ५ स विनीत । ६ स जिनपदपदभुक्ति । ७ स भूषणामत्र मु° ।

711) मनति मनसि यः सज्ज्ञानचारित्रदृष्टीः[1]
शिवपदसुखहेतून् दीर्घसंसारसेतून् ।
परिहरति च मिथ्याज्ञानचारित्रदृष्टी[2]-
र्भवति विगतदोषस्तस्य मर्त्यस्य धर्मः ॥ २२ ॥
इति धर्मनिरूपण[3]द्वाविंशतिः ॥ २८ ॥

सुखहेतून् दीर्घसंसारसेतून् सज्ज्ञानचारित्रदृष्टीः मनसि मनति, मिथ्याज्ञानचारित्रदृष्टीः च परिहरति, सः तस्य मर्त्यस्य विगत-दोषः धर्मः भवति ॥ २२ ॥

इति धर्मनिरूपणद्वाविंशतिः ॥ २८ ॥

सम्यक्चारित्र और सम्यग्दर्शनका मनन करता है—उन्हें धारण करता है तथा मिथ्यादर्शन; मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको दूर करता है उसके निर्मल धर्म होता है ॥ २२ ॥

इसप्रकार बाईस श्लोकोमें धर्मका निरूपण किया ।

●

---

१ स °दृष्टी । २ स °दृष्टी । ३ स निरूपणम् ।

[२९. शोकनिरूपणाष्टविंशतिः]

712) पुरुषस्य विनश्यति येन सुखं वपुरेति कृशत्वमुपै[1]त्यबलम् ।
मृतिमिच्छति[2] मूर्छति शोकवशस्त्यजतैतमतस्त्रिविधेन बुधाः ॥ १ ॥

713) वितनोति वचः करुणं विमना विधुनोति करौ चरणौ च भृशम् ।
रमते न गृहे[3] न वने न जने पुरुषः कुरुते न किमत्र शुचा ॥ २ ॥

714) उदितः समयः श्रयते ऽस्तमयं कृतकं सकलं[4] लभते विलयम् ।
सकलानि फलानि पतन्ति तरोः सकला जलधिं समुपैति नदी ॥ ३ ॥

175) सकलं सरसं शुषिमेति[5] यथा सकलः पुरुषो मृतिमेति तथा ।
मनसेति विचिन्त्य बुधो न शुचं विदधाति मनागपि तत्त्वरुचिः ॥ ४ ॥

716) स्वजनो ऽन्यजनः कुरुते न सुखं न धनं न वृषो विषयो[6] न भवेत् ।
विमतेः स्वहितस्य शुचा भविनः स्तुतिमस्य न को ऽपि करोति बुधः ॥ ५ ॥

येन पुरुषस्य सुखं विनश्यति, वपुः कृशत्वम् एति, अबलम् उपैति । शोकवशः मृतिम् इच्छति, मूर्च्छति । अतः हे बुधाः एतं त्रिविधेन त्यजत ॥ १ ॥ विमना पुरुषः करुणं वचः वितनोति । करौ चरणौ च भृशं विधुनोति । गृहे न रमते, वने न (रमते), जने च न (रमते) । अत्र पुरुषः शुचा किं न कुरुते ॥ २ ॥ उदितः समयः अस्तमयं श्रयते । तरोः सकलानि फलानि पतन्ति । सकला नदी जलधिं समुपैति । सकलं कृतकं विलयं लभते ॥ ३ ॥ यथा सकलं सरसं शुषिमेति, तथा सकलः पुरुषः मृतिमेति । इति मनसा विचिन्त्य तत्त्वरुचिः बुधः मनाक् अपि शुचं न विदधाति ॥ ४ ॥ शुचा स्वहितस्य विमतेः भविनः स्वजनः अन्यजनः सुखं न कुरुते । न धनं (सुखं कुरुते) । अस्य वृषः न, विषयः [च] न भवेत् । कोऽपि

चूँकि शोकके वशमें होनेसे पुरुषका सुख नष्ट हो जाता है, शरीर निर्बलताको प्राप्त होकर कृश होने लगता है, वह मरनेकी इच्छा करता है, तथा मूर्छित हो जाता है, इसीलिये पण्डित जन उस शोकका मन, वचन और कायसे परित्याग करें ॥ १ ॥ पुरुष यहाँ शोकसे क्या नहीं करता है ? सब कुछ करता है–वह विमनस्क होकर करुणापूर्ण वचन बोलता है, हाथ-पैरोंको अतिशय कम्पित करता है–उन्हे इधर-उधर पटकता है; तथा उक्त शोकके कारण उसे न घरमें अच्छा लगता है, न वनमें अच्छा लगता है, और न मनुष्योंके बीचमें भी अच्छा लगता है ॥ २ ॥ उदयको प्राप्त हुआ समय (दिवस) नाशको प्राप्त होता है, उत्पन्न हुए सब फल वृक्षसे नीचे गिरते हैं, तथा समस्त नदियाँ समुद्रमें विलीन होती हैं। ठीक है–कृत्रिम सब ही पदार्थ नाशको प्राप्त होते हैं। ऐसी अवस्थामें उनके नष्ट होनेपर बुद्धिमान् मनुष्यको शोक करना उचित नही है, यह उसका अभिप्राय है ॥ ३ ॥ जिस प्रकार सब आर्द्र पदार्थ शुष्कताको प्राप्त होते है–सूख जाया करते हैं–उसी प्रकार पुरुष मृत्युको प्राप्त होता है, इस प्रकार मनसे विचार करके तत्त्वश्रद्धानी विद्वान् मनुष्य जरा भी शोक नही करता है ॥ ४ ॥ जो दुर्बुद्धि मनुष्य शोकसे अभिभूत होता है उसे कुटुम्बी और अन्य जन सुखी नही कर सकते हैं, धनसे भी उसे सुख प्राप्त नहीं होता, वह न तो धर्ममें अनुराग करता है और न विषयमें भी अनुराग करता है, तथा उसकी कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य प्रशंसा नहीं करता है ॥ ५ ॥ लोकमें जो बुद्धिहीन मनुष्य किसी

---

१ स °पैति बलं । २ स °मृच्छति । ३ स गृहं । ४ स कृतकः सकलो । ५ स सुखमेति । ६ स वृषं विषयं ।

717) स्वकरार्पितवाम[1]कपोलतलो विगते च मृते च तनोति शुचम् ।
भुवि यः सदने दहनेन हते खनतीह स कूपमपास्तमतिः ॥ ६ ॥

718) यदि रक्षणमन्यजनस्य भवेद् यदि को ऽपि करोति बुधः[2] स्तवनम् ।
यदि किंचन सौख्यमथ स्वतनोर्यदि कश्चन[3] तस्य गुणो भवति ॥ ७ ॥

719) यदि वागमनं कुरुते ऽत्र[4] मृत. सगुणं[5] भुवि [6]शोचनमस्य तदा ।
विगुणं विमना बहु शोचति[7] यो विगुणां स दशां[8] लभते मनुज ॥ ८ ॥

720) पथि पान्थगणस्य यथा व्रजतो भवति स्थितिरस्थितिरेव[9] तरौ ।
जननाध्वनि जीवगणस्य तथा जननं मरणं च सदैव कुले ॥ ९ ॥

721) बहुदेशसमागतपान्थगणः [10] [11]प्लवमेकमिवैति नदीतरणे[12] ।
बहुदेशसमागतजन्तुगणः कुलमेति पुन स्वकृतेन[13] भवे ॥ १० ॥

722) हरिणस्य यथा भ्रमतो गहने शरणं न हरेः पतितस्य मुखे ।
समवर्तिमुखे पतितस्य तथा शरणं बत को ऽपि न देहवत. ॥ ११ ॥

बुधः स्तुतिं न करोति ॥ ५ ॥ इह भुवि अपास्तमति स्वकरार्पितवामकपोलतलः य' विगते च मृते च शुचं तनोति स. सदने दहनेन हते कूप खनति ॥ ६ ॥ यदि अन्यजनस्य रक्षण भवेत्, यदि कोऽपि बुध स्तवन करोति, यदि स्वतनो. किंचन सौख्यं [भवेत्], अथ यदि तस्य कश्चन गुणो भवति, यदि वा मृतः अत्र आगमन कुरुते, तदा अस्य शोचन भुवि सगुणम् । यः विमनाः मनुज विगुणंबहु शोचति स' विगुणा दशा लभते ॥ ७-८ ॥ यथा पथि व्रजत. पान्थगणस्य तरौ स्थिति अस्थितिः एव भवति । तथा जननाध्वनि जीवगणस्य कुले जनन मरण च सदैव ॥ ९ ॥ बहुदेशसमागतपान्थगणः नदीतरणे एकं प्लवम् इव भवे बहुदेशसमागतजन्तुगण. पुनः स्वकृतेन कुलम् एति ॥ १० ॥ यथा गहने भ्रमतः हरे मुखे पतितस्य हरिणस्य शरणं न तथा समवर्तिमुखे पतितस्य देहवतः कोऽपि शरणं न बत ॥ ११ ॥ वनमध्यगताग्निसमः अकरुण. समवर्ति-

---

इष्टका वियोग अथवा मरण हो जानेपर अपने हाथके ऊपर कपोलको रखकर शोक करता है वह उस मूर्ख मनुष्यके समान है जो कि अग्निके द्वारा घरके भस्म कर देनेपर उसके बुझानेके लिये यहाँ कुएँको खोदता है ॥ ६ ॥ शोक करनेसे यदि अन्य जनकी रक्षा होती है, विद्वान् मनुष्य उसकी प्रशसा करता है, अपने शरीर-को कुछ सुख प्राप्त होता है, उसको कुछ लाभ होता है, अथवा यदि मृत मनुष्यका फिरसे यहाँ आगमन होता है; तो फिर लोकमे इसका शोक करना सफल हो सकता है । परन्तु वैसा होता नहीं है । अतएव जो मनुष्य विमनस्क होकर व्यर्थमें बहुत शोक करता है वह गुणहीन अवस्थाको प्राप्त होता है ॥७-८॥ जिसप्रकार मार्गमे गमन करता हुआ पथिक समूह किसी वृक्षके नीचे स्थित होता है और फिर वहाँसे गमन करता है उसी प्रकार संसारमार्गमें परिभ्रमण करनेवाले प्राणिसमूहका कुटुम्बमें सदा ही जन्म और मरण हुआ करता है ॥ ९ ॥ जिस प्रकार अनेक देशोंसे आये हुए पथिकोका समूह किसी नदीको पार करनेके लिये एक नौकाका आश्रय लेता है उसी प्रकार अनेक देशोसे आये हुए प्राणियोंका समूह अपने पुण्य-पापके अनुसार एक कुलका आश्रय लेता है ॥ १० ॥ जिस प्रकार वनमें घूमते हुए हिरणके सिंहके मुखमे पड़ जानेपर कोई उसकी रक्षा नही कर सकता है खेद है कि उसी प्रकार यमराजके मुखमें गये हुए प्राणीकी भी कोई रक्षा नही कर सकता है ॥ ११ ॥

---

१ स वास for वाम । २ स बुधस्त° । ३ स कश्चिन् । ४ स च for ऽत्र । ५ स स्वगुणं । ६ स तु विशोचन° । ७ स शोचति य. । ८ स विगुणा स दशा, सदृशा, दृशा । ९ स स्थिरतेव । १० स °गणा । ११ स लवमेकमिवैत्य । १२ स °तरणेः । १३ स सुक्रतेन, सुकृतेन ।

723) सगुणं विगुणं सधनं विधनं सवृषं विवृषं तरुणं च शिशुम् ।
वनमध्यगताग्निसमो ऽकरुणः समवर्तिनृपो न परित्यजति ॥ १२ ॥
724) भुवि यान्ति हयद्विपमर्त्यजना गगने शकुनिग्रहशीतकराः ।
जलजन्तुगणाश्च जले बलवान् समवर्तिविभुर्निखिले भुवने ॥ १३ ॥
725) विषयः स समस्ति न यत्र रविर्न शशी[1] न शिखी पवनो[2] न तथा ।
न स को ऽपि न यत्र कृतान्तनृपः सकलाङ्गिविनाशकर प्रबलः १४ ॥
726) इति तत्त्वधियः परिचिन्त्य बुधा सकलस्य जनस्य विनश्वरताम् ।
न मनागपि चेतसि संदधते शुचमङ्ग[3]यशःसुखनाशकराम्[4] ॥ १५ ॥
727) धनपुत्रकलत्रवियोगकरो धनपुत्रकलत्रवियोगमिह ।
लभते मनसेति विचिन्त्य बुधः परिमुञ्चतु शोकमनर्थकरम् ॥ १६ ॥
728) यदि पुण्यशरीरसुखे[5] लभते यदि शोककृतौ पुनरेति मृतः ।
यदि वास्य[6] मृतौ स्वमृतिर्न[7] भवेत् पुरुषस्य शुचात्र तदा सफला[8] ॥ १७ ॥

नृप सगुणं विगुणं सधनम् विधनं सवृषं विवृषं तरुण च शिशुं न परित्यजति ॥ १२ ॥ हयद्विपमर्त्यजनाः भुवि यान्ति । शकुनिग्रहशीतकरा. गगने (यान्ति) । च जलजन्तुगणा. जले यान्ति । समवर्तिविभु निखिले भुवने बलवान् ॥ १३ ॥ यत्र रवि न, शशी न, शिखी न, तथा पवन न, स विषय समस्ति । यत्र सकलाङ्गिविनाशकर प्रबल कृतान्तनृपः न स कोऽपि (विषय) न ॥ १४ ॥ तत्त्वधिय बुधा इति सकलस्य जनस्य विनश्वरता परिचिन्त्य चेतसि अङ्गयश सुखनाशकरां शुचं मनाक् अपि न सदधते ॥ १५ ॥ धनपुत्रकलत्रवियोगकर इह धनपुत्रकलत्रवियोगं लभते । इति मनसा विचिन्त्य बुधः अनर्थकर शोकं परिमुञ्चतु ॥ १६ ॥ यदि शोककृतौ पुण्यशरीरसुखे लभते, यदि मृत पुनः एति, यदि वा अस्य मृतौ स्वमृतिः

वनके मध्यमें लगी हुई अग्निके समान निर्दय यमकाल रूप राजा गुणवान् और निर्गुण; धनवान् और निर्धन, धर्मात्मा और पापी, तथा तरुण और बालक किसीको भी नही छोड़ता है--सबको ही वह नष्ट कर डालता है ॥ १२ ॥ घोडा, हाथी और मनुष्य प्राणी पृथ्वीके ऊपर गमन करते है; पक्षी, ग्रह शनि आदि) चन्द्र आकाशमे गमन करते हैं, और मगर-मत्स्य आदि जलजन्तुओके समूह जलके भीतर गमन करते हैं; परन्तु बलवान् यमराज समस्त ही लोकमे गमन करता है--उसके पहुँचनेमे कही भी रुकावट नहीं है ॥ १३ ॥ वह देश यहाँ विद्यमान है जहाँपर कि न सूर्य है, न चन्द्र है, न अग्नि है और न वायु है। परन्तु वह कोई प्रदेश नहीं है जहाँपर कि समस्त प्राणियोको नष्ट करनेवाला प्रबल यमराज रूप राजा न हो--वह सवत्र विद्यमान है ॥ १४ ॥ इस प्रकार वस्तुस्वरूपके जानकार विद्वान् पुरुष समस्त प्राणियोकी नश्वरताका विचार करके शरीर, यश और सुखको नष्ट करनेवाले उस शोकको जरा भी मनमें नही धारण करते है ॥ १५ ॥ दूसरेके धन, पुत्र और स्त्रीके वियोगको करनेवाला प्राणी यहाँ अपने धन, पुत्र और स्त्रीके वियोगको प्राप्त होता है; ऐसा मनसे विचार करके विद्वान् पुरुष अनर्थके करनेवाले उस शोकका परित्याग करे ॥ १६ ॥ यदि शोकके करनेपर मनुष्य पुण्य और शरीरसुखको प्राप्त करता है, मरा हुआ प्राणी जीवित होकर फिरसे आ जाता है, अथवा यदि इसके मरनेपर अपना मरण नहीं होता है; तो यहाँ पुरुषका शोक करना सफल हो सकता है। परन्तु वैसा होता नहीं है, अतएव उसके लिये शोक करना व्यर्थ है ॥ १७ ॥ जो विचार शून्य मनुष्य किसी इष्टका वियोग

---

१ स शशी रवो यचनं न तथा । २ स पचनं । ३ स °मङ्गय° । ४ स °करम् । ५ स °सुखं । ६ स चास्य । ७ स स्वभुतिर्भविता । ८ स सफल ।

729) अनुशोचनमस्तविचारमना विगतस्य मृतस्य च यः कुरुते ।
स गते सलिले तनुते वरणं भुजगस्य गतस्य गतिं[1] क्षिपति ॥ १८ ॥

730) सुरवर्त्म स[2] मुष्टिहतं कुरुते सिकतोत्करपीडनमातनुते ।
श्रममात्मगतं न विचिन्त्य नरो भुवि शोचति यो मृतमस्तमतिः ॥ १९ ॥

731) त्यजति स्वयमेव शुचं प्रवरः[3] सुवचःश्रवणेन च मध्यमनाः ।
निखिलाङ्ग[4]विनाशकशोकहतो मरणं समुपैति जघन्यजनः ॥ २० ॥

732) स्वयमेव विनश्यति शोककलिर्जननस्थितिभङ्गविदो गुणिनः ।
नयनोत्थ[5]जलेन च मध्यधियो मरणेन जघन्यमतेर्भविनः ॥ २१ ॥

733) विनिहन्ति शिरो वपुरार्तमना बहु रोदिति दीनवचः[6]कुशलः ।
कुरुते मरणार्थमनेकविधिं [7]पुरुशोकसमाकुलधीरवरः[8] ॥ २२ ॥

734) बहुरोदनताम्रतराक्षियुगः परिरूक्षशिरोरुहभीमतनुः ।
कुरुते सकलस्य जनस्य शुचा पुरुषो भयमत्र पिशाचसमः ॥ २३ ॥

न भवेत्, तदा अत्र पुरुषस्य शुचा सफला ॥ १७ ॥ अस्तविचारमना यः विगतस्य मृतस्य च अनुशोचनं कुरुते, स. सलिले गते वरणं तनुते, गतस्य भुजगस्य गतिं क्षिपति ॥ १८ ॥ भुवि अस्तमति. यः नरः आत्मगतं श्रम न विचिन्त्य शोचति, स सुरवर्त्म मुष्टिहतं कुरुते, सिकतोत्करपीडनम् आतनुते ॥ १९ ॥ प्रवर. स्वयमेव शुचं त्यजति । मध्यमना च सुवचःश्रवणेन । निखिलाङ्गविनाशकशोकहत. जघन्यजन. मरण समुपैति ॥ २० ॥ जननस्थितिभङ्गविद. गुणिनः शोककलि. स्वयमेव विनश्यति । मध्यधियः नयनोत्थजलेन । जघन्यमते भविन. च मरणेन ॥ २१ ॥ पुरुशोकसमाकुलधी अवर आर्तमना. शिरः वपुः [च] विनिहन्ति, दीनवच. कुशल. बहु रोदिति, मरणार्थम् अनेकविधिं कुरुते ॥ २२ ॥ शुचा बहुरोदनताम्रतराक्षियुगः परिरूक्षशिरोरुहभीमतनु पिशाचसमः पुरुष अत्र सकलस्य जनस्य भयं कुरुते ॥ २३ ॥ गुरुशोकपिशाचवश. मनुजः

अथवा मरण होनेपर शोक करता है वह उस मूर्खके समान है जो कि पानीके निकल जानेपर पुलको बाँधता है अथवा सर्पके चले जानेपर उसकी गतिको (लकीरको) पीटता है ॥ १८ ॥ लोकमें जो दुर्बुद्धि मनुष्य मरणको प्राप्त हुए प्राणीके लिये शोक करता है वह अपने परिश्रमका विचार न करके मानो आकाशको मुट्ठियोंसे आहत करता है अथवा [तेलके निमित्त] बालुके समूहको पीड़ित करता है ॥ १९ ॥ उत्तम मनुष्य शोकका परित्याग स्वयं ही करता है, मध्यम मनुष्य दूसरेके उपदेशसे शोकको छोड़ता है, परन्तु हीन मनुष्य समस्त शरीरको नष्ट (पीड़ित) करनेवाले उस शोकसे आहत होकर मरणको प्राप्त होता है ॥ २० ॥ जो गुणवान् उत्तम मनुष्य उत्पत्ति, स्थिति और व्ययको जानता है उसका शोकरूप सुभट स्वयं ही नष्ट हो जाता है, मध्यम बुद्धि मनुष्यका वह शोक नेत्रोंसे उत्पन्न जलसे—कुछ रुदन करनेके पश्चात्—नष्ट होता है, तथा हीन बुद्धि मनुष्यका शोक मरणसे नष्ट होता है—वह शोकसे पीड़ित होकर मरणको ही प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥ हीन मनुष्य महान् शोकसे व्याकुल होकर मनमें खेदको प्राप्त होता हुआ शिरको आहत करता है, दीन वचनमें कुशल होकर—करुणाजनक विलाप करके बहुत रोता है, तथा मरनेके लिये अनेक प्रकारका प्रयत्न करता है ॥ २२ ॥ जिस मनुष्यके दोनों नेत्र शोकके कारण बहुत रोनेसे अतिशय लाल हो रहे हैं तथा बाल रूखे व शरीर भयानक है वह यहाँ पिशाचके समान दिखता हुआ सब प्राणियोंके लिये भयको उत्पन्न करता है ॥ २३ ॥ मनुष्य महान्

---

१ स गतिः, गतिर, मही । २ स सुमुष्टि° । ३ स प्रचुरः । ४ स °लाङ्घ्रि° । ५ स °नोत्य°, सुजनोघ°, जननोघ°, वलेन for जलेन । ६ स °वचा, °वचाः, °वचो° । ७ स पुर° । ८ स °धीररवः, om. १/४ चरण ।

735) परिधावति रोदिति[1] पूत्कुरुते पतति स्खलति त्यजते[2] वसनम् ।
व्यथते श्लथते लभते[3] न सुखं गुरुशोकपिशाचवशो मनुजः ॥ २४ ॥

736) क्व जयः[4] क्व तपः क्व सुखं क्व शमः क्व यमः क्व दमः क्व समाधिविधिः ।
क्व धनं क्व बलं क्व गृहं क्व गुणो बत शोकवशस्य नरस्य[5] भवेत् ॥ २५ ॥

737) न धृतिर्न मतिर्न [6]गतिर्न रतिर्न यतिर्न नतिर्न नुतिर्न रुचिः ।
पुरुषस्य गतस्य हि शोकवशं व्यपयाति सुखं सकलं सहसा ॥ २६ ॥

738) ददाति यो ऽन्यत्र भवे शरीरिणामनेकधा दुःखमसह्यमायतम् ।
इहैव कृत्वा बहुदुःख[7]पद्धतिं स सेव्यते शोकरिपुः कथं बुधैः ॥ २७ ॥

739) पूर्वोपार्जितपापपाकवशतः शोकः समुत्पद्यते
धर्मात्सर्वसुखाकराज्जिनमतान्नश्यत्ययं तत्त्वतः ।

परिधावति, रोदिति, पूत्कुरुते, पतति, स्खलति, वसनं त्यजते, व्यथते, श्लथते, सुखं न लभते ॥ २४ ॥ शोकवशस्य नरस्य जयः क्व, तपः क्व, सुखं क्व, शमः क्व, यमः क्व, दमः क्व, समाधिविधिः क्व, धनं क्व, बलं क्व, गृहं क्व, गुणः क्व भवेत् बत ॥ २५ ॥ शोकवशं गतस्य पुरुषस्य धृतिः न, मतिः न, गतिः न, रतिः न, यतिः न, नतिः न, नुतिः न, रुचिः न। हि [तस्य] सकलं सुखं सहसा व्यपयाति ॥ २६ ॥ इहैव बहुदुःखपद्धतिं कृत्वा यः अन्यत्र भवे शरीरिणाम् असह्यम् आयतम् अनेकधा दुःखं ददाति सः शोकरिपुः कथं सेव्यते ॥ २७ ॥ शोकः पूर्वोपार्जितपापपाकवशतः समुत्पद्यते । अयं तत्त्वतः सर्वसुखाकरात् जिनमतात् धर्मात् नश्यति । इति विज्ञाय संसारस्थितिवेदिभिः बुधजनैः भवोर्वीरुहः समस्तदुःखसक-

---

शोकरूप पिशाचके अधीन होकर दौड़ता है, रोता है, चिल्लाता है—आक्रन्दन करता है, पड़ता है, इधर-उधर गिरता है, वस्त्रको छोड़ देता है, पीड़ाको प्राप्त होता है और शिथिल पड़ जाता है; इस प्रकारसे उसे जरा भी सुख प्राप्त नहीं होता—वह अतिशय दुखी होता है ॥ २४ ॥ शोकके वशीभूत हुए मनुष्यके जय कहाँ, तप कहाँ, सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, संयम कहाँ, दम कहाँ, ध्यान कहाँ, धन कहाँ, बल कहाँ, गृह कहाँ, और गुण कहाँ हो सकता है ? अर्थात् शोकसे व्याकुल हुए मनुष्यको जय [जप], तप व सुख-शान्ति आदि कभी नहीं प्राप्त होती, यह खेदकी बात है ॥ २५ ॥ जो पुरुष शोकके वशीभूत हुआ है उसको न धैर्य रहता है, न बुद्धि रहती है, न गति रहती है, न प्रेम रहता है, न विश्रान्ति रहती है, न नम्रता रहती है, न स्तुति रहती है और न रुचि रहती है। उसका सब कुछ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥ जो शोकरूप शत्रु इस लोकमें ही प्राणियोंको बहुत दुःखोंकी परिपाटीको करके परभवमें भी अनेक प्रकारके असह्य दीर्घ दुखको देता है उसकी आराधना विद्वान् मनुष्य कैसे करते हैं ? अर्थात् विद्वान् मनुष्योंको इस लोक और परलोकमें भी दुख देनेवाले उस शोकके वशमें होना उचित नहीं है ॥ २७ ॥ शोक पूर्वोपार्जित पाप कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है और यह वास्तवमें जिन देवको अभिमत व समस्त सुखोंकी खानिस्वरूप धर्मसे नष्ट होता है, ऐसा जान करके संसार स्वरूपके ज्ञाता विद्वान् मनुष्य समस्त दुखों रूप बहुत-सी जड़ोंसे सहित व संसाररूप पृथिवीके ऊपर

---

१ स रोदति । २ स त्यजति । ३ स om. लभते । ४ स जपः । ५ स om. नरस्य । ६ स om. न गतिर् । ७ स बहु दुः° ।

विज्ञायेति समस्तदुःखसकलामूलो भवोर्वीरुहः
संसारस्थितिवेदिभिर्बुधजनैः शोकस्त्रिधा त्यज्यते ॥ २८ ॥
इतिशोकनिरूपणा[1]ष्टविंशतिः ॥ २९ ॥

लामूलः शोकः त्रिधा त्यज्यते ॥ २८ ॥

इति शोकनिरूपणाष्टाविंशतिः ॥ २९ ॥

उत्पन्न होनेवाले उस शोकरूप वृक्षका मन, वचन व कायसे परित्याग करते हैं ॥ २८ ॥

इसप्रकार अट्ठाईस श्लोकोंमें शोकका निरूपण हुआ ।

---

१ स निरूपणम् ।

[३०. शौचनिरूपणद्वाविंशतिः]

740) संसारसागरमपारमतीत्य पूतं
मोक्षं यदि [1]व्रजितुमिच्छत मुक्तबाधम्[2] ।
तज्ज्ञानवारिणि[3] विधूतमले मनुष्याः
स्नानं कुरुध्वमपहाय [4]जलाभिषेकम् ॥ १ ॥

741) तीर्थेषु शुध्यति जलैः शतशो ऽपि धौतं
नान्तर्गतं विविधपापमलावलिप्तम् ।
चित्तं विचिन्त्य मनसेति [5]विशुद्धबोधाः
सम्यक्त्वपूतसलिलैः कुरुताभिषेकम् ॥ २ ॥

742) तीर्थाभिषेककरणाभिरतस्य बाह्यो[6]
नश्यत्ययं सकलदेहमलो नरस्य ।
नान्तर्गतं कलिलमित्यवधार्य सो ऽन्त-
श्चारित्रवारिणि निमज्जति [7]शुद्धिहेतोः ॥ ३ ॥

[भो] मनुष्याः अपारं संसारसागरम् अतीत्य यदि पूतं मुक्तबाधं मोक्षं व्रजितुमिच्छत तत् जलाभिषेकम् अपहाय विधूतमले ज्ञानवारिणि स्नानं कुरुध्वम् ॥ १ ॥ अन्तर्गतं विविधपापमलावलिप्तं चित्त तीर्थेषु जलैः शतशः धौतम् अपि न शुध्यति इति मनसा विचिन्त्य [हे] विशुद्धबोधाः सम्यक्त्वपूतसलिलैः अभिषेकं कुरुत ॥ २ ॥ तीर्थाभिषेककरणाभिरतस्य नरस्य अयं बाह्यः सकलदेहमलः नश्यति । अन्तर्गत कलिलं न, इति अवधार्य स शुद्धिहेतो अन्तश्चारित्रवारिणि निमज्जति ॥ ३ ॥ यत् जिनवाक्यतीर्थं कुज्ञानदर्शनचरित्रमलावमुक्तं सज्ज्ञानदर्शनचरित्रजलं क्षमोर्मि सर्वकर्ममलमुक् अस्ति

हे मनुष्यों ! यदि तुम लोग अपार संसाररूप समुद्रको लांघकर निर्बाध व पवित्र मोक्ष जानेकी इच्छा करते हो तो जलसे अभिषेकको छोड़कर निर्मल ज्ञानरूप जलमें स्नान करो। अभिप्राय यह है कि जलमे स्नान करने- से केवल शरीरकी शुद्धि (बाह्य शौच) होती है, न अन्तःकरणकी। अन्तःकरणकी शुद्धि तो सम्यग्ज्ञानके द्वारा होती है। अतएव जो मोक्ष प्राप्तिके निमित्त उस अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहते हैं उन्हें उस सम्यग्ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये ॥ १ ॥ अनेक प्रकारके पापरूप मैलसे लिप्त रहने वाला अन्तर्गत चित्त (अन्तःकरण) गंगा आदि तीर्थोंमें जलसे सैकड़ों बार धोये जाने पर भी शुद्ध नही हो सकता है, इस प्रकार मनसे विचार करके निर्मल सम्यग्ज्ञानके धारक आप लोग सम्यग्दर्शनरूप पवित्र जलसे अभिषेक करें ॥ २ ॥ जो मनुष्य तीर्थमें स्नान करनेमें लवलीन है उसका यह शरीरका समस्त बाहिरी मल तो नष्ट हो जाता है, परन्तु भीतरी पापमल नष्ट नहीं होता है; ऐसा निश्चय करके वह अन्तरंग शुद्धिके निमित्त चारित्ररूप जलमें गोता लगाता है—निर्मल सम्यक्चारित्रको धारण करता है ॥ ३ ॥ जो जिनवचनरूप तीर्थ सम्यग्ज्ञान,

---

१ स व्रजतु°, व्रततु° । २ स °वाधां, °बाधां । ३ स वारिणि । ४ स जलभि° । ५ स विशुध्य° । ६ स वाह्यो । ७ स शुद्ध° ।

743) सज्ज्ञानदर्शन चरित्र[1]जलं क्षमोर्मि
कुज्ञानदर्शनचरित्रमलावमुक्तम् ।
यत्सर्वकर्ममलमुक्ति[2]नवाद
स्नानं विदध्वमिह नास्ति जले शुद्धिः ॥ ४ ॥

744) तीर्थेषु चेत्क्षयमुपैति समस्तपापं
स्नानेन तिष्ठति कथं पुरुषस्य पुण्यम् ।
नैकस्य गन्धमलयोर्धृतयोः[3] शरीरे[4]
दृष्टा[5] स्थितिः सलिलशुद्धिविधौ समाने ॥ ५ ॥

745) तीर्थाभिषेकवशतः सुगतिं जगत्यां
पुण्यैर्विनापि यदि यान्ति नरास्तदेते[6] ।
नानाविधोदकसमुद्भवजन्तुवर्गा[7]
[8]बालत्वचारुमरणान्न[9] कथं व्रजन्ति ॥ ६ ॥

इह स्नानं विदध्वम् । जलेन शुद्धिः न अस्ति ॥ ४ ॥ तीर्थेषु स्नानेन समस्तपापं क्षयम् उपैति चेत् पुरुषस्य पुण्यं कथं तिष्ठति । सलिलशुद्धिविधौ समाने, शरीरे धृतयोः गन्धमलयोः एकस्य स्थितिः न दृष्टा ॥ ५ ॥ जगत्यां नराः यदि पुण्यैः विना अपि तीर्थाभिषेकवशात् सुगतिं यान्ति, तत् एते नानाविधोदकसमुद्भवजन्तुवर्गाः बालत्वचारुमरणात् (सुगतिं) कथं न

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप जलसे परिपूर्ण, क्षमारूप लहरोंसे सहित; मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र रूप मलसे रहित तथा समस्त कर्ममलसे मुक्त है उसमें स्नान करो। कारण कि जलके द्वारा अन्तरंग शुद्धि नहीं हो सकती है ॥ ४ ॥ यदि तीर्थोंमें स्नान करनेसे पुरुषका समस्त पाप नष्ट हो जाता है तो फिर पुण्य कैसे शेष रह सकता है ? उसे भी नष्ट हो जाना चाहिये। कारण यह कि जलसे शुद्धिके विधानके समान होने पर शरीरमें धारण किये गये गन्ध द्रव्य और मल इन दोनोंमे से एक कोई शेष रहा नहीं देखा गया है ॥ ५ ॥ विशेषार्थ—जो लोग यह समझते है कि गंगा आदि तीर्थोंमें स्नान करनेसे मनुष्यका पाप नष्ट हो जाता है और पुण्य वृद्धिगत होता है उनको लक्ष्य करके यहाँ यह बतलाया है कि जलमें स्नान करनेसे जिस-प्रकार शरीरगत मलके साथ ही उसमें लगाया गया सुगन्धित लेपन आदि भी नष्ट हो जाता है उसीप्रकार तीर्थमें स्नान करनेसे पापके साथ ही पुण्य भी धुल जाना चाहिये। कारण कि उन दोनोके शरीरमें स्थित होने पर उनमेंसे एक (पाप) का विनाश और दूसरे (पुण्य) का शेष रह जाना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि तीर्थ स्नानसे बाह्य शारीरिक मल ही दूर किया जा सकता है, न कि अभ्यन्तर पापमल। अत-एव उसको दूर करनेके लिये समीचीन रत्नत्रयको धारण करना चाहिये ॥५॥ संसारमे पुण्यके बिना भी यदि केवल तीर्थमें किये गये स्नानके प्रभावसे ही मनुष्य सुगतिको प्राप्त होते हैं तो फिर ये जलमें उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके प्राणिसमूह बाल्यावस्थासे मरणपर्यन्त जलमें ही स्थिति रहनेसे क्यों नहीं सुगतिमें जाते हैं ? उन्हे भी सुगतिमें जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है, अतएव निश्चित है कि सुगतिका कारण प्राणीका पूर्वोपार्जित पुण्य है, न कि तीर्थस्नान ॥ ६ ॥ जो शरीर वीर्य व रजसे उत्पन्न हुआ है, दुर्गन्धसे व्याप्त है,

---

१ स °चारित्रजल । २ स °मुक्तिन° । ३ स °च्छूंतयो, °र्द्धतयोः, °र्धुतयोः । ४ स शरीरं । ५ स दृष्टवा [:] । ६ स °स्तदेतो, °स्तदैते, °स्तदेवः । ७ स °वर्गा । ८ स बालत्व°, बांस°, बालत्ववास° । ९ स मरणोन्न ।

746) यच्छुक्रशोणितसमुत्थमनिष्टगन्धं
नानाविधकृमिकुलाकुलितं समन्तात् ।
व्याध्यादिदोषमलसद्म विनिन्दनीयं
तद्वारितः कथमिहच्छति शुद्धि[1]मङ्गम् ॥ ७ ॥

747) गर्भे ऽशुचौ कृमिकुलैर्निचिते शरीरं[2]
यद्वर्धितं मलरसेन नवेह मासान् ।
वर्चोगृहे कृमिरिवातिमलावलिप्ते[3]
शुद्धिः कथं भवति तस्य जलप्लुतस्य ॥ ८ ॥

748) निन्द्येन वागविषयेण विनिःसृतस्य
न्यूनोन्नतेन[4] कुथितादिभृतस्य गर्भे ।
मासान्नवाशुचिगृहे वपुषः स्थितस्य
शुद्धिः[5] प्लुतस्य न जलैः शतशो ऽपि सर्वैः ॥ ९ ॥

749) यन्निर्मितं कुथिततः कुथितेन पूर्णं
स्रोत्रैः[6] सदा क्वथितमेव[7] विमुञ्चते ऽङ्गम् ।
प्रक्षाल्यमानमपि मुञ्चति रोमकूपैः
प्रस्वेदवारि कथमस्य जलेन शुद्धिः ॥ १० ॥

व्रजन्ति ॥ ६ ॥ यत् शुक्रशोणितसमुत्थमनिष्टगन्धं समन्तात् नानाविधकृमिकुलाकलित व्याध्यादिदोषमलसद्म विनिन्दनीयं तत् अङ्गम् इह वारित कथ शुद्धिम् ऋच्छति ॥ ७ ॥ अतिमलावलिप्ते वर्चोगृहे कृमि इव यत् शरीर कृमिकुलै निचिते अशुचौ गर्भे इह मलरसेन नव मासान् वर्धितं जलप्लुतस्य तस्य कथं शुद्धि भवति ॥ ८ ॥ अशुचिगृहे गर्भे नव मासान् स्थितस्य कुथितादिभृतस्य न्यूनोन्नतेन वागविषयेण निन्द्येन विनि सृतस्य सर्वै. जलै शतश अपि प्लुतस्य वपुषः शुद्धिः न भवति ॥ ९ ॥ यत् अङ्गं कुथितत निर्मित कुथितेन पूर्णं सदा स्रोत्रै क्वथितम् एव विमुञ्चते। प्रक्षाल्यमानम् अपि

अनेक प्रकारके लट आदि क्षुद्र कीड़ोंसे सर्वतः परिपूर्ण है, व्याधि आदि दोषो एव मलका स्थान है, तथा निन्दनीय है; वह यहाँ जलसे कैसे शुद्धिको प्राप्त हो सकता है ? नही हो सकता है ॥ ७ ॥ विशेषार्थ--अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी वस्त्रादिमे यदि काला आदि धब्बा पड जाता है तो वह जल व साबुन आदिसे धो डालनेसे नष्ट हो जाता है, परन्तु जो कोयला स्वभावसे काला है वह जलमें रगड़-रगड़ कर धोये जानेपर भी कभी उस कालिमासे रहित हो सकता है क्या। ठीक इसी प्रकारसे जो शरीर स्वभावतः मलस्वरूप है वह गंगास्नानादिसे कभी निर्मल नही हो सकता है, उससे केवल उसके ऊपरका ही मल दूर हो सकता है। अतएव उसकी शुद्धिके लिये निर्मल सम्यग्दर्शनादिको धारण करना चाहिये ॥७॥ जिस प्रकार अतिशय मलसे परिपूर्ण पुरीषालय (पाखाना)मे क्रीड़ा वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार प्राणीका जो शरीर कीड़ोंके समूहसे व्याप्त और मलसे परिपूर्ण अपवित्र माताके गर्भमें नौ मास तक मलरससे वृद्धिको प्राप्त हुआ है उसकी भला जलमें स्नान करनेसे कैसे शुद्धि हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥ ८ ॥ जो शरीर अपवित्र मल-मूत्रादिके गृहस्वरूप गर्भमें नौ महीने तक स्थित रहकर दुर्गन्धित पदार्थोंसे पुष्ट होता हुआ उस निन्द्य योनिमार्गसे बाहिर निकलता है जो कि नीचा-ऊँचा व वचनके अगोचर है, उसकी शुद्धि जलोंसे सैकड़ोंवार भी धोनेपर नही हो सकती है ॥ ९ ॥ जो शरीर दुर्गन्धयुक्त सड़े-गले पदार्थोंसे रचा गया है, उन्हीं दुर्गन्धित वस्तुओंसे परिपूर्ण है, निरन्तर

१ स सुद्ध°, शुद्ध° । २ स शरीरे । ३ स °लिप्तो । ४ स न्यूनान्मतेन, न्यूनान्मृतेन, न्यूनात्मतेन । ५ स शुद्धि । ६ स श्रोत्रैः । ७ स कुथिसमेव, कुथितमेव ।

750) दुग्धेन[1] शुध्यति मषीवटिका यथा नो
दुग्धं[2] तु याति[3] मलिन[4]त्वमिति स्वरूपम् ।
नाङ्गं[5] विशुध्यति तथा सलिलेन धौतं
पानीयमेति तु[6] मलीमसतां समस्तम्[7] ॥ ११ ॥

751) आकाशतः पतितमेत्य नदादिमध्यं
तत्रापि धावनसमुत्थमलावलिप्तम् ।
नानाविधावनिगताशुचिपूर्णमर्णो
यत्तेन शुद्धिमुपयाति कथं शरीरम् ॥ १२ ॥

752) माल्या[8]म्बराभरणभोजनमानिनीनां
लोकातिशायिकमनीयगुणान्वितानाम् ।
हानिं गुणा[9] झटिति यान्ति यमाश्रितानां
देहस्य तस्य सलिलेन कथं विशुद्धिः ॥ १३ ॥

753) जल्पत्विन्द्रिया[10]लमिदमत्र जलेन शौचं
केनापि दुष्टमतिना कथितं जनानाम् ।
यद्देहशुद्धिमपि कर्तुमलं जलं नो
तत्पापकर्म विनिहन्ति कथं हि सन्तः[11] ॥ १४ ॥

रोमकूपैः प्रस्वेदवारि मुञ्चति । अस्य जलेन शुद्धिः कथं स्यात् ॥ १० ॥ यथा मषीवटिका दुग्धेन नो शुध्यति तु दुग्धं मलिनत्वं याति । तथा सलिलेन धौतम् अङ्गं न विशुध्यति । तु समस्त पानीयं मलीमसताम् एति; इति स्वरूपम् ॥ ११ ॥ यत् अर्णः आकाशतः पतितं नानाविधावनिगताशुचिपूर्णं नदादिमध्यम् एत्य तत्रापि धावनसमुत्थमलावलिप्तं भवति तेन शरीरं कथं शुद्धिम् उपयाति ॥ १२ ॥ यम् आश्रितानां लोकातिशायिकमनीयगुणान्वितानां माल्याम्बराभरणभोजनभामिनीनां गुणाः झटिति हानिं यान्ति तस्य देहस्य सलिलेन कथं विशुद्धिः स्यात् ॥ १३ ॥ अत्र केनापि दुष्टमतिना जनानां जलेन शौचं

नौ स्रोतोंसे दुर्गन्धित मलको ही छोड़ता है, तथा जो धोया जा करके भी रोमछिद्रोंसे पसीनाके जलको बाहिर निकालता है; इस शरीरकी शुद्धि भला जलसे कैसे हो सकती है ? नही हो सकती है ॥ १० ॥ जिस प्रकार दूधसे स्याहीकी वटिका (गोली) तो शुद्ध नहीं होती है, किन्तु वह दूध मलिन हो जाता है; उसी प्रकार पानीसे धोनेपर शरीर तो शुद्ध नहीं होता है, किन्तु वह समस्त पानी ही गंदला हो जाता है। यह वस्तुस्वभाव है ॥ ११ ॥ जो जल आकाशसे गिरकर पृथिवीके ऊपर स्थित अनेक प्रकारकी मलिन वस्तुओंसे पूर्ण होता हुआ नदियोंके मध्यमें पहुँचता है और फिर वहाँपर वेगसे बहनेके कारण उत्पन्न हुए मलसे संयुक्त होता है उससे यह शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥ १२ ॥ जिस शरीरके आश्रित होकर अलौकिक व रमणीय गुणोंसे संयुक्त माला, वस्त्र, आभूषण, भोजन और स्त्रीरूप वस्तुओंके गुण शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं उस शरीरकी शुद्धि भला पानीसे कैसे हो सकती है ? नही हो सकती है ॥ १३ ॥ यहाँ कोई दुर्बुद्धि मनुष्य जो प्राणियोंकी जलसे शुद्धि बतलाता है, यह कोरा इन्द्रजाल है—इन्द्रजालके समान भ्रमपूर्ण है। कारण यह कि जो शरीरकी शुद्धिके भी करनेमें समर्थ नहीं है, हे सज्जनों ! वह भला पाप कर्मको कैसे नष्ट कर सकता है ?

---

१ स दुःखेन । २ स दुःखं । ३ स आतु for याति, यातु । ४ स मलिन° । ५ स नाग्नं । ६ स नु for तु । ७ स समस्तां । ८ स माला° । ९ स गुणाज्झटिति । १० स वरिन्द्रियाल°, जल्पन्त्विन्द्रियाल° । ११ स om. verse 14 ।

754) मेरूपमान[1]मधुपव्रजसेवितान्तं[2]
चेज्जायते वियति कञ्जमनन्तपत्रम् ।
कायस्य जातु जलतो मलपूरितस्य
शुद्धिस्तदा भवति निन्द्यमलोद्भवस्य ॥ १५ ॥

755) किं भाषितेन बहुना न जलेन शुद्धि-
र्जन्मान्तरेण [3]भवतीति विचिन्त्य सन्तः ।
त्रेधा विमुच्य जलधौतकृताभिमानं
कुर्वन्तु बोधसलिलेन शुचित्वमत्र ॥ १६ ॥

756) दुष्टाष्टकर्ममलशुद्धिविधौ समर्थे
निःशेषलोकभवतापविघातदक्षे ।
सज्ज्ञानदर्शनचरित्रजले विशाले
शौचं विदध्वमपविध्य[4] जलाभिषेकम् ॥ १७ ॥

757) निःशेष[5]पापमलबाधनदक्षमर्च्यं
ज्ञानोदकं विनयशीलतटद्वयाढ्यम् ।
चारित्रवीचिनिचयं[6] मुदितामलत्वं
मिथ्यात्वमीनविकलं करुणादिगाधम्[7] ॥ १८ ॥

कथितम् । इद जन्त्विन्द्रियालम् । हे सन्तः; यत् जल देहशुद्धिमपि कर्तुं नो अलं, तत्पापकर्म कथं विनिहन्ति ॥ १४ ॥ वियति मेरूपमानमधुपव्रजसेवितान्तम् अनन्तपत्रं कञ्जं जायते चेत् तदा मलपरितस्य निन्द्यमलोद्भवस्य कायस्य जलतो जातु शुद्धिः भवति ॥ १५ ॥ बहुना भाषितेन किम् । जलेन जन्मान्तरेण शुद्धि न भवति इति विचिन्त्य सन्त त्रेधा जलधौतकृताभिमानं विमुच्य अत्र बोधसलिलेन शुचित्वं कुर्वन्तु ॥ १६ ॥ जलाभिषेकम् अपविध्य दुष्टाष्टकर्ममलशुद्धिविधौ समर्थे निःशेषलोकभवतापविघातदक्षे विशाले सज्ज्ञानदर्शनचरित्रजले शौचं विदध्वम् ॥ १७ ॥ निःशेषपापमलबाधनदक्षम् अर्च्यं विनय-

---

नहीं कर सकता है ॥ १४ ॥ यदि आकाशमे अनन्त पत्रोंसे संयुक्त और मेरुके बराबर भ्रमरोंके समूहसे सेवित कमल उत्पन्न हो सकता है तो कदाचित् निन्द्य मलसे उत्पन्न और उस मलसे परिपूर्ण शरीरकी शुद्धि जलसे हो सकती है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार आकाशमें कमलका उत्पन्न होना असम्भव है उसी प्रकार जलसे शरीरका शुद्ध होना भी असम्भव है ॥ १५ ॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? जलसे शरीरकी शुद्धि जन्मान्तरमें भी नहीं हो सकती है, ऐसा विचार करके सज्जन मनुष्य यहां मन, वचन और कायसे जलस्नानसे होनेवाली शुद्धिके अभिमानको छोड़कर ज्ञानरूप जलसे आत्मशुद्धिको करें ॥ १६ ॥ जो विस्तृत सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप जल दुष्ट आठ कर्मरूप मलकी शुद्धिके करनेमें समर्थ और समस्त प्राणियोंके संसाररूप संतापके नष्ट करनेमें निपुण है उसमें शुद्धिको करो और जलसे अभिषेकको छोड़ो ॥ १७ ॥ जो जिनवचन (जिनागम) रूप तीर्थ समस्त पापरूप मलको बाधा पहुँचानेमें—उसे नष्ट करनेमें—समर्थ है, पूजाके योग्य है, ज्ञानरूप जलसे परिपूर्ण है, विनय व शील रूप दो तटोंसे सहित है, चारित्ररूप लहरोंसे व्याप्त है, हर्षरूप

---

१ स °पमानं° । २ स °सेवितांते । ३ स भवभीति वि° । ४ स °मपि विध्य । ५ स निशोष° । ६ स °निचयंमु° । ७ स करुणावगांधं, करणा°, करुणाद्य° ।

758) सम्यक्त्वशीलमनघं जिनवाक्यतीर्थं
यस्तत्र चारुधिषणाः कुरुताभिषेकम् ।
तीर्थाभिषेकवशतो मनसः कदाचित्
नान्तर्गतस्य हि मनागपि शुद्धिबुद्धिः[1] ॥ १९ ॥

759) चित्तं विशुध्यति जलेन मलावलिप्तं
यो भाषते ऽनृतपरो न परो ऽस्ति[2] तस्मात् ।
बाह्यं मलं तनुगतं व्यपहन्ति नीरं
गन्धं शुभेतरमपीति वदन्ति सन्तः ॥ २० ॥[3]

760) वार्यग्निभस्म[4]रविमन्त्रधरादिभेदा-
च्छुद्धिं वदन्ति बहुधा भुवि किं तु पुंसाम् ।
सज्ज्ञान[5]शीलशमसंयमशुद्धितो ऽन्या
नो पापलेपमपहन्तु[6]मलं विशुद्धिः ॥ २१ ॥

शीलतटद्वयाढ्यं चारित्रवीचिनिचयं मुदितामलत्वं मिथ्यात्वमीनविकलं करुणादिगाधं ज्ञानोदकम् अनघं सम्यक्त्वशीलं यत् जिनवाक्यतीर्थं यत्र चारुधिषणाः अभिषेकं कुरुत । हि तीर्थाभिषेकवशतः अन्तर्गतस्य मनसः कदाचित् मनाक् अपि शुद्धि-बुद्धिः न भवति ॥ १८–१९ ॥ जलेन मलावलिप्तं चित्तं विशुध्यति इति यो भाषते, तस्मात् परः अनृतपरः न अस्ति । नीरं तनुगतं बाह्यं मलं शुभेतरं गन्धम् अपि अपहन्ति इति सन्तः वदन्ति ॥ २० ॥ भुवि वार्यग्निभस्मरविमन्त्रधरादिभेदात् बहुधा शुद्धिं वदन्ति । किंतु सज्ज्ञानशीलशमसंयमशुद्धितः अन्या विशुद्धिः पापलेपम् अपहन्तुं नो अलम् ॥ २१ ॥ यः जिनेन्द्र-

---

निर्मलतासे संयुक्त है, मिथ्यात्वरूप मछलियोंसे रहित है, दया आदिरूप थाहसे सहित है, सम्यक्त्व व शीलसे सुशोभित है, तथा पापके संसर्गसे रहित है; हे निर्मलबुद्धि सज्जनों ! उस जिनवचनरूप तीर्थमें आप स्नान करें । कारण यह कि भीतर स्थित मनकी शुद्धि गंगादि तीर्थोंमें स्नानके वशसे कभी व किंचित् भी नहीं हो सकती है ॥ १८-१९ ॥ मलसे लिप्त मन जलसे शुद्ध होता है, ऐसा जो कहता है उसके समान असत्यभाषी और दूसरा नहीं है । कारण यह कि जल शरीरमें संलग्न बाह्य मलको तथा तद्गत सुगन्ध और दुर्गन्धको भी नष्ट करता है, ऐसा सज्जन मनुष्य कहते हैं । अभिप्राय यह है कि चूँकि तत्वज्ञ पुरुष यह बतलाते हैं कि जलमें स्नान करनेसे शरीरगत बाह्य मल व सुगन्ध आदि ही नष्ट होती है, न कि अन्तर्गत पापमल; अतएव जो जन यह कहते हैं कि जलसे मनकी शुद्धि होती है, उनका वह कथन सर्वथा असत्य है ॥ २० ॥ लोकमें जल, अग्नि, भस्म, सूर्यकिरण, मंत्र और पृथिवी (मिट्टी) आदिके भेदसे शुद्धि अनेक प्रकारकी बतलायी जाती है । परन्तु सम्यग्ज्ञान, शील, शम और संयमरूप शुद्धिको छोड़कर अन्य कोई भी शुद्धि मनुष्योंके पापरूप मलको नष्ट नहीं कर सकती है ॥ २१ ॥ जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्के मुखसे निकले हुए वचन (जिनागम) रूप

---

१ स शुद्ध°, सिद्ध° २ स °परो ऽस्ति जनो न, यस्मात् । ३ स om. verse 20 3/4 चरण । ४ स °भस्मि° । ५ स सुज्ञान° । ६ स °हन्तु मलं ।

761) रत्नत्रयामलजलेन करोति शुद्धिं[1]
श्रित्वा[2] जिनेन्द्रमुखनिर्गतवाक्यतीर्थम् ।
यो ऽन्तर्गतं निखिलकर्ममलं[3] दुरन्तं
प्रक्षाल्य मोक्षसुखमप्रतिमं स[4] याति ॥ २२ ॥

इति शौचनिरूपण[5]द्वाविंशतिः ॥ ३० ॥

मुखनिर्गतवाक्यतीर्थं श्रित्वा रत्नत्रयामलजलेन शुद्धिं करोति, सः अन्तर्गतं दुरन्तं निखिलकर्ममलं प्रक्षाल्य अप्रतिमं मोक्षसुखं याति ॥ २२ ॥

इति शौचनिरूपणद्वाविंशतिः ॥ ३० ॥

तीर्थका आश्रय ले करके रत्नत्रयरूप निर्मल जलसे शुद्धिको करता है वह दुर्विनाश समस्त कर्मरूप अभ्यन्तर मलको धो करके अनुपम मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

इसप्रकार बाईस श्लोकोंमें शौचका निरूपण हुआ ।

●

---

१ स om. शुद्धिं । २ स श्रुत्या, श्रुत्वा । ३ स °कलं । ४ स प्र for स । ५ स निरूपणम् ॥

[२१. श्रावकधर्मकथनसप्तदशोत्तरं शतम्]

762) श्रीमज्जिनेश्वरं नत्वा सुरासुरनमस्कृतम् ।
श्रुतानुसारतो वक्ष्ये व्रतानि गृहमेधिनाम् ॥ १ ॥

763) पञ्चधाणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमुदीरितम् ।
शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यादिति द्वादशधा स्मृतम् ॥ २ ॥

764) स्यु[1]र्द्वीन्द्रियादिभेदेन चतुर्धा [2]त्रसकायका. ।
विज्ञाय रक्षणं तेषामहिंसाणुव्रतं मतम् ॥ ३ ॥

765) मद्यमांसमधुक्षीरक्षोणिरुहफलाशनम् ।
वर्जनीयं सदा सद्भिस्त्रसरक्षणतत्परैः ॥ ४ ॥

766) हिंस्यन्ते[3] प्राणिनः सूक्ष्मा[4] [5]यत्राशुच्यपि[6] भक्ष्यते ।
तद्रात्रिभोजनं सन्तो न कुर्वन्ति कृपा[7]पराः ॥ ५ ॥

767) भेषजातिथिमन्त्रादिनिमित्तेनापि नाङ्गिनः ।
प्रथमाणुव्रता[8]सक्तैर्हिंसनीयाः कदाचन ॥ ६ ॥

768) यतो निःशेषतो हन्ति स्थावरान् परिणामतः ।
त्रसान् पालयते[9] ज्ञेयो विरताविरतस्ततः ॥ ७ ॥

सुरासुरनमस्कृत श्रीमज्जिनेश्वरं नत्वा श्रुतानुसारतः गृहमेधिना व्रतानि वक्ष्ये ॥ १ ॥ अणुव्रतं पञ्चधा, गुणव्रतं त्रेधा उदीरितम् । शिक्षाव्रतं चतुर्धां स्यात् । इति द्वादशधा व्रत स्मृतम् ॥ २ ॥ त्रसकायका द्वीन्द्रियादिभेदेन चतुर्धा स्युः । विज्ञाय तेषां रक्षणम् अहिंसाणुव्रतं मतम् ॥ ३ ॥ त्रसरक्षणतत्परै मद्यमासमधुक्षीरक्षोणीरुहफलाशनं सदा वर्जनीयम् ॥ ४ ॥ यत्र सूक्ष्माः प्राणिनः हिंस्यन्ते । यत्र अशुचि अपि भक्ष्यते । तत् कृपापराः सन्त. रात्रिभोजनं न कुर्वन्ति ॥ ५ ॥ प्रथमाणु-व्रतासक्तैः भेषजातिथिमन्त्रादिनिमित्तेन अपि अङ्गिनः कदाचन न हिंसनीयाः ॥ ६ ॥ यतः निःशेषत. स्थावरान् हन्ति परि-

---

देवों और असुरोंसे नमस्कृत श्रीमान् जिनेन्द्र देवको नमस्कार करके आगमके अनुसार गृहस्थोंके व्रतोंको (देश चारित्रको) कहता हूँ ॥ १ ॥ पाँच प्रकारका अणुव्रत, तीन प्रकारका गुणव्रत और चार प्रकारका शिक्षाव्रत; इसप्रकार देशचारित्र बारह प्रकारका माना गया है ॥ २ ॥ जो त्रसकायिक जीव दो इन्द्रिय आदिके भेदसे चार प्रकारके हैं उनको जान करके रक्षण करना, इसे अहिंसाणुव्रत माना गया है ॥ ३ ॥ जो सद्गृहस्थ त्रस जीवोंके रक्षणमें उद्यत हैं उन्हें निरन्तर मद्य, माँस, मधु और दूध युक्त वृक्षोंके फलोके खानेका परित्याग करना चाहिये ॥ ४ ॥ जिस रात्रि भोजनमें सूक्ष्म जीवोंका घात होता है तथा अपवित्र वस्तु भी खानेमें आ जाती है उसको दयालु सज्जन पुरुष नहीं करते हैं ॥ ५ ॥ जो श्रावक प्रथम अहिंसाणुव्रतके पालनेमें आसक्त हैं उन्हें कभी औषध, अतिथि और मंत्र आदिके निमित्तसे भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिये ॥ ६ ॥ श्रावक चूंकि स्थावर जीवोंका घात तो पूर्णरूपेण करता है, परन्तु वह भावसे त्रस जीवोंका रक्षण करता है; इसीलिये

---

१ स स्यः द्वि°, द्रियाणिभेदेयु । २ स शुद्धीन्द्रियाणि भेदेषु चतुर्धात्र सकायकाः । ३ स हिंस्यते, हिंसंते । ४ स सुक्ष्म्या, सूक्ष्मो । ५ स पत्राशु°, यत्रासु° । ६ स °च्यभिमक्ष्यति, °भक्ष्यते, च्यभिभक्षचि । ७ स दयापराः । ८ स °शक्तै° । ९ स पालयतो, पलायते ।

769) क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादिकारणैः ।
असत्यस्य परित्यागः सत्याणुव्रतमुच्यते ॥ ८ ॥
770) प्रवर्तन्ते यतो दोषा हिंसारम्भभयादयः[1] ।
सत्यमपि न वक्तव्यं तद्वचः[2] सत्यशालिभिः ॥ ९ ॥
771) हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचोमुचः[3] ।
द्वितीयाणुव्रतं पूतं देहिनो लभते स्थितिम् ॥ १० ॥
772) यद्वदन्ति शठा धर्मं यन्म्लेच्छेष्वपि निन्दितम् ।
वर्जनीयं त्रिधा वाक्यमसत्यं तद्धितोद्यतैः ॥ ११ ॥
773) ग्रामादौ पतितस्याल्पप्रभृतेः परवस्तुनः ।
आदानं न त्रिधा यस्य तृतीयं तदणुव्रतम्[4] ॥ १२ ॥
774) इह दुःखं नृपादिभ्यः परत्र नरकादितः ।
प्राप्नोति स्तेयतस्तेन स्तेयं त्याज्यं सदा बुधैः ॥ १३ ॥

णासतः त्रसान् पालयते । तत विरताविरतः ज्ञेयः ॥ ७ ॥ क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादिकारणैः असत्यस्य परित्याग. सत्याणुव्रतम् उच्यते ॥ ८ ॥ यतः हिंसारम्भभयादयः दोषाः प्रवर्तन्ते, तद् वचः सत्यम् अपि सत्यशालिभिः न वक्तव्यम् ॥ ९ ॥ हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचोमुच. देहिनः पूतं द्वितीयाणुव्रतं स्थितिं लभते ॥ १० ॥ शठाः यत् धर्मं वदन्ति, यत् म्लेच्छेषु अपि निन्दित तत् असत्यं वाक्य हितोद्यतैः त्रिधा वर्जनीयम् ॥ ११ ॥ यस्य ग्रामादौ पतितस्य अल्पप्रभृते परवस्तुनः त्रिधा न आदानं तत् तृतीयम् अणुव्रतम् ॥ १२ ॥ इह स्तेयतः नृपादिभ्य दुःखं प्राप्नोति, परत्र नरकादितः दुःखं प्राप्नोति । तेन

उसे विरताविरत जानना चाहिये ॥ ७ ॥ विशेषार्थ—देशव्रती श्रावक चूंकि आरम्भ व परिग्रहमें रत होता है अतएव वह स्थावरहिंसा परित्याग नहीं कर सकता है। किन्तु वह संकल्प पूर्वक त्रसहिंसाका त्यागी अवश्य होता है। साथ ही वह आरम्भादिमें होनेवाली त्रसहिंसाके विषयमे भी अत्यधिक सावधान रहता है—यत्नाचार पूर्वक ही आरम्भादिमे प्रवृत्ति करता है इसीप्रकार वह असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहका भी स्थूलरूपसे परित्याग करता है। वह चूंकि उक्त पापोंका स्थूल रूपसे ही त्याग करता है, पूर्णतया उनका त्याग नहीं करता है; इसीलिये उसे विरताविरत या देशव्रती कहा जाता है ॥ ७ ॥ क्रोध, लोभ, मद, द्वेष, राग और मोहके कारणसे असत्यभाषणका परित्याग करना; इसे सत्याणुव्रत कहा जाना है ॥ ८ ॥ जिस वचनसे हिंसा, आरम्भ और भय आदि दोषोंकी प्रवृत्ति होती है सत्याणुव्रती श्रावकोंको उस सत्य वचनको भी नही बोलना चाहिये ॥ ९ ॥ जो मनुष्य हास्यपूर्ण, कठोर, पिशुनता (चगलखोरी या परनिन्दा) से युक्त और निर्दयतापूर्ण वचनको छोड देता है उसका निर्मल सत्याणुव्रत स्थिरताको प्राप्त होता है ॥ १० ॥ मूर्ख मनुष्य जिस पशुहिंसादि कर्मको धर्म बतलाते हैं तथा जिसकी म्लेच्छ जन भी निन्दा करते हैं उसको सूचित करनेवाले असत्य वाक्यका हितैषी जनको मन, वचन और कायसे परित्याग करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो श्रावक ग्राम आदिमें गिरी पड़ी हुई दूसरेकी अल्प आदि (थोड़ी अथवा बहुत) वस्तुको ग्रहण नही करता है उसके वह तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है ॥ १२ ॥ प्राणी चोरीके कारण चूंकि इस लोकमे तो राजा आदिसे तथा परलोकमें नरकादि दुर्गतिकी प्राप्तिसे दुखको प्राप्त होता है इसीलिये विद्वान् जनोंको निरन्तर चोरीका परित्याग करना चाहिये ॥ १३ ॥ चूंकि प्राणी धनके सहारे बन्धु जनोंके साथ जीवित रहते हैं इसीलिये उस धनके

---

१ स °भया दयाः । २ स तद्वकशत्प° । ३ स °मुक्तः, °मुखः, °मुच । ४ स om. verse 12 th. ।

775) जीवन्ति प्राणिनो येन द्रव्यतः सह बन्धुभिः।
जीवितव्यं ततस्तेषां हरेत्तस्यापहारतः ॥ १३ ॥

776) ये [1]ऽप्यहिंसादयो धर्मास्ते ऽपि नश्यन्ति चौर्यतः[2]।
मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः ॥ १५ ॥

777) अर्था बहिश्चराः प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथा।
परद्रव्यं ततः सन्तः पश्यन्ति सदृशं मृदा ॥ १६ ॥

778) मातृस्वसृसुतातुल्या निरीक्ष्य[3] परयोषितः।
स्वकलत्रेण यस्तोषश्चतुर्थं तदणुव्रतम् ॥ १७ ॥

779) यार्गला स्वर्गमार्गस्य सरणिः[4] श्वभ्रसद्मनि।
कृष्णाहिदृष्टिवद् द्रोहा[5] दुःस्पर्शाग्निशिखेव या ॥ १८ ॥

780) दुःखानां निधिरन्यस्त्री सुखानां प्रलयानलः।
व्याधिवद्दुःखवत्त्याज्या दूरतः सा नरोत्तमैः ॥ १९ ॥

781) स्वभर्तारं परित्यज्य या परं याति निस्त्रपा।
विश्वासं श्रयते तस्यां कथमन्यः[6] स्वयोषिति ॥ २० ॥

बुधैः स्तेयं सदा त्याज्यम् ॥ १३ ॥ येन द्रव्यतः प्राणिनः बन्धुभिः सह जीवन्ति, ततः तस्य अपहारतः तेषां जीवितव्यं हरेत् ॥ १४ ॥ ये अहिंसादयः अपि धर्माः [सन्ति] ते चौर्यतः नश्यन्ति इति मत्वा विचक्षणैः परद्रव्यं त्रिधा न ग्राह्यम् ॥ १५ ॥ येन अर्थाः प्राणिनां सर्वथा बहिश्चरा प्राणाः, ततः सन्तः परद्रव्यं मृदा सदृशं पश्यन्ति ॥ १६ ॥ परयोषितः मातृस्वसृसुतातुल्याः निरीक्ष्य स्वकलत्रेण यः तोषः तत् चतुर्थम् अणुव्रतम् ॥ १७ ॥ या अन्यस्त्री स्वर्गमार्गस्य अर्गला, श्वभ्रसद्मनि सरणिः, कृष्णाहिवद् द्रोहा, या अग्निशिखा इव दुःस्पर्शा, दुःखानां निधिः, सुखानां प्रलयानलः, सा नरोत्तमैः व्याधिवत् दुःखवत् दूरतः त्याज्या ॥ १८-१९ ॥ निस्त्रपा या स्वभर्तारं परित्यज्य परं याति, अन्यः तस्याः स्वयोषिति (इव)

अपहरणसे मनुष्य उन सबके जीवनका भी अपहरण करता है। अभिप्राय यह कि चोरी करनेवाला मनुष्य केवल चोरी जन्य पापको ही नहीं करता है, किन्तु इसके साथ ही वह हिंसाजन्य पापको भी करता है। कारण कि धनके नष्ट होने पर प्राणी अतिशय संकटमे पड़कर प्राणो तकका त्याग कर देते हैं और इस सब पापका कारण उक्त धनका अपहरण करनेवाला ही होता है ॥ १४ ॥ जो भी हिंसा आदि धर्म हैं वे भी चोरीसे नष्ट हो जाते हैं, यह समझ करके विद्वान् मनुष्योको मन, वचन और कायसे दूसरेके धनको नही ग्रहण करना चाहिये ॥ १५ ॥ अर्थ (सुवर्ण, चाँदी, धान्य व पशु आदि) चूँकि प्राणियोंके बाहर संचार करनेवाले सर्वथा प्राण जैसे ही होते हैं इसीलिये सत्पुरुष दूसरोके धनको मिट्टीके समान समझते हैं—वे कभी दूसरोके धनका अपहरण नही करते हैं ॥ १६ ॥ दूसरे मनुष्योंकी स्त्रियोंको माता, बहन और पुत्रीके समान मानकर जो केवल अपनी पत्नीके साथ सन्तोष रखा जाता है इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत नामका चौथा अणुव्रत जानना चाहिये ॥ १७ ॥ जो परस्त्री स्वर्ग मार्गकी अर्गला (बेंड़ा) के समान है—स्वर्गप्राप्तिमें बाधक है, नरकरूप घरका मार्ग है—नरकमें पहुँचानी वाली है, काले सर्पकी दृष्टिके समान घातक है, अग्निकी ज्वालाके समान स्पर्श करनेमें दुख-प्रद है, दुःखोका स्थान है, तथा जो सुखोंको नष्ट करनेके लिये प्रलय कालीन अग्निके सदृश है; उस परस्त्रीका श्रेष्ठ पुरुषोंको व्याधिके समान दुखदायक जानकर दूरसे ही परित्याग करना चाहिये ॥ १८-१९ ॥ जो परस्त्री

१ स येप्यहिं° । २ स शौर्यत । ३ स निरीक्ष । ४ स शरणिः, सेरणिः । ५ स °द्द्रोही । ६ स कामिन्यां क for कथमन्यः ।

782) किं सुखं लभते मर्त्यः सेवमानः परस्त्रियम् ।
केवलं कर्म बध्नाति श्वभ्रभूम्यादिकारणम् ॥ २१ ॥

783) वर्चःसदनवद्य[1]स्या जल्पने जघने तथा ।
निक्षिपन्ति मलं निन्द्यं[2] निन्दनीया जना. सदा ॥ २२ ॥

784) मद्यमांसादिसक्तस्य या विधाय विडम्बनम् ।
नीचस्यापि मुखं न्यस्ते दीना द्रव्यस्य लोभतः ॥ २३ ॥

785) तां वेश्यां सेवमानस्य मन्मथाकुलचेतसः ।
तन्मुखं चुम्बतः पुंसः कथं तस्याप्यणुव्रतम्[3] ॥ २४ ॥

786) ततो ऽसौ पण्यरमणी चतुर्थव्रतपालिना ।
यावज्जीवं परित्याज्या [4]जातनिर्घृणमानसा[5] ॥ २५ ॥

787) सद्मस्वर्णधराधान्य[6]धेनुभृत्यादिवस्तुनः ।
या[7] गृहीति प्रमाणेन पञ्चमं तदणुव्रतम् ॥ २६ ॥

कथ विश्वासं श्रयते ॥ २० ॥ परस्त्रियं सेवमान मर्त्य सुखं लभतं किम् । केवलं श्वभ्रभूम्यादिकारणं कर्म बध्नाति ॥ २१ ॥ वर्चः सदनवत् यस्या जल्पने तथा जघने निन्दनीया. जना सदा निन्द्य मलं निक्षिपन्ति ॥ २२ ॥ दीना या विडम्बनं विधाय मद्यमासादिसक्तस्य नीचस्य अपि मुखं द्रव्यस्य लोभतः निस्ते ॥२३॥ ता वेश्या सेवमानस्य, तन्मुख चुम्बतः, मन्मथाकुलचेतसः तस्य पुंस. अपि कथम् अणुव्रतम् ॥२४॥ तत चतुर्थव्रतपालिना असौ जातनिर्घृणमानसा पण्यरमणी यावज्जीवं परित्याज्या ॥२५॥ सद्मस्वर्णधराधान्यधेनुभृत्यादिवस्तुन प्रमाणेन या गृहीति तत् पञ्चमम् अणुव्रतम् ॥२६॥ श्रावकै दिवानिशं वर्धमानः दावा-

---

अपने पतिको छोड़कर निर्लज्जतापूर्वक दूसरे पुरुषके पास जाती है उस अपनी स्त्रीके विषयमे अन्य पुरुष (उसका पति) कैसे विश्वास कर सकता है ? नही कर सकता है ॥ २० ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर दूसरे जनके पास जाती है और उसके प्रति अनुराग प्रगट करती है उसके ऊपर दूसरे जनको कभी भी विश्वास नही करना चाहिये। कारण कि जो अपने विवाहित पतिको छोड़कर अन्य मनुष्यके पास जाती है वह समयानुसार उसको भी छोडकर किसी तीसरेसे भी अनुराग कर सकती है। अतएव विवेकी जनको परस्त्रीसे दूर रहकर अपने ब्रह्मचर्याणुव्रतको सुरक्षित रखना चाहिये ॥ २० ॥ परस्त्री-को भोगनेवाला मनुष्य इसमे क्या सुख पाता है ? कुछ भी नही। वह केवल नरकादि दुर्गतिके कारणभूत कर्मको ही बाँधता है ॥ २१ ॥ जिस वेश्याके मुख और जघनमे नीच मनुष्य पुरीषालय (पाखाना) के समान निरन्तर घृणित मलका क्षेपण करत हैं, तथा जा धनके लोभसे दीनताको प्राप्त होती हुई धोखा देकर मद्य व मांस आदिमें आसक्त रहनेवाले नीच पुरुषके भी मुखको चूमती है; उस वेश्याका जो मनुष्य कामसे व्याकुलचित्त होकर सेवन करता है और उसके मुखको चूमता है उसका अणुव्रत कैसे सुरक्षित रह सकता है ? नही रह सकता है ॥ २२-२४ ॥ इसीलिये ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करनेवाले श्रावकको उस कठोर हृदयवाली वेश्या-का जीवन पर्यन्तके लिये परित्याग करना चाहिये ॥ २५ ॥ घर, सुवर्ण, भूमि, धान्य, गाय और सेवक आदि वस्तुओंका जो प्रमाण निर्धारणपूर्वक ग्रहण किया जाता है; उसे परिग्रहप्रमाण नामका पांचवा अणुव्रत समझना

---

१ स °सवनवसस्या, °सदनं यस्यापि, °वत्तस्या । २ स निंद्याः । ३ स om. verse 24 th । ४ स जाति° । ५ स °मानसाः । ६ स °धान्या° । ७ स यो गृहीत ।

788) दावानलसमो लोभो वर्धमानो दिवानिशम् ।
विधाव्यः[1] श्रावकैः सम्यक् संतोषोद्गा[2]ढवारिणा ॥ २७॥
789) संतोषाश्लिष्टचित्तस्य यत्सुखं शाश्वतं शुभम् ।
कुतस्तृष्णागृहीतस्य तस्य[3] लेशो ऽपि विद्यते ॥ २८ ॥
790) यावत् परिग्रहं लाति तावद्धिंसोपजायते ।
विज्ञायेति विधातव्य[4] संगः परिमितो बुधै. ॥ २९ ॥
791) हिंसातो विरति[5] सत्यमदत्तपरिवर्जनम् ।
स्वस्त्रीरतिः प्रमाणं च पञ्चधाणुव्रतं मतम् ॥ ३० ॥
792) यद्विधायावधिं दिक्षु दशस्वपि निजेच्छया ।
नाक्रामति पुन· प्रोक्तं प्रथमं तद्गुणव्रतम्[6] ॥ ३१ ॥
793) वात्येव धावमानस्य निरवस्थस्य चेतसः ।
अवस्थानं कृतं तेन[7] येन सा नियतिः[8] कृता ॥ ३२ ॥

नलसमः लोभः सतोषोद्गाढवारिणा विधाव्य· ॥२७॥ सतोषाश्लिष्टचित्तस्य यत् शुभ शाश्वत सुख भवति तृष्णागृहीतस्य तस्य लेशः अपि कुतः विद्यते ॥ २८ ॥ यावत् परिग्रहं लाति, तावत् हिंसा उपजायते इति विज्ञाय बुधै. संगः परिमितः विधातव्य ॥ २९ ॥ हिंसातः विरति., सत्यम्, अदत्तपरिवर्जनम्, स्वस्त्रीरतिः च प्रमाणम् अणुव्रत पञ्चधा मतम् ॥३०॥ यत् दशसु दिक्षु अपि निजेच्छया अवधिं विधाय पुन. न आक्रामति, तत् प्रथम गुणव्रत प्रोक्तम् ॥३१॥ येन सा नियतिः कृता तेन वात्या इव धावमानस्य निरवद्यस्य चेतसः अवस्थान कृतम् ॥ ३२ ॥ तत परल. त्रसस्थावरजीवाना रक्षातः श्रावकस्यापि एव तत्त्वतः

चाहिये ॥ २६ ॥ लोभ दावानलके समान दिन-रात बढनेवाला है। श्रावक जनोंको उसे उत्तम सन्तोषरूप दृढ जलके द्वारा शान्त करना चाहिये ॥ २७ ॥ जिस मनुष्यका चित्त सन्तोषसे आलिंगित है—उससे परिपूर्ण है—उसको जो निरन्तर उत्तम सुख होता है उसका लेशमात्र भी तृष्णायुक्त मनुष्यके कहाँसे हो सकता है ? नही हो सकता है। अभिप्राय यह कि सन्तोषी मनुष्य सदा सुखी और तृष्णातुर मनुष्य सदा दुखी रहता है ॥ २८ ॥ जब तक मनुष्य परिग्रहको ग्रहण करता है—उसमें मूर्छित रहता है—तब तक हिंसा होती है, यह जान करके विद्वानोंको उस परिग्रहका प्रमाण करना चाहिये ॥ २९ ॥ हिंसासे निवृत्ति (अहिंसाणुव्रत), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अचौर्याणुव्रत), स्वस्त्रीसन्तोष और परिग्रहप्रमाण; इसप्रकार अणुव्रत पाँच प्रकारका माना गया है ॥ ३० ॥ दश ही दिशाओंमे अपनी इच्छानुसार जाने-आनेकी मर्यादा करके उसका उल्लंघन नही करना, इसे दिग्व्रत नामका प्रथम गुणव्रत कहा गया है ॥ ३१ ॥ जिस पुरुषने दिशाको नियत कर लिया है—उसका प्रमाण कर लिया है—उसने वायुमण्डलके समान इधर उधर दौड़नेवाले निर्दोष (या अस्थिर) मनका अवस्थान कर लिया है—उसे अपने अधीन कर लिया है ॥ ३२ ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जब तक दिशाओंमे जाने-आनेकी कोई मर्यादा नही रहती है तब तक ही चित्त व्यापारादिके निमित्त सर्वत्र जानेके लिये व्याकुल रहता है। परन्तु जब पूर्वादिक दिशाओंमें जाने-आनेकी मर्यादा कर ली जाती है (जैसे पूर्वमें कलकत्ता व दक्षिणमें कन्याकुमारी आदि तक) तब वह चित्त स्थिर हो जाता है—मर्यादाके बाहर जानेका वह विचार नही करता

१ स विधाप्यः, विध्याप्य [.], विध्याप्य । २ स °तोषो (?) गाढ° । ३ स om. तस्य, विद्यते भुवि । ४ स विधातव्यं । ५ स विरति । ६ स तद्गुणं व्रतम् । ७ स कृतस्तेन । ८ स नियता ।

794) त्रसस्थावरजीवानां रक्षातः[1] परतस्ततः ।
महाव्रतत्वमित्येवं श्रावकस्यापि तत्त्वत. ॥ ३३ ॥

795) चेतो निवारितं येन धावमानमितस्ततः ।
किं न लब्धं सुखं तेन संतोषामृतलाभत·[2] ॥ ३४ ॥

796) यदि विज्ञानतः कृत्वा देशावधिमहर्निशम् ।
नोल्लङ्घ्यते पुन: पुंसां द्वितीयं तद्गुणव्रतम् ॥ ३५ ॥

797) महाव्रतत्वमत्रापि वाच्यं तत्त्वविधानत: ।
परतो लोभनिर्मुक्तो लाभे सत्यपि तत्त्वतः ॥ ३६ ॥

798) शक्यते गदितुं केन सत्यं तस्य महात्मनः ।
तृणवत्त्यज्यते[3] येन लब्धो ऽप्यर्थो व्रतार्थिना ॥ ३७ ॥

799) लूना[4] तृष्णालता[5] तेन वर्धिता धृतिवल्लरी ।
देशतो विरतिर्येन कृता नित्यमखण्डिता ॥ ३८ ॥

महाव्रतत्वम् ॥ ३३ ॥ येन इतस्तत· धावमानं चेत: निवारितं तेन संतोषामृतलाभत: किं सुखं न लब्धम् ॥ ३४ ॥ यदि विज्ञानत· अहर्निशं देशावधिं कृत्वा पुनः न उल्लङ्घ्यते तत् पुंसा द्वितीयं गुणव्रतम् ॥ ३५ ॥ अत्रापि तत्त्वविधानत: महाव्रतत्व वाच्यम् । परत· वस्त्वत लाभे सत्यपि लोभनिर्मुक्त· भवति ॥३६॥ येन व्रतार्थिना लब्ध: अपि अर्थ· तृणवत् त्यज्यते, तस्य महात्मन सत्य गदितुं केन शक्यते ॥ ३७ ॥ येन देशत· विरति· नित्यम् अखण्डिता कृता, तेन तृष्णालता लूना,

---

है । इस प्रकारसे दिग्व्रतीके मर्यादाके बाहर अहिंसादि व्रतोका पूर्णतया पालन होता है ॥ ३२ ॥ चूँकि की गई उस मर्यादाके बाहिर त्रस और स्थावर जीवोंका पूर्णरूपसे संरक्षण होता है अतएव इस प्रकारसे श्रावक भी वास्तवमें महाव्रती जैसा हो जाता है ॥ ३३ ॥ जिस श्रावकने इधर उधर दौड़नेवाले चित्तका निवारण कर लिया है उसने सन्तोषरूप अमृतको प्राप्त करके कौन-से सुखको नही प्राप्त कर लिया है ? अर्थात् सन्तोसकी प्राप्ति हो जानेसे उसे सब कुछ सुख प्राप्त हो गया है, ऐसा समझना चाहिये । कारण कि सुख और दुखका स्वरूप वास्तवमे सन्तोष और असन्तोष ही है ॥ ३४ ॥ यदि विज्ञानसे—ग्राम, नदी एव पर्वत आदिरूप चिह्नोंके अवधारणसे—निरन्तर देशकी मर्यादा करके उसका अतिक्रमण नही किया जाता है तो पुरुषोके देशव्रत नामका वह द्वितीय गुणव्रत होता है ॥ ३५ ॥ विशेषार्थ—दिग्व्रतमेंकी गई मर्यादाके भीतर भी कुछ संकोच करके नियमित समयके लिये किसी ग्राम, नगर एवं पर्वत आदिकी सीमा करके तब तक उसके आगे नही जाना; इसे देशव्रत कहते हैं । दिग्व्रतमें जो दिशाओंमे जाने-आनेकी मर्यादाकी जाती है वह जन्म पर्यन्तके लिये की जाती है और उसमें मर्यादित क्षेत्र भी विशाल होता है । परन्तु देशव्रत कुछ नियमित (घड़ी, दिन, पक्ष व मास आदि) समयके लिये लिया जाता है तथा मर्यादा भी उसमे दिग्व्रतकी सीमाके भीतर ही ली जाती है ॥ ३५ ॥ इस देशव्रतमें भी वास्तवमें अणुव्रतीको महाव्रती जैसा ही कहना चाहिये । कारण यह कि यहाँ भी लाभके होनेपर भी श्रावक मर्यादाके बाहर यथार्थमें लोभसे रहित होता है । अतएव वहाँ अहिंसादिव्रतोंका उसके पूर्णतया पालन होता है ॥ ३६ ॥ व्रतकी इच्छा करनेवाले जिस महात्माने प्राप्त भी पदार्थको तृणके समान तुच्छ समझ करके छोड़ दिया है उसका दृढ़ताकी प्रशंसा करनेके लिये भला कौन समर्थ हैं ? कोई नहीं—वह अतिशय स्तुति करनेके योग्य है ॥ ३७ ॥ जिसने निरन्तर अखण्डित देशव्रतका पालन किया है उसने तृष्णारूप लताको

---

१ स रक्षते । २ स om. verse 34 th । ३ स तृणवम्भज्यते । ४ स लूता । ५ स °लतास्तेन ।

800) पञ्चधानर्थदण्डस्य परं पापोपकारिणः।
क्रियते यः परित्यागस्तृतीयं तद्गुणव्रतम् ॥ ३९ ॥
801) दुष्टश्रुतिरपध्यानं पापकर्मोपदेशनम्।
प्रमादः शस्त्रदानं च पञ्चानर्था[1] भवन्त्यमी ॥ ४० ॥
802) शारिकाशिखिमार्जारताम्रचूडशुकादयः।
अनर्थकारिणस्त्याज्या बहुदोषा मनीषिभिः ॥ ४१ ॥
803) नीलीमदनलाक्षायःप्रभूता[2]ग्निविषादयः।
अनर्थकारिणस्त्याज्या बहुदोषा मनीषिभिः ॥ ४२ ॥

धृतिवल्लरी वर्धिता ॥ ३८ ॥ पापोपकारिणः पञ्चधा अनर्थदण्डस्य यः परित्यागः क्रियते तत् तृतीयं परं गुणव्रतम् ॥ ३९ ॥ दुष्टश्रुतिः, अपध्यानं, पापकर्मोपदेशनं, प्रमादः, शस्त्रदानं च अमी पञ्च अनर्थाः भवन्ति ॥ ४० ॥ मनीषिभिः बहुदोषाः अनर्थकारिणः शारिकाशिखिमार्जारताम्रचूडशुकादयः त्याज्याः ॥ ४१ ॥ मनीषिभिः बहुदोषा अनर्थकारिणः नीलीमदनलाक्षायःप्रभूताग्निविषादयः त्याज्याः ॥ ४२ ॥ दिग्देशानर्थदण्डेभ्यः या विरतिः विधीयते तत् त्रिविधं गुणव्रत जिनेश्वर-

---

काटकर धैर्य (सन्तोष) रूप लताको वृद्धिगत किया है। अभिप्राय यह कि अखण्डित देशव्रतके धारण करनेसे मनुष्यकी तृष्णा नष्ट होती है और उसके स्थानमे सन्तोषकी वृद्धि होती है ॥ ३८ ॥ पापको बढ़ानेवाले पाँच प्रकारके अनर्थ दण्डका जो परित्याग किया जाता है, यह उत्कृष्ट अनर्थदण्डव्रत नामका तीसरा गुणव्रत है ॥ ३९ ॥ वे पाँच अनर्थदण्ड ये हैं—दुःश्रुति, अपध्यान, पापोपदेश, प्रमाद और शस्त्रदान ॥४०॥ विशेषार्थ—जिन कार्योंसे बिना किसी प्रकारके प्रयोजनके ही प्राणियोंको कष्ट पहुँचाता है वे सब अनर्थदण्ड कहे जाते हैं। वे स्थूल रूपसे पाँच हैं—पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या। जिस वाक्यको सुनकर प्राणियोकी पापजनक हिंसादि कार्योंमें प्रवृत्ति हो सकती है उस सबको पापोपदेश कहा जाता है—जैसे किसी व्याधके लिये यह निर्देश करना कि मृग जलाशयके पास स्थित हैं। हिंसाजनक विष एवं शस्त्र आदिका दूसरोंके लिये प्रदान करना, यह हिंसादान कहलाता है। जिन उपन्यास एवं कथाओं आदिको सुनकर प्राणीके हृदयमें कामादि विकार उत्पन्न हो सकते हैं उनके सुननेका नाम दुःश्रुति है। अपध्यानका अर्थ कुत्सित ध्यान है—जैसे राग या द्वेषके वश होकर अन्यकी स्त्री आदिके बध-बन्धन आदिका विचार करना। वह दो प्रकारका है—आर्त्त और रौद्र। अनिष्ट पदार्थोंका सयोग और इष्ट पदार्थोंका वियोग होनेपर जो उसके लिये चिन्तन किया जाता है वह आर्त्तध्यान कहलाता है। हिंसा, असत्य, चोरी एव विषय संरक्षण आदिके चिंतनको रौद्रध्यान कहा जाता है। व्यर्थमें पृथिवीका खोदना, वायुका व्याघात करना, अग्निका बुझाना, पानीको फैलाना और वनस्पतिका छेदन करना; इत्यादि कार्य प्रमादचर्याके अन्तर्गत हैं। ये पाँचों ही अनर्थदण्ड ऐसे हैं कि जिनसे प्राणियोको व्यर्थमें कष्ट पहुँचता है। अतएव देशव्रती श्रावक इन पाँचोंका परित्याग करके अनर्थदण्डव्रतका परिपालन करता है ॥ ४० ॥ शारिका (मैना), मयूर, बिलाव, मुर्गा और तोता आदि जो पशु-पक्षी अनेक दोषोंसे सहित होकर अनर्थको उत्पन्न करनेवाले हैं उन सबका भी बुद्धिमान् पुरुषोंको परित्याग करना चाहिये ॥ ४१ ॥ नीली (नील) मैन, लाख, लोहसे निर्मित अस्त्र-शस्त्रादि, अग्नि और विष आदि जो

---

१ स पंचान्यर्था। २ स °प्रभृता°।

804) दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिर्या विधीयते[1] ।
जिनेश्वरसमाख्यातं त्रिविधं तद्गुणव्रतम् ॥ ४३ ॥

805) नमस्कारादिकं ज्ञेयं शरणोत्तममङ्गलम् ।
संध्या[2]नत्रितये शश्वदेकाग्रकृतचेतसा[3] ॥ ४४ ॥

806) सर्वारम्भं परित्यज्य कृत्वा द्रव्यादिशोधनम् ।
आवश्यकं[4] विधातव्यं व्रतशु[5]द्ध्यर्थमुत्तमैः ॥ ४५ ॥

807) द्व्यासनद्वादशावर्ता[6] चतुर्मस्तकसंनतिः ।
त्रिविशुद्ध्या विधातव्या वन्दना स्वहितोद्यतैः ॥ ४६ ॥

समाख्यातम् ॥ ४३ ॥ एकाग्रकृतचेतसा शश्वत् संध्यानत्रितये नमस्कारादिकं शरणोत्तममङ्गलं ज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ उत्तमैः व्रतशुद्ध्यर्थं सर्वारम्भं परित्यज्य द्रव्यादिशोधनं कृत्वा आवश्यकं विधातव्यम् ॥ ४५ ॥ स्वहितोद्यतैः द्व्यासनद्वादशावर्ता चतुर्मस्तकसंनतिः वन्दना त्रिविशुद्ध्या विधातव्या ॥ ४६ ॥ मासे चत्वारि पर्वाणि सन्ति, तेषु यः सदा उपवासः विधीयते

वस्तुयें बहुत दोषोंसे सहित तथा अनर्थको करनेवाली हैं उन सबका भी बुद्धिमान् मनुष्योंको परित्याग करना चाहिये ॥ ४२ ॥ दिशा, देश और और अनर्थदण्डसे जो व्रत किया जाता है जिनेन्द्रके द्वारा वह तीन प्रकारका (दिग्व्रत, देशव्रत व अनर्थदण्डव्रत) गुणव्रत कहा गया है ॥ ४३ ॥ श्रावकको एकाग्रचित होकर निरन्तर तीनों सन्ध्याओंमें नमस्कारको आदि लेकर शरण, उत्तम और मंगलको जानना चाहिये ॥ ४४ ॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि सामायिक करते समय श्रावकको सर्वप्रथम पंचनमस्कार-मंत्रका उच्चारण करते हुए पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार करना चाहिये । तत्पश्चात् "चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पवज्जामि अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।" इस पाठको पढ़ें और अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवली-कथित धर्मका मंगल, लोकोत्तम व शरण स्वरूपसे चिन्तन करे ॥ ४४ ॥ उत्तम श्रावकोंको व्रतशुद्धिके निमित्त समस्त आरम्भको छोड़ करके और द्रव्य-क्षेत्रादिकी शुद्धि करके सामायिक आवश्यकको करना चाहिये ॥ ४५ ॥ सामायिक शिक्षाव्रतके धारक श्रावकोंको अपने आत्महितमें उद्यत होते हुए पद्मासन व खड्गासन इन दो आसनोंमेंसे किसी एक आसनसे बारह आवर्त्त और चार शिरोनतियोंसे सहित मन, वचन व कायकी शुद्धिपूर्वक वन्दनाको करना चाहिये ॥ ४६ ॥ विशेषार्थ—सामायिक पद्मासन और खड्गासन इन दो आसनोंमेंसे किसी भी एक आसनसे की जाती है । इसमें वन्दना कर्मको करते हुए श्रावकको बारह आवर्त्त और चार शिरोनतियोंको करना चाहिये । आवर्त्तका अर्थ है मन, वचन और कायका नियमन । ये पंचनमस्कार मंत्रके आदिमें और अन्तमें तीन तीन तथा चतुर्विंशतिस्तवके आदि व अन्तमें तीन तीन इस प्रकार बारह किये जाते हैं । दोनों हाथोंको जोड़कर शिरके नमानेका नाम शिरोनति है । यह पंचनमस्कार मंत्रके आदि और अन्तमें एक एक तथा चतुर्विंशतिस्तवके आदि और अन्तमें एक एक इस प्रकारसे चार बार की जाती है । इस विधिसे सामा-

---

१ स विधीयते । २ स संध्याना°, सद्ध्यानं । ३ स °चेतसः । ४ स आवश्यका, आवशक्यं । ५ स °सिध्य°, °विध्य°, दृध्य° । ६ स °वर्ताश्चतु° ।

808) चत्वारि सन्ति पर्वाणि मासे तेषु विधीयते ।
उपवासः सदा यस्तत्प्रोषध[1]व्रतमीर्यते[2] ॥ ४७ ॥[3]

809) [4]त्यक्तभोगोपभोगस्य[5] सर्वारम्भविमोचिनः ।
चतुर्विधाशनत्याग उपवासो मतो जिनैः ॥ ४८ ॥

810) अभुक्त्य[6]नुपवासैकभुक्तयो[7] भक्तितत्परैः ।
क्रियन्ते कर्मनाशाय मासे पर्वचतुष्टये ॥ ४९ ॥

811) कर्मेन्धनं यद[8]ज्ञानात् संचितं जन्मकानने[9] ।
उपवासशिखी सर्वं तद्भस्मीकुरुते क्षणात् ॥ ५० ॥

812) भोगोपभोगसंख्यानं क्रियते यद्धितात्मना[10] ।
भोगोपभोगसंख्यानं तच्छिक्षा[11]व्रतमुच्यते ॥ ५१ ॥

तत्प्रोषधव्रतम् ईर्यते ॥ ४७ ॥ जिनै: त्यक्तभोगोपभोगस्य सर्वारम्भविमोचिनः चतुर्विधाशनत्याग. उपवासः मत. ॥ ४८ ॥ भक्तितत्परैः मासे पर्वचतुष्टये कर्मनाशाय अभुक्त्यनुपवासैकभुक्तय: क्रियन्ते ॥ ४९ ॥ जन्मकानने अज्ञानात् यत् कर्मेन्धनं संचितम्, तत् सर्वम् उपवासशिखी क्षणात् भस्मीकुरुते ॥ ५० ॥ हितात्मना यत् भोगोपभोगसंख्यानं क्रियते, तत् भोगोप-

---

यिकमें श्रावकको मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक वन्दनाको करना चाहिये ॥ ४६ ॥ प्रत्येक मासमें चार पर्व (दो अष्टमी व दो चतुर्दशी) होते हैं। उनमें जो निरन्तर उपवास किया जाता है वह प्रोषधव्रत कहा जाता है ॥ ४७ ॥ भोग और उपभोग वस्तुओंके परित्यागके साथ समस्त आरम्भको छोड़कर जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है वह जिन भगवान्‌को उपवास अभीष्ट है ॥ ४८ ॥ विशेषार्थ—जो वस्तु एक बार भोगनेमें आती है उसे भोग कहते हैं—जैसे पान, लेपन व भोजन आदि। तथा जो वस्तु अनेक बार भोगनेमें आती है उसे उपभोग कहा जाता है—जैसे स्त्री, शय्या व वस्त्र आदि। उपवासके दिन श्रावकको इन भोग-उपभोग वस्तुओंका परित्याग करके समस्त आरम्भको भी छोड़ देना चाहिये। कारण यह कि उपवासका अर्थ केवल आहारका परित्याग नहीं है, किन्तु उसके साथ ही उपवासमें कषाय और विषयोंका परित्याग भी अनिवार्य समझना चाहिये। अन्यथा फिर उपवास और लंघनमें कोई विशेष भेद ही नहीं रहेगा ॥ ४८ ॥ भक्तिमें तत्पर श्रावक प्रत्येक मासके चारों पर्वोंमें कर्मनाशके लिये अभुक्ति (उपवास), अनुपवास अथवा एकभुक्ति (एकाशन) को किया करते हैं ॥ ४९ ॥ विशेषार्थ—जो श्रावक शक्तिके अनुसार उपवास, अनुपवास और एकाशन (एक स्थान) इनमेंसे किसी भी एकको करता है वह प्रोषधकारी कहा जाता है। इनमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकारके आहारोंके परित्यागका नाम उपवास है। अनुपवासका अर्थ है ईषत् (थोड़ा) उपवास। तात्पर्य यह कि जलको छोड़कर शेष सब प्रकारके आहारके परित्याग कर देनेको अनुपवास माना जाता है। एक स्थानमें बैठकर एक ही बार जो भोजन किया जाता है उसे एकभुक्ति या एकासन समझना चाहिये। ये सब यथायोग्य कर्म-निर्जराके कारण हैं ॥ ४९ ॥ संसाररूप वनमें स्थित रहकर प्राणीने अज्ञानतासे जिस कर्मरूप इन्धनका संचय किया है उस सबको उपवासरूप अग्नि क्षण भरमें ही भस्म कर डालती है ॥ ५० ॥ आत्महितैषी श्रावक जो भोग और उपभोग रूप वस्तुओंकी संख्या कर लेता

---

१ स प्रोषध° । २ स °मीयते । ३ स om. 47 । ४ स तक्त°, त्यक्ता° । ५ स °भोगे ऽस्य । ६ स अभुक्ता° । ७ स °भक्तयो भुक्ति° । ८ स यदा° । ९ स जन्म कानने । १० स °तात्मनः । ११ स तच्छिक्ष्या°, तच्छिण्या°, तच्छिरया व्र° ।

813) आहारपानताम्बूलगन्धमाल्यफलादय. ।
भुज्यन्ते[1] यत्स[2] भोगश्च तन्मतः साधुसत्तमैः ॥ ५२ ॥

814) वाहनासन[3]पल्यङ्कस्त्रीवस्त्राभरणादयः ।
भुज्यन्ते[4] ऽनेकधा यस्मादुपभोगाय[5] ते मताः ॥ ५३ ॥

815) संतोषो[6] भावितस्तेन वैराग्यमपि दर्शितम् ।
भोगोपभोगसंख्यानं व्रतं येन स्म धार्यते ॥ ५४ ॥

816) चतुर्विधो[7] वराहारो दीयते संयतात्मनाम् ।
[8]शिक्षाव्रतं तदाख्यातं चतुर्थं गृहमेधिनाम् ॥ ५५ ॥

817) स्वयमेव गृहं साधुर्यो ऽभ्यतति[9] संयतः ।
अन्वर्थवेदिभिः प्रोक्तः सो ऽतिथिर्मुनि[10]पुङ्गवैः ॥ ५६ ॥

818) श्रद्धामुत्सत्त्वविज्ञानतितिक्षाभक्त्य[11]लुब्धता[12] ।
एते[13] गुणा हितोद्युक्तैर्ध्रियन्ते ऽतिथिपूजनैः ॥ ५७ ॥

भोगसंख्यानं शिक्षाव्रतम् उच्यते ॥ ५१ ॥ यत् आहारपानताम्बूलगन्धमाल्यफलादयः भुज्यन्ते तत् साधुसत्तमैः सः भोग· मतः ॥ ५२ ॥ यस्मात् वाहनासनपल्यङ्कस्त्रीवस्त्राभरणादय अनेकधा भुज्यन्ते ते उपभोगाय मताः ॥ ५३ ॥ येन भोगोप-भोगसंख्यानं व्रतं धार्यते स्म, तेन संतोष भाषितः । तेन वैराग्यम् अपि दर्शितम् ॥ ५४ ॥ संयतात्मनां चतुर्विध· वराहार दीयते, तत् गृहमेधिना चतुर्थं शिक्षाव्रतम् आख्यातम् ॥ ५५ ॥ अत्र यः संयत· साधु. स्वयमेव गृहम् अभ्यतति । अन्वर्थ-वेदिभि· मुनिपुङ्गवै स. अतिथि. प्रोक्त ॥ ५६ ॥ हितोद्युक्तै. अतिथिपूजने श्रद्धामुत्सत्त्वविज्ञानतितिक्षाभक्त्यलुब्धता एते

है—उनका प्रमाण करके शेषको छोड़ देता है—इसे भोगोपभोगसंख्यान नामक शिक्षाव्रत कहा जाता है ॥५१॥ आहार, पान (जलादि पेय वस्तु), ताम्बूल, सुगन्धित माला और फल आदि जो वस्तुएँ एक बार भोगी जाती हैं उनको साधुओंमें श्रेष्ठ गणधरादि भोग बतलाते है ॥ ५२ ॥ वाहन (हाथी-घोड़ा आदि), आसन, पलंग, स्त्री, वस्त्र और आभरण आदि चूँकि अनेक बार भोगे जाते हैं अतएव वे उपभोगके लिये माने गये हैं—उन्हे उपभोग कहा जाता है ॥ ५३ ॥ जिसने भोगोपभोगपरिमाणव्रतको धारण कर लिया है उसने अपने सन्तोषको सूचित कर दिया है तथा वैराग्यको भी दिखला दिया है। अभिप्राय यह है कि जो श्रावक भोगोपभोगपरिमाणव्रतका पालन करता है उसे अपूर्व सन्तोष प्राप्त हो जाता है और इसीलिये उसका वैराग्यभाव जागृत हो उठता है ॥ ५४ ॥ मुनिजनोंके लिये जो चार प्रकारका श्रेष्ठ आहार दिया जाता है वह श्रावकोंका चौथा शिक्षा-व्रत (अतिथिसंविभाग) कहा गया है ॥ ५५ ॥ जो संयमी साधु स्वयं ही गृहपर आता है उसे अन्वर्थ संज्ञाके जानकार श्रेष्ठ मुनि अतिथि कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो साधु किसी तिथिका विचार न करके किसी भी तिथिको आहारके निमित्त स्वयं ही श्रावकके घरपर जाता है वह अतिथि कहलाता है ॥ ५६ ॥ आत्महितमें उद्यत श्रावक अतिथिपूजाके विषयमें—उन्हे आहार आदिके देनेमें—श्रद्धा, प्रमोद, सत्त्व, विज्ञान, क्षमा, भक्ति और निर्लोभता इन सात गुणोंको धारण करते हैं ॥ ५७ ॥ विशेषार्थ—प्रशसनीय दाता वही होता है जिसमें कि उपर्युक्त सात गुण विद्यमान रहते हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है। श्रद्धा—साधुओंके लिये जो

---

१ स भुंजंते तत्स । २ स यत्सभोगश्च । ३ स °नाशन° । ४ स भुंजंते । ५ स °भोगा ये मताः, °भोगा यत्ते । ६ स सन्तो यो । ७ स चातुर्विधो । ८ स शिख्या°, शिष्या° । ९ स त्रातर्तति । १० स यति for मुनि । ११ स °भत्य°, °भक्त°, °भक्ष्य° । १२ स °लुब्धता । १३ स एतैर्गुणा ।

819) प्रतिग्रहो[1]ऽच्चदेशाङ्घ्रिप्रक्षालनं[2] पूजनं नतिः ।
त्रिशुद्धिरन्नशुद्धिश्च पुण्याय नवधा विधिः[3] ॥ ५८ ॥
820) [4]सामायिकादिभेदेन शिक्षा[5]व्रतमुदीरितम् ।
चतुर्धेति गृहस्थेन रक्षणीयं हितैषिणा ॥ ५९ ॥
821) द्वादशाणुव्रतान्येवं कथितानि जिनेश्वरैः ।
गृहस्थैः पालनीयानि भवदुःखं जिहासुभिः ॥ ६० ॥
822) स्वकीयं जीवितं ज्ञात्वा त्यक्त्वा सर्वां मनःक्षितिम् ।
बन्धूनापृच्छ्य निःशेषांस्त्यक्त्वा देहादिमूर्च्छनाम् ॥ ६१ ॥
823) बाह्यमभ्यन्तरं संगं[6] मुक्त्वा सर्वं विधानतः ।
विधायालोचनां शुद्धां हृदि न्यस्य नमस्कृतिम् ॥ ६२ ॥

गुणा' ध्रियन्ते ॥ ५७ ॥ प्रतिग्रहोच्चदेशाङ्घ्रिप्रक्षालन, पूजनं नतिः, त्रिशुद्धिः च अन्नशुद्धि' इति नवधा विधिः पुण्याय भवति ॥ ५८ ॥ सामायिकादिभेदेन इति चतुर्धा उदीरितं शिक्षाव्रतं हितैषिणा गृहस्थेन रक्षणीयम् ॥ ५९ ॥ एवं जिनेश्वरैः कथितानि द्वादश अणुव्रतानि भवदु.ख जिहासुभि गृहस्थै पालनीयानि ।। ६० ॥ स्वकीय जीवितं ज्ञात्वा, सर्वां मन'स्थिति त्यक्त्वा निःशेषान् बन्धून् आपृच्छ्य देहादिमूर्च्छनां त्यक्त्वा सर्वं बाह्यम् अभ्यन्तर सग विधानत मुक्त्वा शुद्धाम् आलोचना

गृहस्थ दान देता है वह अभीष्ट फलको प्राप्त करता है, इस प्रकारका दाताको विश्वास होना चाहिये। प्रमोद—दाताको दान देते समय अतिशय हर्ष होना चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि आज मेरा गृह साधुके आहार लेनेसे पवित्र हुआ है, यह सुयोग महान् पुण्यके उदयसे ही प्राप्त होता है। सत्त्व—धन थोड़ा-सा भी हो, तो भी सात्त्विक दाता भक्तिवश ऐसा महान् दान देता है जिसे देखकर बड़े-बड़े धनाढ्य पुरुष भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। विज्ञान—दाताको द्रव्य (देय वस्तु), क्षेत्र काल, भाव, दानविधि एवं पात्र आदि-का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये; क्योंकि इसके बिना वह दान देनेके योग्य नही होता है। क्षमा—कलुषताके कारणके रहते हुए भी श्रेष्ठ दाता कभी क्रोधादिको प्राप्त नही होता, किन्तु उस समय भी वह क्षमाको ही धारण करता है। भक्ति—भक्तियुक्त दाता सत्पात्रके गुणोंमे अनुराग रखता है, वह आलस्यको छोड़कर स्वय ही पात्रको आहारादि प्रदान करके उसकी सेवा-शुश्रूषा करता है। निर्लोभता—निर्लोभ दाता ऐहिक और पारलौकिक लाभकी अपेक्षा न करके कभी दानके फलस्वरूप सांसारिक सुखकी याचना नही करता है। प्रतिग्रह—मुनिको देखकर 'नमोऽस्तु, तिष्ठत' इस प्रकार तीन बार कहकर स्वीकार करना, मुनिको घरके भीतर ले जाकर निर्दोष ऊँचे आसनपर बैठाना, पादप्रक्षालन, गन्ध-अक्षतादिके द्वारा पूजा करना, पंचांग प्रणाम करना, मनकी शुद्धि, वचनकी शुद्धि, कायकी शुद्धि और भोजनकी शुद्धि; यह नौ प्रकारकी विधि पुण्यके लिये होती है ॥ ५८ ॥ सामायिक आदिके भेदसे जो यह चार प्रकारका शिक्षाव्रत कहा गया है उसकी कल्याणा-भिलाषी श्रावकको रक्षा करना चाहिये ॥ ५९ ॥ उपर्युक्त प्रकारसे जिनेन्द्र देवने जो बारह अणुव्रत बतलाये हैं उनका संसारदुखको नष्ट करनेकी इच्छा करनेवाले गृहस्थोंको पालन करना चाहिये ॥ ६० ॥ अन्तमें उत्तम श्रावक अपने जीवितको जान करके—मरणकालकी निकटताका निश्चय करके—समस्त मनोविकल्पको छोड़ देते हैं और सब कुटुम्बी एवं सबन्धी जनोंको पूछ करके शरीर आदि सब ही बाह्य वस्तुओंमे निर्ममत्व हो जाते

१ स पतिग्रहोच° । २ स °क्षालन । ३ स om. 58 । ४ स सामायक° । ५ स शिख्या°, शिष्या° । ६ स संगं द्विधा मुच्य विधानत ।

824) जिनेश्वरक्रमाम्भोजभूरिभक्ति[1]भरानतैः ।
सल्लेखना विधातव्या[2]मृत्युतो नरसत्तमैः ॥ ६३ ॥

825) दुर्लभं सर्वदुःखानां नाशकं बुधपूजितम्[3] ।
सम्यक्त्वं रत्नवद्धार्यं संसारान्तं यियासुभिः ॥ ६४ ॥

826) षड्द्रव्याणि पदार्थांश्च नव [4]तत्त्वादिभेदतः ।
जायते श्रद्दधज्जीवः सम्यग्दृष्टिर्न संशयः ॥ ६५ ॥

827) अतीते ऽनन्तशः काले जीवेन भ्रमता[5] भवे ।
कानि दुःखानि नाप्तानि विना जैनेन्द्रशासनम् ॥ ६६ ॥

828) निर्ग्रन्थं निर्मलं पूतं तथ्यं[6] जैनेन्द्रशासनम् ।
मोक्षवर्त्मेति कर्तव्या मतिस्तेन विचक्षणैः ॥ ६७ ॥

829) ज्योतिर्भावन[7]भौमेषु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु ।
जायते स्त्रीषु सद्दृष्टिर्न मिथ्या द्वादशाङ्गिषु ॥ ६८ ॥

विधाय हृदि नमस्कृतिं न्यस्य जिनेश्वरक्रमाम्भोजभूरिभक्तिभरानतैः नरसत्तमैः मृत्युतः सल्लेखना विधातव्या ॥ ६१-६३ ॥ संसारान्तम् इयासुभिः रत्नवत् दुर्लभं सर्वदुःखानां नाशकं बुधपूजितं सम्यक्त्वं धार्यम् ॥ ६४ ॥ षड् द्रव्याणि पदार्थान् च नवतत्त्वादिभेदतः श्रद्दधत् जीवः सम्यग्दृष्टिः जायते । न संशयः ॥ ६५ ॥ अनन्तशः अतीते काले भवे भ्रमता जीवेन जैनेन्द्रशासनं विना कानि दुःखानि न आप्तानि ॥ ६६ ॥ तेन विचक्षणैः निर्ग्रन्थं निर्मलं पूतं तथ्यं जैनेन्द्रशासनं मोक्षवर्त्म इति मतिः कर्तव्या ॥ ६७ ॥ सद्दृष्टिः ज्योतिर्भावनभौमेषु, षट्सु अधःश्वभ्रभूमिषु, स्त्रीषु, मिथ्या द्वादशाङ्गिषु न

हैं। इस प्रकार वे बाह्य एवं अभ्यन्तर सब परिग्रहको छोड़कर विधिपूर्वक शुद्ध आलोचनाको करते हुए जिनेन्द्रके चरणकमलोंमे अतिशय भक्ति प्रगट करते है तथा नम्रतापूर्वक उन्हें अन्तःकरणसे नमस्कार करते हैं। इस विधिसे वे मृत्युसे सल्लेखनाको स्वीकार करते है—आवश्यक कर्तव्य समझ करके वे आगमोक्त विधिसे समाधिमरणको अंगीकार करते हैं ॥ ६१-६३ ॥ जो श्रावक संसारको नष्ट करना चाहते हैं वे उस निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करे जो कि रत्नके समान दुर्लभ, समस्त दुःखोंका नाशक और विद्वानोसे पूजित है ॥ ६४ ॥ जो जीव छह द्रव्य नौ पदार्थ और जीवाजीवादिके भेदमे सात तत्त्व आदिका श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है, इसमे किसी प्रकारका सन्देह नही है ॥ ६५ ॥ यह जीव अनन्त अतीत कालसे ससारमे परिभ्रमण करता रहा है। उसने वहाँ जैनधर्मके बिना कौन-से दुख नही प्राप्त किये है ? अर्थात् उसने वहाँ सब प्रकारके दुःखोको सहा है ॥ ६६ ॥ इसलिये तत्त्वज्ञ जनोको यह विचार करना चाहिये कि परिग्रहसे रहित, निर्मल, पवित्र एवं यथार्थ जिनेन्द्रकथित धर्म ही मोक्षका मार्ग है—अन्य सब संसारपरिभ्रमणके ही कारण है ॥ ६७ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव ज्योतिषी, भवनवासी व व्यन्तर देवोमें, नीचेकी शर्कराप्रभादि छह नरकभूमियोंमें, स्त्रियोंमें तथा मिथ्यात्वसे कलुषित इन बारह प्रकारके प्राणियोंमें भी नही उत्पन्न होता है—१ बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, २ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ३ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, ४ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ५ दोइन्द्रिय पर्याप्त, ६ दोइन्द्रिय अपर्याप्त, ७ तीनइन्द्रिय पर्याप्त, ८ तीनइन्द्रिय अपर्याप्त, ९ चारइन्द्रिय पर्याप्त, १० चारइन्द्रिय अपर्याप्त, ११ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और १२ असंज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त ॥ ६८ ॥ जो जीव एक क्षणके लिये भी सम्यग्दर्शनको

---

१ स °भक्त° । २ स °तव्या मृत्युतो । ३ स °पूजकं । ४ स नवतत्त्वा°, तत्वानि° । ५ स भ्रमतो । ६ स तथ्यं पूतं । ७ स °भंवनभौमेषु ।

८३०) एकमपि क्षणं लब्ध्वा सम्यक्त्वं यो विमुञ्चति ।
संसारार्णवमुत्तीर्य लभते सो ऽपि निर्वृतिम् ॥ ६९ ॥

८३१) रोचते[1] दर्शितं तत्त्वं जीवः सम्यक्त्वभावितः ।
संसा[2]रोद्वेगमापन्नः संवेगादिगुणान्वितः ॥ ७० ॥

८३२) यत्किंचिद् दृश्यते लोके प्रशस्तं सचराचरम् ।
तत्सर्वं लभते जीवः सम्यक्त्वामलरत्नतः[3] ॥ ७१ ॥

८३३) शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं संवेगादिगुणान्वितम् ।
यो धत्ते दर्शनं सोऽत्र दर्शनी कथितो जिनैः ॥ ७२ ॥[4]

८३४) दुरन्ता[5]सारसंसारजनिताशा[6]न्तसंततेः ।
यो भीतो ऽणुव्रतं याति व्रतिनं तं विदुर्बुधाः ॥ ७३ ॥

८३५) आर्तरौद्रपरित्यक्तस्त्रिकालं विदधाति यः ।
सामायिकं विशुद्धात्मा स सामायिकवान्मतः ॥ ७४ ॥

८३६) मासे चत्वारि पर्वाणि तेषु यः कुरुते सदा ।
उपवासं निरारम्भः प्रोषधी[7] स मतो जिनैः[8] ॥ ७५ ॥

जायते ॥ ६८ ॥ एकम् अपि क्षणं सम्यक्त्वं लब्ध्वा यः विमुञ्चति सः अपि संसारार्णवम् उत्तीर्य निर्वृतिं लभते ॥ ६९ ॥ संसारोद्वेगम् आपन्नः संवेगादिगुणान्वितः सम्यक्त्वभावितः जीवः दर्शितं तत्त्वं रोचते ॥ ७० ॥ लोके यत्किञ्चित् सचराचरं प्रशस्तं दृश्यते जीवः सम्यक्त्वामलरत्नतः तत् सर्वं लभते ॥ ७१ ॥ यः शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं संवेगादिगुणान्वितं दर्शनं धत्ते, जिनैः अत्र सः दर्शनी कथितः ॥ ७२ ॥ दुरन्तासारसंसारजनिताशान्तसंततेः, भीतः यः अणुव्रतं याति तं बुधाः व्रतिनं विदुः ॥ ७३ ॥ आर्तरौद्रपरित्यक्तः विशुद्धात्मा यः त्रिकालं सामायिकं विदधाति सः सामायिकवान् मतः ॥ ७४ ॥ मासे चत्वारि पर्वाणि । तेषु निरारम्भः यः सदा उपवासं कुरुते सः जिनैः प्रोषधी मतः ॥ ७५ ॥ संयमासक्तचेतस्कः यः अपक्वं

प्राप्त करके पश्चात् उसे छोड़ देता है वह भी संसाररूप समुद्रसे पार होकर मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥ सम्यक्त्वभावनासे सम्पन्न जीव संसारसे उद्विग्न होकर संवेग आदि (प्रशम, आस्तिक्य व अनुकम्पा) गुणोंसे विभूषित होता हुआ सर्वज्ञके द्वारा दिखलाये हुए जीवादि तत्त्वोंसे प्रीति करता है—उनके ऊपर दृढ़ श्रद्धा रखता है ॥ ७० ॥ लोकमें जो कुछ भी चेतन व अचेतन प्रशस्त वस्तुएँ दिखती हैं उन सबको ही सम्यग्दृष्टि जीव निर्मल सम्यग्दर्शनरूप रत्नके प्रभावसे प्राप्त कर लेता है ॥ ७१ ॥ जो जीव शंकादि दोषोंसे रहित और संवेगादि गुणोंसे सहित निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करता है उसे यहाँ जिन भगवान्‌के द्वारा दर्शनी (दर्शनप्रतिमा-धारी) कहा गया है ॥ ७२ ॥ जो जीव दुर्विनाश असार संसारमें परिभ्रमण करनेसे उत्पन्न हुई अशान्त (दुख) परम्परासे भयभीत होकर अणुव्रतको (देशचारित्रको) प्राप्त होता है उसे विद्वान् गणधरादि व्रती (द्वितीय प्रतिमाधारी) कहते हैं ॥ ७३ ॥ जो विशुद्ध जीव आर्त और रौद्र ध्यानसे रहित होकर तीनों कालों (प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या) में सामायिकको करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी माना गया है ॥ ७४ ॥ प्रत्येक मासमें चार पर्व आते हैं । उनमें जो श्रावक निरन्तर आरम्भसे रहित होकर उपवासको करता है वह जिनदेवके द्वारा प्रोषधी (चतुर्थ प्रतिमाधारी) माना गया है ॥ ७५ ॥ जो संयमका विचार करनेवाला श्रावक कच्चे

१ स रोचिते । २ स संसारा° । ३ स °रत्नयः । ४ स om. 72 । ५ स दुरंतानंतसं° । ६ स °सात for शान्त । ७ स प्रोषधी. । ८ स जनैः ।

837) न भक्षयति यो ऽपक्वं कन्दमूलफलादिकम् ।
संयमासक्तचेतस्कः सचित्तात्[1] स पराङ्मुखः ॥ ७६ ॥
838) मैथुनं भजते मर्त्यो न दिवा यः कदाचन ।
दिवामैथुननिर्मुक्तः स बुधैः परिकीर्तितः ॥ ७७ ॥
839) संसारभयमापन्नो मैथुनं भजते न यः ।
सदा वैराग्यमारूढो ब्रह्मचारी स भण्यते ॥ ७८ ॥
840) निरारम्भः स विज्ञेयो मुनीन्द्रैर्हत[2]कल्मषैः ।
कृपालुः सर्वजीवानां नारम्भं विदधाति यः ॥ ७९ ॥
841) संसारद्रुममूलेन किमनेन ममेति यः ।
निःशेषं त्यजति ग्रन्थं निर्ग्रन्थं तं विदुर्जिनाः[3] ॥ ८० ॥
842) सर्वदा पापकार्येषु कुरुते ऽनुमतिं[4] न यः ।
तेनानुमननं मुक्तं[5] भण्यते बुद्धिशालिना[6] ॥ ८१ ॥
843) स्वनिमित्तं त्रिधा येन कारितो ऽनुमतः कृतः ।
नाहारो[7] गृह्यते पुंसा[8] त्यक्तोद्दिष्टः[9] स भण्यते ॥ ८२ ॥

कन्दमूलफलादिकं न भक्षयति सः सचित्तात् पराङ्मुखः ॥ ७६ ॥ यः मर्त्यः कदाचन दिवा मैथुनं न भजते बुधैः स दिवा-मैथुननिर्मुक्तः परिकीर्तितः ॥ ७७ ॥ संसारभयमापन्नः वैराग्यमारूढः यः सदा मैथुनं न भजते स ब्रह्मचारी भण्यते ॥ ७८ ॥ कृपालुः यः सर्वजीवानाम् [विघातकम्] आरम्भं न विदधाति, हृतकल्मषैः मुनीन्द्रैः स निरारम्भः विज्ञेयः ॥ ७९ ॥ संसारद्रुममूलेन अनेन मम किम् इति यः निःशेषं ग्रन्थं त्यजति, तं बुधाः निर्ग्रन्थं विदुः ॥ ८० ॥ यः सर्वदा पापकार्येषु अनुमतिं न कुरुते, बुद्धिशालिना तेन अनुमननं मुक्तं भण्यते ॥ ८१ ॥ येन पुंसा स्वनिमित्तं कारितः अनुमतः कृतः आहारः त्रिधा न गृह्यते स त्यक्तोद्दिष्टः भण्यते ॥ ८२ ॥ यः नरः एवं क्रमतः एकादश गुणान् धत्ते, असौ मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा

कन्द, मूल और फल आदिको नहीं खाता है वह सचित्त वस्तुमें पराङ्मुख अर्थात् सचित्तविरत होता है ॥ ७६ ॥ जो मनुष्य मैथुनका सेवन दिनमें कभी-भी नहीं करता है वह विद्वानोंके द्वारा दिवामैथुनविरत कहा गया है ॥ ७७ ॥ जो मनुष्य संसारसे भयभीत होकर कभी भी मैथुनका सेवन नहीं करता है, किन्तु उससे निरन्तर विरक्त रहता है उसे ब्रह्मचारी कहा जाता है ॥ ७८ ॥ जो दयालु श्रावक समस्त जीवोंके घातक आरम्भको नहीं करता है उसे निर्मल गणधरादि देव आरम्भविरत समझते हैं ॥ ७९ ॥ यह परिग्रह संसाररूप वृक्षको स्थिर रखनेके लिये मूलके समान है इससे मेरा क्या हित हो सकता है ? कुछ भी नहीं। इस प्रकार विचार करके जो श्रावक समस्त परिग्रहका परित्याग कर देता है उसे पण्डित जन निर्ग्रन्थ (परिग्रहविरत) बतलाते हैं ॥ ८० ॥ जो पाप कार्योंके विषयमें कभी अनुमोदना नहीं करता है उसने अनुमतिको छोड़ दिया है—वह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी है, ऐसा बुद्धि ऋद्धिके धारक गणधर कहते हैं ॥ ८१ ॥ जो पुरुष अपने निमित्तसे स्वयं किये गये दूसरेसे कराये गये तथा अनुमोदित भी भोजनको नहीं ग्रहण करता है मन, वचन और कायसे उसे उद्दिष्टत्यागी कहा जाता है ॥ ८२ ॥ जो मनुष्य क्रमसे उपर्युक्त प्रकार ग्यारह गुणोंको धारण करता है वह मनुष्य (चक्रवर्ती

---

१ स स चितात् स । २ स °हृत°, °दंत° । ३ स ज्जना । ४ स नमति, नु मति । ५ स °नुमतिमुक्ति तत् भ°, युक्तं for मुक्तं, तेनान [नमति] युक्तं । ६ स °शालिभि । ७ स नाहारे । ८ स पुंसा । ९ स त्यक्तो दृष्टः, त्यक्तो दिष्टः ।

844) एकादश गुणानेवं धत्ते य क्रमतो नरः।
मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा यात्यसौ मोक्षमक्षयम्[1] ॥ ८३ ॥

845) वधो रोधो ऽन्नपानस्य गुरुभारातिरोहणम्।
बन्धच्छेदौ[2] मला[3] पञ्च प्रथमव्रतगोचराः ॥ ८४ ॥

846) कूटलेखक्रिया मिथ्यादेशनं न्यासलोपनम्।
पैशुन्यं मन्त्रभेदश्च द्वितीयव्रतगा मलाः ॥ ८५ ॥

847) स्तेनानीतसमादानं स्तेनानामनुयोजनम्।
विरुद्धे ऽतिक्रमो[4] राज्ये कूटमानादिकल्पनम् ॥ ८६ ॥

848) कृत्रिमव्यवहारश्च तृतीयव्रतसंभवाः।
अतिचारा जिनैः पञ्च गदिता धुतकर्मभिः ॥ ८७ ॥

849) अनङ्गसेवनं तीव्रमन्मथाभिनिवेशनम्।
गमनं[5] पुंश्चलीनार्योः स्वीकृतेत[6]रकूपयो ॥ ८८ ॥

अक्षय मोक्ष याति ॥ ८३ ॥ वध., अन्नपानस्य रोध , गुरुभारातिरोहण, बन्धच्छेदौ इमे पञ्च मला: प्रथमव्रतगोचरा ॥८४॥ कूटलेखक्रिया, मिथ्यादेशन, न्यासलोपनं, पैशुन्य, मन्त्रभेद च [इमे] मलाः द्वितीयव्रतगाः भवन्ति ॥ ८५ ॥ स्तेनानीत-समादानं, स्तेनानामनुयोजन, विरुद्धे राज्ये अतिक्रम , कूटमानादिकल्पन, कृत्रिमव्यवहार च धुतकर्मभि जिनैः तृतीयव्रत-सभवा पञ्च अतिचारा गदिता ॥ ८६-८७ ॥ अनङ्गसेवनं, तीव्रमन्मथाभिनिवेशन, स्वीकृतेतररूपयो पुंश्चलीनार्योः

आदि) और देवोंकी लक्ष्मीको भोग करके अविनश्वर मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥ वध (लकड़ी या चाबुक आदिसे मारना), आहार-पानीका रोक देना, न्याय्य बोझसे अधिक बोझा लादना, रस्सी आदिसे बांधना और नासिका आदिका छेदना; ये पांच प्रथम अहिंसाणुव्रत सम्बन्धी दोष हैं—इनसे वह अहिंसाणुव्रत मलिन होता है ॥ ८४ ॥ कूटलेखक्रिया (दूसरेने जो बात नही कही है या जो कार्य नही किया है उसने वैसा कहा था या वैसा किया था, इस प्रकार किसीकी प्रेरणासे लिखना), मिथ्या उपदेश (स्वर्ग-मोक्षकी साधनभूत क्रियायोमें अन्य जीवोंको विपरीततासे प्रवर्ताना अथवा धोखा देना), न्यासलोप (किसीके अपनी रखी हुई धरोहरके विषयमें भूलसे कम मांगनेपर तदनुसार कम देना—पूरा न देना), पैशून्य (स्त्री-पुरुषोंके द्वारा एकान्तमें की गई क्रियाओंको प्रकट करना) और मन्त्रभेद (प्रकरणवश अथवा मुखके आकार आदिको देखते हुए दूसरेके अभिप्रायको जानकर इर्ष्या आदिके कारण उसे प्रगट करना); ये पांच अतिचार द्वितीय व्रत (सत्याणुव्रत) को मलिन करनेवाले है ॥ ८५ ॥ चोरीसे लाई गई वस्तुओं (सुवर्ण व चाँदी आदि)का ग्रहण करना, चोरोंको चोरी कर्ममे प्रवृत्त करना, विरुद्ध राज्यातिक्रम अर्थात् विपरीत राज्यमें अल्प मूल्यमें प्राप्त होनेवाली वस्तुओंको लेना। तात्पर्य यह कि न्यायमार्गसे च्युत होकर वस्तुओंका क्रय-विक्रय करना, नापने व तौलनेके उपकरणोको हीन व अधिक रखना और कृत्रिम व्यवहार अर्थात् बहुमूल्य वस्तुमें अल्प मूल्यवाली वस्तुको (जैसे सुवर्णमे ताँबा आदि) मिलाकर बेचना अथवा बहुमूल्य वस्तुके स्थानमें अल्पमूल्य वस्तुको (जैसे सुवर्णके स्थानमें पीतल) धोखा देकर बेचना; ये पाच अतिचार कर्मोको नष्ट कर देनेवाले वीतराग देवने अचौर्याणुव्रतमें सम्भव होनेवाले कहे हैं ॥ ८६-८७ ॥ कामसेवनके अंगभूत योनि और

---

१ स °मव्ययं। २ स °छेदो, °छेदैः। ३ स मलापं च। ४ स °ति क्रमो। ५ स गमने। ६ स स्वीकृतेतारू°।

850) अन्यदीयविवाहस्य विधानं जिनपुंगवैः ।
अतिचारा मताः पञ्च चतुर्थव्रतसंभवाः ॥ ८९ ॥

851) हिरण्यस्वर्णयोर्वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययोः ।
कुप्यस्य दासदास्योश्च प्रमाणे ऽतिक्रमाभिधा.[1] ॥ ९० ॥

852) अतिचारा जिनैः प्रोक्ताः पञ्चामी पञ्चमे व्रते ।
वर्जनीया प्रयत्नेन व्रतरक्षाविचक्षणैः ॥ ९१ ॥[2]

853) क्षेत्रस्य वर्धनं तिर्यगूर्ध्वाधो व्यतिलङ्घनम् ।
स्मृत्यन्तरविधिः पञ्च मता दिग्विरतेर्मलाः ॥ ९२ ॥

854) आनीतिः[3] पुद्गल[4]क्षेप[5] प्रेष्य[6]लोकानुयोजनम् ।
शब्दरूपानुपातौ च स्युर्देशविरतेर्मलाः ॥ ९३ ॥[7]

855) असमीक्षक्रिया[8] भोगोपभोगानर्थकारिता ।
बहुसंबन्धभाषित्वं[9] कौकुच्यं[10] मदनार्तता[11] ॥ ९४ ॥

गमनम्, अन्यदीयविवाहस्य विधानं, जिनपुंगवैः चतुर्थव्रतपञ्चकस्य पञ्च अतिचारा मताः ॥ ८८-८९ ॥ पञ्चमे व्रते हिरण्यस्वर्णयोः, वास्तुक्षेत्रयोः, धनधान्ययोः, कुप्यस्य दासदास्योः च प्रमाणे अतिक्रमाभिधाः पञ्च अतिचाराः जिनैः प्रोक्ताः । व्रतरक्षाविचक्षणैः ते प्रयत्नेन वर्जनीयाः ॥ ९०-९१ ॥ क्षेत्रस्य वर्धनं, तिर्यगूर्ध्वाधो व्यतिलङ्घनं, स्मृत्यन्तरविधिः दिग्विरतेः पञ्च मलाः मताः ॥ ९२ ॥ आनीतिः, पुद्गलक्षेपः, प्रेष्यलोकानुयोजनं च शब्दरूपानुपातौ देशविरतेर्मलाः स्युः ॥९३॥ समस्तवस्तुविस्तारवेदिभिः जिनपुङ्गवैः असमीक्ष्य क्रिया, भोगोपभोगानर्थकारिता, बहुसंबन्धभाषित्वं, कौत्कुच्यं, मदनार्तता,

---

मेहनके सिवाय अन्य अंगोसे क्रीडा करना, विषयभोगकी अतिशय लालसा रखना, स्वीकृत (विवाहित) अथवा अस्वीकृत (अविवाहित वेश्या अथवा विधवा आदि) व्याभिचारिणी स्त्रियोके यहाँ जाना ये दो तथा दूसरोंका विवाह करना; ये पाँच जिनेन्द्र देवके द्वारा ब्रह्मचर्याणुव्रतमे सम्भव होनेवाले अतिचार माने गये हैं ॥ ८८-८९ ॥ चाँदी और सोनेके प्रमाणका उल्लघन करना, घर और खेतके प्रमाणका उल्लघन करना, धन (गाय; भैंस व घोड़ा आदि) और धान्य (गेहूँ, जौ व चावल आदि) के प्रमाणका उल्लघन करना, कुप्य (सुवर्ण व चाँदीके अतिरिक्त कासा-पीतल आदि तथा साधारण व रेशमी वस्त्रादि) के प्रमाणका उल्लघन करना तथा दास और दासीके प्रमाणका उल्लघन करना; ये पाँच जिन भगवान्के द्वारा पाँचवे परिग्रहपरिमाणव्रतके अतिचार कहे गये हैं। व्रतके पालनमें निपुण पुरुषोंको इनका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिये ॥ ९०-९१ ॥ की हुई मर्यादाका बढ़ा लेना, तिरछी सीमाका उल्लंघन करना, पर्वतादिके ऊपर चढ़ते हुए ऊर्ध्व दिशाकी मर्यादाका उल्लंघन करना, कुएँ व खान आदिमे जाकर अधोदिशा सबंधी मर्यादाका उल्लघन करना तथा की हुई मर्यादाको भूल जाना, ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार माने गये है ॥ ९२ ॥ स्वयकी हुई मर्यादाके भीतर स्थित रहकर मर्यादाके बाहरकी वस्तुको मँगानेके लिये दूसरेको आज्ञा देना, ककड आदिको फेंककर मर्यादाके बाहर स्थित व्यक्तिके ध्यानको खीचना, मर्यादाके बाहर कार्य करानेके लिये किसी अन्यको नियुक्त करना; खाँसने आदिके शब्दसे मर्यादाके बाहर स्थित व्यक्तिके ध्यानको खीचना, अपने आकारको दिखाकर उसका ध्यान खींचना, ये पाँच देशव्रतके अतिचार हैं ॥ ९३ ॥ असमीक्षक्रिया अर्थात् प्रयोजनका विचार न करके अधिकता-

---

१ स तिक्रमाद्दिधा, °मिधा, °विधा, प्रमाणेति क्रमादिद्वधा । २ स om 91 । ३ स आनीति, अनीतिपु° । ४ स पुद्गलः । ५ स °क्षेपा. । ६ स प्रेक्ष्य लोका° । ७ स om. 93 । ८ स °क्रियाभो° । ९ स °संबन्धनाक्षित्वं । १० स कौत्कुच्य । ११ स मदनार्द्रता ।

856) पञ्चैते ऽनर्थदण्डस्य विरतेः कथिता मलाः ।
समस्तवस्तुविस्ता[1]रवेदिभिर्जिनपुंगवैः ॥ ९५ ॥
857) अस्थिरत्वा[2]स्मृत[3]योगदुष्क्रियानादरा मलाः ।
सामायिकव्रतस्यैते मताः पञ्च जिनेश्वरैः ॥ ९६ ॥
858) अदृष्टा[4]मार्जितोत्सर्गादान[5]संस्तारक[6]क्रियाः[7] ।
अस्मृत्यानादरौ पञ्च प्रोषधस्य मलाः मताः ॥ ९७ ॥
859) सचित्त[8]मिश्रसंबद्धदुः[9]पक्वाभिषवाशिता ।
भोगोपभोगसंख्याया मलाः पञ्च निवेदिताः ॥ ९८ ॥
860) सचित्ताच्छादनिक्षेपकालातिक्रममत्सराः ।
सहान्यव्यपदेशेन दाने पञ्च मला मताः ॥ ९९ ॥[10]
861) पञ्चत्वजीविताशंसे[11] मित्ररागसुखाग्रहः ।
निदानं चेति निर्दिष्टं संन्यासे मलपञ्चकम् ॥ १०० ॥

अनर्थदण्डस्य विरते एते पञ्च मला. कथिता. ॥ ९४-९५ ॥ जिनेश्वरैः अस्थिरत्वास्मृतयोगदुष्क्रियानादराः एते पञ्च सामायिकव्रतस्य मलाः मताः ॥ ९६ ॥ प्रोषधस्य अदृष्टामार्जितोत्सर्गादानसंस्तारकक्रियाः अस्मृत्यानादरौ पञ्च मलाः मताः ॥ ९७ ॥ भोगोपभोगसंख्यायाः सचित्तमिश्रसंबद्धदुःपक्वाभिषवाशिता पञ्च मलाः निवेदिताः ॥ ९८ ॥ दाने अन्यव्यपदेशेन सह सचित्ताच्छादनिक्षेपकालातिक्रममत्सराः पञ्च मला मताः ॥ ९९ ॥ संन्यासे पञ्चत्वजीविताशंसे मित्ररागसुखाग्रहः च

से कार्य करना, जितने अर्थसे भोग और उपभोगका कार्य चलता है उससे अधिक अर्थको रखना, बहुत और असम्बद्ध भाषण करना, कौत्कुच्य (शरीरकी कुचेष्टा करना) और मदनार्तता (कामपीडा) अर्थात रागके वश होकर हास्यसे परिपूर्ण अशिष्ट वचन बोलना; ये पाँच समस्त वस्तुओके विस्तारको जाननेवाले जिनेन्द्र देवके द्वारा अनर्थदण्डव्रतके अतिचार कहे गये है ॥ ९४-९५ ॥ अस्थिरत्वास्मृत (स्मृत्यनुपस्थान) अर्थात् सामायिक-में एकाग्रताका न रहना; योगदुष्क्रिया अर्थात् मन, वचन एव काय इन तीन योगोंका सावद्यमे प्रवृत्त होना, और अनादर (उत्साह न रखना) जिनेन्द्रके द्वारा ये पाँच सामायिक व्रतके अतिचार माने गये हैं ॥ ९६ ॥ अदृष्टाप्रमार्जितोत्सर्ग अर्थात् बिना देखी और बिना शोधी हुई भूमिके ऊपर मल-मूत्रादि करना, बिना देखे और बिना शोधे पूजाके उपकरणों व वस्त्र आदिको ग्रहण करना, बिना देखे और बिना शोधे विस्तर आदिका बिछाना, अस्मरण और अनादर ये पांच प्रोषधके अतिचार माने गये हैं ॥ ९७ ॥ सचित्त (जीवोसे प्रतिष्ठित वनस्पति आदि) भोजन, सचित्तसे मिला हुआ भोजन, सचित्तसे सम्बद्ध भोजन, ठीकसे नही पका हुआ भोजन और अभिषव अर्थात् गरिष्ठ भोजन; ये पाँच भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचार कहे गये हैं ॥ ९८ ॥ सचित्त पद्मपत्रादिसे आच्छादित आहारको देना, सचित्त पत्ते आदिमे रखे हुए आहारको देना, आहारके कालका उल्लंघन करके आहार देना, दूसरे दाता श्रावकके गुणोंको न सहना—उससे ईर्ष्या रखना और परव्यपदेश अर्थात् स्वयं आहारदान न करके दूसरेके लिये देय वस्तु (आहार) को देते हुए उसे आहार देनेके लिये कहना; ये पांच दान (अतिथिसंविभाग) के अतिचार माने गये हैं ॥ ९९ ॥ व्याधिसे अतिशय पीड़ित होकर मरनेकी

---

१ स सामायिकादिभेदाश्च वेदिभि° । २ स अस्थिरत्वं । ३ स स्मृतं । ४ स अदृष्ट, अदृष्ट्व । ५ स °दानं° । ६ स °सुंस्तरकः°, °संस्तरक° । ७ स °क्रियाम्, °क्रिया । ८ स सच्चित° । ९ स °संबंध°, वासिताः, °दुष्पक्वासि-षवाशिता । १० स om. 99 । ११ स °शंसो, °संशे, °संशे ।

862) शङ्काकाङ्क्षाचिकित्सान्य[1]प्रशंसासंस्तवा मलाः ।
पञ्चेमे[2] दर्शनस्योक्ता जिनेन्द्रैर्धु त[3]कल्मषैः ॥ १०१ ॥

863) इत्येवं सप्ततिः प्रोक्ता मलानाममलाशयैः ।
तस्या[4] व्युदासतो धार्यं श्रावकैर्व्रतमुत्तमम्[5] ॥ १०२ ॥

864) यो दधाति नरः[6] पूतं श्रावकव्रतमर्चितम् ।
मर्त्यामरश्रियं प्राप्य यात्यसौ मोक्षमक्षयम्[7] ॥ १०३ ॥

865) भ्रूनेत्राङ्गुलिहुंकारशिरःसंज्ञा[8]द्यपाकृतम् ।
कुर्वद्भिर्भोजनं कार्यं श्रावकैर्मौनमुत्तमम् ॥ १०४ ॥

866) शरच्चन्द्रसमां[9] कीर्तिं मैत्रीं सर्वजनानुगाम् ।
कन्दर्पसमरूपत्वं धीरत्वं बुधपूज्यताम्[10] ॥ १०५ ॥[11]

867) आदेयत्वमरोगित्वं सर्वसत्त्वानुकम्पिताम्[12] ।
धनं धान्यं धरां[13] धाम सौख्यं सर्वजनाधिकम् ॥ १०६ ॥

निदानम् इति मलपञ्चक निर्दिष्टम् ॥ १०० ॥ धूतकल्मषैः शङ्काकाङ्क्षाचिकित्सान्यप्रशंसासंस्तवा. इमे दर्शनस्य पञ्च मला. उक्ता ॥ १०१ ॥ अमलाशयैः इति एव मलानां सप्ततिः प्रोक्ता । तस्याः व्युदासतः श्रावकै. उत्तम व्रतं धार्यम् ॥ १०२ ॥ यः नर. पूतम् अर्चितं श्रावकव्रत दधाति, असौ मर्त्यामरश्रियं प्राप्य अक्षयं मोक्ष याति ॥ १०३ ॥ भ्रूनेत्राङ्गुलिहुंकारशिरः- संज्ञाद्यपाकृत भोजनं कुर्वद्भि. श्रावकै उत्तम मौनं कार्यम् ॥ १०४ ॥ [मौनेन जनः] शरच्चन्द्रसमा कीर्तिं, सर्वजनानुगां मैत्री, कन्दर्पसमरूपत्वं, धीरत्व, बुधपूज्यतां, आदेयत्वम्, अरोगित्वम्, सर्वसत्त्वानुकम्पिता, धन, धान्यं, धरा, धाम, सर्व-

---

इच्छा करना, जीनेकी इच्छा करना, मित्रोसे अनुराग रखना, अनुभूत सुखका स्मरण करना और निदान अर्थात् आगामी भवमे भोगोंकी इच्छा करना; ये पाँच संन्यास-सल्लेखनाके अतिचार कहे गये है ॥ १०० ॥ जिनवचन- में सन्देह रखना, सुखको स्थिर मानकर उसकी इच्छा करना, साधुके मलिन शरीरको देखकर घृणा करना, मिथ्यादृष्टिके गुणोकी मनसे सराहना करना और मिथ्यादृष्टिके गुणोंकी वचनों द्वारा प्रशसा करना; ये पाँच वीतराग जिनेन्द्रके द्वारा सम्यग्दर्शनके अतिचार कहे गये है ॥ १०१ ॥ इस प्रकारसे निर्मल अभिप्राय रखनेवाले जिनेन्द्र देवने सत्तर अतिचार (बारह व्रत, सल्लेखना और सम्यग्दर्शन इनमेसे प्रत्येकके पाँच पाँच) कहे हैं। उन सबका निराकरण करके श्रावकोको निर्मल व्रतका परिपालन करना चाहिये ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य पवित्र एवं पूजित इस श्रावकव्रतको धारण करता है वह मनुष्य एव देवोंकी लक्ष्मीको प्राप्त करके अविनश्वर मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥ श्रावकोको भृकुटि, नेत्र, अगुलि, हुंकार (हू हू शब्द) और शिरके संकेत आदिको छोड़कर भोजन करते हुए उत्तम मौनको धारण करना चाहिये ॥ १०४ ॥ मौनको धारण करनेवाले मनुष्यकी शरत्कालीन चन्द्रमाके समान धवल कीर्ति फैलती है, उसकी समस्त जनसे मित्रता होती है—उससे कोई भी द्वेष नही करता है, वह कामदेवके समान सुन्दर होता है, धीर होता है, विद्वानोसे पूजा जाता है, कान्तिमान् होता है, नीरोग होता है, समस्त प्राणियोंके ऊपर दयालु होता है; धन, धान्य, पृथिवी और गृहसे संयुक्त होता है, समस्त जनोसे अधिक सुखी होता है, उसकी वाणी

---

१ स °चिकित्सादि° । २ स पञ्चमे । ३ स °र्दुत°, °धृ त°, °द्रु त° । ४ स तस्य । ५ स °मुत्तमै । ६ स नरो । ७ स °मव्ययम् । ८ स °शिरःसंख्या° । ९ स °शम° । १० स °पूजता । ११ स om. 105 । १२ स °कंपिता, °कंपितं । १३ स धरा ।

868) गम्भीरां मधुरां वाणीं सर्वश्रोत्रमनोहराम् ।
निःशेषशास्त्रनिष्णातां बुद्धिं ध्वस्ततमोमलाम् ॥ १०७ ॥

869) घण्टाकाहलभृङ्गारचन्द्राय[1]कपुरःसरम् ।
विधाय पूजनं देयं भक्तितो जिनसद्मनि ॥ १०८ ॥

870) चतुर्विधस्य संघस्य भक्त्यारोपितमानसैः ।
दानं चतुर्विधं देयं संसारोच्छेदमिच्छुभिः ॥ १०९ ॥

871) यावज्जीवं जनो[2] मौनं यो[3] विधत्ते[4] ऽतिभक्तितः ।
नोद्यो[5]तनं परं कृत्वा निर्वाहात् कथितं जिनैः[6] ॥ ११० ॥

852) एवं त्रिधापि यो मौनं विधत्ते विधिवन्नरः ।
न दुर्लभं त्रिलोकेऽपि विद्यते तस्य किंचन ॥ १११ ॥

873) विचित्रशिखराधारं विचित्रध्वजमण्डितम् ।
विधातव्यं जिनेन्द्राणां मन्दिरं मन्दरो[7]पमम् ॥ ११२ ॥

874) येनेह कारितं सौधं जिनभक्तिमता भुवि ।
स्वर्गापवर्गसौख्यानि तेन हस्ते कृतानि वै ॥ ११३ ॥

875) यावत्तिष्ठति जैनेन्द्रमन्दिरं धरणीतले ।
धर्मस्थितिः कृता तावज्जैनसौधविधायिना ॥ ११४ ॥

जनाधिकं सौख्यं, गम्भीरा मधुरा, सर्वश्रोत्रमनोहरा वाणी, ध्वस्ततमोमलां निःशेषशास्त्रनिष्णाता बुद्धि [लभते] ॥ १०५-१०७ ॥ जिनसद्मनि भक्तितः पूजनं विधाय घण्टाकाहलभृङ्गारचन्द्रायकपुरःसरं देयम् ॥ १०८ ॥ भक्त्यारोपितमानसैः संसारोच्छेदमिच्छुभिः चतुर्विधस्य संघस्य चतुर्विध दानं देयम् ॥ १०९ ॥ यः जनः अतिभक्तितः यावज्जीव मौनं विधत्ते, जिनैः निर्वाहात् पर कृत्वा उद्योतनं न कथितम् ॥ ११० ॥ यः नरः विधिवत् त्रिधापि मौनं विधत्ते तस्य त्रिलोके अपि किंचन दुर्लभं न विद्यते ॥ ११ ॥ विचित्रशिखराधार विचित्रध्वजमण्डितं मन्दरोपम जिनेन्द्राणा मन्दिर विधातव्यम् ॥ ११२ ॥ इह भुवि जिनभक्तिमता येन सौध कारितं तेन स्वर्गापवर्गसौख्यानि वै कृतानि ॥ ११३ ॥ जैनसौधविधायिना धरणीतले

गम्भीर, मधुर और सब श्रोताओंके मनको हरनेवाली होती है, तथा उसकी निर्मल बुद्धि समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण होती है ॥ १०५-१०७ ॥ जिनमन्दिर भक्तिपूर्वक पूजा करके घण्टा, भेरी, मृदग, झारी और चंदोबा आदिको देना चाहिये ॥ १०८ ॥ जिनका मन भक्तिसे ओत-प्रोत है तथा जो संसारका नाश करना चाहते हैं उन्हे चार प्रकारके सघके लिये चार प्रकारका दान देना चाहिये ॥ १०९ ॥ जो मनुष्य अतिशय भक्तिसे जन्म पर्यन्त मौनको धारण करता है उसके लिये जिन भगवान्ने निर्वाहसे भिन्न उद्यापन नही बतलाया है—उसके लिये मौनव्रतका उद्यापन विहित नही है ॥ ११० ॥ इस प्रकार जो मनुष्य विधिपूर्वक मन, वचन और कायसे उस मौनको धारण करता है उसके लिये तीनो ही लोकोमे कोई भी वस्तु दुर्लभ नही है—उसे सब कुछ सुलभ है ॥ १११ ॥ श्रावकके लिये विचित्र शिखर व आधार सहित तथा विचित्र ध्वजाओसे सुशोभित मेरुके समान जिनेन्द्रोंके मन्दिर (जिनभवन) को कराना चाहिये ॥ ११२ ॥ जिसने जिनभक्तिसे प्रेरित होकर यहाँ पृथिवी-पर जिनभवनका निर्माण कराया है उसने निश्चयसे स्वर्ग और मोक्षके सुखको हाथमें कर लिया है—उसे स्वर्ग-मोक्षका सुख निश्चित ही प्राप्त होनेवाला है ॥ ११३ ॥ जब तक पृथिवीतल पर जिनमन्दिर स्थित रहता

---

१ स चंद्रोपक° । २ स मनो । ३ स om. यो । ४ स विधत्ते चाति° । ५ स नो यातनं, नो द्द्योतनं । ६ स जनैः । ७ स मंदिरो° ।

876) येनाङ्गुष्ठप्रमाणार्चा[1] जैनेन्द्री क्रियते ऽङ्गिना ।
तस्याप्यनश्वरी लक्ष्मीर्न दूरे जातु जायते ॥ ११५ ॥

877) यः करोति जिनेन्द्राणां पूजनं स्नपनं नरः ।
स पूजामाप्य[2] निःशेषां लभते शाश्वतीं श्रियम् ॥ ११६ ॥

878) सम्यक्त्वज्ञानभाजो जिनपतिकथितं ध्वस्तदोषप्रपञ्चं
संसारासारभीता विदधति सुधियो ये व्रतं श्रावकीयम् ।
भुक्त्वा भोगा[3]नरोगान् वरयुवतियुताः स्वर्गमर्त्येश्वराणां
ते नित्यानन्तसौख्यं शिवपदमपदं व्यापदां[4] यान्ति मर्त्याः ॥ ११७ ॥

॥ श्रावकधर्मक[5]थनसप्तदशोत्तरं शतम् ॥ ३१ ॥

यावत् जैनेन्द्रमन्दिरं तिष्ठति तावत् धर्मस्थितिः कृता ॥ ११४ ॥ येन अङ्गिना अङ्गुष्ठप्रमाणा जैनेन्द्री अर्चा क्रियते तस्य अपि अनश्वरी लक्ष्मीः जातु दूरे न जायते ॥ ११५ ॥ यः नरः जिनेन्द्राणां पूजनं स्नपनं करोति स निःशेषां पूजाम् आप्य शाश्वतीं श्रियं लभते ॥ ११६ ॥ सम्यक्त्वज्ञानभाजः संसारासारभीताः सुधियः ये मर्त्याः जिनपतिकथितं ध्वस्तदोषप्रपञ्चं श्रावकीयं व्रतं विदधति ते वरयुवतियुताः स्वर्गमर्त्येश्वराणाम् अरोगान् भोगान् भुक्त्वा व्यापदाम् अपदं नित्यानन्तसौख्यं शिवपदं यान्ति ॥ ११७ ॥

इति श्रावकधर्मकथनसप्तदशोत्तरं शतम् ॥ ३१ ॥

है तब तकके लिये उक्त जिनमन्दिरका निर्माण करानेवाला श्रावक धर्मकी स्थितिको कर देता है—तब तक वहाँ धर्मकी प्रवृत्ति चालू रहती है ॥ ११४ ॥ जो प्राणी अँगूठेके बराबर भी जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाको करता है है उसके भी अविनश्वर लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) कभी दूर नहीं रहती है, अर्थात् वह भी शीघ्र ही मोक्ष लक्ष्मीका स्वामी बन जाता है ॥ ११५ ॥ जो मनुष्य जिनेन्द्र देवकी पूजा एवं अभिषेकको करता है वह समस्त पूजाको प्राप्त होकर—सबका पूज्य होकर—नित्य लक्ष्मीको (मोक्ष सुखको) प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥ जो निर्मलबुद्धि मनुष्य संसारकी असारतासे भयभीत होकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे विभूषित होते हुए जिन भगवान्के द्वारा प्ररूपित निर्दोष श्रावकके व्रतको—देश चारित्रको—धारण करते हैं वे उत्तम युवति स्त्रियोसे सेवित होते हुए नीरोग रहकर इन्द्र और चक्रवर्तीके भोगोंको भोगते हैं और फिर अन्तमें नित्य एव अनन्त सुखसे संयुक्त निरापद मोक्ष पदको प्राप्त होते हैं ॥ ११७ ॥

इसप्रकार एक सौ सतरह श्लोकोमें श्रावक धर्मका निरूपण किया ।

●

---

१ स °णार्च्या, °र्च, °त्व । २ स पूजामप्य । ३ स भोगान्नरो° । ४ स व्यापदं । ५ स °धर्मनिरूपणम् ।

[३२. द्वादशविधतपश्चरणषट्त्रिंशत्]

879) प्रणम्य सर्वज्ञमनन्तमीश्वरं जिनेन्द्रचन्द्रं धुत[1]कर्मबन्धनम् ।
विनाश्यते[2] येन दुरन्तसंसृतिस्तदुच्यते मोहतमोपहं तपः[3] ॥ १ ॥

880) विनिर्मलानन्तसुखैककारणं[4] दुरन्तदुःखानलवारिदागमम् ।
द्विधा तपो[5]ऽभ्यन्तरबाह्यभेदतो वदन्ति षोढा पुनरेकशो जिना ॥ २ ॥

381) करोति साधुर्निरपेक्षमानसो विमुक्तये मन्मथशत्रुशान्तये ।
तदात्मशक्त्यानशनं तपस्यता[6] विधीयते येन मनःकपिर्वशः[7] ॥ ३ ॥

882) शमाय रागस्य वशाय चेतसो जयाय निद्रातमसो बलीयस. ।
श्रुताप्तये संयमसाधनाय च तपो विधत्ते मित[8]भोजनं मुनिः ॥ ४ ॥

धुतकर्मबन्धन सर्वज्ञम् अनन्तम् ईश्वरं जिनेन्द्रचन्द्र प्रणम्य येन दुरन्तससृति विनाश्यते तत् मोहतमोपहं तप उच्यते ॥ १ ॥ जिना. विनिर्मलानन्तसुखैककारण दुरन्तदु.खानलवारिदागमम् अभ्यन्तरबाह्यभेदत द्विधा तप. वदन्ति । पुन' एकशः षोढा वदन्ति ॥ २ ॥ निरपेक्षमानस' साधु' मन्मथशत्रुशान्तये विमुक्तये तत् अनशनं तप' करोति । आत्म-शक्त्या तपस्यता येन मन कपि' वशः विधीयते ॥ ३ ॥ मुनिः रागस्य शमाय, चेतस' वशाय, बलीयस निद्रातमसो जयाय

सर्वज्ञ, अनन्त, ईश्वर और कर्मबन्धसे रहित जिनेन्द्ररूप चन्द्रको प्रणाम करक जिस तपके द्वारा दुर्विनाश ससार नष्ट किया जाता है तथा जो मोहरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाला है उस तपकी प्ररूपणा की जाती है ॥ १ ॥ जो तप निर्मल अनन्त सुखका प्रधान कारण होकर दुर्विनाश दुखरूप अग्निको शान्त करनेके लिये मेघोंके आगमनके समान है उसे जिनदेव बाह्य एव अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका बतलाते है। इनमे भी प्रत्येक-के छह छह भेद हैं ॥ २ ॥ जिस अनुष्ठित अनशन तपके द्वारा मनरूप मर्कट वशमे किया जाता है उसको मुनि मनमें किसी प्रकारके सासारिक फलकी अपेक्षा न रखकर कामरूप शत्रुको शान्त करके मोक्षप्राप्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार करते है ॥ ३ ॥ विशेषार्थ—इच्छाओके रोकनेका नाम तप है। वह दो प्रकारका है—बाह्य तप और अभ्यन्तर तप। जिस तपका प्रभाव बाह्य शरीर एव इन्द्रियोके ऊपर पड़ता है तथा जो बाह्यमें प्रत्यक्ष देखा जा सकता है वह बाह्य तप कहा जाता है। उसके छह भेद है—अनशन, मित-भोजन (ऊनोदर), वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश और विविक्तशय्याशन। इनमें अन्न-पानादि चार प्रकारके आहारके परित्यागको अनशन तप कहा जाता है। जिसप्रकार बंदर इधर उधर वृक्षादिके ऊपर दौड़ता हुआ कभी स्थिर नहीं रहता है उसी प्रकार मनुष्यका मन भी विषयोमें निरन्तर दौड़ता हुआ कभी स्थिर नही रहता है। उसको प्रकृत अनशन तपके द्वारा स्थिर किया जाता है। कारण यह है कि भोजनके द्वारा ही इन्द्रियाँ एवं मन उद्धतताको प्राप्त होते हैं। अतएव उक्त भोजनके परित्यागसे वे स्वभावत. शान्त रहते हैं। इनकी शान्तिसे प्रबल काम (विषयवाछा) भी स्वयं शान्त हो जाता है। इस प्रकारसे साधु अपनी शक्तिके अनुसार उक्त अनशन तपको करता हुआ कामको शान्त करके अन्तमे मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥ मुनि राग-द्वेषको शान्त करनेके लिये, मनको वशमें करनेके लिये, अतिशय बलवान् निद्रारूप अन्ध-

---

१ स °द्रुत°, °द्रुत° । २ स विनाशते । ३ स तमः । ४ स °कारिणं । ५ स तपोभ्यन्तर° । ६ स तपस्यतो, तप-स्यते । ७ स वशम् । ८ स मिति° ।

883) **विचित्रसंकल्पलतां विशालिनीं यतो यतिर्दुःखपरंपराफलाम्[1] ।**
लुनाति तृष्णाव्रततिं समूलतस्तदेव[2] वेश्मादिनिरोधनं तपः ॥ ५ ॥

884) **विजित्य लोकं निखिलं [3]सुरेश्वरा वशं न नेतुं प्रभवो भवन्ति[4]यम् ।**
प्रयाति येनाक्षगणः स वश्यतां रसोज्झनं तन्निगदन्ति साधवः[5] ॥ ६ ॥

885) **विचित्रभेदा[6] तनुबाधनक्रिया विधीयते या श्रुतिसूचितक्रमात् ।**
तपस्तनुक्लेशमदः प्रचक्ष्यते[7] [8]मनस्तनुक्लेशविनाशनक्षमम् ॥ ७ ॥

श्रुताप्तये च संयमसाधनाय मितभोजनं तपः विधत्ते ॥ ४ ॥ यत यतिः दु'खपरपराफला विशालिनी विचित्रसंकल्पलतां तृष्णाव्रततिं समूलत. लुनाति, तदेव वेश्मादिनिरोधन तप. अस्ति ॥ ५ ॥ सुरेश्वरा. निखिलं लोकं विजित्य यं वशं नेतुं प्रभवः न भवन्ति स अक्षगणः येन वश्यता प्रयाति, साधवः तत् रसोज्झन निगदन्ति ॥ ६ ॥ या विचित्रभेदा तनुबाधनक्रिया श्रुतिसूचितक्रमात् विधीयते, मनस्तनुक्लेशविनाशनक्षमम् अद' तनुक्लेश तप प्रचक्ष्यते ॥ ७ ॥ स्त्रीपशुषण्डवर्जिते निवासे

कारको जीतनेके लिये, आगमज्ञानको प्राप्त करनेके लिये तथा संयमको सिद्ध करनेके लिये मितभोजन (अव-मोदर्य · तपको करते हैं—अनशनकी शक्ति न रहने पर संयम एव स्वाध्यायके साधनार्थ अल्प भोजनको ग्रहण करते हैं ॥ ४ ॥ जो विस्तृत तृष्णारूप बेल अनेक प्रकारकी सकल्प-विकल्परूप शाखाओसे सहित होकर दुख-परम्परारूप फलोंको उत्पन्न करती है वह जिस तपके द्वारा जड़-मूलसे छिन्न-भिन्न कर दी जाती है उसे वेश्मादिनिरोध (वृत्तिपरिसख्यान) कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि आहारके लिये जाते हुए संयमके साधनार्थ जो दो चार गृह जाने आदिका नियम किया जाता है उसे वेश्मादिनिरोध या वृत्ति परिसंख्यान तप कहते हैं ॥५॥ विशेषार्थ—इस तपमे साधु गृह, दाता एवं पात्र आदिके विषयमें अनेक प्रकारके नियमोंको करता है। यथा—आज मै दो ही घरोमें प्रवेश करूँगा, यदि इनमें विधिपूर्वक निरन्तराय आहार प्राप्त हुआ तो लूँगा, अन्यथा नही। इसी प्रकार वृद्ध, युवा अथवा महिला यदि जूतोसे रहित (नंगे पैर) होकर मार्गमे प्रतिग्रह करेगी तो मै आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा नही। वह पात्रके विषयमे भी नियम करता है कि यदि आज सुवर्ण अथवा चाँदीके पात्रसे आहार प्राप्त होगा तब ही उसे ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इसप्रकारसे वह संयमको सिद्ध करने तथा सहनशीलताको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके नियमोको करता है तथा तद-नुसार यदि आहार प्राप्त हो जाता है तो उसे ग्रहण करता है। परन्तु यदि इस प्रकारसे उसे आहार नही प्राप्त होता है तो वह इसके लिये न तो खिन्न होता है और न दाताको भी अविवेकी या मूर्ख समझता है ॥५॥ इन्द्र समस्त लोकको जीत करके भी जिस इन्द्रियसमूहको वशमें करनेके लिये समर्थ नही होते हैं वह इन्द्रिय-समूह जिस तपके द्वारा अधीनताको प्राप्त होता है उसे साधु जन रसपरित्याग तप कहते हैं। अभिप्राय यह कि दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक इन छह रसोंमेसे अथवा तिक्त, कडुआ, कषाय, आम्ल और मधुर इन पाँच रसोंमेंसे एक दो आदि रसोंका परित्याग करना, इसे रस परित्याग तप कहा जाता है ॥ ६ ॥ आगममें सूचित क्रमके अनुसार शरीरको बाधा पहुँचानेवाली जो अनेक प्रकारकी क्रिया (जैसे दण्डके समान स्थिर रहकर सोना तथा पर्यंकासन एवं वीरासन आदिको लगाकर ध्यान करना आदि) की जाती है उसे कायक्लेश तप कहा जाता है। वह मन एवं शरीरके संक्लेशको नष्ट करनेमें समर्थ है ॥ ७ ॥ मुनि स्वाध्याय व ध्यान आदि-

---

१ स फलम् । २ स तदेक । ३ स स्वरे° । ४ स यः, ये । ५ स साधक । ६ स विचित्रा येन तनु° । ७ स प्रवक्षते । ८ स मनुस्त° ।

886) यदासनं[1] स्त्रीपशुषण्ढवर्जिते[2] मुनिर्निवासे पठनादिसिद्धये।
विविक्त[3]शय्यासनसंज्ञकं[4] तपस्तपोधनस्तद्विदधाति मुक्तये॥ ८॥
887) मनोवच.कायवशादुपागतो विशोध्यते येन मलो मनीषिभिः।
श्रुतानुरूपं मलशोधनं तपो विधीयते तद्व्रतशुद्धिहेतवे॥ ९॥
888) प्रयाति रत्नत्रयमुज्ज्वलं यतो[5] यतो हिनस्त्यर्जितकर्म सर्वथा।
यतः सुखं नित्यमुपैति पावनं विधीयते ऽसौ विनयो यतीश्वरैः॥ १०॥

पठनादिसिद्धये यत् आसनं तत् विविक्तशय्यासनसंज्ञक तप । तपोधन' तत् मुक्तये विदधाति ॥ ८॥ मनीषिभिः येन मनोवचःकायवशात् उपागत मलः विशोध्यते, तन् मलशोधन तप व्रतशुद्धिहेतवे श्रुतानुरूपं विधीयते ॥ ९॥ यतः यति. उज्ज्वलं रत्नत्रयं प्रयाति । यत' अर्जितकर्म सर्वथा हिनस्ति । यतः पावनं नित्यं सुखम् उपैति, यतीश्वरैः असौ विनयः विधीयते ॥ १०॥ व्रतशीलशालिनाम् अनेकरोगादिनिपीडितात्मना तपोधनानाम् आदरात् शरीरत. च प्रासुकभेषजेन

की सिद्धिके लिये जो स्त्री और पशुओके समूहसे रहित निरुपद्रव स्थानमे आसन लगाकर स्थित होते हैं उसे विविक्तशय्यासन नामक तप कहते हैं। उसे तपरूप धनके धारक साधु मुक्तिप्राप्तिके निमित्त करते हैं॥ ८॥ बुद्धिमान मनुष्य जिस तपके द्वारा मन, वचन एवं कायकी प्रवृत्तिके वश उत्पन्न हुए मलको आगमानुसार शुद्ध करते हैं उसे मलशोधन (प्रायश्चित्त) तप कहते हैं। उसे साधुजन व्रतकी शुद्धिके लिये किया करते हैं॥ ९॥ जिस तपसे जीव निर्मल रत्नत्रयको प्राप्त होता है, जिससे सचित्त कर्मको सर्वथा नष्ट कर देता है, तथा जिससे पवित्र शाश्वतिक सुखको प्राप्त करता है; उस विनय तपको मुनिराज किया करते हैं॥ १०॥ विशेषार्थ—विनयका अर्थ है उद्धतताको छोड़कर नम्रताको धारण करना। वह पाँच प्रकार है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचार विनय। इनमें शंकादि दोषोको छोडकर नि शांकित आदि आठ अगोसे सहित निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करना तथा पाँच परमेष्ठियोकी भक्ति आदि करना, यह दर्शनविनय कहलाता है। कालशुद्धिपूर्वक हाथ-पाँव आदिको धोकर पल्यंक आसनसे स्थित होते हुए बहुत आदरके साथ जिनागमका पढ़ना या व्याख्यान करना, यह ज्ञानविनय है। ज्ञानविनयसे विभूषित साधु उस आगम गुरुकी पूजा व स्तुति करता है, वह जिस आगमको पढाता है या जिसका व्याख्यान करता है उस आगमके तथा जिस गुरुके पास उसने अध्ययन किया है उस गुरुके भी नामको नही छिपाकर उसका कीर्तन करता है; इसके अतिरिक्त वह व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि एवं तदुभयशुद्धिके साथ पठन-पाठन करता है। इस प्रकारसे उक्त ज्ञानविनय आठ प्रकारका हो जाता है। इन्द्रिय एव कषायोका निग्रह करना तथा समिति एवं गुप्तियोका परिपालन करना, यह सब चारित्रविनय है। आतापन आदि उत्तर गुणोंमें उत्साह रखना, उनमें होनेवाले कष्टको निराकुलतापूर्वक सहन करना, उनके विषयमें श्रद्धा रखना, उचित छह आवश्यकोंकी हानि या वृद्धि नही करना, जिस आवश्यकका जो नियमित समय हो उसी समयमें करना—उसमें हानि या वृद्धि न होने देना, जो साधु अधिक तपस्वी है उनमे अनुराग रखना तथा हीन तपस्वियोंकी अवहेलना न करना; यह सब तपविनयके अन्तर्गत है। आचार्य आदिके आनेपर उठकर खड़े हो जाना, उन्हे हाथ जोड़कर प्रणाम करना, नम्रतापूर्वक परिमित व मधुर भाषण करना, इत्यादि उपचार विनय है॥ १०॥ जो मुनि तपरूप धनसे सम्पन्न हैं तथा

१ स यदाशनं। २ स °वर्जितो, °वर्जिता, °वज्जिते। ३ स विचित्र°। ४ स °संज्ञिकं। ५ स तपो।

889) तपोधनानां व्रतशीलशालिनामनेकरोगादिनिपीडितात्मनाम् ।
शरीरतः[1] प्रासुकभेषजेन च विधीयते व्यापृति[2]रुज्ज्वलादरात् ॥ ११ ॥

890) नियम्यते येन मनो ऽतिचञ्चलं विलीयते येन पुरार्जितं रजः ।
विहीयते येन भवास्रवो[3] ऽखिलः स्वधीयते तज्जिनवाक्य[4]मर्चितम् ॥ १२ ॥

891) ददाति यत्सौख्यमनन्तमव्ययं तनोति बोधं भुवनावबोधकम् ।
क्षणेन भस्मीकुरुते च पातकं विधीयते ध्यानमिदं तपोधनैः ॥ १३ ॥

892) यतो जनो भ्राम्यति जन्मकानने यतो न सौख्यं लभते कदाचन ।
यतो व्रतं नश्यति मुक्तिकारणं परिग्रहो ऽसौ द्विविधो विमुच्यते ॥ १४ ॥

893) इदं तपो द्वादशभेदमर्चितं प्रशस्तकल्याणपरंपराकरम् ।
विधीयते यैर्मुनिभिस्तमोपहं न लभ्यते तैः किमु सौख्यमव्ययम् ॥ १५ ॥

894) तपो ऽनुभावो न किमत्र बुध्यते विशुद्धबोधैरियताक्षगोचरः[5] ।
यदन्यनिःशेषगुणैरपाकृत[6]स्तपो ऽधिकश्चेज्जगतापि पूज्यते ॥ १६ ॥

उज्ज्वला व्यापृतिः विधीयते ॥ ११ ॥ येन अतिचञ्चलं मनः नियम्यते, येन पुरार्जितं रजः विलीयते, येन अखिलः भवास्रवः विहीयते तत् अर्चितं जिनवाक्यं स्वधीयते ॥ १२ ॥ यत् अनन्तम् अव्ययं सौख्यं ददाति, भुवनावबोधकं बोधं तनोति, क्षणेन च पातकं भस्मीकुरुते, इदं ध्यानं तपोधनैः विधीयते ॥ १३ ॥ यतः जनः जन्मकानने भ्राम्यति, यतः सौख्यं कदाचन न लभते, यतः मुक्तिकारणं व्रतं नश्यति, असौ द्विविधः परिग्रहः विमुच्यते ॥ १४ ॥ यैः मुनिभिः इदं प्रशस्तकल्याणपरंपराकरं तमोपहम् अर्चितं द्वादशभेदं तपः विधीयते तैः अव्ययं सौख्यं न लभ्यते किम् ॥ १५ ॥ इयता विशुद्धबोधैः अत्र अक्षगोचरः तपोनुभावः न बुध्यते किम् । यत् तपोऽधिकः अन्यनिःशेषगुणैः अपाकृतः अपि जगता पूज्यते ॥ १६ ॥ विवेकिलोकैः दिवा-

व्रत एवं शीलोंके धारक हैं उनके अनेक रोगों आदिसे पीडित होनेपर जो शरीरसे तथा प्रासुक औषधके द्वारा उनके रोगादिको नष्ट करनेका आदरपूर्वक निर्दोष व्यापार (प्रयत्न) किया जाता है उसे वैय्यावृत्य कहते है ॥ ११ ॥ जिस जिनवाक्य (जिनागम) के द्वारा अतिशय चचल मनको नियमित (अधीन) किया जाता है पूर्वोपार्जित कर्मको नष्ट किया जाता है, तथा जिसके द्वारा ससारके कारणभूत आस्रवको रोका जाता है; उस पूज्य जिनवाक्यका जो उत्तम रीतिसे अध्ययन किया जाता है उसे स्वाध्याय तप कहते है ॥ १२ ॥ जो ध्यान अनन्त एवं अविनश्वर सुखको देता है, विश्वको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानको विस्तृत करता है, तथा पापको क्षणभरमें नष्ट कर देता है उसे ध्यान कहा जाता है। इसको मुनिजन किया करते हैं ॥ १३ ॥ जिस परिग्रहके निमित्तसे मनुष्य संसाररूप वनमे परिभ्रमण करता है, जिसके कारण वह कभी भी सुखको नही पाता है, तथा जिसके निमित्तसे मोक्षका कारणभूत संयम नष्ट हो जाता है वह परिग्रह बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। उसका परित्याग करना, इसे व्युत्सर्ग तप कहा जाता है। परिग्रहभेदके अनुसार इस तपके भी दो भेद हो जाते है—बाह्योपधिव्युत्सर्ग और अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग ॥ १४ ॥ देवादिकसे पूजित यह बारह प्रकारका तप उत्तम कल्याण परम्पराका कारण है। जो मुनि अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले इस तपको करते हैं वे क्या अविनश्वर सुख (मोक्षसुख) को नही प्राप्त करते है ? अवश्य प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥ निर्मल सम्यग्ज्ञानी जीव क्या इतने मात्रसे उस तपके इन्द्रियगोचर (प्रत्यक्ष) प्रभावको नही जानते हैं ? कारण कि जो तपमें अधिक है वह अन्य शेष गुणोंसे रहित भी हो तो भी विश्वसे पूजा जाता है ॥ १६ ॥ विवेकी जन

१ स शरीरतो प्राशुक° । २ स व्यापिपृथि°, व्यापृथगु°, व्यापृथि । ३ स भवाश्रवो । ४ स °वाच्य° । ५ स °चरैः । ६ स °कृतं ।

895) विवेकिलोकैस्तपसो दिवानिशं विधीयमानस्य विलोकितो[1] गुणः ।
तपो विधत्ते स्वहिताय मानवः समस्तलोकस्य च जायते प्रियः[2] ॥ १७ ॥

896) तनोति धर्मं विधुनोति कल्मषं हिनस्ति दुःखं विदधाति संमदम् ।
चिनोति सत्त्वं विनिहन्ति तामसं तपो ऽथवा किं न करोति देहिनाम् ॥ १८ ॥

897) अवाप्य नृत्वं भवकोटि दुर्लभं न कुर्वते ये जिनभाषितं तपः ।
महार्घरत्नाकरमेत्य सागरं व्रजन्ति[3] ते ऽगारमरत्नसंग्रहाः ॥ १९ ॥

898) अपारसंसारसमुद्रतारकं न तन्वते ये विषयाकुलास्तपः ।
विहाय ते हस्तगतामृतं स्फुटं पिबन्ति मूढाः सुखलिप्सया विषम् ॥ २० ॥

899) जिनेन्द्रचन्द्रोदितमस्तदूषणं कषायमुक्तं विदधाति यस्तपः ।
न दुर्लभं तस्य समस्तविष्टपे प्रजायते वस्तु मनोज्ञ[4]मीप्सितम् ॥ २१ ॥

900) अहो दुरन्ता [5]जगतो विमूढता[6] विलोक्यतां[7] संसृतिदुःखदायिनी[8] ।
सुसाध्यमप्यन्नविधानतस्तपो यतो जनो दुःखकरो ऽवमन्यते ॥ २२ ॥

निशं विधीयमानस्य तपसः गुणः विलोकितः । मानवः स्वहिताय तपः विधत्ते च समस्तलोकस्य प्रियः जायते ॥ १७ ॥ तपः देहिनां धर्मं तनोति, कल्मषं विधुनोति, दुःखं हिनस्ति, समदं विदधाति, सत्त्वं चिनोति, तामसं विनिहन्ति, अथवा किं न करोति ॥ १८ ॥ भवकोटिदुर्लभं नृत्वम् अवाप्य ये जिनभाषितं तपः न कुर्वते, ते महार्घरत्नाकरं सागरम् एत्य अरत्नसंग्रहाः अगारं व्रजन्ति ॥ १९ ॥ ये विषयाकुलाः अपारसंसारसमुद्रतारकं तपः न तन्वते ते मूढाः हस्तगतामृतं विहाय सुखलिप्सया स्फुटं विषं पिबन्ति ॥ २० ॥ यः जिनेन्द्रचन्द्रोदितम् अस्तदूषणं कषायमुक्तं तपः विदधाति, तस्य समस्तविष्टपे ईप्सितं मनोज्ञं वस्तु दुर्लभं न प्रजायते ॥ २१ ॥ अहो जगतो दुरन्ता संसृतिदुःखदायिनी विमूढता विलोक्यताम् । अन्नविधानतो ऽपि

दिन-रात किये जानेवाले तपके प्रभावको देख चुके है । जो मनुष्य अपने कल्याणके लिये उस तपका आचरण करता है वह समस्त लोकका प्रिय हो जाता है ॥ १७ ॥ तप धर्मको विस्तारता है, पापरूप मैलको धो देता है, दुखको दूर करता है, हर्षको उत्पन्न करता है, बलको संचित करता है तथा अज्ञानको नष्ट करता है । अथवा ठीक है—वह तप प्राणियोंके किस हितको नही करता है ? समस्त कल्याणको करता है ॥ १८ ॥ जो मनुष्य भव करोड़ों भवोंमे दुर्लभ है उसको प्राप्त करके भी जो जीव जिनोपदिष्ट तपको नही करते हैं वे महामूल्य रत्नोंकी खान स्वरूप समुद्रको प्राप्त हो करके भी रत्नोंके संग्रहसे रहित होते हुए ही घरको जाते है ॥ १९ ॥ विशेषार्थ—प्राणीका अनन्त काल तो निगोद आदि निकृष्ट पर्यायोंमे बीतता है । उसे मनुष्य पर्याय बहुत कठिनाईसे प्राप्त होती है । इस मनुष्य पर्यायका प्रयोजन सम्यग्दर्शनादिको धारण करके मोक्षसुखको प्राप्त करना है । कारण यह कि वह मोक्ष मनुष्य पर्यायको छोड़कर अन्य किसी भी पर्यायसे दुर्लभ है । इसलिये जो जीव इस दुर्लभ मनुष्य भवको पा करके भी आत्महितमे प्रवृत्त नही होते हैं वे उन मूर्खोंके समान हैं जो कि रत्नोंके भण्डारभूत समुद्रके पास पहुँच करके भी खाली हाथ ही घरको वापिस जाते हैं ॥ १९ ॥ जो जीव विषयोंमें व्याकुल होकर अपार संसाररूप समुद्रसे तारनेवाले तपको नही करते हैं वे मूर्ख हाथमें स्थित अमृतको छोड़कर सुखकी इच्छासे स्पष्टतया विषको पीते हैं ॥ २० ॥ जो प्राणी जिनेन्द्ररूप चन्द्रसे प्ररूपित निर्दोष एवं कषायसे रहित तपको करता है उसके लिये समस्त संसारमे इच्छित कोई भी मनोज्ञ वस्तु दुर्लभ नही होती है ॥ २१ ॥ जगत्की संसारपरिभ्रमण जनित दुखको देनेवाली दुर्विनाश उस मूढताको तो देखो कि

---

१ स विलोकितां । २ स om. 17 । ३ स व्रजन्ति । ४ स मनोज्ञ° । ५ स दुरन्ताय गतो । ६ स विमूढतां । ७ स विलोक्य तां । ८ स °दायिनीम् ।

901) कृत[1]श्रमश्चेद्विफलो न जायते[2] कृतश्रमा[3]श्चेद्दधते[4] ऽनघं सुखम् ।
कृतश्रम[5]श्चेद्विवृते [?] फलाय च न स श्रमः [6]साधुजनेन मन्यते ।। २३ ॥

902) श्रमं विना नास्ति महाफलोदयः श्रमं विना नास्ति सुखं कदाचन ।
यतस्ततः साधुजनैस्तपःश्रमो न मन्यते ऽनन्तसुखो महाफलः ॥ २४ ॥

903) अहर्निशं जागरणोद्यतो जनः श्रमं विधत्ते विषयेच्छया यथा ।
तपः श्रमं चेत् कुरुते तथा क्षणं किमश्नुते ऽनन्तसुखं न पावनम् ॥ २५ ॥

904) समस्तदुःखक्षयकारणं तपो विमुच्य [7]यो ऽज्ञो विषयान्निषेवते ।
विहाय सो ऽनर्घ्यमणि सुखावहं विचेतनः स्वीकुरुते बतोपलम् ॥ २६ ॥

905) अनिष्टयोगात् प्रियविप्रयोगतः परापमानाद्धनहीन[8]जीवितात्[9] ।
अनेकजन्मव्यसनप्रबन्धतो बिभेति नो यस्तपसो बिभेति सः ॥ २७ ॥

सुसाध्यं तपः यत. दुःखकरो जनः अवमन्यते ॥ २२ ॥ कृतश्रमः विफल. न जायते चेत्, कृतश्रमा अनघं सुखं दधते चेत्, कृतश्रमः फलाय विवृते चेत्, साधुजनेन सः श्रम न मन्यते ॥ २३ ॥ यत. श्रमं विना महाफलोदयः न अस्ति । श्रमं विना कदाचन सुखं न अस्ति । तत. साधुजनै. अनन्तसुखः महाफल. तपःश्रमः न मन्यते ॥ २४ ॥ अहर्निशं जागरणोद्यतो जनः यथा विषयेच्छया श्रमं विधत्ते तथा क्षणं तपःश्रमं कुरुते चेत् पावनम् अनन्तसुखं न अश्नुते किम् ॥ २५ ॥ यः अज्ञो समस्तदु खक्षयकारणं तप. विमुच्य विषयान् निषेवते, सः विचेतन सुखावहम् अनर्घ्यमणि विहाय उपलं स्वीकुरुते बत ॥ २६ ॥ यः तपसः बिभेति, स. अनिष्टयोगात् प्रियविप्रयोगतः परापमानात् धनहीनजीवितात् अनेकजन्मव्यसनप्रबन्धतः नो

जिसके कारण प्राणी अन्नके विधानसे—उपवास एवं अवमोदर्य आदिसे—सरलतासे सिद्ध करने योग्य भी तपको दुखकारक मानता है, यह आश्चर्यकी बात है ॥ २२ ॥ यदि किया हुआ परिश्रम व्यर्थ नहीं होता है, यदि श्रमको प्राप्त हुए मनुष्य निष्पाप सुखको धारण करते हैं, तथा किया हुआ परिश्रम यदि फलके निमित्त होता है तो साधु-जन उसे श्रम नहीं मानते हैं ॥ २३ ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि जिस परिश्रमका कोई फल नहीं होता है (जैसे ऊसर भूमिको जोतकर उसमें बीज बोने आदिका परिश्रम) अथवा जिस परिश्रमसे केवल दुख या किंचित् सुखके साथ अधिक दुख प्राप्त होता है वह परिश्रम ही वास्तवमें परिश्रम कहे जानेके योग्य है, क्योंकि उससे प्राणी दुखी ही रहता है। परन्तु तपमे जो कुछ परिश्रम होता है उसे विवेकी साधु कभी परिश्रम (कष्टकारक) नहीं समझते हैं; क्योंकि वह निष्फल नहीं होता है, किन्तु मोक्षरूप फलका दायक होता है। अतएव सज्जनोंको तपके परिश्रमको कष्टप्रद न समझ उसमें प्रयत्नशील होना चाहिये ॥ २३ ॥ इसके अतिरिक्त चूंकि परिश्रमके बिना प्राणीको कभी महान् अभ्युदयकी प्राप्ति नही होती है तथा उक्त परिश्रमके बिना चूंकि कभी सुख भी नही होता है इसीलिये अनन्त सुखरूप महान् फलको देनेवाले तपके लिये परिश्रमको साधुजन कभी परिश्रम (अनिष्ट) नहीं मानते है ॥ २४ ॥ मनुष्य दिन-रात जागरणमें उद्यत होकर जिस प्रकार विषयसुखकी इच्छासे परिश्रम करता है उस प्रकार यदि क्षण भरके लिये वह तपके लिये परिश्रम करता है तो क्या वह पवित्र अनन्त सुखको नही प्राप्त होता है ? अवश्य प्राप्त होता है ॥२५॥ जो प्राणी समस्त दुःखोंके नाशके कारणभूत तपको छोड़ करके विषयोंका सेवन करता है वह मूर्ख सुखदायक अमूल्य मणिको छोड़ करके पत्थरको स्वीकार करता है, यह खेदकी बात है ॥ २६ ॥ जो प्राणी अनिष्ट वस्तुके संयोग, इष्ट वस्तुके वियोग,

---

१ स कृतः श्रम° । २ स जायेते । ३ स कृतः श्रम° °श्रमा° । ४ स दधते । ५ स कृतः श्रम°, °श्रमस्वि वि° । ६ स संसुजनेन । ७ स योगी । ८ स °हानि° for हीन । ९ स जीवनात् ।

906) न बान्धवा न स्वजना न वल्लभा न भृत्यवर्गाः सुहृदो न चा[1]ङ्गजाः ।
शरीरिणस्तद्वितरन्ति सर्वथा तपो जिनोक्तं विदधाति यत्फलम्[2] ॥ २८ ॥

907) भुक्त्वा भोगानरोगानमरयुवतिभिर्भ्राजिते स्वर्गवासे
मर्त्यावासे ऽप्यनर्घ्यान् शशिविशदयशोराशिशुक्लीकृताशः ।
यात्यन्ते ऽनन्तसौख्यां विबुधजननुतां मुक्तिकान्तां यतो ऽङ्गी
जैनेन्द्रं तत्तपो ऽलं धुतकलिलमलं मङ्गलं नस्तनोतु ॥ २९ ॥

908) दुःखक्षोणिरुहाढ्यं दहति भववनं यच्छिखीवोद्यदर्चि-
र्यत्पूतं धूतबाधं वितरति परमं शाश्वतं मुक्तिसौख्यम् ।
जन्यारिं हन्तुकामा मदनमदभिदस्त्यक्तनिःशेषसंगा-
स्तज्जैनेशं तपो ये विदधति यतयस्ते मनो नः पुनन्तु ॥ ३० ॥

909) जीवाजीवादितत्त्वप्रकटनपटवो ध्वस्तकन्दर्पदर्पा
निर्धूतक्रोधयोधा भुवि महितमदा हृद्यविज्ञानवद्याः[3] ।
ये तप्यन्ते ऽनपेक्षं जिनगदिततपो[4] मुक्तये मुक्तसंगा-
स्ते मुक्तिं मुक्तबाधाममितगतिगुणाः साधवो नो दिशन्तु ॥ ३१ ॥

बिभेति ॥ २७ ॥ जिनोक्तं तपः शरीरिणः यत्फलं सर्वथा विदधाति तत्फलं न बान्धवाः, न स्वजनाः, न वल्लभाः, न भृत्यवर्गाः, न सुहृदः, न च अङ्गजाः वितरन्ति ॥ २८ ॥ यतः अङ्गी अमरयुवतिभिः भ्राजिते स्वर्गवासे अरोगान् भोगान् भुक्त्वा मर्त्यावासे अपि शशिविशदयशोराशिशुक्लीकृताशः अनर्घ्यान् भोगान् भुक्त्वा अन्ते विबुधजननुताम् अनन्तसौख्यां मुक्तिकान्तां याति, तत् धुतकलिलमलं जैनेन्द्रं तपः नः अलं मङ्गलं तनोतु ॥ २९ ॥ उद्यदर्चिः शिखी इव यत् दुःखक्षोणीरुहाढ्यं भववनं दहति, यत् पूतं धूतबाधं परमं शाश्वतं मुक्तिसौख्यं वितरति, तत् जैनेशं तपः ये जन्यारिं हन्तुकामाः मदनमदभिदः त्यक्तनिःशेषसंगाः यतयः विदधति, ते नः मनः पुनन्तु ॥ ३० ॥ जीवाजीवादितत्त्वप्रकटनपटवः ध्वस्तकन्दर्पदर्पाः

दूसरोंके द्वारा किये जानेवाले तिरस्कार, धनसे हीन जीवन तथा अनेक जन्मोंमें प्राप्त हुए दुःखोंके विस्तारसे नहीं डरता है वह तपसे डरता है। अभिप्राय यह है कि जिसे इष्टानिष्टके वियोग-संयोगादिकी चिन्ता नहीं वही तपसे विमुख रहता है, किन्तु जो उससे भयभीत है वह विषयतृष्णाको छोड़कर तपका आचरण करता है ॥ २७ ॥ तप प्राणियोंके लिये जिस जिनकथित फलको करता है उसको किसी प्रकारसे न बन्धुजन देते हैं, न कुटुम्बीजन देते हैं, न स्त्री देती है, न सेवक समूह देते हैं, न मित्र देते हैं और न पुत्र भी देते हैं ॥ २८ ॥ जिस तपके प्रभावसे प्राणी देवांगनाओंसे सुशोभित स्वर्गमें रोगसे रहित भोगोंको भोगता है तथा जिसके प्रभावसे वह चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्तिके समूहसे दिशाओंको धवलित करता हुआ मनुष्य लोकमें भी अमूल्य भोगोंको भोगता है और फिर अन्तमें पण्डित जनोंसे प्रशंसित व अनन्त सुखको देनेवाली मुक्तिमणिको प्राप्त करता है वह पापरूप मलको धो डालनेवाला निर्मल जैन तप हमारा अतिशय कल्याण करे ॥ २९ ॥ जो जैन तप ज्वालायुक्त, अग्निके समान दुःखोंरूप वृक्षोंसे व्याप्त संसाररूप वनको जला डालता है तथा जो बाधारहित निर्दोष अविनश्वर एवं उत्कृष्ट मोक्ष सुखको देता है उस तपको समस्त परिग्रहको छोड़कर कामके अभिमानको नष्ट करनेवाले जो मुनि शरीररूप शत्रुको नष्ट करनेकी इच्छासे धारण करते हैं वे हमारे मनको पवित्र करें ॥ ३० ॥ जीव-अजीव आदि तत्त्वोंके प्रगट करनेमें निपुण, कामके मदको नष्ट करनेवाले, क्रोधरूप सुभटके

---

१ स चांगजाः । २ स om 28 । ३ स °वद्या । ४ स °तपोमुक्तये ।

910) ये विश्वं जन्ममृत्युव्यसनशिखिशिखालीढमालोक्य लोकं
संसारोद्वेगवेगप्रचकितमनसः पुत्रमित्रादिकेषु ।
मोहं मुक्त्वा नितान्तं [1]धृतविपुलशमाः [2]सद्मवासं निरस्य
याताश्चारित्रकृत्यै [3]धृतिविमलधियस्तान्स्तुवे साधुमुख्यान् ॥ ३२ ॥

911) यस्मिञ्छुम्भद्वनोत्थज्वलनकवलनाद् भस्मतां यान्त्यगौघाः[4]
प्रोद्यन्मार्तण्डचण्डस्फुरदुरु[5]किरणाकीर्णदिक्चक्रवाला[6] ।
भूमिर्भूता[7] समन्तादुपचिततपना संयता[8] ग्रीष्मकाले
तस्मिञ्छै[9]लाग्रमुग्रं धृतविततधृतिच्छत्रका प्रश्रयन्ते ॥ ३३ ॥

912) यत्रद्विद्युत्कलत्राः प्रचुरकरटका[10] [11]वर्षधाराः क्षिपन्तो[12]
यत्रेन्द्रेष्वासचित्रा[13] बधिरित[14]ककुभो मेघसंघा नदन्ति ।
[15]व्याप्ताशाकाशदेशास्तरुतलमचलाः संश्रयन्ते क्षपासु[16]
[17]तत्रानेहस्यसंगाः सततगतिकृता[18]रावभीमास्वभीताः ॥ ३४ ॥

निर्धूतक्रोधयोधा मुदि मदितमदा. हृद्यविद्यानवद्याः मुक्तसगा अमितगतिगुणा ये साधवः मुक्तये अनपेक्षं जिनगदिततपः तप्यन्ते, ते नः मुक्तबाधां मुक्तिं दिशन्तु ॥ ३१ ॥ जन्ममृत्युव्यसनशिखिशिखालीढं विश्वं लोकम् आलोक्य संसारोद्वेगवेग-प्रचकितमनसः पुत्रमित्रादिकेषु मोहं मुक्त्वा सद्मवासं निरस्य धृतविपुलशमाः धृतिविमलधियः ये चारित्र्यकृत्यै याताः तान् साधुमुख्यान् स्तुवे ॥ ३२ ॥ यस्मिन् शुम्भद्वनोत्थज्वलनकवलनात् अगौघाः भस्मता यान्ति, यस्मिन् प्रोद्यन्मार्तण्डचण्डस्फुर-दुरुकिरणाकीर्णदिक्चक्रवाला भूमि. समन्तात् उपचिततपना भूता तस्मिन् ग्रीष्मकाले धृतविततधृतिच्छत्रका. सयताः उग्रं शैलाग्र प्रश्रयन्ते ॥ ३३ ॥ यत्र चञ्चद्विद्युत्कलत्राः बधिरितककुभ व्याप्ताशाकाशदेशाः मेघसंघा नदन्ति, तत्र अनेहसि

घातक, मदसे रहित तथा मनोहर विद्या (सम्यग्ज्ञान) से निष्पाप जो मुनि मुक्तिप्राप्तिके लिये परिग्रहको छोड़कर नि स्पृहतासे जिन भगवान्के द्वारा प्ररूपित तपको तपते हैं वे अपरिमित गुणोंसे युक्त साधु हमें निर्बाध मुक्तिको प्रदान करें ॥ ३१ ॥ जो साधु जन्म-मरणके दुखरूप अग्निकी ज्वालाओंसे घिरे हुए समस्त लोकको देखकर मनमें संसारके दुखसे भयभीत होते हुए पुत्र मित्र आदिके विषयमें मोहको छोड़ चुके हैं तथा जो गृह-वासको छोड़कर अतिशय शान्तिको धारण करते हुए चारित्ररूप कार्यके लिये वनमें जा पहुँचे हैं उन धैर्य एवं निर्मल बुद्धिके धारक श्रेष्ठ साधुओंकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ३२ ॥ जिस ग्रीष्मकालमें भासमान वनाग्निसे कवलित होकर वृक्षोंके समूह भस्म हो जाते हैं तथा जिसमें उदयको प्राप्त हुए सूर्यकी तीक्ष्ण देदीप्यमान किरणों-से व्याप्त किये गये दिङ्मण्डलसे सहित पृथिवी चारों ओरसे सतप्त हो जाती है उसमें संयमी साधु विशाल धैर्यरूप छत्रको धारण करके भीषण पर्वतके शिखरका आश्रय लेते हैं—उसके ऊपर स्थित होकर धीरतापूर्वक तप करते हैं ॥ ३३ ॥ जिस वर्षाकालमें चमकती हुई बिजलीरूप स्त्रीसे सहित, बहुत करटकोंसे (?) संयुक्त, जलकी धारको छोड़नेवाले, इन्द्रधनुषसे विचित्र वर्णवाले तथा दिशाओंको बधरित (बहरी) करनेवाले मेघोंके समूह आकाश एवं दिशाओंको व्याप्त करके गर्जना करते हैं; उस वर्षाकालमें दिगम्बर साधु निरन्तर गतिसे

---

१ स धृति° । २ पद्म° । ३ स धृत° । ४ स °घौघा: । ५ स °दुर° । ६ स °वाला: । ७ स भूत्यां, भूत्या, भूता । ८ स °तपनासंयता । ९ स तस्मिश्चै° । १० स °करविका [:], °करविकावर्ण°, °करकिका । ११ स वर्ण° । १२ स क्षयंते; क्षपन्ते, क्षियंतो । १३ स °वासाचित्रा । १४ स बधिरिति°, °चित्राबधि° । १५ स व्यप्ता°, व्याप्तांशा° । १६ स क्षिपासु, क्षिपाशु । १७ स त्राताने° । १८ स °गतिच्छता° ।

913) यत्र प्रालेय[1]राशिर्द्रुमनलिनवनोन्मूलनोद्यत्प्रमाणः
[2]सीत्कारी दन्तवीणारुचि[3]कृतिचतुरः प्राणिनां[4] वाति वातः ।
विस्तार्याङ्गं[5] समस्तं प्रगतधृति[6]चतुर्वर्त्मगा योगिवर्या-
स्ते ध्यानासक्तचित्ताः पुरुशिशिरनिशाः शीतलाः प्रेरयन्ति ॥ ३५ ॥

914) चञ्चच्चारित्रचक्र[7]प्रविचिति[8]चतुराः प्रोच्चचर्चाप्रचर्च्याः[9]
पञ्चाचार[10]प्रचार[11]प्रचुररुचिचयाश्चारुचित्रत्रियोगाः ।
वाचामुच्चैः प्रपञ्चै रुचिरविरचनैरर्चनीयैरवर्च्य-
मित्यर्च्यं[12] प्रार्चिता नः पदमचलमनूचानकाश्चार्पयन्तु[13] ॥ ३६ ॥

इति द्वादशविधतपश्चरणनिरूपणम् ॥ ३२ ॥

सततगतिकृताराबभीमासु क्षपासु अभीता: अचला: असंगा: तरुतलं संश्रयन्ते ॥ ३४ ॥ यत्र द्रुमनलिनवनोन्मूलनोद्यत्प्रमाण प्रालेयराशि:, (यत्र) प्राणिना सीत्कारी दन्तवीणारुचिकृतिचतुर वात. वाति [यत्र] समस्तम् अङ्गं विस्तार्य प्रगतधृति-चतुर्वर्त्मगा: ध्यानासक्तचित्ता. ते योगिवर्या: शीतला. पुरुशिशिरनिशा प्रेरयन्ति ॥ ३५ ॥ चञ्चच्चारित्रचक्रप्रविचिति चतुरा. प्रोच्चचर्चाप्रचर्च्या. पञ्चाचारप्रचारप्रचुररुचिचया: चारुचित्रत्रियोगा: रुचिरविरचनै: अर्चनीयै. वाचाम् उच्चै: प्रपञ्चै: प्रार्चिता: अनूचानका. इति अवर्च्यम् अर्च्यम् अचल पदं न: अर्पयन्तु ॥ ३६ ॥

इति द्वादशविधतपश्चरणनिरूपणम् ॥ ३२ ॥

किये गये शब्दोंसे भयको उत्पन्न करनेवाली रात्रियोंमें निर्भय होकर स्थिरतापूर्वक वृक्षतलका आश्रय लेते हैं ॥ ३४ ॥ जिस शीतकालमें वृक्षो एवं कमलोंके वनको नष्ट करनेवाली प्रचुर वर्फ गिरती है और जिसमें सी-सी शब्दको करानेवाली तथा प्राणियोंके दाँतोंरूप वीणाके शब्दके करनेमें चतुर वायु बहती है अर्थात् जिस शीतकालमें अति शीतल वायुसे प्राणियोंके दाँत किटकिटाने लगते हैं तथा वे सी-सी करने लगते है; उस शीत-कालमें अतिशय धैर्यको धारण करके चतुष्पथ (चौराश्ते) में स्थित वे श्रेष्ठ साधु अपने समस्त शरीरको विस्तृत करके ध्यानमें मनको लगाते हुए अतिशय शीतल रात्रियोको बिताते हैं ॥ ३५ ॥ जो साधु निर्मल चारित्ररूप चक्रके संचयमें चतुर हैं, उत्कृष्ट तत्त्वचर्चाके कारण विशेष पूज्य हैं, सम्यग्दर्शनादिरूप पंचाचारके प्रचारमें अनुराग रखते है, अनेक प्रकारके सुन्दर कार्योंमें तीनो योगोंको प्रवृत्त करते हैं, देवादिकोंके द्वारा सुन्दर रचनावाले पूज्य वचनोंके विस्तारसे पूजित हैं, तथा सिद्धान्तके पारंगत हैं, वे हमे लोकपूज्य स्थिर पद (मोक्ष) को प्रदान करें ॥ ३६ ॥

इसप्रकार बारह प्रकारके तपश्चरणका निरूपण हुआ ।

●

---

१ स °राशिद्रु° । २ स सात्का°, सात्कारं । ३ स रुति । ४ स प्रा° प्राणि वात. । ५ स विस्तीर्याङ्गं, विस्तार्यङ्गं । ६ स °धृत्त° । ७ स °चक्रे° । ८ स °चित° । ९ स प्रावचो र्व्वाप्रचर्च्या, प्रोचचो (?) र्वा, प्रोवचार्वाप्रचर्च्यात्, प्रोच्च-चार्व्वा°, प्रोच्चचार्व्वाप्रचर्च्या । १० स °चारे प्रचार', प्रचर° । ११ स om. प्रचुर । १२ स °वर्च्य नित्य°, °वर्च्य°, °त्यर्च , °त्यर्च्य, °वर्च्य नित्यर्च्य प्रार्च्यतान:, प्रार्च्यतान:, प्रार्च्यता, प्रांचिता । १३ स °कार्य्यंतु, °श्चार्जयंतु, श्चर्बयंतु ।

915) [1]आसीद्विध्वस्तकन्तोर्विपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तिकीर्तेः[2]
सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः।
विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमिति[3]भृतामग्रणीरस्तकोपः
श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियति[4]स्त्यक्तनिःशेषसंगः ॥ १ ॥[5]

916) अलङ्घ्य[6]महिमालयो विपुलसत्त्ववान् रत्नधि-
र्वरस्थिरगभीरतो गुणमणिस्तपो[7]वारिधिः।
समस्तजनतामतां[8] श्रियमनश्वरीं देहिनां
[9]सदा मलजलच्युतो विबुधसेवितो दत्तवान् ॥ २ ॥

917) तस्य ज्ञातसमस्तशास्त्रसमयः शिष्यः सतामग्रणीः
श्रीम[10]न्माथुरसंघसाधुतिलक. श्रीनेमिषेणो ऽभवत्।
शिष्यस्तस्य महात्मनः शमयुतो निधूतमोहद्विषः
श्रीमान्माधवसेनसूरिरभवत् क्षोणीतले पूजितः ॥ ३ ॥

918) कोपारातिविघातको ऽपि सकृपः सोमो ऽप्यदोषाकरो
जैनो ऽप्युग्रतपोरतो[11] गतभयो भीतो ऽपि संसारतः।
निष्कामो ऽपि[12] समिष्टमुक्तिवनितायुक्तो ऽपि यः संयतः
सत्यारोपितमानसो धृतवृषो ऽप्यर्च्यः[13] प्रियो ऽप्यप्रिय ॥ ४ ॥

कामवासनासे रहित, अतिशय शान्तिके धारक, लक्ष्मीसे सम्पन्न, निर्मल कीर्तिसे सहित तथा श्रुतरूप समुद्रके पार पहुँचे हुए श्री देवसेन सूरि हुए। उनके शिष्य अमितगति यति हुए। ये अमितगति यति समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता, व्रत व समितियोंके धारक साधुओंमे श्रेष्ठ, क्रोधसे रहित, लक्ष्मीसे सयुक्त, मुनियोंके मान्य और समस्त परिग्रहसे सहित थे ॥ १ ॥ अलघ्य महिमाके स्थानभूत, अतिशय सत्त्वशाली, उत्तम स्थिरता एवं गम्भीरतामे समुद्रके समान, गुणोंमे श्रेष्ठ, तपके समुद्र, निरन्तर मलरूप जलसे रहित और विद्वानोंसे पूजित वे अमितगति यति प्राणियोके लिये समस्त जनताको अभीष्ट ऐसी अविनश्वर लक्ष्मीके देनेवाले थे ॥ २ ॥ उनके शिष्य समस्त शास्त्रोंके रहस्यके जानकार, सत्पुरुषोमें श्रेष्ठ और श्रीसम्पन्न माथुर संघके साधुओंमे अग्रगण्य श्रीनेमिषेण हुए। मोहरूप शत्रुको नष्ट कर देनेवाले उस (नेमिषेण) महात्माके शमयुक्त व पृथिवीतलमें पूजित माधवसेन सूरि हुए ॥ ३ ॥ वे क्रोधरूप शत्रुके घातक हो करके भी दयालु थे, सोम (चन्द्र) अर्थात् आह्लाद जनक होते हुए भी दोषाकर (चन्द्र) अर्थात् दोषोंकी खान नहीं थे, जैन हो करके भी तीक्ष्ण तपमें आसक्त थे, निर्भय हो करके भी संसारसे भयभीत थे, कामसे रहित हो करके भी अभीष्ट मुक्तिरूप स्त्रीसे सहित थे— मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा रखते थे, संयत हो करके भी सत्यमें मन लगाते थे, वृष (बैल व धर्म) के धारक हो करके भी पूज्य थे, तथा लोकप्रिय हो करके भी प्रेमसे रहित थे ॥ ४ ॥ कामरूप शत्रुको नष्ट करनेवाले, भव्य

---

१ स आशीर्विध्वस्त° । २ स कांत°, कान्तकीर्ति. । ३ स °समितिमिताम° । ४ स om. यति । ५ स After this uerse इति द्वादश° ctc । ६ स आलिध्य° । ७ स पपो°, पयो° । ८ स °अनता सतां । ९ स सदा मत° । १० स श्रीमान्मा° । ११ स °प्युग्रतरस्तपो, ऽप्युग्रतरस्तपोगतभयो । १२ स om. ऽपि to यः । १३ स ऽप्यर्च्यप्रियो ।

919) दलितमदनशत्रोर्भव्यनिर्व्याजबन्धोः
शमदमयम[1]मूर्तेश्चन्द्रशुभ्रोरुकीर्तेः[2] ।
अमितगतिरभूद्यस्तस्य शिष्यो विपश्चिद्-
विरचितमिदमर्थ्यं[3] तेन शास्त्रं पवित्रम् ॥ ५ ॥
920) यः सुभाषितसंदोहं[4] शास्त्रं पठति भक्तितः ।
केवलज्ञानमासाद्य यात्यसौ मोक्षमक्षयम् ॥ ६ ॥
921) यावच्चन्द्रदिवाकरौ दिवि गतौ भिन्त[5]स्तमः शार्वरं
तावन्मेरुतरङ्गिणीपरिवृढौ[6] नो मुञ्चतः स्वस्थितिम् ।
यावद्याति तरङ्गभङ्गुरतनुर्गङ्गा हिमाद्रेर्भुवं
तावच्छास्त्रमिदं करोतु विदुषां पृथ्वीतले संमदम् ॥ ७ ॥
922) समारूढे पूतत्रिदशवसतिं[7] विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्तं[8] पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥ ८ ॥

जनोंके निष्कपट बन्धु; शम, दम और यमकी मूर्तिस्वरूप; तथा चन्द्रके समान धवल महती कीर्तिसे सुशोभित उन माधवसेन सूरिके शिष्य जो विद्वान् अमितगति हुए उन्होने इस अर्थपूर्ण पवित्र शास्त्रको रचा है ॥ ५ ॥ जो भक्तिपूर्वक इस सुभाषितरत्नसंदोह शास्त्रको पढता है वह केवलज्ञानको प्राप्त करके अविनश्वर मोक्षपद-को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ जब तक आकाशमें स्थित चन्द्र और सूर्य रात्रिके अन्धकारको नष्ट करते हैं, जब तक मेरु और नदियोंका अधिपति समुद्र अपनी स्थितिको नही छोड़ते है, और जब तक तरंगोंसे क्षीण शरीर-वाली गंगा नदी हिमालय पर्वतसे पृथिवीको प्राप्त होती है—पृथिवीके ऊपर बहती है; तब तक यह शास्त्र पृथिवीतलपर विद्वानोंको प्रमुदित करे ॥ ७ ॥ विक्रम राजाके पवित्र स्वर्गको प्राप्त हुए पचास अधिक एक हजार (१०५०) वर्षोंके बीत जाने पर मुंज राजाके पृथिवी पर शासन करते हुए—मुंजके राज्यकालमें—पौष मासके शुक्ल पक्षमें पचमी तिथिको पण्डितजनोंका हित करनेवाला यह निर्दोष शास्त्र समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

●

---

१ स °मूर्ति° । २ स °कीर्तिः । ३ स °मर्थ्यं । ४ स °संदेहं, °संदोह । ५ स भिन्न° । ६ स °दृढौ । ७ स °वसतिः, °वसतिर्वि°, सते for वसतिं । ८ स समाप्ते ।

श्लोकानुक्रमणिका

	अ० श्लोक
अ	
अक्ष्णोर्युग्मं विलोकात्	६–२
अचिन्त्यमतिदु:सहं	१०–११
अतिकुपितमनस्के	२८–८
अतिचारा जिनै: प्रोक्ता	३१–९१
अतीतेऽनन्तश: काले	३१–६६
अत्यन्तभीमवनजीव	४–१८
अत्यन्तं कुरुतां रसायन	१२–१५
अदृष्टमर्जितोत्सर्गा	३१–९७
अधस्तनश्वभ्रभुवो	७–४२
अध्येति नृत्यति लुनाति	४–१०
अनङ्गसेवनं तीव्र	३१–८८
अनन्त कोपादि चतुष्टयो	७–२१
अनित्यं निस्त्राण	१३–२३
अनिष्टयोगात्प्रियविप्र	३२–२७
अनुद्गमोत्पादन वल्भ	९–१६
अनुशोचनमस्तवि	२९–१८
अनेकगतिचित्रित्त	१०–१०
अनेक जीवघातोत्थं	२२–५
अनेक दोषदुष्टस्य	२२–१६
अनेकधेतिप्रगुणेन	७–२४
अनेकपर्यायगुणै	८–१
अनेकभव संचिता	१०–१३
अनेकमलसंभवे	१०–१
अन्नाशजे स्यात्परमा	२१–९
अन्यत्कृत्यं मनुजश्चिन्त	१४–२०
अन्यदीयमविचिन्त्य	२५–८
अन्यदीयविवाहस्य	३१–८९
अपायकलिता तनु	१३–७
अपारसंसारसमुद्र	३२–२०
अब्धिर्न तृप्यति यथा	५–१५
अभव्यजीवो वचनं	७–१९
अभुक्त्यनुपवासैक	३१–४९
अर्थ: कामो धर्म:	१५–२१
अर्था बहिश्चरा: प्राणा:	३१–१६
अलङ्घ्यमहिमालयो	३२–३८
अलब्धदुग्धादिरसो	७–२२
अवति निखिललोकं	२८–१
अवन्ति ये जनकसमा	२७–२४
अवाप्य नृत्वं भवकोटि	३२–१९
अवैति तत्त्वं सदसत्त्व	७–११
अवैतु शास्त्राणि नरो	७–१७
अशान्तहुतभुक् शिखा	१०–२१
अशुभोदये जनाना	१४–२९
अश्नाति य: संस्कुरुते	२१–१७
अश्नाति यो मांसमसौ	२१–६
असमीक्ष्य क्रियाभोगो	३१–९४
असुभृता वधमाचरति	२०–५
असुरसुरनरेशा	१–६
अस्थिरत्वास्मृतयोग	३१–९६
अस्यत्युच्चै: शकलित	१८–२०
अहर्निशं जागरणोद्यतो	३२–२५
अहह कर्म करीयति	२०–८
अहह नयने मिथ्या दृग्वत्	११–२०
अहो दुरन्ता जगतो विभू	३२–२२
अह्नि रविर्दहति त्वचि	२३–१४
आ	
आकाशत: पतितमेत्य	३०–१२
आक्रुष्टोऽपि व्रजति	१८–२४
आत्मप्रशंसापर:	९–१५
आत्मानमन्यमथ हन्ति	२–९
आदाननिक्षेपविधे	९–१७
आदित्यचन्द्रहरि	५–२१
आदेयत्वमरोगित्वं	३१–१०६
आनीति पुद्गलक्षेप:	३१–९३
आपातमात्ररमणीय	५–१६
आर्तरौद्रपरित्यक्त	३१–७४
आयासशोकभयदु:ख	३–८

आसीद्विध्वस्तकन्तो ३२–३७
आस्तां महाबोधिबलेन ८–१२
आहारपान-ताम्बूल ३१–५२
आहारभोजी कुरुते २१–७
आहारवर्गे सुलभे २१–१५

इ

इति तत्त्वधियः परिचिन्त्य २१–१५
इति प्रकुपितोरगप्रमुख १०-२५
इत्येव मतति· प्रोक्ता ३१–१०२
इदं तपो द्वादशभेद ३२–१५
इदं स्वजन देहजा १०–७
इमा यदि भवन्ति नो १३–१०
इमा रूपस्थान स्वजन १३–११
इमे मम धनाङ्गज १०–१५
इह दु·खं नृपादिभ्य ३१–१३

उ

उत्तमकुलेऽपि जात. १५–१६
उत्तमोऽपि कुलजोऽपि २४–८
उदितः समय. श्रयते २९–३
उद्धर्तुं धरणी निशाकर १२–१३
उद्यद्गन्धप्रबन्धा ६–१
उद्यज्ज्वालावलीभि ६–१६
उद्यन्महानिलवशोत्थ ४–१४
उपधि वसति पिण्डान् १–१५
उष्णोदक प्रतिगृह्य ९–९
उष्णोदकं साधुजना ९–६

ए

एकत्र मधुनो बिन्दौ २२–१५
एकत्रापि हते जन्तौ २२–१३
एकभवे रिपुपन्नग २३–२४
एकमपि क्षणं लब्ध्वा ३१–६९
एकमप्यत्र यो बिन्दुं २२–२१
एकादश गुणानेवं ३१–८३
एकैकमक्षविषय ५–६
एकैकस्य यदादाय २२–४
एकैकोऽसख्यजीवाना २२–२
एको मे शाश्वतश्चात्मा १६–१६
एव चरित्रस्य चरित्र ९–२१
एवं त्रिधापि यो मौनं ३१–१११
एवमनेकविधं विद २३–१०
एवमपास्तमतिः क्रमतो २३–११
एव विलोक्यास्य गुणा ८–३०
एव सर्वजगद्विलोक्य १२–२६
एव सर्वजनाना १५–२२

औ

औपधायापि यो २२–९

क

कपटशतनदीर्ष्णे २८–१०
करोति दोषं न नमत्र ७–१४
करोति मास बल २१–१३
करोति ससारशरीर ८–२८
करोति साधुनिरपेक्ष ३२–३
करोम्यहमिद तदा १०–१४
कर्मारण्य दहति शिखि १९–२१
कर्माणि यानि लोके १५–२०
कर्मानिष्टं विधत्ते १६–२२
कर्मेन्धनं यदज्ञानात् ३१–५०
कर्षति वपति लुनीते १५–१२
कलत्र पुत्रादिनिमित्त ७–३३
कलहमातनुते मदिरा २०–२२
कषायमुक्तं कथित ९–२४
कषायसगौ सहते ९–२५
कस्यापि कोऽपि कुरुते १४–३१
कात्र श्री· श्रोणिबिम्बे ६–१८
कान्ता किं न शशाङ्ककान्ति १३–४
कार्यं यावदिद करोमि १२–१६
कार्याणा गतयो भुजङ्ग १३–१
कालेऽन्नस्य क्षुधभव १९–२
किमत्र विरसे सुखं १०–४
किमस्य सुखमादितो १०–३
किमिह परमसौख्यं १–१४
किं बहुना कथितेन २३–२२
किं भाषितेन बहुना ३०–१६

किं सुख दु ख निमित्तं १४–१२
किं सुखं लभते मर्त्यः ३१–२१
कुदर्शनज्ञान चरित्र ७–५१
कुन्तासि-शक्ति-भरतोमर ४–११
कूटलेखक्रिया मिथ्या ३१–८५
कृतश्रमश्चेद्विफलो न ३२–२३
कृत्या कृत्ये कलयति १९–४
कृत्याकृत्ये न वेत्ति ६–१३
कृत्रिमव्यवहारश्च ३१–८७
कृष्टेष्वासविमुक्त १३–५
कृष्णत्वं केशपाशे ६–८
कोप' करोति पितृमातृ २–१७
कोपाराति विघातकोऽपि ३२–४०
कोऽपीह लोहमतितप्त २–२०
कोपेन कोऽपि यदि ताड २–११
कोपेन य' परमभीप्सति २–१६
कौपो विद्युत्स्फुरित १८–१३
कोपोऽस्ति यस्य मनुजस्य २–१
क्रीणाति खलति यार्चति १५–१८
क्रोधलोभमदद्वेष ३१–८
क्रोध धुनीते विदधाति ८–३
क्लेशार्जित सुखकर ३–१७
क्षणेन गमवानता १०–९
क्षेत्र द्रव्य प्रकृति १९–१६
क्षेत्रस्य वर्धन द्विय ३१–९२
क्षेत्रे प्रकाशं नियत ८–२०
क्व जय क्व तपः क्व सुख २९–२५

ग

गति विगलिता वपु. १०–५
गन्तुं समुल्लङ्घ्य भवा ८–२२
गम्भीरा मधुरा वाणी ३१–१०७
गर्भे विलीनं वरमत्र ९–३१
गर्भेऽशुचौ कृमिकुले ३०–८
गर्वेण मातृपितृ बान्धव ३–७
गलितनिखिलसंगो २८–१४
गलितवस्त्रमधः २०–४
गलति सकलरूपं ११–८
गलत्यायुर्देहे १३–१५
गलन्ति दोषाः कथिताः ७–३४
गाढं श्लिष्यति दूरतोऽपि १७–११
गायति नृत्यति वल्गति १५–८
गिरिपति राजसानु १४–३२
गुण कमल शशाङ्क १५–१४
गुणितनुमतितुष्टि २८–२१
गृद्धिं विना भक्षयतो २१–१४
गौरी देहार्धमीशो ६–६
ग्रामादिनष्टादिधनं ९–११
ग्रामादौ पतितस्याल्प ३१–१२
ग्रामाणा सप्तके दग्धे २२–३

घ

घण्टा-काहल-भृङ्गार ३१–१०८
घ्राणकर्णकरपाद २५–१३

च

चक्रेशकेशवहलायुध ४–१७
चक्षु क्षय प्रचुररोग ४–५
चञ्चच्चारित्रवक्रर्वि ३२–३६
चञ्चद्विद्युत्कलत्राः ३२–३४
चतुर्विधस्य संघस्य ३१–१०९
चतुर्विधे धर्मिजने ७–३७
चतुर्विधो वराहारो ३१–५५
चत्वारि सन्ति पर्वाणि ३१–४७
चन्द्रादित्यपुरन्दरक्षिति १२–७
चलयति तनुं दृष्टे भ्रान्ति ११–३
चारुगुणां विदिताखिल २३–८
चित्त विशुद्धयति जलेन ३०–२०
चित्ताह्लादि व्यसनविभु १८–१२
चित्रयति यन्मयूरान् १४–१९
चिन्तनकीर्तनभाषण २३–१२
चिरायुरारोग्यसु २१–१८
चेतो निवारितं येन ३१–३४
चेत्र पण्यवनिता २४–२४
चौरादिदायादतनूज ८–७

छ

छाया वद्या न वन्ध्या ६–२१

ज

जननजलधिमज्ज २८–२
जननमरणभीति २८–१८
जनयति परिभूतिं १–१६
जनयति मुदमन्त १–१
जनयति वचोऽव्यक्तं ११–१
जनस्य यस्यास्ति ७–२८
जन्मिन्द्रियालमिदमत्र ३०–१४
जन्मक्षेत्रे पवित्रे १६–५
जन्माकूपारमध्यं मृति २६–२
जलधिगतोऽपि नक १४–१५
जल्पनं च जघनं च २४–४
जल्पितेन बहुना किं २५–२०
जातुस्थैर्याद्विचलति १८–१४
जिनगदितमनर्थ २८–१५
जिनपतिपदभक्ति १–२१
जिनेन्द्रचन्द्रामलभक्ति ७–५२
जिनेन्द्रचन्द्रोदित ३२–११
जिनेश्वरक्रमयुग २७–१
जिनेश्वरक्रमाम्भोज ३१–६३
जिनोदिते वचसि रता २७–२३
जिह्वासहस्त्रकलितोऽपि ३–११
जीवनाशनमनेक २५–१०
जीवन्ति प्राणिनो येन ३१–१४
जीवाजीवादितत्त्व ३२–३१
जीवान्निहन्ति विविध ४–१३
जीवान्निहन्त्यसत्य १५–९
जीवास्त्रसस्थावर ९–४
ज्ञानं तत्त्वप्रबोधो १६–२५
ज्ञानं तृतीयं पुरुषस्य ८–१५
ज्ञानं विना नास्त्यहितात् ८–१९
ज्ञानाद्धित वेत्ति ८–५
ज्ञानेन पुंसा सकला ८–२३
ज्ञानेन बोधं कुरुते ८–२४
ज्योतिर्भवनभौमेषु २१–६८
ज्वलितेऽपि जठर हुत १५–२३

त

तडिल्लोलं तृष्णा १३–२४
ततोऽसौ पण्यरमणी ३१–२५
तदस्ति न वपुर्भृता १०–६
तदिह दूषणमङ्गि २०–२०
तनूजजननीपितृ १०–१६
तनूद्भवं मासमदन् २१–२
तनूभृतां नियमतपो २७–२६
तनोति धर्म-विधुनोति ७–४४
तनोति धर्मं विधुनोति ३२–१८
तपो दया दानयम ८–१८
तपोधनाना व्रतशील ३२–११
तपोऽनुभावो न किमत्र ३२–१६
तमो धुनीते कुरुते ८–१०
तस्य ज्ञातसमस्तशास्त्र ३२–३९
तापकर पुरुपातक २३–१९
तारुण्योद्रेकरम्या १६–३
तावज्जल्पति सर्पति १५–१
तावत्कुरुते पापं १५–२४
तावदत्र पुरुषा. २५–२
तावदशेषविचारसम २३–९
तावदेव दयित. २४–१२
तावदेव पुरुषो २४–१३
तावन्नरः कुलीनो १५–६
तावन्नरो भवति तत्त्व ५–९
ता वेश्या सेवमानस्य ३१–२४
तिमिरपिहिते नेत्रे ११–७
तिष्ठज्जलेऽतिविमले ५–२
तिष्ठन्तु बाह्यधनधान्य ४–२०
तीर्थाभिषेककरणा ३०–३
तीर्थाभिषेकजपहोम २–१८
तीर्थाभिषेकवशात. ३०–६
तीर्थेषु चेत्क्षयमुपैति ३०–५
तीर्थेषु शुद्ध्यति जलै ३०–२
तीव्रत्रासप्रदायि १६–२४
तुष्टिश्रद्धाविनयभ १९–१
तृष्णा छिन्ते शमय १८–११
त्यक्तभोगोपभोगस्य ३१–४८
त्यक्त्वा पद्मामनिन्द्यां २६–१५
त्यक्त्वा मौक्तिकसंहतिम् १७–२४

त्यजत युवतिसौख्यं १–१९
त्यजत विषयान्दुःखो ११–१४
त्यजति शौचमिर्यात २०–१८
त्यजति स्वयमेव शुचं २९–२०
त्यजसि न हृते तृष्णायोषे ११–१३
त्रसस्थावरजीवानां ३१–३३
त्रिधा स्त्रियः स्वसृजननी २७–८
त्रिलोक कालत्रय ७–१२

द

दत्वा दान जिनपतिं १९–२४
ददाति दु खं बहुधा ७–२३
ददाति यत्सौख्यमनन्त ३२–१३
ददाति योऽन्यत्र भवे २९–२७
ददाति लाति यो भुंक्ते २२–१२
ददाति विषयदोषा १–४
ददातु दानं बहुधा ७–१६
दधातु धर्मं दसधा ७–१५
दन्तीन्द्रदन्तदलनैक ५–७
दमोदयाध्यान ७–४०
दयादमध्यानतपो ७–१०
दयितजनेन वियोगं १४–२८
दर्पोद्रिक्व्यसन १९–९
दलितमदनशत्रोर्भव्य ३२–४१
दहति झटिति लोभो २८–१२
दाता भोक्ता बहुधन १९–२२
दातु हर्तुं किञ्चित् १४–२६
दावानलसमो लोभो ३१–२७
दासत्वमेति वितनोति ५–१४
दासीभूय मनुष्यः १५–१७
दिगम्बरा मधुरमपं- २७–११
दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो ३१–४३
दिशि विदिशि वियति १४–१३
दीनैर्मधुकरीवर्गैः २२–१९
दीर्घायुष्कः शशिसित १९–२०
दुग्धेन शुद्धयति मषी ३०–११
दुरन्तमिथ्यात्व तमो ७–१
दुरन्तरागोपहतेषु ७–३८
दुरन्तासारसंसार ३१–७३
दुर्लभं सर्वदुःखानां ३१–६४
दुष्टश्रुतिरपथ्यानं ३१–४०
दुष्टाष्ट कर्म मलशुद्धि ३०–१७
दुष्टो यो विदधाति १७–७
दुःखक्षोणीरुहाख्यं ३२–३०
दुःखं सुखं च लभते १४–४
दुःखानां निधिरन्यस्त्री ३१–१९
दुःखाना या निधानं ६–२४
दुःखानि यानि नरके ४–१८
दुःखानि यानि संसारे २२–७
दुःखानि यान्यत्र २१–२६
दुःखार्जित खलगतं २–१५
दूरे विशाले जन ९–१८
दूर्वाङ्कुराशनसमृद्ध ५–५
दृढोन्नतकुचात्र या १३–९
दृष्ट नभ्रेन्द्रमन्दश्लथ २६–२१
दृष्टि चरित्र तपोगुण २३–२१
दृष्ट्वा लक्ष्मी परेषा १६–१२
देवा धौतक्रमसरसि १८–२२
देवाराधनमन्त्रतन्त्र १२–५
देहार्धं येन शम्भुगिरि २६–३
दैवायत्तं सर्वं जीवस्य १४–२५
दोषमेवमवगम्य २४–२५
दोषं न तं नृपतयो २–३
दोषेषु सत्सु यदि कोऽपि २–१०
दोषेषु स्वयमेव दुष्ट १७–९
द्युतिगतिधृति प्रज्ञा ११–२३
द्युतिगति मतिरति १५–१०
द्यूततोऽपि कुपितो २५–५
द्यूतदेवजरतस्य २५–६
द्यूतनाशितधनो २५–१२
द्यूतनाशितसमस्त २५–१६
द्रव्याणि पुण्यरहितस्य ४–१६
द्वात्रिंशन्मुकुटावर्तसित १२–९
द्वादशाणुव्रतान्येवं ३१–६०
द्वीपे चात्र समुद्रे १४–१७
द्वीपे जलनिधिमध्ये १४–२१
द्वयासनद्वादशावर्ता ३१–४६

ध

धनधान्यकोशनिचया १४–२४
धन परिजन भार्या १–९
धन पुत्रकलत्र वियोग २९–१६
धर्म कामधनसौख्य २५–१४
धर्मद्रुमस्यास्तमल २१–२५
धर्मध्यानव्रतसमिति १९–११
धर्ममस्ति तनुते पुरु २४–३
धर्माधर्मविचारणा १७–२१
धर्मार्थ कामव्यवहार ८–१७
धर्मे वित्तं निधेहि १६–१४
धर्मे स्थितस्य यदिकोपि २–१३
धाता जनयति तावत् १४–६
धृत्वा धृत्वा ददति १८–४
धैर्यं धुनाति विधुनोति २–५
ध्यायति धावति कम्प २३–२
ध्वान्तध्वंसपर कलंक १७–६

न

न कान्ता कान्तान्ते १३–१८
न किं तरललोचना १०–२४
न कुर्वते कलिलवि २७–१७
न चक्रनाथस्य न ९–२७
न तदरिरिभराज: १–२
न धूयमानो भवति ७–५
न धृतिर्न मतिर्न गतिः २९–२६
न नर विविजनाथा १–३
न निष्ठुरं कटुकमवद्य २७–१६
न बान्धव स्वजनसुत २७–४
न बान्धवा न स्वजना ३२–२८
न बान्धवा नो सुहृदो ७–४३
न भक्षयति योऽपक्वम् ३१–७६
नमस्कारादिकं ज्ञेयं ३१–४४
नयनयुगलं व्यक्तं रूपं ११–२२
नरकसंगमनं सुख २०–१५
नरवर सुरवर विद्या १४–२७
न रागिणः क्वचन न २७–२१
न लाति यः स्थितपतितादि २७–७
न व्याघ्रः क्षुधयातुरोऽपि १७–२
न संसारे किञ्चित् १३–२२
नश्यति हस्तादर्थः १४–३०
नश्यतु यातु विदेशं १४–२२
नश्यत्तन्द्रोभुवन १८–७
नानातरु प्रसवसौरभ ५–३
नाना दु:खव्यसननि १९–१७
नानाविधव्यसन ५–१३
नारिरिभं विदधाति २३–२३
निम्बच्छाया फलभर १८–१७
नित्यं व्याधिशताकुलस्य १२–२
निद्रा चिन्ता विषादश्रम २६–१३
निन्द्येन वागविषयेण ३०–९
निपतितो बदते धर २०–९
निमित्ततो भूतमन ७–३५
नियम्यते येन मनोऽ ३२–१२
निरस्तभूषोऽपि यथा ९–३२
निरारम्भः स विज्ञेय ३१–७९
निर्ग्रन्थ निर्मल पूतं ३१–६७
निर्धूतान्यबलोऽविचिन्त्य १२–३
निवृत्तलोकव्यवहार ९–२८
निवद्य सत्त्वेष्वय २१–२२
निष्ठुरमश्रवणीय २३–१६
निहतं यस्य मयूखैः १४–७
नि:शेषकल्याण ९–२६
नि:शेषपापमलबाधन ३०–१८
नि:शेषलोकवनदाह ४–१५
नि:शेष लोकव्यवहार ८–१६
नीचोच्चादि विवेकनाश १७–५
नीतिश्रीतिश्रुतिमति १९–८
नीतिं निरस्यति विनीति ३–२
नीलीमदनलाक्षा यः ३१–४२
नैतच्छायामा चकित १८–२
नैति रतिं गृहपत्तन २३–५
नैषा दोषा मयोक्ता २६–२२
नो चेत्कर्ता न भोक्ता २६–८
नो निर्धूतविषः पिबन्नपि १७–१५
नो शक्यं यन्निषेद्धुं १६–८

प

पञ्चत्वजीविताशंसे ३१–१००
पञ्चधाणुव्रतं त्रेधा ३१–२
पञ्चधानर्थदण्डस्य ३१–३९
पञ्चाधिकाविंशतिरस्त ९–२२
पञ्चाप्येवं महादोषान् ६२–२०
पञ्चैतेऽनर्थदण्डस्य ३१–९५
पथि पान्थागणस्य यथा २९–९
पयोयुतं शर्करया ७–७
परिग्रहं द्विविधमपि २७–९
परिग्रहेणापि युतान् ७–३
परिणतिर्मतिस्पष्टा दृष्ट्वा ११–२४
परिधावति रोदिति २९–२४
परोपदेश स्वहितो ८–२९
परोपदेशेन शशाङ्क ७–२६
पर्यालोच्यैवमत्र स्थिर २६–२०
पलादिनो नास्ति जनस्य २१–४
पशुवधपरयोषिन्म २८–५
पापं वर्धयते चिनोति १७–१
पिबति यो मदिरामथ २०–१६
पीनश्रोणी नितम्ब २६–१०
पुण्य चितं व्रततपो २–२
पुरुषस्य भाग्यसमये १४–११
पुरुषस्य विनश्यति २९–१
पूज्यं स्वदेशे भवतीह ८–९
पूर्वोपार्जितपापपाक २९–२८
पृथ्वीमुद्धर्तुमीशाः २६–४
पैशुनं कटुकमश्रवः २५–७
प्रख्यातद्युतिकान्तिकीर्ति १२–१८
प्रचुरदोषकरी मदिरा २०–२५
प्रचुरदोषकरीमिह २०–१९
प्रच्छादितोऽपि कपटेज ३–९
प्रणम्य सर्वज्ञमनन्त ३२–१
प्रतिग्रहोच्चदेशाङ्घ्रि ३१-५८
प्रत्युत्थाति समेति नौति १७–१९
प्रपूरितश्चर्मलवैः ७–८
प्रबलपवनापातध्वस्त ११–२
प्रमाणसिद्धाः कथिता जिने ७–४७
प्रमादेनापि यत्पीतम् २२–१०
प्रयाति रत्नत्रयमुज्ज्वलं ३२–१०
प्रवर्तन्ते यतो दोषा ३१–९
प्रविशति वारिधिमध्य १५–१९
प्रवृत्य. स्वान्तवचस्तन् ९–२०
प्राज्ञं मूर्खमनार्यमार्य १२–४
प्रारब्धो ग्रसितु यत्नेन १२–६
प्रियतमामिव पश्यति २०–७

ब

बहुदेशसमागतपान्थ २९–१०
बहुरोदनताम्रतरा २९–२३
बाधाव्याधावकीर्णे १६–१५
बान्धवमध्येऽपि जनो १४–१०
बाहुद्वन्द्वेन माला ६–९
बाह्यमाभ्यन्तर सङ्ग ३१–६२
बुधा ब्रह्मोत्कृष्टं १३–१६

भ

भजत्यतनुपीडिते १०–१२
भजन्ति नैकैकगुणं ७–२०
भवति जन्तुगणो २०–१०
भवति मद्यवशेन २०–१
भवति मद्यवशेन २०–२४
भवति मरणं प्रत्यासन्नं ११–४
भवति विषयान्भोक्तु ११–६
भवत्यवश्यायहिमा ९–७
भवन्त्येता लक्ष्म्य १३–१७
भवाङ्गभोगेष्वपि ७–३२
भवार्णवोत्तारणपूत ८–२१
भवितव्यता विधाता १४–२
भवेऽत्र कठिनस्तनी १०–२२
भवेविहरतोऽभवन् १३–८
भानोः शीतमतिग्मगो १७–१७
भार्याभ्रातृस्वजन १९–५
भावाभावस्वरूप २६–६
भुक्त्वा भोगानरोगा ३२–२९

भुवनसदनप्राणिग्रामप्रकम्प ११–१७
भुवि यान्ति हयद्विपमर्त्यजना २९–१३
भृत्यो मन्त्री विपत्ती ६–१२
भेषजातिथिमन्त्रादि ३१–६
भोक्ता यत्र वितृप्तिरन्तक १२–१२
भोगा नश्यन्ति कालात् १६–१३
भोगोपभोगमुक्ततो ४–७
भोगोपभोगसंख्यानं ३१–५१
भोजनशान्ति विहार २३–७
भ्रूनेत्राङ्गुलि हुङ्कार ३१–१०४
भ्रू भङ्गम ङ्गुरमुखो २–१९

म

मतिधृतिद्युतिकीर्ति २०–२१
मत्तस्त्रीनेत्रलोलात् १६–११
मदनसदृशं यं पश्यन्ती ११–५
मदमदनकषायप्री त २८–११
मदमदनकषाया १–१७
मद्यमांसमधुक्षीर ३१–४
मद्यमांसमलदिग्ध २४–१७
मद्यमांसादिसक्तस्य ३१–२३
मधुप्रयोगतो वृद्धि २२–१८
मध्वस्यतः कृपा नास्ति २२–१
मनति मनसि यः सज्ञा २८–२२
मननवृष्टिचरित्र २०–१७
मनःकरीविषयवना २७–१५
मनोभवशरार्दितः स्मरति १०–२६
मनोवचः कायवशा ३२–९
मनोहरं सौख्यकरं ७–४५
मन्यते न धनसौख्य २४–१४
मर्त्यं हृषीकविषया ५–१०
मलेन दिग्धानवलोक्य ७–४९
महाव्रतत्त्वमत्रापि ३१–३६
मातापिताबन्धुजनः ८–२६
मातृस्वसृसुतातुल्या ३१–१७
मातृस्वामिस्वजन १८–१६
मानं मार्दवतः क्षुधं १७–२२
माने कृते यदि भवेदिह ३–४
मानो विनीतिमपहन्ति ३–५
मान्धाता भरतः शिबी १२–१७
माल्याम्बराभरण भोजन ३०–१३
मासे चत्वारि पर्वाणि ३१–७५
मासोपवासनिरतोऽस्तु २–८
मास यथा देहभृत २१–१०
मासं शरीर भवतीह २१–११
मांसान्यशित्वा विविधा २१–२१
मासाशनाज्जीववधा २१–१
मासाशिनो नास्ति २१–३
मांसासृग्रसलालसामय १२–२४
मित्रत्व याति शत्रु. १६–९
मुक्त्वा स्वार्थं सकृप १८–१८
मुदितमनसो दृष्ट्वा रूप ११–२१
मूढ कन्दर्पतप्तो वनचर २६–१८
मृगान्वराकाश्वलतोऽ २१–२०
मृत्युव्याघ्रभयंकरानन १२–२५
मेरूपमानमधुपव्रज ३०–१५
मैत्री तपो व्रत यशो २–७
मैत्री सत्त्वेषु मोद १६–२१
मैथुन भजते मर्त्यो ३१–७७

य

यच्छुक्रशोणितसमुत्थ ३०–७
यतो जनो भ्राम्यति जन्म ३२–१४
यतो नि शेषतो हन्ति ३१–७
यत्कर्मपुरा विहित १४–५
यत्कामार्ति धुनीते ६–७
यत्किञ्चिद्दृश्यते लोके ३१–७१
यत्कुर्वन्नपि नित्य १४–९
यत्त्वङ्मासास्थिमज्जा ६–२०
यत्पाति हन्ति जनयति १४–१
यत्र प्रालेयराशिर्द्रुम ३२–३५
यत्र प्रियाप्रियवियोग ३–१३
यत्रादित्यशशाङ्क मारुत १२–१०
यत्रावलोक्य दिवि दीन ३–१४
यत्सौख्यदु खजनकं १४–३
यथान्धकारान्धपटावृतो ७–९
यथा यथा ज्ञानबलेन ८–११

यथार्थ तत्त्वं कथितं	७–३०	यः प्रोत्तुङ्गः परम	१८–१०
यथार्थवाक्यं रहितं	९–१०	यः साधूदित मन्त्रगोचर	१७–१४
यदज्ञजीवो विधुनोति	८–६	यः सुभाषितसन्दोहं	३२–४२
यदनीतिमतां लक्ष्मीः	१४–१४	या करोति बहु चाटु	२४–७
यदासनं स्त्रीपशुषण्ढ	३२–८	या कुलीनमकुलीन	२४–११
यदि कथमपि नश्येत्	१–११	या कूर्मोच्चाङ्घ्रिपृष्ठा	६–३
यदि पुण्यशरीरसुखे	२९–१७	यावते नटति याति	२५–१७
यदि भवति जठरपिठरी	१५–७	या छेदभेदःमनाङ्कन	३–१२
यदि भवति विचित्रं	१–८	या न विश्वसिति जातु	२४–१८
यदि भवति समुद्रः	१–५	यानि कानिचिदनर्थ	२५–१
यदि रक्षणमन्यजनस्य	२९–७	यानि मनस्तनुजानि	२३–१
यदि वा गमनं कुरुते	२९–८	या प्रत्यय बुधजनेषु	३–१९
यदि विज्ञानत कृत्वा	३१–३५	या भ्रान्त्वोदेति कृत्वा प्रति	२६–१७
यदिह जहति जीवाजीव	२८–१५	या मातृभर्तृपितृबान्धव	३–१५
यदिह भवति सौख्यं	१–१०	या रागद्वेषमोहान्	२६–९
यद्यकरिष्यद्वातो	१५–२	यार्गला स्वर्गमार्गस्य	३१–१८
यद्यल्पेऽपि हृते द्रव्ये	२२–१७	यार्थसंग्रहपराति	२४–१०
यद्येतास्तरलेक्षणा.	१२–२३	यावच्चन्द्रदिवाकरौ	३२–४३
यद्येताः स्थिरयौवना	१३–३	यावज्जीवं जनो मौनं	३१–११०
यद्रक्तरेतोमलवीर्य	२१–२४	यावत्तिष्ठति जैनेन्द्र मन्दिरं	३१–११४
यद्वच्चन्दनसंभवोऽपि	१७–१२	यावत्परिग्रह लाति	३१–३९
यद्वच्चित्तं करोषि	१६–६	या विचित्रविटकोटि	२४–९
यद्वत्क्षिप्तं गलति	१९–१४	या विश्वासं नराणा	६–१५
यद्वत्तोयं निपतति	१९–१३	या शुनीव बहुचाटु	२४–१६
यद्वदन्ति शठा धर्मं	३१–११	या सर्वोच्छिष्ट वक्त्रा	६–२३
यद्वद्भानुर्वितरति करैः	१८–२१	यासु सक्तमनसः	२४–२
यद्वद्राघ; प्रकृति	१८–२३	युगान्तर प्रेक्षणत.	९–१४
यद्वशाद्द्वितयजन्म	२५–१५	युवतिरपरा नो भोक्तव्या	११–१०
यद्विधायावधि दिक्षु	३१–३१	ये कारुण्य विद्धति	१८–८
यन्निमित्तमुपयाति	२४–२३	ये जल्पन्ति व्यसन	१८–१
यन्निर्मित कुथितस	३०–१०	येनाङ्गुष्ठप्रमाणार्चा	३१–११५
यस्त्यक्त्वा गुणसंहतिं	१७–८	येनेन्द्रियाणि विजितानि	५–२०
यस्मिञ्शुम्भद्वनोत्थ	३२–३३	येनेह कारितं सौधं	३१–११३
यस्मै गत्वा विषय	१९–१८	येऽन्नाशिन. स्थावर	२१–८
यस्या वस्तु समस्तं	१५–५	येऽप्यहिंसादयो धर्मा	३१–१५
यः कन्तुतप्तचित्तो	२६–१५	ये बुध्यन्तेऽत्र तत्त्वं	९६–१७
यः करोति जिनेन्द्राणां	३१–११६	ये लोकेशशिरोमणि द्युति	१२–८
यः कारणेन वितनोति	२–४	ये विश्वं जन्ममृत्युव्यसन	३२–३२

येषां स्त्रीस्तनचक्रवाक १२-११
ये संगृह्यायुधानि २६-११
यो जीवाना जनक १९-१२
यो दधाति नर पूतं ३१-१०३
योऽनाक्षिप्य प्रवदति १८-३
योऽन्येषा भषणोद्यत. १७-१०
योपतापनपरा २४-२०
योऽपरिचिन्त्यभवा २३-१८
यो लोकैकशिर शिखा १२-२१
योऽश्नाति साधु निस्त्रिश २२-१४

र

रक्तार्द्रेभेन्द्रकृत्ति नटति २६-१४
रटति रुष्यति तुष्यति २०-१२
रत्नत्रयामलजलेन ३०-२२
रत्नत्रयी रक्षति येन ८-२
रम्या' किं न विभूतयोऽति १२-२२
रसोत्कटत्वेन करोति २१-१२
रागमीक्षणयुगे तनु २४-१९
रागं दृशोर्वपुषि कम्प २-६
रचयति मति धर्मे नीति ११-९
रागान्धा पीनयोनिरतन २६-११
रागोद्युक्तोऽपि देवा १६-२३
रुष्यतेऽन्यकितवै' २५-१८
रुष्यति तुष्यति दास्य २३-३
रूपेश्वरत्वकुलजाति ३-१
रे जीव त्वं विमुञ्च १६-१०
रे पापिष्ठातिदुष्ट १६-१८
रोगैर्वातप्रभृति १९-२३
रोचते दर्शित तत्त्वम् ३१-७०

ल

लक्ष्मी प्राप्याप्यनर्घ्या १६-४
लज्जामपहन्ति नृणा १५-१३
लज्जाहीनात्मशश्रो १६-१९
लब्ध जन्म यतो यत १७-१३
लब्धेन्धनज्वलनवत ४-२
लूना तृष्णालता तेन ३१-३८
लोकस्य मुग्धधिषणस्य ४-९
लोकार्चित गुरुजनं ५-१९
लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि ५-१८
लोभ विधाय विधिना ४-१९

व

वक्त्र लालाद्यवद्यं ६-१९
वक्षोजौ कठिनौ न वाग् ६-२०
वचनरचना जाता व्यक्ता ११-११
वचासि ये शिवसुख २७-३
वदति निखिललोक. २८-३
वदन्ति ये जिनपति २७-२५
वदन्ति ये वचनमिर्नि २७-६
वधो रोधोऽन्नपानस्य ३१-८४
वयुर्व्यसनमस्यति १३-६
वय येभ्यो जाता. १३-१९
वरतनुरतिमुक्ते २८-१७
वरं निवासो नरके ७-४१
वर विष भक्षित ८-२४
वरं विष भक्षित २१-१६
वर विप भुक्त ७-१३
वरं हालाहलं पीत २२-६
वर्चः सदनवत्तस्या ३१-२२
वर्णोष्ठस्पन्दमुक्ता २६-५
वर्धस्व जीव जय नन्द ४-४
वस्त्राणि सौख्यति तनोति ४-८
वाक्य जल्पति कोमलं १७-४
वाञ्छत्यङ्गी समस्तः २६-१
वात्येव धावमानस्य ३१-३२
वारिराशिसिकतापरि २४-१५
वार्धेश्चन्द्र. किमिह कुरु १८-५
वार्यग्निभस्मरविमन्त्र ३०-२१
वाहनासनपल्यङ्क ३१-५३
विगतदशन शश्वल्लाला ११-१९
विगलितधिषणोऽसा २८-७
विगलितरसमस्थि १-१३
विचलति गिरिराजो २८-६
विचित्रभेदा तनुबाधन ३२-७

विचित्रवर्णाञ्चित ७–१८
विचित्रशिखराधारं ३१–११२
विचित्रसंकल्पलता ३२–५
विजन्तुके दिनकर २७–१०
विजित्य लोकं निखिलं ३२–६
विजित्योर्वी सर्वां १३–१३
विज्ञायेति महादोष २२–२२
वितनोति वच करुण २९–९
वित्ताशया खनति भूमितल ४–३
विद्यादयाद्युतिरनु ५–१७
विद्यादयासयम २१–१९
विद्युद्द्योतेन रूपं ६–१७
विद्वेषवैरिकलहासुख ३–१८
विधाय नृपसेवनं १०–१७
विधाय यो जैनमत ७–२९
विनश्वरमिदं वपु १०–१९
विनश्वर पापसमृद्धि ८–८
विनिर्जिता हरिहर २७–२०
विनिर्मलं पार्वणचन्द्र ९–३०
विनिर्मलानन्तसुखैक ३२–२
विनिहन्ति शिरोवपु २९–२२
विपत्तिसहिता श्रियो १०–२०
विपदोऽपि पुण्यभाजा १४–१८
विपरीते मति धातरि १४–८
विबोध नित्यत्व सुखित्व ७–४
विमदमृषिवच्छ्रीकण्ठं वा ११–१८
विमुक्तसगादि समस्त ७–२५
विमूढतैकान्त विनीत ७–२
विरागसर्वज्ञपदा ७–३१
विलोक्य मातुस्वसृ ९–१२
विलोक्य रौद्रव्रतिनो ७–५०
विवेकविकल शिशुः १०–१८
विवेकिलोकैस्तपसो १२–१७
विशुद्धभावेन विधूत ७–३६
विशुद्धमेवं गुणमस्ति ७–३९
विश्वम्भरां विविधजन्तु ४–६
विषमविषसमानान् १–१२
विषयरतिविमुक्तिः २८–२०
विषयविरक्तियुक्तिः २८–१३
विषय. स समस्ति न २९–१४
विहाय दैवी गतिमार्चिता ७–४६
वीक्ष्यात्मीयगुणैर्मृणाल १७–२३
वृत्तस्त्यागं विदधति न ये १८–१५
वृषं चित व्रतनियमैः २७–१९
वेत्ति न धर्ममधर्ममियर्त्ति २३–४
वैरं य कुरुते निमित्त १७–१६
वैर विवर्धयति सख्य २–२१
वैश्वानरो न तृप्यति १५–४
व्यसनमेति करोति २०–११
व्यसनमेतिजनै. २०–६
व्याघ्रव्यालभुजङ्ग १७–३
व्याध्यादिदोषपरिपूर्ण २–१२
व्याध्याधिव्याधकीर्ण २६–१२
व्रतकुलबलजाति २८–९
व्रततपोयमसयम २०–१३

श

शक्यते गदितु केन ३१–३७
शक्येतापि समुद्रः १५–३
शक्यो वशीकर्तुमिभो ८–२७
शक्यो विजेतु न मन. ८–१४
शङ्का काङ्क्षा विचिकि ३१–१०१
शङ्कादिदोष निर्मुक्तं ३१–७२
शनै पुरा विकृति पुरः २७–१३
शप्तोऽस्म्यनेन न हतो २–१४
शमं क्षय मिश्रमुपा ९–२
शमाय रागस्य वशाय ३२–४
शमो दमा दया धर्म. २२–८
शरच्चन्द्रसमा कीर्ति ३१–१०५
शरीरमसुखावहं १०–२
शरीरिणः कुलगुण २७–५
शरीरिणामसुख २७–१८
शश्वच्छीलव्रतविर १९–१५
शश्वन्माया करोति ६–१४
शारिकाशिखिमार्जार ३१–४१
शास्त्रेषु येष्वङ्गिवधः २१–२३

शिथिलीभवति शरीरं १५-१५
शिरसि निभृतं कृत्वापाद ११-१६
शीतो रविर्भवति शीत ४-१
शीलव्रतोद्यमतपःशम ३-१६
शीलवृत्तगुणधर्म २५-२१
शुभपरितोषवारि १५-२६
शुभमशुभं च मनुष्यैः १४-२३
शुश्रूषामाश्रय त्वं १६-२
शौचक्षमासत्यतपो ८-२५
शौर्यति विश्वमभीच्छ २३-१०
श्रद्धामुत्सत्त्वविज्ञान ३१-५७
श्रमं विना नास्ति महाफलो ३२-२४
श्रयति पापमपाकुरुते २०-१४
श्रियोऽपाया घ्राता १३-१४
श्री कृपामतिधृति द्युति २४-६
श्री मज्जिनेश्वरं नत्वा ३१-१
श्रीमदमितगतिसौख्यं १५-२५
श्री विद्युच्चपलावपु १३-२
श्री ह्री कीर्तिरतिद्युति १२-२०
श्रुतिमतिबलवीर्यं १-१८
श्रुत्वा दान कथित १९-१९
श्रेणी सद्मप्रपन्नै ६-२५
श्वभ्र दुःखपटुकर्म २५-९
श्वभ्रवत्मं सुरसद्म २४-२२

ष

षट्कोटिशुद्ध पलमश्नतो २१-५
षड्द्रव्याणि पदार्थाश्च ३१-६५

स

सकलं सरत सुषिमेति २९-४
सगुणं विगुणं सधनं २९-१२
सचित्तमिश्रसम्बद्ध ३१-९८
सचित्ताच्छादनिक्षेप ३१-९९
सचेतनाचेतनभेदतो ९-१३
सज्जातिपुष्पकलिके ५-४
सज्ज्ञानदर्शनचरित्र ३०-४
सततविविधजीव १-७
सततविषयसेवा २८-४
सत्यमस्यति करोति २५-४
सत्यशौचशमशर्म २५-३
सत्यशौचशमसंयम २४-१
सत्या योनिरुजं वदन्ति १७-१८
सत्या वाचा वदति १८-६
सद्दर्शनज्ञानतपो ९-३३
सद्दर्शनज्ञानफलं ९-२३
सद्दर्शनज्ञानबलेन ९-१
सद्मस्वर्णधराधान्य ३१-२६
सद्यः पातालमेति १६-७
सन्तोषादिलष्टचिन्तस्य ३१-२८
सन्तोषो भाषितस्तेन ३१-५४
सन्त्यक्तव्यक्तबोध ६-५
समस्तजन्तुप्रतिपाल ९-१९
समस्ततत्त्वानि न सन्ति ७-६
समस्तदुःखक्षयकारणं ३२-२६
समारूढे पूतत्रिदश ३२-४४
समुद्यतास्तपसि जिने २७-२
सम्यक्त्वज्ञानभाजो जिन ३१-११७
सम्यक्त्वशीलमनघं ३०-१९
सम्यग्धर्मव्यवसिते १८-९
सम्यग्विद्याशमदम १९-६
स यातो यात्येष १३-२०
सर्पत्स्वान्तप्रसूत १६-१
सर्पव्याघ्रेभवैरि १६-२०
सर्वजनेनविनिन्दित २३-६
सर्वजनैः कुलजो जन २३-१३
सर्वदा पापकार्येषु ३१-८१
सर्वसौख्यदतपोधन २४-२१
सर्वं शुष्यति सार्द्रमेति १२-१८
सर्वाभीष्टा बुधजन १९-३
सर्वारम्भं परित्यज्य ३१-४५
सर्वेऽपि लोकेविषयो
सर्वार्थे षविचक्षणः १७-२०
सविस्तरे धरणितले २७-१४
ससंशयं नश्वरमन्त ९-२९
सहात्र स्त्री किञ्चित् १३-१८
संज्ञातोऽपीन्द्रजालं ६-२२

सन्दधाति हृदयेऽन्य २४–२
संयमधर्मविबद्ध २३–५
संक्षुभत्पाण्डुगण्डा ६–४
संसारतरणदक्षो १५–११
संसारद्रुममूलेन ३१–८०
संसारभयमापन्नो ३१–७८
संसारभीरुभिः सद्भिः २२–२१
संसारसागरनिरूपण ५–८
ससारसागरमपार ३०–१
संसारे भ्रमता पुरा १२–१
साधुबन्धुपितृमातृ २५–११
साधूरत्नत्रितयनिरतो १९–१०
सामायिकादिभेदेन ३१–५९
सावद्यत्वान्महर्दापि १९–७
सुखकरतनुस्पर्शा गौरी ११–१२
सुखमसुख च विधत्ते १४–१६
सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि १३–२१
सुखासुखस्वपरवियोग २७–२२
सुग्रीवाङ्गदनीलमारुत १२–१४
सुरवर्त्म स मुष्टिहृत २९–१९
सुरासुराणामय ७–४८
सुरेन्द्रनागेन्द्र ७–२७
सौख्य यदत्र विजिते ५–१२
स्तब्धो विनासमुपयति ३–९
स्तेनानीत समादानं ३१–८६
स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः ६–११
स्थावरजंगमभेद २३–१५
स्पर्शेन वर्णेन रसेन ९–५
स्याच्चेन्नित्यं समस्त २६–७
स्युर्द्वीन्द्रियादिभेदेन ३१–३
स्वकरार्पितवामकपोल २९–६
स्वकीयं जीवित ज्ञात्वा ३१–६१
स्वजनमन्यजनो २०–२३
स्वजनोऽन्यजन' कुरुते २९–५
स्वतो मनोवचनशरीर २७–१२
स्वनिमित्तं त्रिधा येन ३१–८२
स्वभर्तारं परित्यज्य ३१–२०
स्वयमेव गृहं साधु. ३१–६६
स्वयमेव विनश्यति २९–२१
स्वसृसुता जननी २०–३
स्वार्थपर परदु.ख २३–१७
स्वेच्छाविहारसुखितो ५–१

ह

हृत घटीयन्त्रचतु ९–७
हन्ति ध्वान्तं रहयति १८–१९
हरति जनन दुःखं २८–१९
हरति विषयान्दण्डालम्बे ११–१५
हरिणस्य व्यथा भ्रमतो २९–११
हसति नृत्यति गायति २०–२
हसन्ति धनिनो जनाः १०–२३
हास कर्कशपैशुन्य ३१–१०
हिरण्यस्वर्णयोर्वास्तु ३१–९०
हिंसातो विरति सत्य ३१–३०
हिंसानृतस्तेयजया ९–३
हिंस्यन्ते प्राणिन' सूक्ष्मा ३१–५
हीनाधिकेषु विदधात्य ३–३
हीनानवेक्ष्य कुरुते ३–१०
हीनोऽयमन्यजननो ३–६
हृषीकविषय सुखं १०–८

श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ

(जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर–२)

मराठी विभाग प्रकाशन–सूची

१ रत्नकरंड श्रावकाचार	१२–००
२ महामानव सुदर्शन	१–२५
३ कुंदाकुंदाचे रत्नत्रय	१–५०
४ आर्यादश भक्ति	१–००
५ नित्यनैमित्तिक जैनाचार	(अप्राप्य)
६ जीवंधर चरित्र	१–७५
७ पांडव कथा	२–००
८ अंतिम उपदेश	००–४०
९ रत्नाची पारख	००–६०
१० सम्यक्त्व कौमुदी कथा	प्रेस मे
११ भ० नेमिनाथ चरित्र (नवीन)	२–००
१२ भ० ऋषभदेव	२–००
१३ जसोधर रास	४–००
१४ जिनसागर कविता	४–००
१५ जीवंधर पुराण	२–००
१६ धर्मामृत	३–००
१७ परमहंस कथा	२–००
१८ चक्रवर्ती सुभौम	१–२५
१९ जैन धर्म	
२० श्रेणिक चरित्र (पद्य)	४–००
२१ भ० पार्श्वनाथ व महावीर	१–००
२२ पवनपुत्र हनुमान	२–००
२३ यशोधर चरित्र	२–००
२४ कुमार प्रीतिकर	२–००
२५ भारतीय जैन सम्राट	
२६ तत्वार्थ सूत्र	३–००
२७ भारतीय संस्कृतीस जैन धर्माची देगणी	१५–००
२८ विश्व समस्या	००–७५
२९– स्वयंभू स्तोत्र	२–५०
३० सती चेलना	२–००
३१ पराक्रमी वराग	२–००
३२ सद्बोध दृष्टात भाग १	
३३ प्राचीन कथा पंचक	१–५०
३४ प्रद्युम्न चरित्र	६–००
३५ इष्टोपदेश	२–००
३६ सद्बोध दृष्टात भाग २	
३७ अनंतव्रतपूजा	
३८ दशलक्षण धर्म	
३९ श्रेयोमार्ग	६–००
४० समाधि शतक	३–००
४१ षोडश कारण भावना	२–५०
४२ भद्रकथा कुंज भाग १	३–००
४३ भ० महावीर उपदेश परंपरा	२–५०
४४ भारतवर्ष नामकरण	२०–००
४५ महापुराण (भाग १)	२५–००

हिंदी विभाग प्रकाशन–सूची

१ तिलोयपण्णति भाग १–२	(अप्राप्य)
२ Yashastilak & Indian Culture	16–00
३ पांडवपुराण	(अप्राप्य)
४ प्राकृत शब्दानुशासन	१०–००
हिंदी प्राकृत ग्रामर	१२–००
५ सिद्धांतसार सग्रह	१२–००
६ Jainism in South India & Jain Epigraphs	16–00
७ जंबूदीवपण्णत्ती	१६–००
८ भट्टारक सम्प्रदाय	८–००

९ कुंदकुंद प्राभृत	६-००	२४ धर्मरत्नाकर	२०-००
१० पद्मनन्दी पंचविंशति		२५ रईधू ग्रंथावली	२०-००
११ आत्मानुशासन	७-००	२६ Ahinsa	५-००
१२ गणितसार	१२-००	२७ श्रावकाचार संग्रह भाग १	२०-००
१३ लोकविभाग	१०-००	२८ ,, ,, ,, २	२०-००
१४ पुण्यास्रव कथाकोष	१०-००	२९ धवला भाग २	२०-००
१५ Jainism in Rajasthan	11-00	३० ज्ञानार्णव	२०-००
१६ विश्वतत्त्वप्रकाश	१२-००	३१ सुभाषितरत्न संदोह	२०-००
१७ तीर्थवंदन सग्रह	५-००	**कन्नड़ विभाग**	
१८ प्रमाप्रमेय	५-००	१ रत्नकरंड श्रावकाचार	१५-००
१९ Ethical Doctirns in Jainism	12-00	२ जैन धर्म	५-००
२० Jain View of Life	6-00	४ भारतीय संस्कृतिगे जैन धर्मद कोडुगे	१२-००
२१ चन्द्रप्रभू चरित्र	१६-००	धवला षट्खडागम (शास्त्राकार) भाग ८ से १२	
२२ धवला षट्खडागम भाग १	१६-००	प्रत्येकी	१२-००
२३ वर्धमान चरित्र	१५-००	धवला (ग्रथाकार) भाग १० ते १६ प्रत्येकी	१२-००

● आगामी प्रकाशन ● रइधू ग्रंथावली भाग २ ● सम्मइजिण चरिउ ● धर्म परीक्षा ● श्रावकचार संग्रह भाग ३ ● महापुराण भाग २ ● शीघ्र प्रकाशित हो रहे है।